भूमिका

ईश्वर की कृपा से आज वह समय आ गया है कि हिन्दी-भाषा का साहित्य श्री-सम्पन्न होता हुआ सब के लिये समाकर्षक हो रहा है और सभी इसके अध्ययन की ओर समुत्सुक होकर ध्यान दे रहे हैं। ऐसी दशा में यह अत्यावश्यक ठहरता है कि इसके जीवन का वास्तविक विवरण जनता के सम्मुख उपस्थित किया जाय, क्योंकि साहित्य के अध्ययन से पूर्व साहित्य के ही विषय में यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करना, उसके ऐतिहासिक-विकास से परिचित होना तथा उसकी विचार-धाराओं, रीतियों आदि का यथोचित रूप से जानना अनिवार्य्य ही है। इसी विचार से साहित्य का इतिहास विशेष महत्व-पूर्ण माना जाता है और उसके बिना साहित्य का भंडार एक प्रकार से सूना ही सा रहता है।

साहित्य का इतिहास—हिन्दी-साहित्य के इतिहास का उदय कवि-वृत्त-संग्रह के रूप में हुआ है और सब से प्रथम श्री ठाकुर **शिवसिंह सेंगर** ने ही सन् १८८३ ई० में (सम्वत् १९४० विक्रमीय) 'शिवसिंह-सरोज' के नाम से एक विस्तृत और व्यवस्थित कवि-वृत्त-संग्रह तैयार करके हिन्दी-संसार को उपकृत किया है। ठाकुर साहब ने सम्भवतः भक्तमाल आदि (जिनमें भक्तों के सूक्ष्म वृत्त दिये गये हैं) को ही देख कर ऐसा किया है और इन ग्रंथों से उन्हें सहायता भी मिली है। ठाकुर साहब का 'सरोज' इसीलिये हिन्दी-संसार में अपनी विशेष सत्ता और महत्ता रखता है, क्योंकि उसी के कारण हिन्दी-साहित्य के क्रमिक-विकास और ऐतिहासिक जीवन पर प्रकाश पड़ा है, किन्तु 'सरोज' वास्तव में साहित्य के इतिहास का ग्रंथ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि

उसमें वह सामग्री नहीं, जिसका होना साहित्य के इतिहास में अनिवार्य्य है। उसमें न तो साहित्य की परम्परागत विचार-धाराओं, उनकी शैलियों आदि का ही विवेचन है और न उसमें देश, समाज, समय आदि की संस्कृतियों की ही—जिनके प्रभाव से भाषा और साहित्य प्रभावित होकर प्रगतिशील होते हैं—आलोचना है।

सेंगर जी के पश्चात् **सर जार्ज ग्रियर्सन** ने सन् १८८९ ई० में 'Modern vernacular literature of Northern Hindustan' के नाम से उक्त सरोज ही के आधार पर एक इतिवृत्त-संग्रहात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया। यह ग्रंथ भी एक प्रकार से कवि-नामावली का ग्रंथ है और हिन्दी-साहित्य के इतिहास की ओर सङ्केत करता हुआ उसका सहायक मात्र ठहरता है। इसके पूर्व १८३९ और १८४६ ई० में मिस्टर **टेसी** Tassay नें History of Hindi Literature के नाम से दो भागों में एक ग्रंथ प्रकाशित किया था। १८७० ई० में इसी ग्रंथ का ३ भाग, जिसमें प्राचीन ग्रंथों का उल्लेख है, साहित्य के इतिहास पर कुछ विशेष प्रकाश डालता हुआ प्रकाशित हुआ, किन्तु वास्तव में वह भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अच्छा ग्रंथ न हो सका और हो भी कैसे सकता था जब कि उसका लिखने वाला एक विदेशीय था, जिसके लिये हिन्दी और उसके साहित्य का मार्मिक-ज्ञान प्राप्त करना और उसका साङ्गोपाङ्ग इतिहास लिखना एक प्रकार से असम्भव ही है। सन् १९१० ई० में मिस्टर **लायल** Lyall ने उक्त ग्रंथों के 'आधार पर इनसाइक्लोपीडिया वृटानिका' नामी कोष के लिये हिन्दी और उर्दू के ऐतिहासिक-विकास पर प्रकाश डालते हुए दो लेख लिखे। दोनों लेख सूक्ष्म होते हुए भी सुन्दर हैं, किन्तु पर्य्याप्त नहीं। इनसे केवल साहित्य के प्रवाह का एक साधारण ही परिचय प्राप्त होता है।

वास्तव में हिन्दी-साहित्य के इतिहास का जन्म श्रद्धेय मिश्र-बंधुओं के ही द्वारा हुआ है और इसके लिये हिन्दी-संसार तथा हिन्दी-साहित्य उनका शाश्वत ऋणी और आभारी है। मिश्र-बन्धुओं ने ही साहित्य के इतिहास का सच्चा मार्ग दिखलाया है और उन्होंने साहित्य के आलोचना की भी (सत्समालोचन की) परिपाटी चलाई है। अस्तु, मिश्र-बन्धु ही साहित्य के इतिहास और सत्समालोचन के मुख्य प्रवर्तक हैं। सन् १९१३ ई० में श्रद्धेय पं० श्यामविहारी मिश्र, पं० गणेशविहारी मिश्र और पं० शुकदेव विहारी मिश्र (मिश्र-बन्धु) ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के प्राचीन पुस्तकान्वेषण की अध्यक्षता का गुरुतर कार्य करते हुए 'मिश्र-बन्धु-विनोद, नाम से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ तीन भागों में प्रकाशित किया। इस ग्रंथ में मिश्र जी ने सराहनीय परिश्रम, विद्वता और खोज से काम लिया है। यह ग्रंथ हिन्दी-साहित्य में अपनो विशेष महत्ता-सत्ता रखता है और प्रत्येक इतिहास-लेखक एवं विवेचक के लिये यह अनिवार्य्य-रूप से आवश्यक और उपयोगी ठहरता है। इसकी सहायता के बिना हिन्दी-साहित्य के इतिहास का विवेचन करने वाला अपना काम ही नहीं चला सकता। इस ग्रंथ में साहित्य की परम्पराओं-विचार-धाराओं और रचना-शैलियों आदि पर भी साङ्केतिक प्रकाश डाला गया है।

उक्त ग्रंथ के ही आधार पर मिस्टर के (Key) और मिस्टर ग्रीव्स (Grieves) ने अंग्रेज़ी में दो छोटी छोटी पुस्तकें सन् १९१८ और १९२० ई० में लिखीं, जिन्हें हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास की उपक्रमणिकायें हो कह सकते हैं। इसके उपरान्त श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-शब्द-सागर की भूमिका के रूप में साहित्य के ऐतिहासिक विकास पर एक गम्भीर और मार्मिक लेख लिखा था। फिर उसी में कुछ विशेष परिवर्धन और

परिशोधन करते हुए सन् १९२९ ई० या सम्वत् १९८६ में पुस्तक के रूप में 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' प्रकाशित कराया। शुक्ल जी ने यह पुस्तक बड़ी विद्वता और बड़े परिश्रम से लिखी है और इस में विचार-धाराओं, शैलियों और परम्पराओं आदि पर सूक्ष्म रूप से अच्छा प्रकाश डाला है। कवियों की रचनाओं का कुछ सुन्दर-विवेचन किया है। पुस्तक सराहनीय है; किन्तु साहित्य के सभी अङ्गों पर यथेष्ट प्रकाश डालने में सर्वथा समर्थ नहीं है।

श्री० बाबू **श्यामसुन्दर दास** ने सम्वत् १९८७ वि० अर्थात् गत वर्ष में ही 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' के नाम से एक सुन्दर ग्रंथ तैयार किया है। ग्रंथ का लगभग अर्ध भाग तो हिन्दी भाषा का विकास दिखलाता है और शेष भाग हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर एक व्यापक और साधारण रूप से (General way) प्रकाश डालता है। ग्रंथ यद्यपि योग्यता-पूर्ण और श्लाघ्य है; किन्तु सर्वाङ्ग-पूर्ण और यथेष्ट रूप से विस्तृत नहीं है, जिससे उच्च कक्षा के पाठकों को हताश होना पड़ता है।

सन् १९२८ ई० में **राय साहब बाबू रामदयाल अग्रवाल** ने, जिनके कारण आज यह ग्रंथ हिन्दी-संसार के सम्मुख उपस्थित हो सका है, मुझसे हिन्दी-साहित्य के एक सर्वाङ्ग-पूर्ण विशद-विवेचनात्मक इतिहास की आवश्यकता दिखलाई और इस ग्रंथ के लिखने का अनुरोध किया। मैंने यह विचार श्रद्धेय **डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी** एम० ए०, डी० एस० सी० (लन्दन) और व्रजभाषा के आचार्य्य **महाकवि बाबू जगन्नाथदास** जी "रत्नाकर" बी० ए० के सम्मुख रक्खा, उन्होंने भी मुझे पर्य्याप्त प्रोत्साहन देते हुए इसे शीघ्र ही लिखने के लिये कहा। मैंने भी इसका कार्य्य प्रारम्भ कर दिया और साथही रायसाहब ने इसका छापना भी प्रारम्भ कर दिया, किन्तु बीच में कतिपय कारण ऐसे

अनिवार्य्य रूप से आ गये कि इसका छपना कई महीनों के लिये स्थगित कर देना पड़ा, नहीं तो यह ग्रंथ बहुत पहिले ही आप लोगों की सेवा में आ गया होता।

प्रस्तुत ग्रंथ, जैसा भी कुछ है आप महानुभावों के सम्मुख ही है। यह मेरे कहने की बात नहीं है वरन् सहृदय समालोचकों और निष्पक्ष विद्वानों के ही कहने की वस्तु है।

इसमें जो ऐतिहासिक-काल-विभाजन मैंने दिया है उसका आधार, उस काल की उस प्रधान विचार-धारा के ही रूप में है, जो उस समय हिन्दी-संसार की जनता में पूर्ण प्राधान्य, प्रावल्य और प्रभाव-प्रवेग के साथ प्रवाहित रही है। उन अन्य विचार-धाराओं का भी उल्लेख सूक्ष्म रूप से यहाँ किया गया है, जो गौण रूप में ही जहाँ-तहाँ प्रगतिशील रही हैं।

जिस समय से यह इतिहास प्रारम्भ होता है उस समय से कुछ काल पूर्व में भी यद्यपि हमें कुछ साहित्य मिलता है; किन्तु वह साहित्य कुछ थोड़ी सी ही पुस्तकों में सीमित है और अप-भ्रंश तथा प्राकृत भाषाओं का अच्छा आभास रखता हुआ ऐसी हिन्दी में है, जिसे वास्तव में हिन्दी न कहना चाहिये। कुछ पुस्तकें उस समय की ऐसी भी मिलती हैं, जो उस समय के कवियों (प्रायः चारणों) की उस भाषा में हैं; जिसमें साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्दों, विभक्तियों और क्रियाओं आदि के पुराने रूप कवि-परम्परा के प्रभाव से रक्खे गये हैं। इसी प्रकार कुछ पुस्तकें, जो संदिग्ध भी हैं, उस पुरानी परम्परा-गत साहित्यिक भाषा में हैं, जिसे हिन्दी कहना तो उचित नहीं जान पड़ता, वरन् अपभ्रंश-प्रभावित कवि-भाषा ही कहना समीचीन ठहरता है इसलिये हमने इस पूर्व कालीन साहित्य का बहुत ही सूक्ष्म रूप में वर्णन किया है।

इधर की ओर अर्थात् वर्तमान समय के कुछ नवोदित कवियों का विवेचन यहाँ नहीं किया जा सका, क्योंकि अभी उनकी प्रतिभा का केवल उदय मात्र हुआ है और उनकी रचनायें अभी इस रूप में नहीं आ सकीं कि वे ली जाकर आलोचना की कसौटी पर कसी जा सकें और उनकी तथा उनके रचयिताओं की प्रतिभा पर कुछ निश्चित रूप से कहा जा सके। यह अवश्य है कि हमारे ये नवोदित कवि होनहार हैं, इनमें जीवन है, उत्साह है, नव उमङ्ग है और हिन्दी भाषा की भावी उन्नति के पथ पर साहस और दृढ़ता के साथ बढ़ने की क्षमता और इच्छा भी है। अस्तु वह समय दूर नहीं है जब हमें इस ग्रन्थ की पुनरावृत्ति में उनकी विवेचना करने का शुभ अवसर शीघ्र ही प्राप्त होगा। इस समय हम उनसे क्षमा ही चाहते हैं।

इस ग्रन्थ में हमने प्रथम काल का नाम अन्य इतिहासकारों के समान वीर-गाथा-काल न रख कर 'आदि काल' ही रक्खा है और इस समय के साहित्य को जय-काव्य की ही संज्ञा दी है और इस की विवेचना भी पर्य्याप्त रूप में कर दी है। इसी प्रकार दूसरे काल का नाम हमने 'मध्यकाल' रक्खा है और उसके दो खंड १—पूर्व और २—उत्तर काल कर दिये हैं। इस काल के अन्दर हमने धार्मिक-काव्य का शीर्षक देकर भक्ति, प्रेम तथा ज्ञानात्मक काव्य का विवेचन किया है। जिस काल को अन्य इतिहास-लेखकों ने रीति-काल कहा है उसे हमने 'कला-काल' की संज्ञा दी है, क्योंकि इस काल में न केवल उन कवियों का ही विवेचनालोचन किया गया है जिन्होंने काव्य-रीति-विषयक लक्षण-ग्रन्थ रचे हैं वरन् उन कवियों का भी वर्णन किया गया है, जिन्होंने काव्य-कला को प्राधान्य देते हुए तदनुकूल ही रचना की है इसलिये इस काल को एक व्यापक नाम देना ही हमने उप-युक्त समझा है। आगे चल कर हमने 'आधुनिक' और 'वर्तमान'

दो काल कर दिये हैं, जिनसे हमारा तात्पर्य्य गद्य-काल के पूर्व और उत्तर (कुछ वर्ष पूर्व वर्तमान) काल से है।

जिस प्रकार मुझे अन्य समस्त बातों में अपने अनुजवर 'सरस' से सहायता मिला करती है और जैसा स्वभाविक ही है, इस ग्रन्थ में भी मुझे उन्हीं से सहायता मिली है और इसके सम्पादन का समस्त कार्य उन्हीं के द्वारा किया गया है। यदि ऐसा न होता तो यह ग्रन्थ अभी आप लोगों की सेवा में उपस्थित न किया जा सकता। इसके परिशिष्ट एवं अनुक्रमणिका के तैयार करने तथा इस पुस्तक के प्रूफ़ देखने में श्रीयुत् बाबू झूमकलाल जी "मधुप" से भी बड़ी सहायता मिली है, एतदर्थ वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ में कवियों एवं लेखकों की रचनाओं के उदाहरण नही दिये जा सके, क्योंकि ऐसा करने से एक तो ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता और थोड़े से उदाहरण दे देने पर भी कोई यथेष्ट लाभ पाठकों को न हो सकता, क्योंकि किसी कवि या लेखक की रचनाओं से दो-एक उदाहरण दे देना न देने ही के बराबर ठहरता है, उन उदाहरणों से उसकी शैली, उसकी प्रतिभा, भाषा तथा विवेचनालोचना-सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातों का पूरा परिचय पाठकों को कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। अस्तु, यदि हो सका तो शीघ्र ही एक संग्रह इस ग्रंथ के परिशिष्ट-रूप में ऐसा प्रकाशित किया जायगा, जिससे साहित्य के सुन्दर सुमनों के रसास्वादन का भी आनन्द प्राप्त हो सकेगा और इस ग्रंथ के कवियों और लेखकों की रचनाओं के उदाहरण की भी कमी पूरी हो सकेगी। यह ग्रंथ भी सर्वथा तैयार ही सा है, केवल प्रकाशित हो कर सामने आने की ही देर है। जहाँ तक हो सकेगा इसी ग्रंथ में वर्तमान काल के होनहार नवोदित कवियों (एवं लेखकों) पर भी यथोचित प्रकाश डाला जायगा।

अन्त में मैं उन सब महानुभावों को भी धन्यवाद देता हूँ, जिनके ग्रंथों एवं लेखों आदि से मुझे सहायता मिली है। स्थान-लाघव के कारण मैं उन महानुभावों एवं उनके ग्रंथों आदि की सूची के न देने में विवश हूँ।

अत्यन्त श्रद्धा और आदर के साथ मैं आभारी हूँ **रायबहादुर श्रीयुक्त माननीय पं० श्यामविहारी जी मिश्र दीवान ओरछा राज्य** का, जिन्होंने इन ग्रन्थ में इसे आद्योपान्त पढ़कर अपना प्राक्कथन देकर मुझे और इसे कृतार्थ करने की समय लाघव होते हुए भी कृपा की है। मुझे श्री मिश्र जी को साग्रह यह कष्ट इसीलिये देना पड़ा चूँकि वे ही इस विषय के इस समय विशेषज्ञ एवं सर्वमान्य प्रमाण (authority) हैं, अस्तु वे इस ग्रंथ पर अनुमति देने के अधिकारी हैं।

रमेश-भवन-प्रयाग २५-३-३१	विद्वज्जन 'कृपाकांक्षी' रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'

रायबहादुर पं० श्यामविहारी मिश्र एम० ए०,
दीवान, ओरछा राज्य

प्राक्कथन

हर्ष का विषय है कि इस ग्रन्थ-रत्न पर कुछ थोड़ा सा लिखने का आग्रह करके श्री पं० रामशंकर जी शुक्ल "रसाल" एम० ए० ने अपने विचारों को प्रकट करने का हमें बहुत अच्छा अवसर दिया है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे हम भी कुछ स्वार्थ लेते हैं, यह कदाचित् वाचक-वृन्द सहज ही मे मान लेंगे, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि शुक्ल जी को हमारे ऐसे अयोग्य लेखक को यह सम्मान न देना चाहिये था, वरन् वास्तव में किसी सुयोग्य साहित्यज्ञ से यह प्राक्कथन लिखवाना उचित था। अस्तु, जो कुछ हो हम शुक्ल जी की भूल के उत्तरदाता नहीं हैं। सम्भव है कि हिन्दी-साहित्य की सेवा के लिये ओरछा-दरबार की प्रशंसा करने के कारण (देखिये पृष्ठ ३४८-३४९) शुक्ल जी ने ओरछा-राज्य के वर्त्तमान दीवान से यह प्राक्कथन लिखवाना उचित माना हो।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर पहिला ग्रन्थ लिखने का सौभाग्य सुप्रसिद्ध ठाकुर शिवसिंह सेंगर को प्राप्त है, यद्यपि शिवसिंह-सरोज को साहित्य का वास्तविक इतिहास मानने में लोगों को कुछ अड़चन पड़ जाती है। जो कुछ हो इसमें संदेह नहीं कि वह ग्रंथ-रत्न हिन्दी-साहित्य-सेवियों के लिये बड़े महत्व की सामग्री है। इसी के आधार पर सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपना 'The Modern Vernacular Literature of Hindustan' नामक अंगरेजी में हिन्दी-साहित्य का ग्रंथ लिखा, जिसमें कतिपय कवियों के विषय

में कुछ समालोचना भी की गई। इधर पं० नकछेदी तिवारी ने 'कवि-कीर्त्ति-कलानिधि' नामक एक छोटा सा ग्रंथ 'सरोज' के ही आधार पर लिखा और कई वर्ष हुए कि राय साहब बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी-कोविद-रत्न-माला' के नाम से दो जिल्दों में हिन्दी के कतिपय आधुनिक सुलेखकों के संक्षिप्त परिचय हिन्दी जगत् को दिये। संवत् १९५७ से काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने हस्त लिखित हिन्दी-पुस्तको की खोज कराना प्रारम्भ कर दिया था, जिसमे नव, दस वर्ष तक हमने भी निरीक्षक (Superintendent) का काम किया। इस खोज मे प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई और हमारे ध्यान मे आया कि इससे हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। बस इसी विचार से हमने मुद्रित और अमुद्रित बहुत सी अन्य सामग्री का एकत्रित करना प्रारम्भ कर दिया और हम तीन भाइयो 'मिश्र-बन्धुओं' ने दस-बारह वर्ष के परिश्रम से 'मिश्र-बन्धु-विनोद' नामक पन्द्रह-सोलह सौ पृष्ठ का तीन भागो में हिन्दी-साहित्य का इतिहास और कवि-कीर्त्तन हिन्दी-प्रेमियो के सम्मुख उपस्थित किया। इसकी मुख्य विशेषता यह थी कि प्रायः सभी नामी कवियों की रचनाओं पर यथासभव पूर्ण आलोचना की गई थी और हमने इन्हें श्रेणी-बद्ध करने का भी साहस किया था। अवश्य ही हमने ऐसा करने से अपनी रुचि एवं मति-गति से ही काम लिया था। हर्ष का विषय है कि हमारी अनुमतियो को विशेषतया हिन्दी-मर्मज्ञो ने अपनाया तो भी कतिपय बातो पर प्रचुर मत-भेद भी प्रकट हुआ एवं कतिपय महाशयों ने हमे ख़ूब खरी-खोटी भी सुनाई तथा कुछ तो हम पर पक्षपात का दोषारोपण करने से भी न हिचके, विशेषतया

देव और विहारी के सम्बन्ध में तो हम पर .खूब ही बौछारें हुईं। हम नहीं जानते कि देव जी हमारे कौन से रिश्तेदार थे और विहारी से हमें क्या अदावत हो सकती है। इस पर तो "भिन्न रुचिर्हि लोका:" का ही विचार ठीक समझ पड़ता है और क्रोध करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अंगरेजी मे मि० के (Mr. Kaye) और रेवरेंड ग्रीव्ज़ (Reverend Greeves) ने इन्हीं आधारों पर हिन्दी-साहित्य के संक्षिप्त इतिहास लिखे तथा हिन्दी में लाला कन्नोमल ने भी कुछ ऐसा ही प्रयत्न किया। इधर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य का एक विद्वत्ता-पूर्ण और बड़े आकार का इतिहास लिखा। अवश्य ही हमारी किन्हीं विशेष त्रुटियों और दूषणों के कारण शुक्ल जी हम पर कुछ अप्रसन्न देख पड़ते हैं, क्योंकि हमारे ऊपर इस ग्रंथ में और अन्यत्र भी शुक्ल जी ने विशेष आक्षेप किये हैं। यहाँ तक कि हमारी समालोचनाओ को आप समालोचनायें मानने को तय्यार ही नहीं हैं, पर हम आपका सम्मान उसी ढंग से करना उचित नहीं समझते। आपकी पुस्तक कतिपय पक्षपातों के रहते हुए भी हमारी समझ में एक श्लाघ्य ग्रंथ है, जिसमें हिन्दी-साहित्य का ज्ञान है और उनकी विद्वत्ता .खूब पाई जाती है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने कई भागों में 'कविता कौमुदी' को प्रकाशित करके लोगों का बड़ा उपकार किया है। हाल ही में बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नाम का एक अत्युत्तम वृहद् ग्रंथ प्रकाशित किया है जिससे हिन्दी का विशेष उपकार हुआ। निदान हिन्दी साहित्य का इतिहास जानने तथा उस पर और भी

महत्व-पूर्ण ग्रंथ लिखने की इस समय काफी सामग्री उपस्थित है। हर्ष का विषय है कि हिन्दी के पूर्ण पंडित और विद्वान् श्रीयुत पं० रामशंकर जी शुक्ल ने इस सामग्री से अच्छा लाभ उठाया और 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' नामक प्रायः आठ सौ पृष्ठों का यह ग्रंथ-रत्न लिख कर हिन्दी की विशेष सेवा की है।

शुक्ल जी के इस इतिहास में न तो 'मिश्र-बन्धु-विनोद' की कचाइयाँ ही रहने पाई हैं और न पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के अनुचित पक्षपात ही इसमे पाये जाते हैं और न बाबू श्यामसुन्दर दास-कृत ग्रंथ की कविता-सम्पन्न* नीति की ही बू इसमे आने पाई है। पं० रामशंकर जी शुक्ल ने न तो किसी पर अनुचित आक्षेप (प्रकाश अथवा गौण रूप से) ही किया है और न अनुचित प्रशंसा ही उनके ग्रंथ में पाई जाती है। पंडित जी की भाषा तथा लेखन-शैली सुबोध, प्रौढ़ और परिपक्व है और आपने अपने विषय का निरूपण अत्यन्त ही योग्यता-पूर्वक किया है। आपने हिन्दी-साहित्य का जन्म-काल संवत् ७०० से ९०० तक माना है और उसका साहित्यिक रूप आपके मतानुसार संवत् १००० से प्रारम्भ हुआ है। ऐसा करके आपने हिन्दी के कतिपय विद्वानो का मत-भेद सहजही में हटा दिया था। हमने भी संवत् ७०० के लगभग हिन्दी का जन्म-काल माना है, परन्तु हमारा तात्पर्य्य यह कदापि न था कि जन्म-काल ही से उसमें साहित्यिक गौरव आ गया था। शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य का काल-विभाग इस प्रकार किया है कि आदि-

---

* देखिये तोष कवि की उक्ति "देखि परै औ दुराव रहै कवि तोष सोई कविता मन भावै"।

काल संवत् १००० से १४०० तक, मध्यकाल संवत् १४०० से १८०० तक और आधुनिक काल १८०० से आज तक। हमारी अनुमति में यह काल-विभाग बहुत युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योकि ऐसा विभाग किसी भी भाषा के इतिहास का किया जा सकता है। हिन्दी की विशेषताओं पर ध्यान देते हुए जो विभाग हमने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' में किये हैं, हमको वे ही अब भी ठीक जँचते हैं। अपने ग्रंथ में ठौर २ पर शुक्ल जी ने राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दशाओं का विशेष वर्णन करके ख़ूब ही दिखला दिया है कि इनका प्रभाव हमारे साहित्य पर कब कब और कैसा पड़ा है। इनका उल्लेख आपने आलोचक-दृष्टि से ही किया है न कि किसी पुरानी लकीर के फ़क़ीर होकर। आपका विषय-विवेचन एवं वर्णन-कौशल अत्यन्त हीश्लाघ्य है। यद्यपि हम आपकी सभी अनुमतियों से सहमत नहीं, परन्तु मानना पड़ता है कि केवल खंडन-मंडन के विचार से आपने मत-भेद आवश्यक नहीं समझा है वरन् जहाँ आप अन्य लोगो के मतो का खंडन भी करते हैं; वहाँ आप शिष्टता और सभ्यता के केन्द्र से एक इञ्च भी बाहर नहीं निकलते। आपको शोक है कि हिन्दी भाषा व्याकरण के अटल नियमों से बद्ध नहीं की जा सकी (देखिये पृष्ठ ३८९)। यहाँ तक कि महात्मा कबीरदास तक की उनकी "अशुद्धियो" के कारण आपने काफी खबर ली है (देखिये पृष्ठ १७० व १७१), लेकिन हम इससे सहमत नहीं हो सकते। एक तो भारी भारी कविगण व्याकरण से अधिक बद्ध माने ही नहीं जाते, यहाँ तक कि अँगरेज़ी में कविवर शेक्सपियर की निरंकुशता के कारण शेक्सपियर का व्याकरण (Shakespearian Grammar) अलग से लिखा गया है इससे हिन्दी का यह सौभाग्य है कि अभी तक वैयाकरणों के पेंच में वह नहीं आ सको है। यदि हम लोगो का यही अभीष्ट हो कि व्याकरण के जटिल नियमो से बँध कर हिन्दी एक प्रकार की दूसरी संस्कृत भाषा बन कर अपनी चिता बनाने को तय्यार हो जाय

और शीघ्र ही संसार की मृत भाषाओं में परिगणित होने लगे तब तो बात ही दूसरी है अथवा उसे अपना स्वच्छन्द रूप रखने देना ही आवश्यक है जिससे वह जन-समुदाय की भाषा में बनी रहे और उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये दस-बारह वर्ष के कठिन परिश्रम की आवश्यकता न पड़े। हिन्दी को संशोधित एंव परिमार्जित बनाने की भूल-भुलाइयों में पड़ कर हमें उसकी व्यापकता में बाधा डालना कदापि उचित नहीं जान पड़ता। शुक्ल जी ने हिन्दी के अनेकानेक विभागों का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। पद्य, गद्य, नाटक, उपन्यास, समाचार पत्र, खड़ी बोली, छायावाद सभी के विकास का विवेचन आपने विद्वतापूर्ण किया है। आपने मुस्लिम, इसाई, स्त्री-समाज इत्यादि ने हिन्दी की जो सेवा की है उसका भी क्रम-बद्ध वर्णन ठौर-ठौर पर अलग कर दिया है। शुक्ल जी को ऐसा भय होने की कोई आवश्यकता नहीं है कि खड़ी बोली के कारण ब्रज-भाषा का कहीं अनुसान ही न हो जाय (देखिये पृष्ठ ६११)। जब तक सूर, केशव, बिहारी, मतिराम, सेनापति प्रभृत्त को कविता हिन्दी में वर्तमान रहेगी तब तक न केवल ब्रजभाषा का सम्मान ही होता रहेगा वरन् अनेकानेक कवि जन भी उसमें सदैव कविता करते रहेंगे।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि हम कतिपय बातों में शुक्ल जी से सहमत नहीं हैं तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रन्थ-रत्न बड़े ही परिश्रम, योग्यता एवं गम्भीर गवेषणा का फल है। इसके प्रकाशित होने से न केवल पं० रामशंकर जी शुक्ल का यश बढ़ेगा वरन् हिन्दी साहित्य के एक विशेष महत्व के ग्रन्थों में अच्छी वृद्धि होगी। साहित्य का इतिहास और आलोचना किस प्रकार लिखनी चाहिये इसका एक नया विलक्षण नमूना शुक्ल जी ने हम लोगो के सम्मुख रख दिया है। इस सफलता के लिये हम आपको हार्दिक धन्यवाद एवं बधाई देते हैं।

मध्य भारत
टीकमगढ़,
२०-४-१९३१

श्याम बिहारी मिश्र

नामानुक्रमणिका

अ

आ

ग

त

थ

द

य

र

ल

श

स

ह

सम्पादकीय-वक्तव्य

श्री 'रसाल' जी ने जिन रत्नों से हिन्दी-साहित्य को अलङ्कृत करने का संकल्प किया है, उनमें से यह तीसरा ग्रंथ-रत्न है। इसके पूर्व वे हिन्दी-भारती के चरण-कमलों पर 'अलङ्कार-पीयूष' (दो भागों में) और 'नाट्य-निर्णय' नामक दो ग्रंथ-रत्न अनुरागार्चना के रूप में रख ही चुके हैं, जिनके विषय में हमारे पाठकों को ज्ञात ही है, उक्त दोनों रत्नों को हिन्दी-संसार के सभी सहृदय-महानुभावों ने बड़े प्रेम से अपनाया है। अलंकार-पीयूष को पटना और नागपुर के विश्व-विद्यालयों ने अपने यहाँ एम० ए० की परीक्षाओं में तथा साहित्य-सम्मेलन ने अलङ्कार-पीयूष और नाट्य-निर्णय को अपनी उत्तमा (साहित्य-रत्न) तथा मध्यमा (विशारद) की परीक्षाओं में पाठ्य ग्रंथ स्वीकृत किया है। अब यह तीसरा ग्रंथ आज प्रकाशित होकर हिन्दी-संसार के सम्मुख आ रहा है, आशा है कि इस ग्रंथ को भी सहृदय विद्वान सप्रेम अपनायेंगे।

यद्यपि मुझे इस ग्रंथ की आलोचना करने का पूर्ण अधिकार नहीं, क्योंकि मैं पूज्यवर श्री 'रसाल' जी का अनुज हूँ, तो भी सम्पादक के रूप में मैं इस ग्रंथ की प्रमुख विशेषताओं की ओर अपने भावुक पाठकों का ध्यान अवश्यमेव आकर्षित कर सकता हूँ। जैसा कि पाठक स्वतः देखेंगे, इस ग्रंथ में इस विषय पर आज तक प्रकाशित होने वाले सभी ग्रंथों की अपेक्षा, यदि सूक्ष्म रूप में कहा जाय, निम्नांकित विशेषतायें हैं:—

१—साहित्य के इतिहास के प्रत्येक काल में, साहित्य के जिन जिन अंगों या विषयों पर जैसा जैसा रचना-कार्य्य हुआ है,

उसकी साङ्गोपांग विवेचना और मार्मिक आलोचना की गई है।

२—प्रत्येक काल में साहित्यिक काव्य-भाषा के विकास पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

३—प्रत्येक काल के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिकादि दशाओं का भी चित्रण किया गया है और साहित्य पर पड़नेवाले प्रभावों का भी उल्लेख किया गया है। साथ ही यह भी दिखलाया गया है कि देश, काल और समाज तथा भाषा और साहित्य प्रत्येक काल में एक दूसरे से कैसा सम्बन्ध रखते आये हैं।

४—प्रत्येक काल की विचार-धारा, उससे प्रभावित होने वाली साहित्यिक तथा भाषा की रचना-शैलियों का भी स्पष्ट निरूपण किया गया है।

५—साहित्य-निर्माण के केन्द्र, उसकी प्रगति अथवा उसका प्रवाह प्रत्येक काल में किस प्रकार और कहाँ रहा है, यह भी सुन्दरता के साथ दिखलाया गया है।

६—साहित्य-निर्माण में देश की भिन्न २ समाजों, जातियों और उनके लेखकों या कवियों ने प्रत्येक काल में कैसा कार्य्य किया है, इस पर भी समुचित प्रकाश डाला गया है। राजाओं, उनके दरबारों, सन्तों, भक्तों, मुसलमानों और स्त्रियों के साहित्य-रचना का कार्य्य यथोचित विवेचना के साथ दिखलाया गया है।

७—हिन्दी-गद्य और उसके साहित्य का ऐतिहासिक विकास, गद्य की भिन्न भिन्न शैलियों का प्रचार-प्रस्तार, विविध-विषयक गद्य-लेखकों, आचार्य्यों तथा गद्य-काव्य के कवियों का वर्णन, उनकी रचनाओं के आलोचनात्मक विवेचन के साथ बड़ी रोचकता से किया गया है।

८—समाचार-पत्रों, हिन्दी-प्रवर्धिनी-संस्थाओं, कवि-समाजों आदि का भी ऐतिहासिक विकास और उनके कार्य्यों का उपयुक्त वर्णन आलोचना के साथ दिया गया है—हिन्दी में समालो-

चना-शैली तथा वर्तमान काल की परिवर्तित काव्य-प्रगतियों पर भी यथेष्ट विचार किया गया है।

इस ग्रंथ का सम्पादन करते हुए मुझे जिन जिन स्थलों पर आवश्यक टिप्पणियाँ समीचीन समझ पड़ीं मैंने दे दी हैं तो भी मैं इस गुरुतर कार्य में कहाँ तक सफल हो सका हूँ यह आप महानुभावों के सम्मुख है। चूँकि यह कार्य अत्यन्त आवश्यक था और मेरी उत्कट इच्छा थी कि यह ग्रंथ शीघ्र ही आप सहृदय विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हो सके, मैंने अपने 'अभिमन्यु-बध' नामी व्रजभाषा-खंड-काव्य की पुस्तक को कभी फिर प्रकाशित करने के लिये निश्चय किया है। शीघ्रता के कारण इसमें जो भी कमी एवं त्रुटियाँ रह गयी हैं, उनका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर ही है, आशा है, उनके लिये आप मुझे अपने सदय हृदय से क्षमा करेंगे।

सुधाकर-कार्य्यालय, प्रयाग
२५-३-३१

भवदीय
रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

हिन्दी साहित्य का इतिहास

—:※:—

इतिहास का अर्थ

साधारणतया हम इतिहास की परिभाषा देते हुये यह कह सकते हैं कि जिसमें किसी देश एवं जाति का प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक का पूर्ण परिचय एवं वर्णन पाया जावे वह इतिहास है। इसके द्वारा हमें देश-जाति आदि की घटनायें, दशायें एवं अवस्थायें ज्ञात हो जाती हैं, और उनके परिणामों एवं प्रभावों का ज्ञान होता है। यदि हम इस शब्द को इसी व्यापक अर्थ में लें तो इसके अन्दर देश एवं समाज की सभी प्रकार की अवस्थाओं का पूर्ण वर्णन आ जावेगा। ऐसे सर्वांग पूर्ण इतिहास में देश एवं समाज से सम्बन्ध रखने वाली (१) राजनैतिक (२) धार्मिक (३) आर्थिक (४) चारित्रिक एवं (५) साहित्यिक आदि दशाओं का समीचीन एवं पर्याप्त वर्णन का होना आवश्यक ठहरेगा।

इस शब्द को इस व्यापक एवं विस्तृत अर्थ में न लेकर एक विशेष अर्थ में ही लिया गया है और इसका सम्बन्ध देश एवं समाज को राजनैतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं से ही घनिष्ट रूप में माना गया है। यही कारण है कि किसी देश या समाज के इतिहास में केवल राजनैतिक घटनाओं, परिस्थितियों एवं दशाओं का ही वर्णन उनके प्रभाव-परिणामों के साथ किय जाता है, और अन्य प्रकार की दशाओं का विवरण छोड़ दिया जाता है।

यदि वास्तव में सूक्ष्म विचार के साथ देखा जावे तो इस प्रकार का इतिहास अपूर्ण ही है, क्योंकि इसमें देश एवं समाज की केवल राजनैतिक घटनाओं आदि का ही वर्णन दिया जाता है और इस प्रकार इतिहास के केवल एक ही अंग की पूर्ति होती है, अन्यान्य अंग अपूर्ण ही छोड़ दिये जाते हैं, इसलिये यह एकांगी ही होता है। यदि इसे पूर्ण विस्तृत रूप देकर तैय्यार किया जाये तो कार्य कष्टसाध्य हो जावेगा, इसीलिये इसे संकीर्ण रूप दे दिया जाता है।

इतिहास की उक्त व्यापक परिभाषा के अनुसार देश एवं समाज की साहित्यिक दशा का दिखलाने वाला इतिहास (साहित्य का इतिहास) केवल एक प्रकरण मात्र है, और उससे बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। यदि कहा जावे कि साहित्य का इतिहास पूर्णतया इतिहास पर ही निर्भर है तो भी कोई विशेष अत्युक्ति न होगी। यों तो दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध ही कहा जा सकता है।

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जावे तो प्रत्येक देश एवं समाज की राजनैतिक एवं आर्थिक दशा पर ही उसकी साहित्यिक दशा एवं प्रगति समाधारित रहती है। कारण यही है कि देश की राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा एवं पूरा प्रभाव जनता पर पड़ता है, और जनता इनसे बाध्य रहती है, इन्हीं परिस्थितियों के अनुसार उसके समस्त व्यापार चला करते हैं। यही कारण है कि साहित्य में (जो समस्त समाज या जनता के विचारादि का एक व्यवस्थित समूह है) उसी प्रकार की अवस्थायें, दशायें, प्रणालियाँ एवं परिवर्तन की प्रगतियाँ पाई जाती हैं, जिस प्रकार की देश के इतिहास में। इससे स्पष्ट है कि साहित्य का इतिहास पूर्णतया इतिहास का एक मुख्य

अंग होकर उसी पर समाधारित सा रहता है।

साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इतिहास किसी देश या जाति (समाज) की प्राचीन एवं अर्वाचीन घटनाओं या अवस्थाओं के विवरण का एक सुव्यवस्थित समुच्चय है। इसके पठन से हमें उस देश एवं समाज का पूरा हाल (आद्योपान्त एवं सांगोपांग) ज्ञात हो जाता है। हम यह जान जाते हैं कि भूत काल में देश एवं समाज की क्या दशा थी, फिर उसमें किस प्रकार कब २ कैसे २ और क्यों २ परिवर्तन होते आये और अब वे किस रूप में हमें प्राप्त हो रहे हैं। इतिहास के अध्ययन से यह विदित हो जाता है कि देश एवं समाज ने कितनी उन्नति एवं अवनति की है और उसके क्या २ कारण थे। सभ्यता की विकास-वृद्धि के मार्ग पर देश किस प्रकार, कितना और क्यों प्रगतिशील हुआ है।

अतः हम कह सकते हैं कि इतिहास से हमें यही मुख्य लाभ है कि हम किसी देश एवं समाज का पूरा हाल जान जाते हैं और उससे लाभ उठा सकते हैं। इससे हम अपना सुधार एवं परिमार्जन भी कर सकते हैं, क्योंकि इतिहास हमें देश एवं समाज की घटनाओं तथा परिस्थितियों आदि का सकारण हाल बता कर हमें उनके परिणामों से भी परिचित कराता है।

इस प्रकार देखते हुये हम कह सकते हैं कि इतिहास का उद्देश्य एवं लक्ष्य मुख्यतया यही है कि वह देश, जाति या समाज से सम्बन्ध रखने वाली उन समस्त मुख्य घटनाओं का, एक सुव्यवस्थित और वास्तविक ढंग से ऐसा विवरण दे कि पाठकों के सामने उससे एक साकार चित्र सा खड़ा हो जावे, जो महत्व-पूर्ण, प्रभावोत्पादिनी और आवश्यक हैं। साथ ही उसे चाहिये कि वह देश की सम्पूर्ण आवश्यक परिस्थितियों, भिन्न भिन्न दशाओं एवं परिवर्तनादि की प्रगतियों का, उनके कारणों एवं परि-

णामों के साथ, उनके समय एवं स्थानादि को देते हुये, पूरा परिचय अपने पाठकों को दे देवे और इस प्रकार भूतकाल से लेकर वर्तमान काल तक का एक पूर्ण चित्र चित्रित कर दे। यह आवश्यक है कि ऐसा करते हुये इतिहास सर्वथा निष्पक्ष भाव के साथ एक सच्चा समालोचक सा बना रहे और जो कुछ भी वह सामने उपस्थित करे वह यौक्तिक क्रम-पूर्ण, स्पष्ट और पूर्णतया अथवा यथासाध्य प्रमाण-पुष्ट हो, उसमें सत्यता और स्वाभाविकता अपनी पर्याप्त एवं पूर्ण मात्रा में रहे। आलोचनान्तर्गत, उसके विचार सर्वथा न्याय-संगत, युक्ति-युक्त, और विवेक-पूर्ण हों, उसके अनुमान यथासाध्य सुविनिश्चित, स्वाभाविक और प्रमाण-पुष्ट रहें।

यदि इतिहास इस प्रकार अपना कार्य करता है तो कहना चाहिये कि उसने अपने उद्देश्य एवं लक्ष्य की यथोचित पूर्ति की है और वह मान्य एवं प्रमाणिक है।

——:o:——

साहित्य

आचार्य भामः ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" अर्थात् काव्य, शब्द और अर्थ से युक्त होता है, अथवा शब्द और अर्थ ही काव्य के दो अंग हैं। इसी आधार पर साहित्य शब्द की उत्पत्ति होती है और जैसा कि कुन्तल (वक्रोक्तिजीवितकार) जी का कहना है कि साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य के लिए होता है और जान पड़ता है कि यह उक्त परिभाषान्तर्गत 'सहित' शब्द से ही बना है (सहितस्य भावः साहित्यम्)। सबसे प्रथम इस शब्द

का प्रयोग 'मुकुल' जी के ग्रन्थ में मिलता है, उनके पश्चात् काव्य, एवं काव्य-शास्त्र के अर्थ में इस का प्रयोग 'प्रतिहारेन्दुराज' ने अपने ग्रन्थ में किया है। 'राज शेखर' ने अपने 'काव्य-मीमांसा' में साहित्य-विद्या का वर्णन किया है और इस शब्द को काव्य की उक्त परिभाषा से ही निकला हुआ माना है। वे लिखते हैं:—"शब्दार्थयोः यथावत् सह भावेन विद्या साहित्य विद्या" अर्थात् शब्द और अर्थ के यथावत सहभाव वाली विद्या को साहित्य विद्या कहते हैं। इस प्रकार साहित्य के अर्थ होते हैं शब्द और अर्थ का सहभाव।

इसी शब्द का प्रयोग उत्तर कालों में तीन प्रकार के अन्य अर्थों में होने लगा था, यद्यपि मूल भाव एक ही था। सबसे प्रथम इस शब्द का अर्थ काव्य से लिया जाता था और यह काव्य का एक पर्य्यायी वाचक शब्द ही था। इस अर्थ में इसी शब्द का प्रयोग अब तक भी कभी कभी साधारणतया होता ही आया है। श्री भर्तृहरि जी ने इसी अर्थ के साथ इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है :—

"साहित्य-संगीत कलानभिज्ञा-
साक्षात् पशुःपुच्छ-विषाण-हीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमम् पशूनाम् "॥

अर्थात् जो व्यक्ति काव्य और संगीत कला से अनभिज्ञ है वह बिना सींग और पूँछ का पशु है, वह तृण नहीं खाता यह उसका सौभाग्य है। इसी शब्द का दूसरा अर्थ एक व्यापक रूप में भी लिया जाता है और काव्य इसका एक मुख्य अंग माना जाता है। इसी भाव के साथ कविवर विल्हण ने अपने 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' में लिखा है :—"साहित्य पाथोधि विमंथनोत्थम् कर्णामृतं

रक्षत हे कवीन्द्राः" अर्थात् साहित्य रूपी पाथोधि (समुद्र) के विमंथन से प्राप्त होने वाले कर्णामृत रूपी काव्य की हे कवीन्द्र जनों रक्षा करो।

९०० ई० के प्रथम जब राजशेषर प्रख्यात हो रहे थे, इस शब्द का प्रयोग काव्य-शास्त्र के अर्थ में भी होने लगा था। प्रतिहारेन्दु राज ने इसी अर्थ को ले कर तर्क-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र; और मीमांसा शास्त्रादि के साथ ही साथ काव्य-शास्त्र के स्थान पर साहित्य-शास्त्र लिखा है।

इसी प्रकार मुकुल ने भी "पद वाक्य प्रमाणेषु तदेतत्प्रति विम्बतम्। यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति" इस कारिका पर प्रकाश डालते हुए साहित्य शब्द को साहित्य-शास्त्र के अर्थ में व्यक्त किया है। काव्य-मीमांसा में साहित्य-विद्या या साहित्य-शास्त्र को पंचम विद्या माना है (पंचमी साहित्य-विद्येति यायावरीयः) मखक ने अपने 'श्रीकण्ठ चरित्र' में "विना न साहित्य विदाऽपरत्र गुणा कथञ्चित् प्रथते कवीनाम्" लिखते हुए साहित्य शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में ही किया है।

यह बहुत कठिन विषय है कि वह निश्चित समय बतलाया जाय, कि जब से साहित्य को यह अर्थ दिया गया है, किन्तु जो कुछ ऊपर लिखा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द का प्रयोग सब से प्रथम (१) काव्य के अर्थ में फिर (२) एक ऐसे व्यापक एवं विस्तृत अर्थ में, जिसके अंतर्गत काव्य भी आ जाता है, और फिर (३) काव्य-शास्त्र के अर्थ में, होता चला आया है। काव्य-शास्त्र के ही अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हुए विश्वनाथ जी ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्य-दर्पण' रक्खा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में साहित्य शब्द से यही अर्थ लिया जाता था।

हिन्दी के पूर्वकाल या यों कहिये कि प्रारम्भिक-काल से ले कर हिन्दी के आधुनिक काल तक, जिसका प्रारम्भ लगभग १८५० ई० से होता, इस शब्द का व्यवहार बहुत कम किया गया है। हमारी प्राचीन पुस्तकों में यह शब्द यदि बिलकुल नहीं, तो बहुत कम आया है। यह अवश्य है कि संस्कृतज्ञ विद्वान इसका उपयोग काव्य-शास्त्र के स्थान पर ही किया करते थे और अब तक वे लोग इसको इसी अर्थ में प्रायः प्रयुक्त करते हैं। अंग्रेज़ी भाषा के सम्पर्क एवं प्रभाव से इस शब्द के अर्थ को कुछ विस्तार मिल गया है, और इसका प्रयोग अब प्रायः सभी हिन्दी लेखक Literature के ही स्थान पर उसी के पर्य्यायी वाची शब्द के रूप में करते हैं। इस प्रकार अब यह शब्द एक विस्तृत और व्यापक अर्थ रख कर अपने अन्दर अनेक विषयों को समाविष्ट रखता है, अर्थात् इतिहास, अर्थ-शास्त्र, तर्क, गद्य, काव्य एवं ऐसे ही अन्य सभी विषयों के वृहत आगार का ही नाम अब साहित्य कहा जाता है।

पाश्चात्य विद्वान् Literature की परिभाषा देते हुए, प्रायः साधारण रूप मे यही कहते हैं कि Literature किसी देश या समाज के सुयोग्य लेखकों के प्रौढ़ एवं परिष्कृत विचारों का वह वृहत एवं व्यापक समुदाय है जिसमें भाषा, रचना-कला और शैली का आनन्दप्रद सौन्दर्य्य उपयोगिता के साथ सन्निहित रहता है। चूँकि साहित्य शब्द अंग्रेज़ी के इस Literature शब्द का पर्य्यायी वाचक माना जाता है अतः हम कह सकते हैं कि साहित्य की भी परिभाषा अब वही है जो Literature की है।

साहित्य का इतिहास

हम इतिहास और साहित्य दोनों के विषय पर ऊपर पर्य्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं, उससे यह प्रगट हो गया होगा कि साहित्य और इतिहास के क्या अर्थ हैं और उनकी परिभाषायें क्या हैं। यहाँ पर हम अब 'साहित्य के इतिहास' की व्याख्या करना चाहते हैं, क्योंकि यही हमारा मूल विषय भी है।

साहित्य के इतिहास से हमारा यही तात्पर्य्य है कि इतिहास के समान जिसमें साहित्य की भिन्न भिन्न समय से सम्बन्ध रखने वाली दशाओं या अवस्थाओं का सुव्यवस्थित वर्णन हो उसे साहित्य का इतिहास समझना चाहिये। जिस प्रकार किसी देश एवं समाज के इतिहास से हमें उससे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं, उनके कारणों, परिणामों एवं उनकी परिस्थितियों आदि का यथाक्रम आद्योपान्त एवं साङ्गोपाङ्ग परिचय प्राप्त होता है, उसी प्रकार किसी भाषा के साहित्य के इतिहास से हमें उस साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न भिन्न विषयों की दशाओं, उनके कारणों एवं परिणामों आदि का, उनकी महत्वपूर्ण परिस्थितियों और प्रगतियों के साथ, ज्ञान प्राप्त होता है।

साहित्य का इतिहास हमें बतलाता है कि उस साहित्य में कब कब, कितनी कितनी और किस किस प्रकार से उन्नति या अवनति होती आई है, किस रूप से उसका प्रारम्भ हुआ है और किन किन रूपान्तरों के साथ वह इस वर्तमान रूप में विकसित होता हुआ पहुँच गया है।

किस काल में किन परिस्थितियों के अन्दर और किन कारणों से साहित्य की प्रगति किस विशेष रूप की हुई है। साहित्य का जन्म, उसका परिवर्धन एवं उसके संस्कारादि कब, कैसे और क्यों

हुए हैं। किस प्रकार के विचारों की धारायें किस समय में, तथा किन कारणों से साहित्य के क्षेत्र में वेग के साथ प्राधान्य एवं प्राबल्य लिये हुए प्रवाहित हुई हैं। साहित्य के किन किन अङ्गों (विषयों) की कैसी पूर्ति एवं स्फूर्ति किन किन कालों में तथा किन-किन प्रधान साहित्य-सम्राटों के द्वारा की गई है, अर्थात् निष्कर्ष रूप में यों कहिये कि साहित्य का वर्तमान रूप अपने किस भूत कालीन रूप से परिवर्तित, परिष्कृत एवं विकसित होकर ऐसा बन गया है।

साहित्य के इतिहास का यथार्थ उद्देश्य यही है कि वह साहित्य के भूतकाल से प्रारम्भ करके यौक्तिक क्रम के साथ वर्तमान काल तक, जो कुछ भी उसमें विकास हुआ है, उसका एक सच्चा चित्र चित्रित करके पाठकों के सन्मुख उपस्थित कर दे। जिस प्रकार इतिहास में राजनीति के केन्द्र रूपी सम्राटों एवं राजाओं के शासनों, अनुशासनों एवं कार्य्यों का मार्मिक विवेचन सत्यता के साथ किया जाता है, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी साहित्य-सम्राट रूपी लेखकों एवं कविराजों (महा कवियों) के साहित्यिक कार्यों पर प्रकाश डाला जाना चाहिये। इतिहास में जैसे राजाओं की नीतियों एवं रीतियों की समालोचना की जाती है वैसे ही साहित्य के इतिहास में भी लेखकों एवं कवियों की नीतियों, रीतियों एवं शैलियों आदि की सकारण तुलनात्मक और मार्मिक विवेचना उनके परिणामों के साथ की जानी चाहिये।

जनता पर कवियों एवं लेखकों के काव्यों और रचनाओं का जैसा प्रभाव पड़ा हो तथा जिन जिन प्रभावों से प्रभावित हो कर उन्होंने अपनी वे रचनायें की हों उन सब पर भी पूर्ण प्रकाश डाला जाना चाहिये। इस प्रकार साहित्य का पूर्ण परिशीलन वैज्ञानिक

गवेषणा के आधार पर साहित्य के इतिहास में, होना आवश्यक है, तभी उसके मुख्य उद्देश्य की यथोचित पूर्त्ति हो सकती है। साहित्य की परिभाषा में जब यह कहा गया है कि किसी देश या समाज का साहित्य उसके विचारों का एक सुव्यवस्थित भाण्डागार है, तब यह आवश्यक है कि उसके इतिहास में विचारधाराओं की ही पूर्ण व्याख्या हो। इतिहास के समान साहित्य के इतिहास में भी जितनी बातें दी जाँयें वे सब सत्य और प्रमाण-पुष्ट ही रहें। भूतकालीन बातों पर जो अनुमान किये जाँय वे युक्ति एवं तर्क सङ्गत ही हों।

साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले लेखकों एवं कवियों की उनके समयानुसार एक यथाक्रम सूची दे देना ही उचित एवं उपयुक्तोपादेय नहीं है क्यों कि यह तो एक प्रकार से तालिका या सूची पत्र देना मात्र है। प्राधान्य होना चाहिये साहित्य के इतिहास में विचारों, विशेषतया साहित्य-सम्बन्धी विचारों के विकास का। जिस प्रकार इतिहास में राजाओं के पारस्परिक युद्ध आदि के ऊपर विशेष महत्ता के साथ प्रकाश डाला जाता है, क्योंकि उनका बहुत बड़ा प्रभाव देश, जनता और उसके प्रायः समस्त व्यापारों पर पड़ता है, उसी प्रकार यहाँ भी आचार्यों के मत-मतान्तर सम्बन्धी विचारों पर ज़ोर दिया जाता है और दिया भी जाना चाहिये क्योंकि साहित्यिक क्षेत्र तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले समस्त लोगों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि साहित्य के इतिहास से हमें साहित्य का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाना चाहिये। उससे सम्बन्ध रखने वाले समस्त विषयों का यथाक्रम परिवर्तनशील विकाश भी हमें अवगत हो जाना चाहिये, इसके साथ ही साथ भाषा और उसकी शैलियों का ज्ञान तथा उनमें समय समय पर

होने वाले परिवर्तनों आदि का प्रस्फुटन होना भी प्रगट हो जाना चाहिये। साहित्य के इतिहास से यही मुख्य लाभ है और यही उसका तथा उसके लेखक का कर्तव्य अथवा उद्देश्य भी है।

नोटः—किसी देश या समाज की चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब उसका साहित्य ही कहा जा सकता है अर्थात् साहित्य में उस समाज या देश की जनता की चित्तवृत्ति का पूर्ण प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है।

इसीलिये जनता की चित्तवृत्तियों में समयादि के प्रभाव से जैसे जैसे परिवर्तन होते हैं वैसे ही वैसे परिवर्तन साहित्य एवं उसकी प्रगति में भी हुआ करते हैं। अतः किसी देश की जनता की चित्तवृत्तियों की परंपरा एवं प्रगति को परख कर उनका उस देश के साहित्य की प्रगति एवं परम्परा के साथ सामंजस्य करना ही मानो उस साहित्य का इतिहास लिखना है।

जनता की चित्तवृत्ति पर देश की राजनैतिक, सामाजिक (साम्प्रदायिक) एवं धार्मिकादि परिस्थितियों अथवा दशाओं का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, कह सकते हैं कि जनता की चित्तवृत्ति की परम्परा इन्हीं से निर्मित होती है, अतः साहित्य की परम्परा को समझने के लिये इनका प्रथम ही पर्याप्त या पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये, क्योंकि साहित्य की परम्परा जनता की परम्परागत चित्तवृत्ति से ही पूर्णतया प्रभावित होती हुई बना करती है। अतः नैतिक एवं धार्मिकादि दशाओं का वर्णन साहित्य के इतिहास का एक प्रधान अंग या भाग है। नतिकादि दशाओं से, साहित्य की प्रगतियों का स्पष्ट रूप से परिचय प्राप्त हो जाता है क्योंकि वे इनकी कारण-रूपिणी ही सी हैं। यदि हम भिन्न भिन्न कालों में जनता की चित्तवृत्तियों की परम्परा के भिन्न भिन्न रूपान्तरों को, देश की राजनैतिक एवं धार्मिक दशाओं आदि की सहायता से समझ लें तो हम साहित्य की परम्परा के भी भिन्न भिन्न रूपान्तरों को बड़ी सुविधा और सरलता से भली प्रकार समझ सकेंगे। इसीलिये साहित्य के इतिहास में प्रथम देश

साहित्य और अन्य विषय।

साहित्य और इतिहास

जिस विषय से साहित्य का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है वह है इतिहास, क्योंकि साहित्य का निर्माण एवं विकास देश और समाज की राजनैतिक परिस्थितियों एवं दशाओं पर ही बहुत कुछ निर्भर रहता है। साहित्य एक ऐसा बीज है जो बोया तो प्रत्येक समय जा सकता है, किन्तु पल्लवित और पुष्पित तभी होता है जब देश और समाज के अन्दर सब प्रकार सुख-शान्ति की शालिमा रहती है। न केवल काव्य-कला आदि के सम्बन्ध में यह बात चरितार्थ होती है, वरन् इसी प्रकार की समस्त कलाओं पर भी यह घटित होती है। जिस समय देश में अशान्ति और आपत्ति रहती है उस समय जनता में उससे मुक्ति प्राप्त करने की ही चिन्ता विशेष रूप से बलवती और प्रधान होती है। अशान्ति और आपत्ति आदि से ही सम्बन्ध रखने वाले विचार देश के मानस में तरंगित होते रहते हैं और उसी प्रकार का साहित्य उस समय बनता भी है। यदि देश की दशा बड़ी ही दीन-हीन रहती है तो साहित्य को विकसित होने का अवसर नहीं प्राप्त होने पाता, क्योंकि लोग दीनता के दूर करनेवाले अनेकों उद्योग-धन्धों में व्यग्र रहते हैं। उन्हें किसी प्रकार शारीरिक श्रम करके अपने आर्थिक संकटों के दूर करने की ही चिन्ता लगी रहती है और मस्तिष्क सम्बन्धी कार्यों की, जिनका साहित्य के क्षेत्र में

की राजनैतिक एवं धार्मिकादि अवस्थाओं का, जिनसे जनता की चित्तवृत्ति एवं उसकी परम्परा बनकर उसके साहित्य की प्रगति-परम्परा को बनाती है, स्पष्ट रूप से देना आवश्यक एवं अनिवार्य सा ही है।

पूर्ण प्राधान्य है, चिन्ता नहीं रहती। उस समय मस्तिष्क उसी प्रकार के वैज्ञानिक साहित्य की उत्पत्ति एवं वृद्धि करता है जिससे आर्थिक कठिनाइयाँ दूर हो सकें। जिस अर्थ में हम साहित्य को ले रहे हैं उससे सम्बन्ध रखने वाले विषयों का विकाश अशांति-पूर्ण क्रान्ति के समय में नहीं होता।

राजनैतिक घटनाओं एवं बातों का प्रभाव जनता पर पड़ता ही है और इसी लिए उनका प्रभाव साहित्य पर अनिवार्य्य रूप से पड़ता है। देश एवं समाज की परिस्थितियों के प्रभाव से भी साहित्य एवं साहित्य के विधाता लोग बिना प्रभावित हुए नहीं बचते। जैसी दशायें एवं अवस्थायें देश और समाज की होती हैं, वैसी ही साहित्य की प्रगति को भी होती हुई देखी जाती हैं। निष्कर्षतः इतिहास सम्बन्धी समस्त घटनायें अथवा प्रभावपूर्ण बातें साहित्य की प्रगति पर अपना असर डाले बिना नहीं रहतीं, इसीलिए साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से पूर्व यह सर्वथोचित एवं उपयुक्त ही होता है कि जिस किसी देश या जाति अथवा भाषा का वह साहित्य हो उसका इतिहास प्रथम अच्छी प्रकार समझ लिया जाय। ऐसा करने से बड़ी सुविधा और सरलता होती है। साहित्य के इतिहास में उससे संबन्ध रखने वाली सभी आवश्यक ऐतिहासिक बातों पर पहिले पर्य्याप्त प्रकाश डाल देना समीचीन होता है।

साहित्य और धर्म शास्त्र।

दूसरा विषय, जो इस विषय से सम्बन्ध रखता है, चरित्र एवं धर्म शास्त्र है। धार्मिक बातें ही समाज को एक शृंखला के रूप में सम्बद्ध और व्यवस्थित रखती हैं। जितना अधिक प्रभाव मनुष्य के मन, मस्तिष्क और जीवन पर धर्म एवं

चरित्र का पड़ता है उतना अधिक और किसी भी बात का नहीं पड़ता। धार्मिक नेताओं एवं आन्दोलनों से जनता जितनी अधिक प्रभावित होती है, उतनी कदाचित राजनैतिक एवं अन्य प्रकार के नेताओं से नहीं होती। यह प्रत्यक्ष ही है कि राजनैतिक व्यवस्थाओं आदि में जितनी शीघ्रता से परिवर्तन होता है उतनी शीघ्रता से धार्मिक क्षेत्र में नहीं। धर्म की महत्ता और सत्ता में स्थायित्व विशेष रूप से होता है और इसी लिए उसका प्रभाव भी विशेष स्थायी और दृढ़ रहता है। हमारे आन्तरिक जीवन से यदि किसी विषय का घनिष्ट सम्बन्ध है तो वह पहिले धार्मिक विषय है। दूसरे विषयों का सम्बन्ध हमारे अन्तर्जगत से बहुत विशेष रूप में न हो कर वाह्य जगत से ही प्रधानतया रहता है। यही कारण है कि धर्म हमारे जीवन पर अधिपति सा होकर स्थिरता और दृढ़ता के साथ शासन करता रहता है।

ऐसी अवस्था में यह अनिवार्य और आवश्यक है कि हमारा साहित्य हमारे धर्म से विशेष रूप में प्रभावित हो। वास्तव में बात भी यही है कि हमारा साहित्य, यदि अपने समस्त रूप में नहीं तो विशेष रूप में अवश्य ही, हमारे धर्म से प्रगाढ़ सम्बन्ध रखता है। कहना न होगा कि हमारे साहित्य का बहुत बड़ा भाग हमारे धर्म पर अवलम्बित है। धार्मिक सिद्धान्तों के ही आधार पर एवं धार्मिक आन्दोलनों के ही कारण हमारे साहित्य के विशिष्ट अंगों की उत्पत्ति एवं विकास-वृद्धि हुई है, जिसे हम आगे दिखलाने का प्रयत्न करेंगे।

धर्म के लक्षण में मुख्यतया यही कहा गया है:— 'यतोऽभ्युदय निश्श्रेयससिद्धिःसः धर्मः' अर्थात् जिससे इस संसार में अभ्युदय हो और निश्श्रेयष अथवा जीवन के मुख्य लक्ष्य (सुख-शान्ति पूर्ण मोक्ष) या उद्देश्य की प्राप्ति हो वही धर्म (कर्तव्य) है।

इस प्रकार धर्म के दो पटल हो जाते हैं (१) जिसका सम्बन्ध लौकिक कार्यों अथवा व्यापारों से होकर हमारे सांसारिक जीवन से है (इसे हम व्यावहारिक या चारित्रिक रूप कह सकते हैं)। (२) जिसका सम्बन्ध हमारे पारलौकिक जीवन से या हमारे अन्तर्जगत सम्बन्धी आनंद रूपी उद्देश्य से है (इसे हम आध्यात्मिक रूप कह सकते है)। साहित्य का सम्बन्ध धर्म के इन दोनों रूपों से है। प्रथम रूप के अनुसार ऐसे साहित्य की रचना होती है जिसमें आदर्श-चरित्रों का चित्रण एवं कर्तव्य कार्यों का वर्णन लौकिकता की दृष्टि के साथ किया जाता है। दूसरे रूप के अनुसार ऐसे साहित्य का निर्माण होता है जिसमें हमारे अन्तर्जगत से सम्बन्ध रखने वाली धार्मिक बातों का वर्णन या विवेचन किया जाता है।

सारांश यह है कि हमारा साहित्य हमारे धर्म के आधार पर स्थिर होता हुआ उसी के साथ साथ उससे प्रभावित हो विकसित एवं परिष्कृत होता आया है। हम कह सकते हैं, और इसमें कोई अत्युक्ति न होगी, कि धार्मिक आन्दोलनों का हमारी साहित्यिक प्रगति में बहुत बड़ा भाग एवं प्रभाव है।

साहित्य की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि साहित्य का समाज से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य रचयिता समाज के ही व्यक्ति होते हैं और समाज ही से उनकी मनोवृत्तियाँ, कल्पनायें, भावनायें तथा उनके विचार या भाव आदि निर्मित होते हैं। समाज का प्रभाव उन पर अनिवार्य्य रूप से पड़ता है, क्योंकि वे समाज की रीतियों एवं नीतियों आदि से सदैव नियंत्रित रह कर चलते हैं। उनका लौकिक और आध्यात्मिक जीवन समाज के आदर्शों एवं सिद्धान्तों के ही साँचों में ढला रहता है। सामाजिक परिस्थितियाँ उनकी मानसिक शक्तियों को चलाने में बहुत कुछ

समर्थ होती हैं। यह अवश्य है कि साहित्य निर्माताओं की अपनी स्वतंत्र सत्ता एवं प्रतिभा-जन्य महत्ता भी होती है और उनके आधार पर वे अपने समाज, समय और अपनी स्थिति आदि में बहुत कुछ रूपान्तर कर सकते हैं। वे केवल समाज से प्रभावित होने वाले ही नहीं होते हैं वरन् अपने प्रतिभाशाली स्वातंत्र्य से उस पर प्रभाव भी डालते हैं, तौ भी वे समाज की विशेष भाव-पद्धति से जिसे सामाजिक-भाव या परम्परा प्रणाली कह सकते हैं अवश्यमेव प्रभावान्वित रहते हैं। उनके लेख आदि में, उनके देश-काल आदि का पर्य्याप्त प्रतिबिम्ब रहता है, क्योंकि उनकी प्रतिभा में जो उनकी समाज से बन चुकी है अवश्य ही समाज के कतिपय स्वाभाविक-भावों, रीति-रस्मों एवं व्यवहारों आदि के मूल तत्व किसी न किसी अंश या रूप में सन्निहित ही रहते हैं और उनकी लेखनी को प्रभावित करते रहते हैं। यही कारण है कि साहित्य से हम तत्सम्बन्धी देश-काल एवं समाज आदि का बहुत कुछ परिचय प्राप्त कर लेते हैं। इस दृष्टि से देखने पर समाज और साहित्य में समान रूप से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध जान पड़ता है।

समाज-शास्त्र (Socialogy) इसीलिये साहित्य से बहुत कुछ सम्बन्ध रखता है क्योंकि वह समाज की उन रीतियों एवं नीतियों आदि की विवेचना करता है, जिनसे उस समाज का इतिहास एवं साहित्य प्रभावित होता है। जिस सामाजिक सभ्यता की विवेचना समाज-शास्त्र करता है उसी का चित्र चित्रित करके साहित्य अपने पाठकों के सामने रखता है। सामाजिक विकाश या उन्नति तथा सामाजिक अवनति का क्रमिक इतिहास साहित्य से बहुत कुछ जाना जा सकता है। जिस प्रकार एक उन्नतिशील समाज अच्छे साहित्य की उत्पत्ति कर सकता है अथवा एक पतित समाज निंद्य साहित्य की रचना कर सकता है उसी प्रकार

साहित्य भी अपनी भावी संतति को अच्छा या बुरा बनाने में बहुत कुछ क्षमता रखता है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि समाज और साहित्य में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है और वैसे ही समाज-शास्त्र तथा साहित्य के इतिहास में परस्पर गाढ़ी मैत्री है।

देश एवं समाज की आर्थिक दशा का भी बहुत बड़ा प्रभाव उसकी उन्नति और अवनति आदि पर पड़ा करता है। एक समृद्धि-शाली देश में सभ्यता अपने सभी अंगों के साथ पुष्ट होती है और देश एवं जनता को उन्नति की ओर अग्रसर करती है। धन-सम्पन्न देश में ही विज्ञान का प्रकाश तथा कला का कलित विकास सुष्ठ रूप में होता एवं हो सकता है। धन ही देश को प्रत्येक प्रकार के उन्नति-कार्य में आगे बढ़ाता है—'Money makes every thing go' और उसमें विद्या, बुद्धि, बल और विक्रम आदि रत्न भर देता है। बस अर्थवान देश में साहित्य का कल्पवृक्ष भी ख़ूब प्रौढ़ होकर पल्लवित, पुष्पित और फलवान होता है। इसके विपरीत धन-हीन देश में प्रत्येक प्रकार की अवनति सामने ही खड़ी रहती है। अतः अब स्पष्ट है कि साहित्य का अर्थशास्त्र से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इन सब विषयों से साहित्य के संबन्ध को देखते हुए हमें यह भी देख लेना उचित एवं आवश्यक जान पड़ता है कि देश की भौगोलिक स्थिति एवं दशा का क्या प्रभाव उस पर तथा उसकी जनता पर पड़ता है। यह तो एक बिलकुल ही स्पष्ट बात है कि हमारे मन, मस्तिष्क तथा शरीर आदि पर हमारे चतुर्दिक की जल-वायु एवं प्रकृति का पूरा प्रभाव पड़ता है, हमारे अंगों-प्रत्यंगों की रचना हमारी चतुर्दिक की प्रकृति के ही अनुसार होती है और हमारी प्रकृति तथा अन्य सभी वहिरंग एवं अंतरंग

बातें जल-वायु के ही आधार पर समाधारित रहा करती हैं। हमारी विचार-धारा की प्रगति भी हमारे देश की प्राकृतिक दशाओं से प्रभावित, निर्मित एवं संचालित होती है। हमारे नाद-यंत्रों का भी निर्माण हमारे देश की स्वाभाविक अवस्थाओं के ही अनुकूल होता है, या निष्कर्ष-रूप में यों कह सकते हैं कि हमारी शारीरिक एवं मानसिक आदि बातों की रचना हमारे देश की भौगोलिक अवस्था या सत्ता-महत्ता के ही आधार पर होती है।

इसलिए यह स्वाभाविक एवं अनिवार्य है कि हमारी भाषा तथा हमारी साहित्य-प्रगति का भी निर्माण उनके ही अनुसार हो, और वस्तुतः बात भी यही है। जब हमारे मन, मस्तिष्क एवं नाद-यंत्रों का निर्माण हमारे देश की स्वाभाविक एवं प्राकृतिक दशाओं के अनुकूल होता है तब अवश्यमेव हमारे साहित्य की भी रचना इन्हीं के अधार पर होगी, क्योंकि साहित्य की उत्पत्ति होती है हमारे ही मन, मस्तिष्क से। इस प्रकार विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य एवं जनता की चित्त-वृत्ति-संबन्धिनी परम्परा देश की भौगोलिक परिस्थितियों से भी पूर्णरूप में प्रभावित होती है। इसलिये हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम साहित्य के इतिहास की विवेचना के करने से पूर्व उसकी आधार रूपी भौगोलिक अथवा प्राकृतिक बातों या परिस्थितियों से पर्याप्त परिचय प्राप्त कर लें। यदि हमें किसी देश की स्वाभाविक बातों एवं दशाओं का अच्छा ज्ञान है तो हम उसकी सहायता से उस देश की जनता, उसकी चित्त-वृत्ति, उसकी परम्परा की प्रगति एवं उसकी साहित्य-संबन्धी प्रधान २ प्रगतियों एवं बातों का बहुत कुछ अनुमान एवं ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि इन दोनों में बहुत ही घनिष्ट आधाराधेय संबन्ध सा है।

किसी देश एवं समाज के जीवन-नाटक के लिये उस देश की भौगोलिक परिस्थिति रंग-भूमि के ही समान है, उस पर ही उस नाटक की समस्त लीलाओं का अभिनय होता है, साहित्य उन समस्त लीलाओं की परम्परा-सम्बन्धी चित्त-वृत्ति का एक प्रतिबिम्ब एवं सजीव चित्र है। जिस प्रकार चित्र को अच्छी प्रकार से समझने के लिये हमें उसके पृष्ठतल या धरातल (Back Ground) का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है उसी प्रकार साहित्य से परिचय प्राप्त करने के हेतु उससे सम्बन्ध रखने वाली भौगोलिक परिस्थिति का सुव्यक्त होना भी आवश्यक है। जिस प्रकार चित्र के साथ ही साथ हम उसमें (चित्र पर) चतुर्दिक-व्यापिनी प्रकृति एवं उसके दृश्यों के चित्रण को एक व्यापक प्रतिबिम्ब के रूप में देखते हैं, उसी प्रकार साहित्य के भी साथ ही साथ हम उस साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले तथा उसके चारों ओर स्थित रहने वाले प्रकृति-मंडल एवं भौगोलिक दृश्य की भी छाया देख सकते हैं। प्राकृतिक दृश्यों के आलेख्य से जिस प्रकार मुख्य या मूल चित्र प्रभावित होता है उसी प्रकार भौगोलिक परिस्थितियों से साहित्य का चित्र भी, जिसे हम इतिहास कह सकते हैं, प्रभावित होता है। जैसे २ परिवर्तन उस में होते हैं वैसे ही वैसे परिवर्तन इसमें भी दिखलाई पड़ते हैं।

इस प्रकार अब यह एक सिद्धान्त सा बन जाता है कि साहित्य का भूगोल से भी बहुत गहरा सम्बन्ध है। यदि हमें किसी देश का भूगोल पूर्ण रूप से ज्ञात है तो हम उस देश के साहित्य एवं उसके इतिहास का भी बहुत कुछ अनुमान उसी प्रकार कर सकते हैं जिस प्रकार हम भौगोलिक दशा के ज्ञान से वहाँ के इतिहास का अनुमान कर सकते या करते हैं।

बस अब हम सूक्ष्म रूप से यह कह सकते हैं कि हम अपने

हिन्दी-साहित्य के इतिहास की (उसके भिन्न भिन्न कालों की दशाओं आदि का परिशीलन करने से पूर्व) निम्न बातों पर भी कुछ आवश्यक दृष्टिपात करेंगे :—

१—देश एवं समाज की राजनैतिक दशाओं पर।

२—देश एवं जनता की धार्मिक परिस्थितियों पर।

३—वहाँ की भौगोलिक परिस्थितिओं पर।

४—वहाँ तथा उसकी आर्थिक अवस्थाओं पर।

ऐसा करने से हमें अपने विषय में बहुत बड़ी सहायता प्राप्त हो सकेगी।

हिन्दी-साहित्य का काल-विभाग

विद्वानों और बुद्धिमानों के द्वारा जब जन साधारण की बोली या भाषा परिष्कृत, संस्कृत एवं परिमार्जित हो कर सुन्दर एवं शिष्ट हो जाती है तब वह साहित्यिक एवं उच्च कोटि की शिष्ट भाषा कहलाने लगती है और उसका प्रयोग विद्वान कवि एवं लेखक लोग अपनी रचनाओं में करने लगते हैं और तभी से साहित्य की उत्पत्ति हो चलती है। यह एक स्पष्ट बात है कि विद्वान एवं बुद्धिमान लोग अपनी एक विचित्र प्रकार की ऐसी भाषा बना लेते हैं जो साधारण जनों की साधारण बोली से सर्वथा भिन्न ही सी हुआ करती है। इसी के साथ वे लोग अपनी इस भाषा को और भी संस्कृत एवं परिमार्जित करके एक ऐसा विशेष रूप दे देते हैं जिसका प्रयोग लिखने में ही होता है, और इस प्रकार साहित्य-रचना के लिये एक विशेष प्रकार की भाषा बन जाती है। लिखने की भाषा उस भाषा से बहुत कुछ पृथक एवं भिन्न होती है जिस का प्रयोग शिष्ट जन साधारण बोलचाल में किया करते हैं, और जो जन साधारण की साधारण बोली के

परिष्कृत एवं संस्कृत रूप में होती है।

जब तक भाषा में साहित्यिक क्षमता नहीं आ जाती तथा जब तक वह संस्कृत एवं परिमार्जित होकर साहित्यिक रूप में नहीं हो जाती, तब तक उससे साहित्य की (जिसे वास्तव में साहित्य कहना चाहिये) रचना नहीं होती या हो सकती। हाँ, यह अवश्य है कि भाषा को पूर्णतया साहित्यिक रूप के प्राप्त करने में कुछ समय लगता है, और इसके पूर्व उसमें कुछ न कुछ साहित्य अवश्य ही रचा जाता है। साथ ही यह भी देखा जाता है कि भाषा के साहित्यिक रूप में आ जाने पर भी उसमें विकास-वाद एवं परिवर्तन-वाद के अनुसार निरंतर ही कुछ न कुछ परिवर्तन एवं विकास होता ही रहता है तथा विचक्षण विद्वानों की विचक्षण विशेषताओं के आधार पर उसमें कुछ विशेषतायें भिन्न भिन्न शैलियों के रूपों में आती रहती हैं, किन्तु यह एक दूसरी ही बात है। अभी हमारा यहाँ यही कहना है कि बोली को जब तक साहित्यिक क्षमता नहीं प्राप्त हो जाती तथा जब तक वह साहित्यिक (अविकसित एवं अपर्याप्त परिमार्जित रूप में ही सही) रूप में नहीं आ जाती तब तक उससे साहित्य की रचना नहीं होती।

इस बात का ध्यान में रखते हुये हम देखते हैं कि हमारी हिन्दी को (जिसका जन्म-काल लगभग ७०० संवत् या ७०० और ६०० संवत् के बीच में माना गया है) साहित्यिक क्षमता एवं कुछ थोड़ा साहित्यिक रूप लगभग १००० सं० के ही आस-पास प्राप्त हुआ है, अतः स्पष्ट है कि बस इसी समय से हिन्दी-साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ है और इसी समय से इसे विद्वानों (कवियों एवं लेखकों) ने उठा कर इसमें रचना करना प्रारम्भ कर साहित्य को जन्म दिया है।

इस समय से पूर्व लगभग २०० वर्ष तक अर्थात् ७०० सं० से ९०० सं० तक हिन्दी भाषा विशेषतया एक बोली (साधारण बोली) के ही रूप में रह कर अपनी शैशवावस्था में ही रही और आगे बढ़ कर साहित्यिक रूप के प्राप्त करने का प्रयत्न करती रही। यह इस बात से सर्वथा पुष्ट प्रतीत होती है कि सं० ७७२ में पुष्प या पुंड नामी एक कवि ने इसे उठा कर संस्कृत के एक अलंकार-ग्रंथ का अनुवाद हिन्दी-दोहों में किया था। इस ग्रंथ का अब तक कोई पूरा पता नहीं प्राप्त हो सका, अतः इसके विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य का उदय ९ वीं शताब्दी के अंतिम काल से ही हुआ है और तब से ही वह अब तक उत्तरोत्तर विकसित, परिमार्जित एवं परिवर्धित होता चला आया है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य का इतिहास अभी केवल १००० वर्ष की ही अवस्था का है और अब अपने यौवन-काल में प्रवेश कर रहा है। अस्तु, हम अब इस १००० वर्ष के समय को, इसकी विशेष विशेष अवस्थाओं के ही आधार पर इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं :—

१—आदि काल—१००० सं० से १४०० सं० तक

बाल्यावस्था { क-पूर्वार्ध—१००० सं० से १२०० तक
ख-उत्तरार्ध—१२०० सं० से १४०० तक }

२—मध्यकाल—१४०० सं० से १८०० सं० तक

किशोरावस्था { क-पूर्वार्ध—सं० १४०० से १६०० तक
ख-उत्तरार्ध—सं० १६०० से १८०० तक }

३—आधुनिक काल—१८०० सं० से आज तक

युवावस्था { क-परिवर्तन-काल—सं० १८०० से १९०० तक
ख-वर्तमान—सं० १९०० से अब तक }

उक्त काल-विभाग यहाँ उन भिन्न भिन्न कालों की व्यापक विशेषताओं एवं साहित्यिक विशिष्ट परम्पराओं, प्रवृत्तियों एवं प्रगतियों के ही आधार पर किया गया है। जिस समय में जो विचार-धारा व्यापकता एवं विशेषता के साथ प्रवाहित रही है उसी की प्रधानता का ध्यान रखकर उसी के समय के अनुसार उसकी अवधि ठहरा ली गई है। इस से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि किसी अमुक समय की किसी अमुक विशेष प्रगति एवं परम्परा के अतिरिक्त उस समय में और किसी भी प्रकार की अन्य प्रगतियाँ एवं विचार-धारायें उपस्थित ही न थीं, वरन् यहाँ तात्पर्य केवल यही है कि उस विशेष काल में व्यापकता के साथ अमुक विचार-धारा का ही पूर्ण प्राधान्य था, अन्य धारायें गौण एवं शिथिल रूप में चल रही थीं। प्रत्येक पूर्ववर्ती धारा की प्रगति उत्तरकाल में भी रही, किन्तु अपने उस पूर्व वाले वेग के साथ नहीं। उत्तरोत्तर कालों में धाराओं की संख्या में परिवर्धन एवं परिवर्तन होता चला आया है, और नई नई प्रगतियाँ उत्तर कालों में प्रचलित हो हो कर अपनी पूर्ववर्ती प्रगतियों के साथ मिलती तथा अपने नवीन वेग-बल से उन्हें दबाती आई हैं। यह कदापि नहीं हुआ कि पूर्ववर्ती धाराओं का पूर्ण रूप से अभाव ही हो गया हो। हाँ, यह अवश्य हुआ है कि समय एवं परिस्थितियों के प्रभाव से उनका वेग-बल पूर्ववत न रह कर कम होता हुआ अप्रधान एवं गौण रूप में ही रह गया है। इसी विचार से जिस काल में जो विचार-धारा विशेष बल-वेग वाला होकर व्यापक एवं प्रधान हुई है उसी को यहाँ प्राधान्य दिया गया है और जो क्षीण वेग-बल से चलती रही हैं उन्हें यहाँ गौण रूप में ही दिखलाया गया है।

——:o:——

द्वितीय अध्याय

आदि काल (सं० १००० से १४०० तक)

देश की राजनैतिक दशा

श्रीहर्ष वर्धन महाराज के पश्चात् अर्थात् लगभग ६४६ या ६४७ ई० के बाद उत्तरीय भारत का एक सुदृढ़ एवं प्रभाव-प्रतापशाली साम्राज्य, जिसकी छत्रच्छाया में देश एवं समाज सब प्रकार सुख और शान्ति के सुधा-रस का स्वतंत्रता के साथ समास्वादन कर रहा था, दैव-दुर्विपाक एवं भारत के अभाग्य से नाश हो गया।

कोई भी ऐसा प्रताप-प्रतिभाशाली चक्रवर्ती सम्राट न रह गया, जो देश की नौका को समय-सागर में सुचारु रूप से एक नीति-नय-नागर कुशल कर्णधार के समान ले चल सकता। कोई भी ऐसा प्रभावी नेता न रह गया, जो समाज को उन्नति और उत्थान के शिखर की ओर अग्रसर करता हुआ अभ्युदय के प्रशस्त एवं कमनीय आसन पर आसीन करा सकता और ज्ञान-विज्ञान की रत्न-राशि के प्राप्त करने में प्रोत्साहन दे दे कर कला कौशलादि के सुख-सिद्धि-समृद्धिकारी गुणों का प्रसार-प्रचार करा सकता। देश एवं समाज को अज्ञान के आपदाकीर्ण अन्धकार से विमुक्त कराने वाला कोई प्रभाकर रूपी प्रजापति न रह गया। बस देश का समय अब बिगड़ चला। उसकी सुदशा धीरे धीरे दुर्दशा में रूपान्तरित हो चली। शान्ति के स्थान पर

अशान्ति, स्वतंत्रता के स्थान पर परतंत्रता और संपदा के स्थान पर आपदा की ही उत्तरोत्तर एवं शनैः शनैः वृद्धि हो चली। देश में उच्छृङ्खलता, नियमोल्लंघनता तथा इनके दुष्परिणामों के रूपों में दीनता, हीनता एवं क्षीणता का निवास हो चला। भारत और हिन्दुओं का प्रबल साम्राज्य टूट गया, ऐतिहासिक एकता की परंपरा भंग हो गई और देश में कई छोटे छोटे राज्य यत्र तत्र स्थापित हो गये। इनमें पारस्परिक प्रीति-प्रतीति, सहानुभूति एवं सहयोगादि की सुन्दर भावनायें न रहीं, वरन् आत्माभिमान, द्वेष, ईर्षा एवं इसी प्रकार की अन्य हानिकारी प्रवृत्तियाँ बढ़ चलीं, जिन के कारण उनमें पारस्परिक कलह आदिक धीरे धीरे बढ़ने चढ़ने लगी, और उनकी रही सही शक्ति एवं सम्पदा आदि भी विनष्ट हो चली।

राजपूतों के भिन्न भिन्न वंशों ने अपने भिन्न भिन्न राज्य स्थापित करके तथा पारस्परिक प्रेम एवं सहयोग आदि को अपने मिथ्या अभिमानादि के दुर्गुणों से दूर करके देश को बिलकुल ही हीन और दीन बना दिया। जनता ने बहुत पहिले ही से राजनीति के क्षेत्र से अपने को पृथक कर लिया था और उसमें वह कुछ भी कार्य न करती थी, क्योंकि देश की राजनैतिक दशा की बागडोर सब प्रकार इन्हीं क्षत्रियों या राजपूतों के हाथ में चली आ रही थी, जनता को उससे कोई भी सम्बन्ध न था। जब तक क्षत्रिय सम्राटों ने अपने कर्तव्य का कर्तव्य के समान पूर्ण रूप में परिपालन किया तब तक तो कार्य सुचारु रूप से चलता रहा, किन्तु जब उनमें कर्तव्य-परायणता की मात्रा कम हो चली, वे अपने धर्म-कर्म में शिथिल हो चले तथा जब वे व्यसनों में पड़ कर विलासी से बन चले, तब से देश की राजनैतिक दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ती ही गई। यहाँ तक कि लगभग ६०० ई० या १००० ई०

के आप पास (जिस समय से हमारे हिन्दी-साहित्य एवं हिन्दी भाषा के उदय का प्रारम्भ होता है) देश बिलकुल ही जर्जरीभूत सा दिखलाई पड़ने लगा।

मौर्य वंश का प्रतापी प्रभाकर जो पूर्व की ओर उदित होकर भारत को प्रतिभा-प्रभा से जगमगाता था, तथा जो उन्नत होकर गुप्त वंश की प्रशस्त प्रभा को चारो ओर बिखरा चुका था, अब पश्चिम की ओर अस्ताचल पर जाकर अस्त सा होने लगा था।

पश्चिमीय भारत में सूर्य-वंश-सूर्य राजपूतों के रूप में कुछ चमक अवश्य रहा था, किन्तु उसमें वह तेज एवं प्रकाश न रह गया था जो उसमें प्रथम था। राजपूत-साम्राज्य अभी प्रतिभा-प्रताप-पूर्ण था अवश्य, किन्तु एकता के अभाव से उसकी भी शक्ति छिन्नभिन्न हो चली थी और इसी लिये उसमें दृढ़ता और स्थिरता न रह गयी थी।

पश्चिमीय भारत में इस समय कई राजपूत-राज्य एवं राज-वंश, जैसे गहरवार, चौहान, चंदेल, एवं परिहार आदि कन्नौज, दिल्ली, महोबा और अजमेर आदि में हो गये थे। ये थे प्रतापी अवश्य, किन्तु इतने प्रतापी न थे, जितने ये हुये होते यदि ये सब मिलकर एक हो गये होते। जिस प्रकार इन के राज्य संकीर्ण थे उसी प्रकार इनकी शक्ति भी संकीर्ण एवं जीर्ण-शीर्ण सी थी। साथ ही इन लोगों ने पारस्परिक सहयोगिता एवं एकता को न रख कर उसके विपरीत विलगता एवं वैमनस्य को बढ़ा कर अपनी शक्तियों का ह्रास ही सा कर रक्खा था। केवल शौर्य एवं प्रतिभा-प्रभाव के प्रदर्शनार्थ ही ये आपस में बिना किसी विशेष आवश्यक कारण के ही लड़ते झगड़ते तथा अपनी शक्ति का नाश करते रहते थे। इसका परिणाम यह भी होता था कि जनता सुख और शान्ति से न रह पाती थी, और इसीलिये वह इनके प्रति

कोई विशेष अनुराग भी न रखती थी, विपत्ति में इनकी सहायता करने के लिये भी वह कभी प्रसन्नता के साथ आगे न आती थी। विलासिता भी इनमें कुछ ऐसी बढ़ रही थी कि प्रायः सुन्दर राज-कुमारियों का अपहरण ही होता रहता था, जिसके ही कारण भयंकर एवं दुष्परिणामोत्पादक युद्ध हो जाया करते थे। इन्हीं कारणों से राजपूत शक्ति-हीन हो चले थे।

देश की ऐसी हीन दशा देख कर मुसलमानों ने भी आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। बस अब क्या था, इधर तो पारस्परिक गृह-कलह से शक्ति-क्षय हो ही चुका था, राजपूतों को जब इस नई शक्ति से सामना करना पड़ा तब उनका अभिमान चूर्ण हो गया और केवल उन्हें पराजय ही लेनी पड़ी। इस समय भी यदि ये सब राजपूत-वीर पारस्परिक भेद-भाव को हटा कर तथा एक हो कर अपने इन नये शत्रुओं का सामना, उन्हें देश, जाति, एवं धर्म का विनाशकारक समझ कर, करते तो कदाचित् आज हमें भारतवर्ष के इस समय का इतिहास किसी दूसरे ही रूप में बड़े गर्व-गौरव के साथ पढ़ने को प्राप्त होता।

वीर-वंश-भूषण वीर राजपूतों ने इन मुसलमान शत्रुओं का बड़ी शूरता के साथ सामना किया और इनसे बड़े पराक्रम के साथ लड़ते हुये इन्हें कई बार हरा कर भगाया भी, किन्तु अन्त में उन्हें इन से हार ही खानी पड़ी। इसके भी दो मुख्य कारण हैं। एक तो राजपूत लोग कूट नीति (जो राजनीति का एक मुख्य अंग है) को भूल सा गये थे, और दया एवं क्षमा आदि गुणों का पालन कुछ अनौचित्य के साथ, मर्यादा का ध्यान न रखते हुये, किया करते थे। दूसरे पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, सहयोग एवं एकता को भुलाकर, ये आपस ही में लड़ते झगड़ते और अपनी शक्ति का ह्रास एवं विनाश करते थे, जिससे अपने

देश, जाति एवं धर्म के एक शत्रु का सामना करने में ये असमर्थ से ठहरते थे।

मुसलमान लोग हार कर भी बार बार यहाँ आक्रमण करते रहे क्योंकि वे अच्छी तरह से जानते थे कि राजपूतों में आपस की लड़ाई के कारण शक्ति, एकता एवं हिम्मत नहीं रह गई और देश की जनता राजनैतिक युद्धों से बिलकुल ही अनभिज्ञ और दूर है, वह इनके लिये अयोग्य है और राजनैतिक बातों से वैमुखी वृत्ति ही रखती है। जनता सब प्रकार इन्हीं राजपूतों पर निर्भर रहती है और राजपूत लोग शक्तिहीन हो रहे हैं। यही कारण था कि मुहम्मद गज़नवी और मुहम्मद गोरी ने भारत पर, बार बार पराजय पाने पर भी, आक्रमण किये हैं। भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने भी इसमें सहायता की है। अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण यह देश सब प्रकार उत्तम है, अतः इस पर सदैव ही दूसरे देशों की आँखें गड़ी रही हैं। चारो ओर से तो यह सुरक्षित है किन्तु उत्तर पश्चिम की ओर से जहाँ कतिपय दर्रे हैं इसे सदा आशंका रही है। यदि इस देश में एक सुदृढ़ और सुन्दर साम्राज्य रहे (जैसा इस समय है) तो यह बहुत बड़ी उन्नति कर सकता है, क्योंकि यहाँ की जल-वायु मानसिक एवं शारीरिक उन्नति के लिये सब प्रकार उपयुक्त एवं उपयोगी है।

भारतवर्ष का इतिहास यह स्पष्ट रूप से बतलाता है कि ६०० ई० से १२०० तक का समय केवल युद्धों, आक्रमणों एवं अशान्ति-पूर्ण राजनैतिक घटनाओं का ही समय था। ऐसे अशान्ति के समय में कोई भी देश ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल आदि की ओर विशेष क्या पर्याप्त ध्यान भी नहीं दे सकता और न उनकी ओर अग्रसर ही होकर उनमें कुछ उन्नति ही कर सकता है।

भारत इसका अपवाद नहीं है। इन ३०० वर्षों के समय में देश एवं जनता को यही एक चिन्ता सदैव बनी रही कि किसी प्रकार देश और धर्म की रक्षा हो, सर्वत्र शान्ति एवं सुख की स्थापना हो, लूट-मार का भय न रहे, तथा अपने स्वातंत्र्य का विनाश न होने पावे, ऐसी दशा में तथा इन इच्छाओं की पूर्ति के लिये देश को आवश्यकता थी वीरों की, धर्म एवं जाति के गौरव पर युद्ध-क्षेत्र में मारने और मर जाने वालों की। इस समय प्रत्येक लेखक, कवि एवं वक्ता का ध्यान इसी लक्ष्य की ओर रहता था कि देश में वीरता का रक्त भर दिया जावे, और जनता की नस नस में साहस, शक्ति एवं वीर-उत्साह का संचार कर दिया जावे। देश एवं धर्म के लिये युद्ध करने वाले वीरों का यशोगान के साथ स्वागत-सम्मान किया जावे, जिससे उन्हें तथा दूसरों को प्रोत्साहन प्राप्त हो। वास्तव में हुआ भी ऐसा ही, कवियों एवं चारणों ने वीर-काव्य के द्वारा, हिन्दी के साहित्य का श्रीगणेश करते हुये, देश और जनता का भी कार्य सुचारु रूप से किया, क्योंकि देश एवं समाज को इसी की आवश्यकता थी। इस समय साहित्य की मार्मिक विवेचना, काव्य की कुशल एवं कमनीय कल्पना, कला की चमत्कृत चातुरी एवं विद्या (ज्ञान-विज्ञान) की प्रगाढ़ पटुता का काम न था, काम था तो केवल उन वीर राजपूतों के यशोगान का, जिनकी वीर बाहुओं से देश तथा धर्म की रक्षा होती या हो सकती थी, जो देश-स्वातंत्र्य के लिये रणांगण में अपनी जान पर खेलने के लिये सर्वथा सन्नद्ध रहते तथा देश की बलि-वेदी पर अपना बलिदान करते थे। काम था तो संग्राम-भूमि में जाकर वीरों के हृदयों में रणोत्साह एवं शौर्य-साहस के संचार करने का, जिससे ही देश का परित्राण एवं कल्याण हो सकता था। ऐसे समय में काव्य एवं साहित्य के कला-

कौशल-पूर्ण अन्यान्य अंगों की स्फूर्तिमयी पूर्ति कदापि न हो सकती थी।

यही कारण था कि संस्कृत के विद्वान काव्यकला-मर्मज्ञ पीछे ही पड़े रहे और हिन्दी के भाट एवं चारण मैदान में आ उपस्थित हुये। उन्हें ही राजपूत-दरबारों तथा अन्यान्य स्थानों में भी सम्मान प्राप्त हो चला, अस्तु।

अब इस संक्षेप लेख से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हमारे हिन्दी-साहित्य का उदय एवं प्रारम्भ ऐसे समय में हुआ जब देश में अशान्ति थी, और वीर भावों के प्रचार की आवश्यकता थी। इससे हम सरलतया यह जान सकते हैं कि इस समय वीर-काव्य एवं जय-काव्य ही का प्राधान्य होना चाहिये था, तथा काव्य कला एवं साहित्य के अन्यान्य अंगों की स्फूर्ति तथा पूर्ति न हो सकती थी।

धार्मिक दशा

देश की धार्मिक दशा बहुत कुछ राजनैतिक दशा पर ही आधारित सी रहती है, यद्यपि धर्म और राजनीति में बहुत अन्तर है, तथापि जब तक देश की राजनैतिक दशा अच्छी नहीं होती तब तक धर्म-कर्म की दशा भी सुचारु रूप में नहीं रहती। अशान्ति एवं युद्ध का समय जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल के लिये उपयुक्त नहीं होता, उसी प्रकार वह धर्म-कर्मादि के लिये भी उत्तम नहीं होता। ऐसे समय में धर्म अपना रूप बहुत कुछ देश, काल एवं परिस्थिति के ही अनुकूल रखता है। यही कारण है कि इस समय प्रायः ऐसी ही बातों की धर्म में प्रधानता रही जो समयानुकूल थीं। यह तो स्पष्ट ही है कि इस

समय तक धर्म का विकास बहुत कुछ पूर्णोदय में रूप-रूपान्तरों के साथ हो चुका था। समस्त उत्तरीय भारत में पौराणिक धर्म का ही प्रचार था, बौद्धधर्म तो भारत से हट ही गया था, हाँ जैन-धर्म कुछ कुछ शेष रह गया था। इतना होते हुये भी अहिंसा-सिद्धान्त का इतना पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था कि वह लोगों के हृदयों में बैठा-पैठा हुआ था, जिससे वीरता, शूरता, युद्ध एवं पुरुषार्थावेश जनता में न रह गया था। राष्ट्रीय-स्वातंत्र्य एवं जातीय जीवन अच्छी दशा में न था, देश-प्रेम आदि के भाव मृत-प्राय से हो रहे थे। वैष्णवधर्म एवं उससे उत्पन्न होने वाले भक्ति-सिद्धान्त का प्रस्तार-प्रचार हो रहा था। धार्मिक ग्रंथ चूँकि संस्कृत ही में थे इसलिये साधारण जनता धर्म के समझने में असमर्थ सी थी, क्योंकि अब भाषा में विशाल परिवर्तन हो चुका था। प्राकृत में धार्मिक ग्रंथों का एक प्रकार से अभाव ही था, यही दशा अपभ्रंश भाषा की भी थी और यही दो भाषायें उस समय कुछ प्रचलित थीं; यद्यपि वे भी बहुत क्षीण एवं हीन होकर मृतप्राय सी हो रही थीं।

समय के सानुकूल न होने के कारण विद्वानों के द्वारा धार्मिक प्रचार-कार्य भी अच्छे रूप में न हो रहा था। इन्हीं सब बातों से साधारण जनता धर्म के विषय में किंकर्तव्य-विमूढ़ सी ही थी। मुसलमानों के हमलों से धार्मिक दशा और भी बिगड़ रही थी, तथा लूट-मार से जनता एवं उसके साहित्यादि के अमूल्य रत्नों का विनाश हो रहा था। यही कारण है कि इस समय से अकर्तव्य कुरीतियों का जन्म हो चला, सती आदि की प्रथायें, जुहार तथा इसी प्रकार की अन्य रस्में भी चल पड़ी थीं। यह अवश्य था कि लोग इतना भी अपने धर्म का ज्ञान रखते थे। मूर्तिपूजा, अंधविश्वास एवं भूतप्रेतादि का विश्वास बढ़ रहा था। अस्तु, एक

प्रकार से अब निष्कर्ष रूप में यही कहना पर्याप्त जान पड़ता है कि धार्मिक दशा बड़ी ही ओतप्रोतमयी थी, उसमें मुसलमानों के आन्दोलनों से शिथिलता एवं क्षीणता आ रही थी, हाँ, लोगों में (राजपूतों में) धर्म के लिये मरने तथा उसकी रक्षा करने का भाव बहुत ही सुन्दर, सुदृढ़ एवं प्रबल रूप में अभी तक भरा हुआ था।

सामाजिक दशा

सामाजिक दशा भी अवनति की ओर चल रही थी। पेशों के अनुसार जातियों का उपजातियों के रूप में विभाग हो रहा था। बाल-विवाह एवं बहु विवाह (साथ ही कुछ २ वृद्ध-विवाह) की प्रथायें भी चल पड़ी थीं, ऊँचाई और नीचाई के भेद-भाव फैल रहे थे। स्वयंवर की प्रथा अब तक क्षत्रियों में प्रचलित थी, और साथ ही कन्या-अपहरण का भी प्राबल्य सा था। गन्धर्वविवाह के भी उदाहरण इतस्ततः मिल जाते थे। समाज में संकीर्णता आ रही थी तथा सामाजिक बंधन शिथिल से हो रहे थे। यह सब तो था किन्तु अब भी कर्तव्य-पालन, सामाजिक साम्य एवं ऐक्य अपने अच्छे रूप में था। परदा-प्रथा का प्रचार अभी न हुआ था, स्त्रियों का स्थान समाज में अच्छा था, यद्यपि वह पुरुषों के समान न था। वीर-पूजा का भाव स्त्रियों में भी गहरे रूप में पाया जाता था। पातिव्रत में अभी बहुत ही कम शैथिल्य आ सका था, अभी समाज की चारित्रिक दशा विशेष दूषित न हुई थी।

भाषा

उक्त संक्षिप्त लेख से देश के भावों एवं अन्तर्भावनाओं का कुछ आवश्यक परिचय तो प्राप्त ही हो गया होगा, अब यहाँ पर हम भाषा के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना उचित एवं उपयोगी समझते हैं। संस्कृत भाषा तो पूर्ण रूप से संस्कारों के द्वारा परिष्कृत, परिमार्जित एवं नियम-नियंत्रित होकर उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा के रूप में हो गई थी। उससे इसमें क्लिष्टता एवं गूढ़ गंभीरता भी आ गई थी, जिससे वह साधारण जन-समुदाय की पहुँच के बाहर हो कर केवल पठित समाज की ही सीमा के अन्दर रहती थी। राज-दरबारों में भी इसका व्यवहार बहुत कुछ संकीर्ण एवं न्यून हो चला था। राजपूतराजाओं का इस ओर कोई विशेष ध्यान भी न था, क्योंकि वे लड़ाई-झगड़ों में व्यस्त रहते तथा शारीरिक उन्नति की ही ओर विशेष सध्यान हो प्रयत्नशील रहते थे। मानसिक उन्नति उनका उद्देश्य प्रायः न रहता था, कारण यह था कि उन्हें उसके लिये पर्याप्त अवकाश ही न मिलता था। राजनैतिक अशान्ति के कारण वे इधर ध्यान ही न दे सकते थे। हाँ अपने दरबारों में कभी कभी संस्कृतज्ञ विद्वानों का सत्संग-सुख अवश्य उठाया करते थे। इतना होने पर भी संस्कृत भाषा का पठन-पाठन एवं व्यवहार-प्रचार विद्वन्मंडली और ब्राह्मणों में विशेष था पूर्णरूप से था। वे लोग इसके क्षेत्र में कुछ कार्य भी किया करते थे। इसमें चूंकि एकरूपता, (रूप-साम्य) एवं स्थिरता थी, इससे इसका प्रचार-व्यवहार प्रायः समस्त प्रान्तों की विद्वन्मंडली में समान रूप से होता था। यह सब तो था किन्तु यह काल संस्कृत के विकास का अंतिम काल ही था।

संस्कृत के इस अंतिम काल में दो अन्य भाषायें जन-साधारण

की बोली से उत्पन्न होकर परिमार्जन के साथ आगे बढ़ रही थीं और साहित्य-क्षेत्र में भी पदार्पण कर रही थीं। ये दोनों भाषायें थीं (१) प्राकृत एवं (२) अपभ्रंश। इनमें से प्राकृत तो बहुत कुछ परिमार्जित एवं परिष्कृत भाषा के समान एक साहित्यिक एवं शिष्ट भाषा सी बन गई थी। इसका प्रयोग विद्वत्समाज एवं शिष्ट साहित्य (काव्य- नाटक आदि) में भी हो रहा था और विद्वान आचार्यों ने इसका भी संस्कृत के समान नियमों से नियंत्रण करना प्रारम्भ कर दिया था और इसे स्थैर्य एवं व्यापकता के लिये एकरूपता दे चले थे। इससे यह भाषा भी जन-साधारण से दूर हो चली थी और इसीलिये अपभ्रंश का विकास प्रारम्भ हो गया था। यह अपभ्रंश भी जन-साधारण की साधारण बोली के एक किंचित् विकसित रूप में आ गई थी और विद्वत्समाज एवं साहित्यिक क्षेत्र में अग्रसर हो रही थी। अभी इसका विकास-प्रकाश अच्छी तरह न हो पाया था कि देश एवं समय की गति से इसकी गति प्रतिरुद्ध हो गई और जन-साधारण की भाषा जो अपभ्रंश से बहुत कुछ मिलती जुलती थी आ खड़ी हुई। कह सकते हैं कि यह साधारण भाषा वही या उससे कुछ परिवर्तित बोली है, जिसका विकसित रूप अपभ्रंश थी। यह साधारण या प्रारम्भिक हिन्दी भाषा (जैसा इसे विद्वानों ने कहा है) वही है जिसका कुछ विकसित रूप हमें चंद्र कवि के पृथ्वीराज रासो एवं अन्य रासो ग्रंथों में प्राप्त होता है। कह सकते हैं कि चन्द्र के रासो की भाषा ठीक उसी रूप में नहीं है जो रूप उस समय की प्रारम्भिक हिन्दी का जन-साधारण में पाया जाता था। चन्द्र ने उसमें बहुत कुछ, जो उस समय आवश्यक एवं उचित था, परिमार्जन एवं परिवर्तन भी किया रहा होगा। *

---

* चंद्र के रासो की भाषा भी संदिग्ध ही है। वह अपने ठीक उसी,

यहाँ पर अब हम भाषा-परिवर्तन एवं रूपान्तर के विषय में भी कुछ विशेष बातों का बतला देना समीचीन तथा आवश्यक समझते हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि साहित्यिक भाषा जन-साधारण की सामान्य बोली का एक परिष्कृत, एवं विकसित रूप ही है, जिसका संस्कार (परिशोधन, एवं परिमार्जनादि) विद्वत्समाज के द्वारा किया जाता है और जो व्याकरण-सम्बन्धी विशिष्ट व्यापक नियमों से नियन्त्रित कर दी जाती है तथा जिसका प्रयोग पठित समाज के द्वारा साहित्य निर्माण के लिये किया जाता है। यह भी एक स्वाभाविक बात है कि विकसित एवं विशेष मस्तिष्क वाले विद्वान लोगों की विचार-शैली तथा उनकी भावाभिव्यंजन-रीति साधारण श्रेणी के मनुष्यों से पूर्णतया पृथक् रहती है। विद्वानों की भावाभिव्यंजन रीति में एक विशेष प्रकार का वैलक्षण्य एवं वैचित्र्य रहता है, और इसी वैचित्र्य के कारण उनकी शैली तथा भाषा में भी साधारण भाषा (या बोली) की अपेक्षा कुछ विशेष विलक्षणता तथा विचित्रता आ जाती है और इसीलिये उनकी भाषा साधारण भाषा से सर्वथा पृथक् ही सी हो जाती है। यद्यपि वे लोग जान बूझकर भाषा को परिवर्तित नहीं करते। (हाँ) किसी किसी रूप में तथा कभी २ वे ऐसा करते भी हैं, किन्तु किसी विशेष कारणवशात् एवं किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये। तौभी उनकी भाषा उनकी विशेष विकसित बुद्धि के कारण साधारण भाषा से बहुत कुछ विशेष वैलक्षण्य एवं वैचित्र्यपूर्ण

रूप में नहीं है जिसमें चंद्र ने उसे उस समय रक्खा था। चंद्र के रासो की भाषा में समय समय पर लोगों ने बहुत कुछ हेर फेर भी कर दिया है। यह बात उपलब्ध रासो की प्रतियों के देखने से स्पष्ट ही हो जाती है। अतः यह अपने असली और प्रमाणित रूप में नहीं कही जा सकती।

हो पृथक ही सी हो जाती है। हाँ, रहती वह सदैव जन-साधारण की ही सामान्य एवं व्यापक बोली के ही आधार पर समाधारित है। देश, काल तथा परिस्थितियों के भी प्रभाव से भाषा में रूपान्तर होता रहता है। जब कभी साधारण बोली विद्वानों के हाथ में पड़ जाती है तभी उसमें विकास-वृद्धि-पूर्ण परिवर्तन एवं परिमार्जन हो जाता है और उच्चकोटि की संस्कृत (परिष्कृत) भाषा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह भी एक विशेष बात देखी जाती है कि किसी विशेष कारण से ही विद्वत्समाज जन-साधारण की साधारण भाषा को अपनाते तथा व्यवहृत किया करते हैं। यों तो वे साधारणतया अपने व्यवहार-व्यापार के लिये अपनी प्रौढ़ एवं परिष्कृत भाषा रखते ही हैं। जिस कारण से विद्वत्समाज को साधारण भाषा (बोली) के अपनाने तथा उठाने की आवश्यकता अनिवार्य रूप से पड़ती है वह कारण साधारण न होकर एक बड़े विशेष प्रभाव-पूर्ण रूप में ही होता है।

भाषा पर भी देश की राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों या दशाओं का वैसे ही अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है जैसे वह जनता पर पड़ा करता है। जब कभी राजनैतिक परिस्थितियों में परिवर्तन एवं आन्दोलन उपस्थित होते हैं तभी जनता के व्यापारों में परिवर्तन हो जाने के साथ ही साथ उसकी भाषा में भी परिवर्तन हुआ करता है। राष्ट्र-भाषा तथा राज-भाषा का घनिष्ट एवं अन्योन्याश्रय संबंध सा होता है और जनता की भाषा पर इन दोनों का पूरा प्रभाव पड़ा करता है। ठीक इसी प्रकार जब कभी देश एवं समाज की धार्मिक परिस्थितियों एवं दशाओं में ओत-प्रोत के साथ ऊहा-पोह की जागृति होती है और विशेष प्रकार के प्रभाव-प्रतिभा-पूर्ण धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन होते हैं तभी जन-साधारण की भाषा भी जनता के हृदयों की प्रवृत्तियों

तथा उनकी विचार-परम्पराओं के साथ साथ उन आन्दोलनों से प्रभावित हो परिवर्तित हो जाती है। जहाँ कहीं धर्म की अपेक्षा देश में राजनीति का प्रभाव विशेष प्रौढ़ एवं प्रबल होता है, अथवा जहाँ कहीं (जिस देश में) राज-नीति का स्थान प्रधान, उच्च एवं विशेष प्रभावपूर्ण होता है तथा धर्म का उसकी अपेक्षा कुछ गौण, नीचा एवं कम प्रभाव-पूर्ण होता है, वहाँ तो राज-नैतिक परिवर्तनों से ही विशेषतया भाषा में रूपान्तर होता है, किन्तु जहाँ इसके विपरीत राज-नीति का स्थान गौण और धर्म का प्रधान एवं उच्च होता है तथा जहाँ धर्म पर ही देश एवं समाज का अस्तित्व विशेष महत्ता-सत्ता के साथ रहता है तथा धर्म के ही आधार पर जहाँ राज-नीति आधारित होती है तथा उसका ही वह अनुसरण करती हुई उसी के आधीन सी हो उसके ही अन्दर रहती है, वहाँ धार्मिक-आन्दोलन एवं परिवर्तन के ही कारण भाषा एवं भावों में रूपान्तर हुआ करता है। जहाँ तक देखा जाता है प्रायः धर्म ही को प्रधानता एवं गौरव-प्रभाव-पूर्ण विशेषता प्राप्त हुआ करती है और राज-नीति को उसके सामने कुछ दब ही सा जाना पड़ता है। जहाँ तक हमारे उत्तरीय ही क्या समस्त भारत का विषय आता है वहाँ तक तो हम यही देखते हैं कि यहाँ अब तक सदैव धर्म ही को पूर्ण रूप से प्रधान-ता दी गई है और इसीलिये जब जब धर्म सम्बन्धी ऊहा-पोह एवं आन्दोलनों का ओत-प्रोत हुआ है तथा जब कभी धार्मिक तारतम्य में कुछ रूपान्तर या परिवर्तन हुआ है तभी तभी देश एवं समाज के भावान्तरों के साथ ही साथ भाषा में भी रूपान्तर या परि-वर्तन हुआ है। बहुत प्राचीन काल से ही, यदि विचारपूर्वक देखा जावे, यह बात निरपवादता के साथ चली आई है। यह बात प्रमाण-पुष्ट एवं स्पष्ट सिद्ध सी है, किन्तु इससे हमारा यह

तात्पर्य नहीं कि भाषा पर केवल धार्मिक परिस्थितियों के ही कारण प्रभाव पड़ा है और उसमें उनके ही रूपान्तरों के कारण रूपान्तर एवं परिवर्तन हुआ है और किसी दूसरी बात का प्रभाव भाषा पर पड़ा ही नहीं, वरन् हमारा इसके साथ यह भी कहना है कि हमारी भाषा पर धर्म के ही कारण विशेष प्रभाव पड़ा है और अन्य बातों या परिस्थितियों के कारण कम पड़ा है।

राजनैतिक परिस्थितियों के रूपान्तरों एवं प्रभावपूर्ण परिवर्तनों का भी अच्छा प्रभाव हमारी भाषा तथा उसकी शैली पर पड़ता रहा है और पड़ रहा है। यही बात सामाजिक परिस्थितियों एवं आन्दोलनों पर भी चरितार्थ होती है।

कोई भी आन्दोलन किसी रूप या प्रकार से कभी एवं कहीं भी जब उठाया जाता है, तभी उसके व्यापक रूप से प्रचार एवं प्रस्तार की सदैव एवं सर्वत्र आवश्यकता पड़ती है। यह अनिवार्य ही होता है कि उसको जनता में पहुँचाया जावे तथा विस्तृत रूप से व्यापक बनाया जावे। उसकी महत्ता-सत्ता के रखने की तथा उसको सफल बनाने के लिये जन-साधारण में उसका प्रचार-प्रस्तार पूर्णरूप से आवश्यक होता है। कोई भी सिद्धान्त हो, उसको व्यापक रूप देना नितान्त ही अनिवार्य ठहरता है। ऐसा करने के लिये यह भी अनिवार्य एवं आवश्यक होता है कि उसका प्रचार उसी भाषा के द्वारा किया जावे जिसका प्रयोग-प्रचार जन-साधारण या जनता में साधारणतया पाया जाता है, अर्थात् उस आन्दोलन को व्यापक, विस्तृत एवं प्रचलित करने तथा सफल बनाने के लिये जन-साधारण की बोली का आश्रय एवं उसकी सहायता लेना अनिवार्य ठहरता है. इसी प्रकार किसी धार्मिक सिद्धान्त के प्रचारार्थ भी साधारण बोली से सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी ही दशाओं, एवं परिस्थि-

तियों में विद्वानों को साधारण बोली को अपनाना एवं उठाना पड़ता है और तभी वह उनके द्वारा परिष्कृत एवं परिमार्जित होकर विकास-वृद्धि के साथ एक उच्च कोटि की भाषा के रूप में, जिसमें साहित्यिक क्षमता होती है, परिवर्तित हो जाती है।

इसी प्रकार भाषा में रूपान्तर एवं विकास-प्रकाश होता रहता है। जन-साधारण की साधारण या सामान्य बोली इसी प्रकार परिष्कृत होकर उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा के रूप में परिवर्तित होती रहती है और यह क्रम लगातार चलता रहता है। सुदीर्घ समय के पश्चात् भाषा में पूर्ण रूप से ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि फिर उस प्राचीन भाषा का पढ़ना, लिखना एवं समझना आदि दुस्साध्य एवं कभी २ असाध्य सा ही हो जाता है। उसके स्थान पर रूप-रूपान्तरों के मार्गों से होती हुई एक नवीन भाषा होकर प्रचलित हो जाती है। अस्तु, अब इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुये हम अपनी भाषा की प्रगति दिखला देना यहाँ उपयुक्त समझते हैं।

आदिम आर्यों की जो साधारण एवं व्यापक बोली थी, उसे विद्वानों ने आदिम प्रकृत की संज्ञा दी है। इसका रूप हमें अब प्राप्त नहीं होता, अतः इसके विषय में हम कुछ विशेष नहीं कह सकते। इसका विकसित एवं परिष्कृत रूप हमें ऋग्वेद में मिलता है। हम उसे आदिम प्रकृत का सुसंस्कृत एवं साहित्यिक रूप कह सकते हैं। यहाँ हम अपने भारतीय सिद्धान्त के अनुसार विचार नहीं कर रहे हैं, क्योंकि हमारे यहाँ ऋग्वेद आदि को ईश्वरकृत या दैवी ज्ञान माना है अतः उसकी भाषा भी दैवी ही सी जाननी चाहिये। इसी प्रकार हमारे आचार्यों ने संस्कृत भाषा को भी देववाणी माना है। ऐसा मानने पर उस पर कुछ वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक शैली से विचार नहीं किया जा सकता। इसके

पश्चात् जब धार्मिक जागृति हुई और वैदिक ज्ञान को देश एवं समाज में फैलाने की आवश्यकता हुई तब विद्वानों को उसी जन-साधारण की बोली को, जिसे हम आदिम प्रकृत कह चुके हैं, कुछ परिवर्तित रूप वाली बोली को जिसका प्रयोग-प्रचार उस समय जनता में हो रहा था, उठाना एवं अपनाना पड़ा। ऐसा होने पर वह परिष्कृत एवं परिमार्जित होकर साहित्यिक भाषा के रूप में परिणित हो गई और उत्तरोत्तर शनैः शनैः परि-वर्धित एवं विकसित होकर साहित्यिक संस्कृत के रूप में पहुँच गई। महर्षि पाणिनि के प्रशस्त एवं अनुपम प्रयत्न से वह व्याक-रण के नियमों से संन्नियंत्रित हो कर ऐसी एकरूपता एवं स्थिरिता को प्राप्त हो गई कि फिर उसमें विशेष परिवर्तन एवं विकास नही हो सका। हाँ समय समय पर कुछ थोड़ा परिवर्धन रूपी परिमार्जन अवश्य हुआ। इसका नाम संस्कृत पड़ा, क्योंकि इसका महर्षियों के द्वारा संस्कार किया गया था। इस प्रकार संस्कृत एक सर्वमान्य एवं प्रधान साहि-त्यिक भाषा होकर अपने साहित्य की विशाल एवं सर्वांग पूर्ण गम्भीर और सुन्दर अट्टालिका का निर्माण कर चली। किन्तु इससे उसके प्रचार-प्रयोग की सीमा संकीर्ण भी हो चली और केवल विद्वत्समाज में ही व्यवहृत होती रही। साधारण जनता की पहुँच से वह बहुत बाहर हो गई थी। उसमें क्लिष्टता, जटिलता तथा दुर्बोधता आ गई थी। साधारण मनुष्यों की बोली (भाषा) जो एक मुख्य धारा के रूप में वैदिक संस्कृत एवं साहित्यिक संस्कृत रूपी धाराओं को उत्पन्न करती हुई, कतिपय समयादि के प्रभावों से उत्पन्न होने वाले।परिवर्तनों के साथ स्वतंत्र रूप से प्रवाहित होती हुई चली आई थी, वह अपने उसी रूप में न थी जिसमें वह ऋग्वेद के पूर्व थी और जिस

रूप को हमने आदिम प्रकृत की संज्ञा दी है, वरन् इसमें बहुत परिवर्तन एवं विकास हो चुका था और इसी से यह आदिम प्रकृत से बहुत कुछ भिन्न एवं विलक्षण रूप में हो गई थी, हाँ इसके मूल तत्व बहुत कुछ वे ही थे जिनसे आदिम प्रकृत बनी थी।

अब वह समय आया जब भारत में एक नवीन धार्मिक आन्दोलन का प्रचार एवं प्रस्तार हुआ। यह बौद्ध धर्म का आन्दोलन था। महात्मा (भगवान्) बुद्ध ने अपने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ जन-साधारण की इसी बोली को उठाया और अपनाया यही बात उनके विद्वान अनुयायियों ने भी की। इससे जन-साधारण की भाषा फिर परिमार्जित एवं परिष्कृत होती हुई साहित्यिक क्षमता के साथ विकसित हो चली और थोड़े ही दिनों में वह साहित्यिक भाषा के रूप में पाली के नाम से आ गई। इसमें उतना संस्कारजन्य विकास नहीं हुआ जितना संस्कृत में, कारण यह था कि इसको इसके लिये बहुत कम समय प्राप्त हुआ और बहुत कम साधन भी मिले। उसके कुछ ही विद्वानों ने उसे अपना कर समुन्नत करने का प्रयत्न किया, क्योंकि ये विद्वान केवल वे ही थे जो बौद्ध धर्म एवं बुद्ध भगवान के अनुयायी थे। वैदिकधर्म के विद्वानों ने ऐसा नहीं किया। वे शुद्ध साहित्यिक संस्कृत का ही प्रयोग-प्रचार करते रहे, तथा बौद्ध धर्म के खंडन एवं निर्मूलन के साथ ही साथ उनकी भाषा को भी उठने से रोकते रहे। वैदिक धर्म के विद्वानों के साथ वाद-विवाद करने के लिये बौद्ध विद्वानों को भी संस्कृत भाषा का उपयोग करना पड़ा और इससे भी संस्कृत के सामने उनकी भाषा को कम प्रधानता प्राप्त हो सकी। बौद्ध धर्म के अंतिम काल का बहुत कुछ साहित्य (धार्मिक साहित्य) संस्कृत की ही प्रधानता

रखता है। बौद्धधर्म के पश्चात् संस्कृत का प्राधान्य फिर वैसा ही हो गया। हाँ, यह अवश्य हुआ कि बौद्धों के द्वारा उठाई तथा परिष्कृत की गई भाषा को भी, जिसे पाली या प्रकृत भाषा की संज्ञा दी गई है, साहित्य में स्थान प्राप्त हो गया, तथा उसका प्रयोग साहित्य में कवियों एवं विद्वान लेखकों के द्वारा होने लगा। जैन धर्म के आन्दोलन ने भी ऐसा ही किया। उसके द्वारा भी जन-साधारण की भाषा उठाई जाकर साहित्यिक रूप में परिणित की गई।

जब संस्कृत के समान प्रकृत भाषा भी साहित्यिक भाषा हो कर जन साधारण की पहुँच से कुछ परे या बाहर हो चली और विद्वानों के ही द्वारा उसका प्रयोग होने लगा, तब उसमें भी विशेष विकास हुआ। वह चार भिन्न रूपों में व्यवहृत होने लगी (मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री)। यह सब तो हुआ, किन्तु प्रकृत भाषा को साहित्यिक रूप एवं सम्मान प्राप्त कर लेने पर भी वह गौरव एवं प्राधान्य कदापि न प्राप्त हो सका जो संस्कृत भाषा को प्राप्त हुआ था।

संस्कृत के विद्वान प्राकृत को कुछ हेय दृष्टि से ही देखते रहे और इसे पूर्णतया शिष्ट एवं सर्वथा शुद्ध साहित्यिक भाषा के रूप में न मानते रहे। इस भाषा में लिखे गये साहित्य को भी वे कुछ बहुत उच्च कोटि का उत्तम साहित्य न समझते थे। कवि-लोग भी नाटकों आदि में इसका प्रयोग केवल स्त्रियों एवं अशिष्ट या साधारण कोटि के पात्रों से कराते रहे। अस्तु,

जिस प्रकार प्रकृत भाषा का विकास-प्रकाश हुआ उसी प्रकार जन-साधारण की भाषा से विद्वानों के द्वारा अपभ्रंश भाषा का भी उत्थान हुआ। किन्तु जिस प्रकार प्रकृत को संस्कृत भाषा के समान गौरव एवं सम्मान न प्राप्त हो सका, उसी प्रकार अप-

भ्रंश को भी। इसे भी संस्कृत के विद्वान हेय दृष्टि से देखते रहे। कहना चाहिये कि इसे वे लोग प्रकृत से भी अधिक अशुद्ध, अशिष्ट एवं असंस्कृत मानते रहे। कवि लोगों ने भी इस का प्रयोग केवल बहुत ही निम्न-श्रेणी के पात्रों से कराया है। इसे कुछ विद्वानों ने उठाकर साहित्यिक रूप में रख दिया किन्तु इसे वे प्रधानता न दिला सके। यही कारण है कि अपभ्रंश भाषा में उतने साहित्य का निर्माण न हो सका जितने का संस्कृत तथा उससे उतर कर प्रकृत भाषा में हुआ था। इन दोनों भाषाओं के रहते हुये भी संस्कृत भाषा की प्रतिष्ठा, उसकी मान-मर्यादा, एवं उसका गौरव-पूर्ण स्थान एवं प्राधान्य बना ही रहा। विद्वत्समाजों तथा शिष्ट-राजदर्शारों में संस्कृत की अधिक प्रतिष्ठा होती ही रही।

प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के पश्चात् देश, काल तथा परि-स्थितियों के परिवर्तनों तथा उनके प्रभावों से भाषा-क्षेत्र में बड़ा ओतप्रोत सा उत्पन्न हो गया और भिन्न भिन्न प्रदेशों में व्यापक साम्य सामान्य के होने पर भी भिन्न भिन्न भाषायें या बोलियाँ उत्पन्न हो कर प्रचलित हो गईं। जन-साधारण को वह आदिम प्रकृत सम्बन्धिनी धारा अपनी सामान्य गति के साथ बराबर चली आई, हाँ उसमें समय-समय तथा स्थान-स्थान (प्रदेश-प्रदेश) में वहाँ की विशेष परिस्थितियों आदि के आधार पर कुछ परिवर्तन अवश्य होते गये। वह सर्वथा अपने उसी रूप में न रही जिसमें वह प्रथम थी, वरन् वह परिवर्तित एवं रूपान्तरित हो गई। उससे संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश नामी ३ मुख्य साहित्यिक भाषायें विशेषतया धार्मिक आन्दोलनों के कारण उत्पन्न होकर पृथक् पृथक् प्रचलित हो गईं। इन तीनों में से संस्कृत को ही पूर्ण रूप से मान-मर्यादा, गौरव-प्रतिष्ठा एवं सर्वमान्य प्रधानता प्राप्त हो सकी। शेष दो भाषायें (प्राकृत और अपभ्रंश) तो अल्पकालीन प्रतिभा-

प्रभाव के साथ लुप्त ही हो गईं। संस्कृत अपनी सामर्थ्य-शक्ति एवं प्रौढ़ प्रतिभा आदि के कारण आज तक प्रतिष्ठा के साथ चली जा रही है।

जन-साधारण की वह आदिम प्रकृत संबन्धिनी धारा परिवर्तनों एवं रूपान्तरों के साथ आगे बढ़ती चली और भिन्न भिन्न प्रदेशों की भिन्न भिन्न भाषाओं (बोलियों के रूपों में होकर भिन्न भिन्न धाराओं) में विभक्त हो गई। इन्हीं धाराओं में से एक धारा (रूप) वह है जिसे हम हिन्दी कहकर आज अपनी मातृभाषा एवं राष्ट्रभाषा कहते तथा व्यवहृत करते हैं।

हिन्दी-साहित्य का आदि काल उस समय से प्रारम्भ होता है जब प्राकृत भाषा के उपरान्त अपभ्रंश भाषा का भी लोप हो रहा था। यह वह समय था जब दो भिन्न भिन्न वेलाओं का सम्मेलन होता है। हिन्दी का तो इधर उदय हो रहा था और उधर अपभ्रंश का लोप या अस्त हो रहा था। ऐसे समय में जो भाषा प्राप्त होगी वह अवश्य ही एक मिश्रित रूप में होगी। यही कारण है कि हमें अपने साहित्य के आदि काल में अपभ्रंश, प्राकृत एवं जन-साधारण की भाषा का मिश्रित रूप प्राप्त होता है। चन्द्र के रासो तथा तत्कालीन अन्य ग्रंथों में प्रायः ऐसी ही भाषा मिलती है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रासो की भाषा वह है जिसे हम जन-साधारण की बोली का विकसित एवं साहित्यिक रूप कह सकते हैं। हम प्रथम ही कह चुके हैं कि यह समय ऐसा था कि चारों ओर अशान्ति और क्रान्ति ही सी फैली हुई थी। सर्वत्र युद्ध की अग्नि दहकती थी आक्रमणों की आँधियाँ पश्चिम (उत्तर पश्चिम) की ओर से सवेग आ रही थीं। ऐसे भीषण एवं संकटाकीर्ण समय में यह आवश्यक था कि जनता में शूरता के भाव, साहसोत्साह के साथ ही साथ ख़ूब ज़ोरों से भरे जाते

तथा वीरों का पर्याप्त यशोगान करते हुए उन्हें प्रोत्साहन दिया जाता। वास्तव में ऐसा हुआ भी और ऐसा होने से जन-साधारण की भाषा कवियों के द्वारा उठाई तथा अपनाई गई। इस प्रकार उसे साहित्यिक रूप प्राप्त हो चला। किन्तु यह भी एक स्पष्ट बात है कि राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभावों से जब जो साधारण बोली उठाई तथा साहित्यिक भाषा के रूप में रक्खी जाती है, वह तभी तक चलती रहती है जब तक कि राजनैतिक परिस्थितियों में रूपान्तर या परिवर्तन नहीं होता या जब तक वे नितान्त ही दूर नहीं हो जातीं। राजनैतिक वे परिस्थितियाँ जहाँ हटीं कि उनके कारण एवं प्रभाव से उठने वाली भाषा भी लुप्त हो जाती है। यही कारण है कि हमारे साहित्य के आदि काल की भाषा (जो चन्द्रकृत रासो आदि में पाई जाती है) स्थायी या चिरस्थायी न हो सकी, वरन् नैतिक परिस्थितियों के साथ ही वह भी लुप्त हो गई। इसके विपरीत यह स्पष्ट रूप से देखा जाता है कि जो भाषा सामाजिक एवं धार्मिक (विशेषतया धार्मिक) आन्दोलनों के कारण साधारण बोली से उठाई जा कर साहित्यिक भाषा के रूप में रक्खी जाती है, वह स्थायी या चिरस्थायी होती है, क्योंकि धर्म में परिवर्तन बहुत शनैः २ एवं बहुत समय के बाद ही होता है और धर्मान्तर के भी हो जाने पर पूर्व धर्म का नितान्त नाश नहीं होता, अतः उससे सम्बन्ध रखने वाली भाषा का भी नितान्त नाश या लोप नहीं हुआ करता। यही कारण है कि धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव या कारण से उठने वाली संस्कृत, प्राकृत, ब्रज-भाषा एवं अवधी आदि भाषायें धार्मिक परिवर्तनों के होने पर भी नितान्त लुप्त या नाश नहीं हो सकीं। अस्तु, यहाँ इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कह कर हम अब अपने मुख्य विषय पर आते हैं। इस संक्षिप्त कथन से उस

समय की भिन्न प्रकार की मुख्य मुख्य परिस्थितियों एवं दशाओं का पर्याप्त परिचय अवश्य ही प्राप्त हो गया होगा और वह आगे हमें अपने विषय को समझने में सहायता भी देगा। देश एवं समाज की आवश्यक परिस्थितियों एवं दशाओं का बहुत बड़ा प्रभाव साहित्य एवं भाषा पर पड़ा करता है, यह हम प्रथम ही कह चुके हैं। यदि ये परिस्थितियाँ एवं दशायें प्रथम ही समझ ली गईं तो साहित्य के इतिहास का समझना सरल एवं सीधा हो जाता है। इसीलिये हमने सूक्ष्म रूप में देश एवं समाज की इन आवश्यक एवं प्रधान परिस्थितियों तथा दशाओं के मान-चित्र को साहित्य के इतिहास के प्रथम ही दिखलाने का प्रयत्न किया है।

आदिकाल

वीर या जय काव्य

पूर्व साहित्य

जय काव्य के प्रथम भी कुछ साहित्य का पता चलता है। कतिपय ग्रन्थों एवं उनके लेखकों के नाम मिलते हैं, किन्तु उन प्राचीन ग्रन्थों का दर्शन नहीं प्राप्त होता, क्योंकि वे अब प्रायः कहीं उपलब्ध ही नहीं। हिन्दी का सबसे प्रथम प्राचीन लेखक या कवि पुष्य या पुंड माना गया है और इसके द्वारा सं० ७७० में एक अलङ्कार-ग्रन्थ (हिन्दी दोहों में) जो किसी संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद

था, लिखा गया कहा जाता है किन्तु यह ग्रन्थ अब तक कहीं प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये इसके विषय में कुछ विशेष रूप से नहीं कहा जा सकता, केवल अनुमान से यही कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ सम्भवत: हिन्दी में तो नहीं, वरन् भाषा (अपभ्रंश) की विकसित एवं परिवर्तित बोली में ही रहा होगा।

पुंड के पश्चात् सं० ८९० या ८३३ ई० के लगभग का एक रासो ग्रन्थ है जो हिन्दी का द्वितीय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ है "खुमान रासो" और इसका लेखक एक भट्ट कवि था।

सन् १९१९ ई० में की गई पुरातत्व खोज से एक भगवद्गीता नामक ग्रंथ जिसका समय उस हस्त-लिखित प्रति के अनुसार सं० १००० है, प्राप्त हुआ है। यह भुवाल कवि का लिखा हुआ है। अतः कह सकते हैं कि यह ग्रंथ हिन्दी-साहित्य के प्राचीन ग्रंथों में सब से प्रथम प्राप्त ग्रंथ है और हिन्दी-साहित्य की प्राचीनता का स्पष्ट एवं ज्वलंत प्रमाण है।

इसके पश्चात् कतिपय कवियों एवं जैन लेखकों के नाम (उनके ग्रंथों के नामों के साथ) मिलते हैं किन्तु उनमें से बहुतों के ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं। कहा जाता है कि सं० ११६७ में जैन श्वेताम्बराचार्य श्री जिन वल्लभ सूरि हुये थे, इन्होंने वृद्ध "नवकार" नामी ग्रंथ हिन्दी में लिखा जो हिन्दी जैन-साहित्य का सब से प्राचीन ग्रंथ है, सं० ११७५ में दक्षिणेश्वर चालुक्य वंशीय एक सोमेश्वर नामी राजा हुए। ये सर्वज्ञ भूप कहलाते थे और हिन्दी के भी कवि माने जाते थे।

११८० सं० के लगभग मसऊद एवं कुतुब अली नामी दो मुसलमान कवियों के होने का पता चलता है, किन्तु इनके किसी ग्रंथ का पता नहीं लगा। सं० ११९१ में साईं दान चारण के समंतसार' नामी ग्रंथ का नाम आता है और फिर सं० १२०५

से १२५८ (१२०१ ई०) तक में अकरम फ़ैज़ ने वर्णमाल नामी एक ग्रंथ लिखा तथा संस्कृत के वृत्तरत्नाकर नामी छंद-शास्त्र के ग्रंथ का अनुवाद किया। ये सब लेखक एवं कवि अब केवल नाम के ही लिये रह गये हैं, इनके ग्रंथों का पूर्णतया अभाव ही है। इस उक्त लेख से यह अवश्य ज्ञात हो जाता है कि हिन्दी-साहित्य बहुत प्राचीन है और इसका जन्म लगभग ७७० सं० (७१३ ई०) में हो चुका था। चूंकि ७०० सं० से लेकर १२२५ सं० तक के समय में जो साहित्य बना वह विशेष रूप से अप्राप्त है, इसलिये उसके विषय में कुछ निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। इस समय के केवल निम्नांकित ग्रंथ ही उपलब्ध होते हैं, अतः हम उनके तथा उनसे उस समय के विषय में कुछ कह रहे हैं।

---

१. खुमान रासो (सं० ८९० या ८३३ ई०)

यह एक वीर-गाथा या जय-काव्य का सबसे प्रथम ग्रंथ है और द्वितीय रावल खुमान की, जो चित्तौर में सं० ८७०-९०० में राज करते थे, प्रशंसा में लिखा गया है। इसके लेखक के नाम का पता नहीं लगता, हाँ, यह अवश्य ज्ञात हुआ है कि इसका लेखक एक ब्रह्म भट्ट कवि था। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसका नाम 'दलपत विजय' दिया है। "टाड साहब" ने अपने 'राजस्थान' के इतिहास में चित्तौर-राज्य का वर्णन करते हुये महाराज खुमान का भी वर्णन किया है। वह सम्भवतः इसी खुमान रासो के ही आधार पर आधारित है। इस रासो की जो प्रति आज-कल प्राप्त होती है, वह अपूर्ण है और महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन देती है। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान खुमान रासो अपनी

असली दशा में हमें अब प्राप्त नहीं हो रहा, वरन् उसकी वह प्रति प्राप्त हो रही है जिसमें समय २ पर हेर फेर एवं बढ़ती घटती की गई है और वह परिवर्तित एवं परिमार्जित रूप में आ गई है। बग़दाद के अब्बासिया वंश का ख़लीफ़ा अलमाम् सं० ८७० से ८६० तक रहा, उसने चित्तौर पर चढ़ाई की थी और वह खुमान महाराज से पराजित हुआ था। इस रासो में इस युद्ध का वर्णन है, अत: स्पष्ट है कि यह इस युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले महाराज खुमान की ही प्रशंसा में लिखा गया होगा। इतिहास के तारतम्य से मिलान करने पर जान पड़ता है कि यह खुमान जी दूसरे खुमान थे, (प्रथम खुमान सं० ८१० से ८३५ तक और तृतीय खुमान सं० ६६५ से ६६० तक रहे)। ध्यान रखना चाहिये कि ख़लीफ़ा अलमाम् के पूर्व ही मुसलमानों ने सिंध देश पर विजय प्राप्त कर ली थी और उधर ही से वे राजपूताने पर चढ़ाइयाँ किया करते थे। शिवसिंह-सरोज के अनुसार एक अज्ञात नाम कवि ने श्री रामचन्द्र जी से प्रारम्भ करके खुमान महाराज तक का वर्णन खुमान रासो नामी ग्रंथ में किया था। अब जो प्रति मिलती है उसके असली होने में पूरी शंका है। जान पड़ता है कि उसका उत्तरार्ध लगभग १७ हवीं शताब्दी में ही लिखा गया था, क्योंकि उसमें महाराणा प्रताप का भी हाल दिया हुआ है और भाषा भी उसकी बहुत कुछ परिवर्तित एवं परिमार्जित रूप में है। "दलपतविजय" कदाचित इसी उत्तरार्ध भाग के लेखक होंगे।

वीर-काव्य के प्रथम हम यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहते हैं क्योंकि वह विशेष विचारणीय है। जय-काव्य के पूर्ववर्ती ग्रंथों से, जिनका वर्णन हम प्रथम कर चुके हैं, यह ज्ञात होता है कि हिन्दी-साहित्य का जन्म तो शान्ति के समय में ही हुआ था, किन्तु

उसे अशान्ति का सामना अपने शैशव-काल में ही करना पड़ा था। यही कारण है कि उस जन्म-काल में साहित्य का रूप वीर-काव्य का सा न था, वरन् वह वास्तविक साहित्य के ही रूप में था। हाँ था वह अनुवाद के रूप में अवश्य और संस्कृत-साहित्य पर समाधारित ही। प्रथम ग्रंथ इस साहित्य का एक अनुवादमय अलङ्कार-ग्रंथ (काव्य -शास्त्र सम्बन्धी) ही है, फिर सं० १००० का द्वितीय ग्रंथ भी एक अनुवाद ग्रंथ होता हुआ भगवद्गीता है, और यों वह एक धार्मिक ग्रंथ है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि इस समय तक देश की राजनैतिक परिस्थिति या दशा शान्तिपूर्ण थी, उसमें कुछ विशेष गड़बड़ी न हुई थी। यह अवश्य है कि सिंध के प्रदेश में ख़लीफ़ाओं के सेनापतियों ने आक्रमण करके अशान्ति उठाई थी और सिंध पर विजय भी प्राप्त कर ली थी, किन्तु इससे असली भारत (जहाँ हिन्दी का जन्म हुआ था और जहाँ वह पल रही थी या जहाँ उसका विकास-केन्द्र था) पर कुछ विशेष प्रभाव न पड़ा था, यद्यपि मुसलमानों के आक्रमण कुछ इधर राजपूताने में भी हो जाया करते थे।

खुमान रासो इस बात को सिद्ध करता है कि वीर-काव्य का कारण नैतिक-अशान्ति ही के रूप में थी और यह अशान्ति मुसलमानों के ही आक्रमणों से उठी थी। इसके साथ ही इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस वीर-काव्य का लक्ष्य या उद्देश्य वीर राजपूतों की प्रशंसा करना तथा उनकी वीरता को प्रकाशित करने वाले तथा उनकी कीर्ति की कौमुदी को कलित करने वाले युद्धों और विजयों का अत्युक्ति के साथ वर्णन करना तथा इस प्रकार राजपूतों को उत्तेजित और प्रोत्साहित कर के देश, समाज तथा धर्म की रक्षा के लिये पूर्ण रूप से तैय्यार करना ही था।

महाराज खुमान तथा उनके सहायक अन्य राजपूत वीर राजाओं से पराजित होकर सिंध के मुसलमानों ने फिर राजपूतों पर हमलों का करना बंद कर दिया था, क्योंकि उनकी शक्ति टूट गई थी और वे राजपूतों के सम्मुख हीन एवं क्षीण सिद्ध हो चुके थे। यही कारण है कि खुमान रासो के पश्चात् कदाचित् वीर-गाथा-काव्य भी बंद हो चला था और हिन्दी-साहित्य की प्रगति भी बदल गई थी, वह फिर वास्तविक साहित्य की ओर अग्रसर हो चला था। धार्मिक एवं काव्य सम्बन्धी विषयों की ओर ही लेखकों ने ग्रंथों की रचना का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था, साथ ही संस्कृत-साहित्य के ग्रंथ रत्नों का भी अनुवाद हिन्दी में करके अपने हिन्दी-साहित्य की पूर्ति करना भी पुनः जारी कर दिया था। यह बात और भी पुष्ट हो जाती है जब हम खुमान रासो के पश्चात् लिखे गये जैन-ग्रंथों एवं अन्य ग्रन्थों जैसे वर्तमाल (१२०५-१२५८ सं०) तथा वृत्तरत्नाकर के अनुवादों को देखते हैं। सं० १००० से १२०० तक वीर-गाथा-काव्य शिथिल ही सा रहा, क्योंकि देश की राजनैतिक दशा इसके अनुकूल न हो कर कुछ शान्त सी ही रही। वीर-गाथा-काव्य को प्रबलता मिलती है लगभग १२०० सं० के उपरान्त ही में, क्योंकि इस बीच में पश्चिम की ओर से (अफ़ग़ानिस्तान से, न कि सिंध की ओर से) अफ़ग़ान मुसलमानों ने आक्रमण करना प्रारम्भ करके भारत की नैतिक शान्ति को भंग करना प्रारम्भ कर दिया और इसके साथ ही राजपूतों के भिन्न भिन्न वंशों में भी अशान्ति एवं वैमनस्य की अग्नि लग चुकी थी, जिसके कारण पारस्परिक ग्रह-कलह भी होने लगी थी। राजपूत लोग आपस में लड़ने, झगड़ने तथा अपनी और देश की शक्ति का दुरुपयोग करने लगे थे, जिससे देश को गहरी क्षति पहुँच रही थी और चारों ओर कालिमामयी

अशान्ति दिखलाई पड़ती थी। इस प्रकार वीर-गाथा काव्य की वृद्धि के लिये देश तथा समाज की दशा और राजनैतिक परिस्थिति अनुकूल हो गई थी। यही कारण है कि १२०० के पश्चात्-वीर-गाथा-काव्य का ही पूर्ण रूप से प्राधान्य हिन्दी-साहित्य में प्राप्त होता है और उसके अन्य अंग शिथिल रूप में ही मिलते हैं।

इन बातों के साथ ही साथ हमें यह भी देख लेना चाहिये कि प्रथम तो रासो ग्रंथ की रचना का कार्य चित्तौर (राजपूताना) में हुआ था, जहाँ राज-स्थानी का ही प्राधान्य था, किन्तु इस बार (१२०० के पश्चात्) इस काव्य की रचना का कार्य राजपूताने से हट कर संयुक्त प्रान्त एवं पंजाब के मध्य भाग में ही हुआ, जहाँ, भाषा और ही (हिन्दी भाषा के प्रारंभिक रूप में) थी। इन उत्तर कालीन रासो ग्रंथों में, ध्यान देने की बात है, हिन्दी का प्राधान्य वैसा नहीं जैसा होना चाहिये था, जब इनका निर्माण हिन्दी के स्वाभाविक एवं असली प्रदेश में हुआ था। इनमें था प्राधान्य राजस्थानी ही के स्वरूप का। कारण यह था कि ये उन राज-दरबारों में रचे गये थे तथा उन राजाओं और महाराजाओं के विषय में लिखे गये थे जो राजपूत-वंश-भूषण होकर राजपूताने से राजस्थानी भाषा के साथ यहाँ आये थे। ये रासो ग्रंथ इन्हीं राजपूत राजाओं के जय-काव्य हैं और इन्हीं से प्रोत्साहित एवं परिपालित या प्रशंसित हुये थे। ये रासो ग्रंथ उन्हीं राजपूतों के लिये लिखे भी गये थे और जनता के लिये सम्भवतः न थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये बहुत संकीर्ण रूप रखते थे और केवल राज-दरबारों में ही रहते थे। यही कारण है कि इनकी प्रतियाँ जनता में नहीं पाई जातीं वरन् राज-प्रासादों एवं राज-पुस्तकालयों में ही मिलती हैं। इनका प्रचार भी जनता में न हुआ था और यदि हुआ भी था तो बहुत ही कम।

इन ग्रंथों में विशेष रूप से वीर राजपूत-राजाओं एवं महाराजाओं का प्रशंसात्मक यशोगान ही है, हाँ साथ ही साथ उनके युद्धों आदि का भी वर्णन, जो इतिहास से सम्बन्ध रखता है, दिया गया है।*

इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस काल में हिन्दी-साहित्य के निर्माण का स्थान या केन्द्र बदल गया था और इस स्थानान्तर का प्रभाव कुछ विशेष रूप से रासो ग्रंथों पर तो नहीं पड़ा, किन्तु अग्रिम साहित्य पर बहुत बड़े रूप में पड़ा है। यहाँ तक कि इसीसे ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्राप्त हो गया और सुदृढ़ स्थिरता के साथ उसको साहित्य में एक परमोच्च स्थान मिल गया। इससे हिन्दी में ब्रजभाषा-साहित्य की प्रधानता एवं प्रबलता हो गई तथा उसकी अच्छी श्री-वृद्धि भी हो चली। चूँकि साहित्य-रचना का केन्द्र मथुरा एवं ब्रज के पास आ गया, इसीलिये साहित्य में कृष्ण-भक्ति का (जिसका केन्द्र ब्रज में ही था तथा जहाँ पर श्रीकृष्ण की बाल लीलायें हुई थीं) प्राधान्य हो गया और साहित्य की धारा धार्मिक प्रवाह के साथ प्रवाहित हो गई। धर्म सम्बन्धी कृष्ण-भक्ति के साहित्य में जाग्रति आने के अन्य धार्मिक आन्दोलनादि कारणों में से यह भी एक प्रधान कारण कहा जा सकता है। इसी प्रकार जब साहित्य-रचना का केन्द्र और पूर्व की ओर बढ़ा तथा उसे राम-भक्ति सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन का समाश्रय प्राप्त हुआ तब अवधी भाषा एवं अवधी साहित्य (राम-भक्ति सम्बन्धी साहित्य) का

---

* वीर-काव्य की प्रणाली संस्कृत काव्य-साहित्य में कवियों के द्वारा प्रथम ही से चला दी गई थी और श्रीहर्ष-चरित्र जैसे वीर-गाथा काव्य के ग्रंथ रच डाले गये थे। कदाचित् संस्कृत काव्य-साहित्य से ही यह प्रणाली हिन्दी-साहित्य में आकर प्रचलित की गई थी।

उत्थान एवं विकास-प्रकाश हुआ और इसी प्रकाश राजनैतिक-परिस्थितियों के कारण साहित्य-रचना का केन्द्र जब बुंदेलखंड में आगया तथा साहित्य की प्रगति उस ओर झुकी तब बुंदेली भाषा एवं उसके साहित्य को भी जागृति प्राप्त हो गई।

जय काव्यालोचन

जय काव्य का अर्थ

जय काव्य उस काव्य को कहते हैं जिसमें किसी वीर पुरुष की विजय का वर्णन किया जावे और उसके विपक्षी या शत्रु की युद्ध में पराजय का सांगोपांग कथन किया जावे। चूंकि इसमें युद्ध के वर्णन का ही प्राधान्य रहता है इसलिये इसमें वीर रस तो स्थायी रस के रूप में और रौद्र, भयानक, वीभत्स तथा कभी कभी अद्भुत रस अस्थायी एवं सहायक रसों के रूप में आते हैं। जिस वीर पुरुष की विजय का वर्णन इसमें किया जाता है वही इस काव्य का प्रधान नायक, और उसका विपक्षी जिसको वह पराजित करता है, उपनायक या विरोधी नायक होता है, साथ ही इन दोनों की सहायता करने वाले अन्यान्य मित्रगण एवं सैनिक आदि भी रहते हैं। चूंकि इसमें युद्धादि का वर्णन किया जाता है इसलिये यह वर्णनात्मक या प्रबंधात्मक काव्य के रूप में ही लिखा जाता है और कथात्मक शैली के साथ चित्रोपम रूप में ही रहता है।

इसमें यह विशेषता रहती है कि इसका नायक सदैव ही विजय-श्री से विभूषित दिखलाया जाता है। इसके विपरीत जहाँ भिन्न भिन्न नायकों या राजाओं के भिन्न भिन्न युद्धों या एक

ही राजा के भिन्न भिन्न युद्धों का वर्णन बिना जय या पराजय का विचार किये हुये किया जाता है वहाँ यह वीर-गाथा-काव्य के रूप में परिणत होकर वीर-गाथा-काव्य की श्रेणी का काव्य हो जाता है। वीर-गाथा-काव्य में कोई मुख्य नायक नहीं होता वरन् उसमें कई वीरों के युद्धों का वर्णन किया जाता है या कभी कभी एक ही वीर पुरुष के भिन्न २ युद्धों का वर्णन किया जाता है। प्रत्येक युद्ध का विजयी नायक ही उसका मुख्य नायक तथा उसका विपक्षी उपनायक या विरोधी नायक होता है। अथवा जहाँ एक ही वीर पुरुष के भिन्न भिन्न युद्धों का वर्णन किया जाता है वहाँ नायक तो वही एक वीर रहता है किन्तु उसके विरोधी नायक कई होते हैं। यहाँ यह विचार विशेष प्रधानता के साथ नहीं रहता कि नायक सदैव विजयी ही दिखलाया जावे। जिन २ युद्धों में वह विजयी हुआ उन उन में तो वह विजयी और जिनमें वह विजयी नहीं हुआ उन में वह उसी रूप में दिखलाया जाता है, हाँ यह विचार अवश्य रक्खा जाता है कि पराजित होने पर भी उसकी विगर्हणा या अवहेलना नहीं की जाती, वरन् उसके साथ पूर्ण सहानुभूति एवं समवेदना आदि के भाव उपयुक्त दया, अनुरक्ति तथा दु:खपूर्ण खिन्नता के साथ प्रगट किये जाते हैं और उसके विपक्षी की अवहेलना या उस के अत्याचार या अनर्थ के लिये निन्दा की जाती है।

जहाँ अनेक वीरों के युद्धों का वर्णन रहता है वहाँ इन सब बातों का विचार प्रायः उन्हीं के साथ किया जाता है जिनके साथ लेखक या उसके समाज का अनुराग विशेष रूप से रहता है।

इन दोनों प्रकार के काव्यों के अतिरिक्त एक और प्रकार का भी काव्य होता है जिसे हम वीर-काव्य कह सकते हैं। इसमें उक्त बातें प्रधान रूप में नहीं रहतीं वरन् वीरों को प्रोत्साहित करने

वाले, वीरता के भावों को जागृत करने वाले तथा शूर वीरों के स्तवन-सूचक वाक्य-विन्यास की ही प्रधानता रहती है। इनमें किसी वीर नायक या नायकों के युद्धों का वर्णन उनके विजयी होने पर प्रशंसा के साथ नहीं किया जाता है और यदि किसी प्रकार कहीं किया भी जाता है तो केवल उदाहरण या दृष्टान्त के ही रूप में। इस प्रकार के काव्य का उद्देश्य वीरों को उत्तेजित, प्रोत्साहित तथा उनमें युद्धोमंग का जागृत करना ही है। इस प्रकार यह प्रबंध या कथात्मक काव्य नहीं होता, वरन् मुक्तक काव्य के ही रूप में रहता है और प्रायः दो मुख्य शैलियों में लिखा जाता है:—

१. गीतों के रूप में—इस दशा में इसे हम वीर-गीत-काव्य कहते हैं।

२. छंदों के रूप में—इस दशा में इसे हम वीर-मुक्तक-काव्य कह सकते हैं।

अब यह देख लेना चाहिये कि इन सभी प्रकार के काव्यों में वीर रस की ही प्रधानता रहती है और उसके साथ रोष, एवं अमर्ष आदि भाव संचारी भावों के रूप में रक्खे जाते हैं। इनमें ऐसे छंदों या गीतों का प्रयोग किया जाता है जो वीर रस के ही सर्वथा उपयुक्त माने गए हैं। इनकी भाषा भी प्रायः कठोर और परुष रहती है तथ प्रायः परूषा वृत्ति एवं गौड़ी रीति का ही अनुसरण किया जाता है। महाप्राण एवं संयुक्त वर्णों का ही विशेष बाहुल्य एवं प्राबल्य रहता है और भाषा तथा शैली को ओज गुण से इनमें ओजस्विनी बनाया जाता है।

उद्देश्य

ऊपर दो प्रकार के वीर काव्यों का वर्णन किया गया है:—
१. प्रबंधात्मक (कथात्मक) जय-काव्य और २. वीर-काव्य

(मुक्तक)। इन दोनों प्रकार के काव्यों का साधारण एवं व्यापक उद्देश्य मुख्य रूप से यही रहता है कि जनता में वीरता का संचार किया जावे तथा वीरों को उत्तेजित, प्रोत्साहित एवं सम्मानित करके उठाया जावे, जिससे देश, समाज और धर्म के स्वातंत्र्य की रक्षा हो। किन्तु जिस प्रकार इन दोनों के रूपों आदि में भिन्नता है उसी प्रकार इनके अपने अपने स्वतंत्र एवं पृथक् उद्देश्यों में भी अन्तर है।

उक्त मुख्य उद्देश्य के साथ ही साथ वीर गाथा-काव्य के दूसरे लक्ष्य या उद्देश्य मुख्यतया ये हैं :—

१—वीराभिनन्दन या शौर्यार्चना या वीर-पूजा (Heroe worShip) अर्थात् वीर पुरुषों का सम्मान एवं अभिनन्दन-बंदन करना, क्योंकि उन्होंने वीरता के साथ देश, समाज तथा धर्म आदि की स्वतंत्रता के लिये अपने प्राणों का मोह त्याग कर तथा अन्य प्रकार के सांसारिक सुखों का कुछ भी ध्यान न करके युद्ध-क्षेत्र में अपना वीर रक्त बहाया तथा देश, समाज एवं धर्म के शत्रुओं का विनाश किया है, और इस प्रकार उन्होंने परार्थपरायणता का प्रशंसनीय कार्य किया है।

२—उनकी प्रशंसा करके उन्हें यत्किंचित उनके वीर-कार्य के लिये पुरस्कृत करना अर्थात् उनकी कीर्ति का कीर्तन करके उनके युद्ध-श्रान्त मन तथा श्रम-शिथिलशरीर (तन) को पुनर्जीवन देकर हराभरा करना और यों उनको दूसरे मौक़े के लिये प्रोत्सहित करना। यह हमारा कर्तव्य है कि जो हमारे हित के लिये अपना रक्त बहाता है, हम उसे, यदि और किसी भी प्रकार सम्मानित या पुरस्कृत नहीं करसकते तथा उसके ऋण को किसी उत्तम प्रतीकार से नहीं चुका सकते तो हम उसका यशोगान करके ही उसका समाश्वासन कर सकते हैं। यही उसके लिये एक

पुरस्कार एवं प्रतीकार होगा।

२—उसके यशोगान से दूसरों को उसका अनुकरण करने के लिये प्रोत्साहित एवं उत्तेजित करना। किसी वीर की कीर्ति का कीर्तन सुनकर अन्य वीरों के हृदयों में भी उसी के समान आर्य कार्य करके कमनीय कीर्ति के कमाने की अभिलाषा बलवती होती है और वह उससे समुत्तेजित तथा समुत्साहित होकर अपनी शूरता का परिचय देने लगता है तथा देश, समाज एवं धर्म पर आने वाले संकटों के अवसरों पर उनकी रक्षा के लिये युद्ध-भूमि की बलि-वेदी पर अपने को बलिदान करने में कटिबद्ध रहता है।

इसी प्रकार इस प्रकार के काव्य का निर्माण अन्य उद्देश्यों से भी किया जाता है, हाँ प्रधान उद्देश्य प्रायः ये ही हुआ करते हैं।

इसके विपरीत वीर-गीतों की रचना का उद्देश्य मुख्यतया वीरता का संचार करना ही होता है। इससे जनता के हृदय में उत्तेजना तथा जागृति के साथ ही साथ सजीवता एवं चैतन्यता लाई जाती है और वह देश, जाति तथा धर्म पर बलिदान होने के लिये तैय्यार की जाती है। इस प्रकार के काव्य में राष्ट्रीयता, धार्मिक एवं नैतिक स्वतंत्रता तथा वीर-प्रधान देश-प्रेम की भावनाओं का प्राधान्य रहता है। मानसिक दौर्बल्य, हार्दिक कार्पण्य तथा शारीरिक शैथिल्य को दूर करना ही इसका मुख्य ध्येय होता है। यह विश्व-रणांगण में होने वाले जीवन-संग्राम में वीरता के साथ युद्ध करके स्वार्थ, परार्थ एवं परमार्थ का लाभ उठाने ही का संदेश देता है। वीर पुरुषों के प्रशंसात्मक उल्लेख इसमें उदाहरणों के ही समान रक्खे जाते हैं।

इन दोनों प्रकार के काव्य-साहित्य से जो मुख्य परिणाम होते हैं उन्हें हम संक्षेप रूप से यों कह सकते हैं—सबसे प्रथम परिणाम इस प्रकार के काव्य का यह होता है कि देश, भाषा

तथा साहित्य में ओज, बल और जीवन आ जाता है, तथा दौर्वल्य, शैथिल्य एवं कार्पण्य का नाश हो जाता है। जिस देश एवं समाज में इस काव्य का जितना ही अच्छा तथा अधिक प्रचार होता है उसी देश तथा समाज में उतना ही अच्छा और अधिक शौर्य, स्वातंत्र्य तथा निर्भीक उत्साह रहता है, कुत्सितता कापुरुषता, हीनता तथा दीन क्षीणता नहीं रहती। इससे देश तथा साहित्य पुष्ट और प्रौढ़ होता है। राष्ट्रीयता की स्वतंत्रता और सजीवता का आवेशपूर्ण रक्त उत्तेजित होता रहता है, जिससे जनता की चित्त-वृत्ति वीर-प्रधान हो जाती है, अस्तु।

किसी देश को जागृत तथा उन्नत या प्रबल बनाने के लिये वहाँ उस देश के वीर-काव्य का प्रचार करना अनिवार्यावश्यक ही है, इसी के विपरीत किसी समुन्नत तथा प्रबल राष्ट्र या देश को अवनत तथा निर्जीव करने के लिये यही सब से अच्छा उपाय है कि उस देश के वीर-काव्य का ऐसा लोप कर दिया जावे कि वह किसी प्रकार कभी किसी भी रूप में वहाँ की जनता के सामने न आ सके।

इन वीर काव्यों में ऐतिहासिक सामग्री भी अपनी उचित मात्रा तथा उचित वास्तविकता के साथ रहती है। ये ऐतिहासिक घटनाओं (युद्धों आदि) का वर्णन कुछ थोड़ी ही काव्योचित कल्पना के साथ करते हैं, काव्योचित कल्पना का समावेश इसमें काव्य-चारुता लाने के लिये ही किया जाता है, आधारित यह सभी प्रकार ऐतिहासिक तथ्य पर ही रहता है। यह आवश्यक है कि कवि इसमें वीर-प्रशंसा आदि के करते समय काव्य-कौशल सम्बन्धी अलंकारों (अत्युक्ति, अतिशयोक्ति, रूपक एवं उपमा आदि) का प्रयोग कर देता है, किन्तु यदि हम इस काव्य-तत्व को पृथक् कर दें तो अवश्य ही हमें इसमें

ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हो जावेगा। इस प्रकार हमें इनसे इनके समय का इतिहास भी बहुत कुछ प्राप्त हो सकेगा। अस्तु

इसके नाम और भेद

हम ऊपर यह दिखला चुके हैं कि वीर-काव्य के कितने रूप होते हैं, यहाँ हम सुविधा के लिये उनका वर्गीकरण भी स्पष्ट रूप से दे रहे हैं—हाँ इसके प्रथम हम यह बतला देना उचित एवं उपयुक्त समझते हैं कि इस प्रकार के काव्य को अनेक नाम दिये गये हैं और इसलिये कुछ गड़बड़ी सी हो रही है। कुछ लोगों ने इस प्रकार के काव्य को वीर काव्य, कुछ ने चारण-काव्य, कुछ ने जय काव्य और कुछ ने इसे वीर-गाथा काव्य कहा है। किसी किसी ने तो इन सभी नामों का उपयोग किया है किन्तु इनके अर्थान्तर का विचार नहीं किया, जिससे विषय के समझने में कुछ असुविधा सी होती है। हमारी सम्मति में हम इस प्रकार के काव्य को शौर्य काव्य की व्यापक एवं साधारण संज्ञा दे सकते हैं, फिर इसके अन्दर हम इसके भेदोपभेदों के रूप में उक्त प्रकार के काव्यों को रख सकते हैं।

शौर्यकाव्य

वह काव्य है जिसमें वीर रस का स्थायीरूप से पूर्ण प्राधान्य रहता है और ओज गुण से उत्कृष्ट होकर जो परुषावृत्ति तथा उससे परिपुष्ट होने वाली पांचाली रीति (शैली) में लिखा जाता है। इसका उद्देश्य जनता के हृदयों में वीर एवं रौद्र रस का संचार करना तथा उनमें सजीवता, उत्साह, साहस एवं आवेशपूर्ण उत्तेजना की जागृति करना ही होता है।

इस प्रकार के काव्य के मुख्यतया निम्न रूप या भेद होते हैं—

१—प्रबन्धात्मक

जिसमें किसी युद्ध एवं किसी वीर पुरुष की घटनाओं का वर्णन किया जाता है। इसे वर्णनात्मक एवं कथात्मक काव्य भी कह सकते हैं। इसके मुख्यतया निम्न रूप होते हैं।

क—जय-काव्य

जिसमें किसी एक ही वीर पुरुष के युद्धों एवं उनमें प्राप्त होने वाली विजयों की कथायें दी गई हों और साथ ही उसके विपक्षियों की पराजयों का वर्णन किया गया हो।

ख—वीर-गाथा

जिसमें कई वीर पुरुषों की वीरतापूर्ण विजयों की कथाओं का वर्णन किया गया हो।

२—मुक्तक

जहाँ वीर रस-पूर्ण मुक्तक छन्दों का ही प्राधान्य हो। इसके भी दो भेद हो सकते हैं:—

अ—गाथात्मक

जिसमें किसी वीर पुरुष की विजय-कथा मुक्तक के ढंग से कही गई हो, इसी का एक विशिष्ट रूप वहाँ होगा जहाँ कई वीरों की विजय-कथायें दी गई होंगी।

नोट:—उक्त प्रकार के काव्यों को हम वीर-विरदावली एवं वीर-चरितावली भी कह सकते हैं।

ब—साधारण

जहाँ वीर रस-पूर्ण, ओजस्विनी छंदों को ही प्रधानता दी गई हो और जहाँ किसी वीर की विजय-कथायें न हों, और यदि कहीं हों भी, तो केवल उदाहरणों के ही रूप में। हाँ, उन छंदों से हृदय में वीरोत्तेजना, युद्धोत्साह, शौर्य-साहस एवं इसी प्रकार के भावों की जागृति अवश्य होती हो।

इनमें से प्रत्येक के दो दो रूप और हो सकते हैं :—

१—गीतात्मक

जिसमें वीर-गीत या गायन को प्रधानता दी गई हो। इसे हम वीर-गीत (Ballads) कहते हैं। यह संगीत से विशेष सम्बन्ध रखता है।

२—साहित्यिक छंदात्मक

जिसमें साहित्यिक छंदों का ही प्राधान्य हो और इस प्रकार जिसका साहित्यिक काव्य (या पिंगलादि) से ही विशेष सम्बन्ध हो।

इन्हीं के साथ ही साथ हम इस काव्य को इन रूपों में भी रख सकते हैं:—

१—व्यापक

जो समस्त समाज या देश के लिये रचा गया हो।

२—संकीर्ण

जो किसी विशेष व्यक्ति या वंश के ही लिये लिखा गया हो।

उक्त दोनों रूपों के दो दो भेद साहित्यिक दृष्टि से और हो जाते हैं :—अ—जिसमें साहित्यिक काव्य के गुणों या लक्षणों का

वाहुल्य एवं प्राधान्य हो और जो उच्च कोटि के साहित्य में लिये जा सकते तथा साहित्य-प्रेमियों के लिये ही विशेष उपयुक्त हों, इसे हम उत्तम शौर्य-काव्य कह सकते हैं।

ब—जिसमें साहित्यिक गुण विशेष उत्तमता, प्रधानता एवं वाहुल्य के साथ न हों और जो केवल साधारण जनता के ही लिये उपयुक्त हो, इसे हम साधारण शौर्य काव्य कह सकते हैं।

इस सब के साथ हमें यहाँ एक बात की ओर और संकेत कर देने की आवश्यकता जान पड़ती है और वह यह है कि वीर-विरदावली या वीर-गाथा के मुख्य २ रूप यों भी मलिते हैं:—

१—वीर-विरदावली

जिसमें एक ही वीर पुरुष की विजयों की प्रशंसात्मक कथायें दी गई हों और उसी की स्तुति की गई हो।

२—वीर-कथा-माला

जिसमें कई वीरों की विजयों का प्रशंसात्मक वर्णन किया गया हो।

३—वीर-जीवनी

जिसमें किसी एक प्रमुख वीर विजयी महाराज की प्रशंसात्मक जीवनी हो।

४—वीर-वंश-विरदावली

जिसमें किसी वीर विजयी वंश या किसी वीर पुरुष के वंश का प्रशंसात्मक वर्णन हो अथवा कई वीर वंशों का श्लाघापूर्ण वर्णन हो।

इस प्रकार इस विषय को स्पष्ट करके अब हम अपने वीर-काव्य (शौर्य काव्य) की आलोचना करते हैं। इस काव्य की रचना

के समय का सूक्ष्म दिग्दर्शन हम प्रथम ही करा चुके हैं, यहाँ केवल उस काव्य की आलोचना ही करना उचित ज्ञात होता है।

शौर्य काव्यालोचन

प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक काल में देश, काल, समाज एवं परिस्थितियों आदि के प्रभाव से जिस शौर्य-काव्य का जन्म एवं विकास-प्रकाश हुआ, वह हमें मुख्यतया दो रूपों में ही प्राप्त होता है।

१—मुक्तक

इसमें वीर रस-पूर्ण ओजस्विनी भाषा में लिखे गये स्फुट गीत एवं छंद ही आते हैं। ऐसा साहित्य अब प्राप्त नहीं होता हाँ कुछ थोड़े से छंद इतस्ततः किम्वदंतियों एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों में उदाहरणों आदि के रूपों में अस्तव्यस्त रूप से प्राप्त होते हैं। इसीलिये इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। इनकी भाषा के देखने से यह अवश्यमेव विदित होता है कि ये एक ही समय में नहीं बने वरन् मुंज और भोज (सं० १०३६) से लेकर हम्मीर देव (सं० १३५३) के समय तक में बने हैं। इनकी भाषा इसी लिये प्राकृत एवं अपभ्रंश की पदावली से पूर्ण होकर भी उनके नियमों से पूर्णतया नियंत्रित नहीं है। क्योंकि वह समय जिसमें इनकी रचना हुई थी, भाषा-परिवर्तन का समय था। प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का

अस्त हो रहा था और हिन्दी का उदय होता था। इन की भाषा को न तो हम पूर्णतया साहित्यिक भाषा ही कह सकते हैं और न देश-भाषा ही कह सकते हैं। हाँ कह सकते हैं यही कि देश-भाषा का विकसित एवं कुछ साहित्यिक भाषा की ओर अग्रसर होता हुआ रूप इनकी भाषा का है, क्योंकि इसमें देशज शब्दों, पदों एवं ढंगों का प्राधान्य सा मिलता है। अपभ्रंश का भी प्रभाव इस में दिखलाई पड़ता है क्योंकि वही कुछ समय पूर्व जैन एवं कुछ बौद्ध विद्वानों के कारण साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी। देश-भाषा को साहित्यिक रूप प्राप्त करने के लिये अपभ्रंश की सहायता लेना, उसका अनुकरण करना तथा उसकी शैली का आश्रय रखना आवश्यक था। यह मुक्तक काव्य प्रायः दोहों (दूहों) के ही रूपों में पाया जाता है।

प्रबंधात्मक या वर्णनात्मक

इसमें युद्ध-संबन्धी घटनाओं का ही वर्णन प्रधान रूप से दिया जाता है और किसी वीर राजा की विजय-श्री का प्रशंसात्मक वर्णन किया जाता है। युद्ध के कारण प्रायः दो ही रूपों में पाये जाते हैं १—राजनैतिक या किसी शत्रु का आक्रमण करना और उससे देशादि की रक्षा के लिये युद्ध होना। २—प्रेमात्मक—इसमें किसी राज-कन्या के साथ किसी वीर राजा का अनुराग होना तथा उस कन्या का उस राजा के द्वारा अपहरण किया जाना और इस कारण दोनों (वर-वधू) पक्षों में युद्ध होना।

इन दोनों कारणों में से द्वितीय कारण से होने वाले युद्धों का प्रायः इस प्रकार के काव्य में बहुत प्राधान्य रहता था, पश्चात् को जब मुसलमानों के आक्रमणों का बल-वेग बढ़ गया तब प्रथम कारण से होने वाले युद्धों को भी प्रधानता दी जाने

लगी। इस प्रकार इन कारणों के आधार पर इस प्रकार के काव्य में दो भिन्न प्रकार के रासों का समावेश पाया जाता है। प्रथम हेतु के आधार पर शृङ्गार (प्रेम-वियोग और संयोग) और वीर रस का सुन्दर सामंजस्य किया जाता था, किन्तु द्वितीय कारण के आधार पर केवल वीर और वीभत्स (रौद्र भी) को ही प्राधान्य दिया जाता था।

प्रथम कन्यापहरण क्षत्रियों या राजपूतों में अच्छा माना जाता था। उस समय यद्यपि स्वयंवर की प्रथा भी कुछ अंशों में कहीं २ एवं कभी २ देखी जाती थी, किन्तु प्रधानता कन्यापहरण को ही दी जाती थी। किसी सुन्दर राजकुमारी का रूप-लावण्य सुन कर वीर राजकुमार या राजा लोग दल-बल के साथ जा कर उसका अपहरण करते और युद्ध में उसके पिता को पराजित करके विजय-श्री के रूप में उस कन्या को ले आते थे। यह कार्य गौरव एवं अभिमान (शौर्य और प्रभाव) का कार्य समझा जाता था। इस प्रकार की घटनाओं का जहाँ वर्णन होता था वहाँ वीर रस का प्राधान्य एवं शृङ्गार का गौण रूप में समावेश किया जाता था। कभी २ राजनैतिक कारणों को गौण रूप दे कर इन्हीं कारणों को प्रधानता दे दी जाती थी और कभी कभी इस प्रकार के कन्यापहरण के कल्पित कारण दे दिये जाते थे। यथाः—गोरी के यहाँ से एक रूपवती स्त्री का पृथ्वीराज के यहाँ आना ही युद्ध का कारण कहा गया है। हम्मीर एवं अलाउद्दीन के युद्ध का कारण भी ऐसा ही दिया गया है। प्रायः इनमें ऐसी कल्पित घटनाओं की ही योजना की जाया करती थी।

यह प्रबंधात्मक शौर्य काव्य हमें दो रूपों में प्राप्त होता है :—

१—वीर-गीतों (Ballads) के रूप में, जैसे बीसलदेव रासो। यह गीत काव्य के रूप में होने से गाया भी जाता था

और इसीलिये इस काव्य की भाषा में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। भिन्न २ प्रान्तों के लोगों ने अपने गाने के लिये इसमें अपनी सुविधा के विचार से अपनी प्रान्तीय भाषा का भी समावेश कर दिया है। यह बात हमें पूर्ण रूप से प्रमाणित एवं पुष्ट जान पड़ती है, क्योंकि आल्हा हमारे सामने इसकी साक्षी दे रहा है।

२—छंदात्मक रूप में, जैसे पृथ्वीराज रासो। इसमें छंदों में ही सम्पूर्ण प्रबंध लिखा जाता था और इसीलिये यह प्रौढ़ साहित्यिक रूप में आ जाता था। इसमें काव्य-गुण तथा काव्य-कला का कौशल भी रक्खा जाता था और गीत-काव्य की अपेक्षा इसमें प्रबंध-रचना की विशेषता भी काव्योत्कर्ष के साथ अधिक रहती थी। गीत-काव्य के समान यह साधारण भाषा में भी न लिखा जाता था वरन् इसकी भाषा बहुत कुछ साहित्यिक रूप में ही रहती थी और इसी से यह काव्य विशेषतया पठित एवं शिष्ट सीमा के ही अन्दर रह कर संकीर्ण रूप में प्रचलित होता था, जिससे इसकी भाषा में उतना परि-वर्तन न हो सकता था जितना गीत-काव्य की भाषा में। यह हमें चन्द्र कृत रासो के देखने से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। इससे हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि इसमें परिवर्तन बिलकुल ही न होता था, वरन् केवल यही अभिप्राय है कि इस प्रकार के काव्य की भाषा आदि में बहुत ही कम परिवर्तन होता या हो सकता था। हाँ, परिवर्तन थोड़े अंशों में इसमें भी होता या हुआ अवश्य था। इस प्रकार के काव्य में ऐतिहासिक तथ्य भी रहा करता था, हाँ कुछ घटनायें कल्पित भी रहती थीं और प्रशंसादिक में अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति आदि का विशेष बाहुल्य कर दिया जाता था। इसमें प्रायः वीर एवं श्रृङ्गार रासों के उपयुक्त छंदों का ही प्रयोग किया जाता था। यथा दोहा, चौपाई, कवित्त

(छप्पय) भुजंगी एवं पद्धरी आदि। यहाँ यह भी कह देना उचित जान पड़ता है कि इस काव्य की भाषा में आये हुये अरबी एवं फ़ारसी भाषा के तत्सम एवं तद्भव शब्द (जिन्हें देशज रूप से कुछ प्रभावित कर दिया जाता था) यह स्पष्ट रूप से सूचित करते है कि मुसलमानों का प्रभाव उस समय से ही पड़ चला था और विशेषतया राजदर्बारों में।

इस सूक्ष्म आलोचना के पश्चात् अब हम वीर-गाथा काव्य के मुख्य २ ग्रंथो तथा उनके रचयिताओं का सूक्ष्म परिचय भी दे देना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि इससे साहित्य-कार्य या उक्त बातों का ज्ञान स्पष्ट रूप से हो जावेगा। इन ग्रंथों का वर्णन एवं विवेचन हम अपने उक्त वर्गीकरण के अनुसार न करके उनके समयों के ही अनुसार करना उचित समझते हैं क्योंकि इस प्रकार करने से ही सुविधा एवं सरलता पूर्ण स्पष्टता हो सकेगी।

१—खुमान रासो

इस ग्रंथ की जो प्रति इस समय हमें प्राप्त होती है उससे यह ज्ञात होता है कि यह असली नहीं है, इसमें समय समय पर रूपान्तर एवं परिवर्तन किया गया है। यह भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसका कितना अंश प्राचीन और कितना नवीन है। इसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वृत्तान्त मिलता है, और राणा प्रताप १७ हवीं शताब्दी में थे, इससे कह सकते हैं कि यह अंश १७ हवीं शताब्दी के ही अन्तिम काल में रचा गया होगा। शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में जो कुछ हाल इस ग्रन्थ का दिया है उससे ज्ञात होता है कि इसे किसी अज्ञात-

नाम भाट ने ही रचा था और इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम तथा सूर्य-वंशावतंश श्री रामचन्द्र जी से लेकर महाराणा खुमान तक का वृत्तांत लिखा गया था। यह भी कहा गया है कि इसका लेखक दलपत विजय नामी एक कवि था। अब यह अनुमान किया जा सकता है कि इस ग्रंथ के पूर्वांश को तो उसी अज्ञात नाम भाट ने लिखा हो, और इसके उत्तरांश को दलपत विजय ने ही १७ हवीं शताब्दी में लिखा हो। इसकी भाषा तथा शैली भी यही सूचित करती है कि इसमें परिवर्तन तथा क्षेपक के तौर पर नई रचनाओं का संमिश्रण भी किया गया है। यह एक राज-वंश-वर्णन प्रधान साधारण काव्य है। और विशेष प्रधान नहीं, अस्तु हम इसे छोड़ कर आगे चलते हैं।

२—बीसल देव रासो

द्वितीय महान एवं प्रधान ग्रन्थ, जो विशेष महत्वपूर्ण है, नरपति नाल्ह कवि कृत "बीसल देव रासो" है। यह ग्रंथ कुछ बहुत बड़ा नहीं, वरन् लगभग १०० पृष्ठों का ही है, किन्तु अपनी महत्ता इसलिये यह विशेष रूप में रखता है चूँकि यह गीत-काव्य की शैली में लिखा गया है। इसका निर्माण-काल इसी ग्रंथ के अनुसार सं० १२७२ है।

"बारह सौ बहोत्तरां मँझारि।
जेठ बदी नवमी बुधवारि॥
नाल्ह रसायण आरंभइ।
सारदा तुठी ब्रह्मकुमारि॥"

यहाँ 'बहोत्तरां' शब्द बारहोत्तर या द्वादशोत्तर का रूपान्तरित शब्द न होकर ७२ का ही बोधक है, इसी से इसका निर्माण-काल

जेष्ठ कृष्ण ६ बुधवार सं० १२७२ वि० ही कहा जाता है। इतिहास-वेत्ताओं ने शिला-लेखों आदि के आधार पर बीसलदेव (विग्रह राज चतुर्थ) का भी समय १२२० के लगभग दिखलाया है क्योंकि शिलालेख सं० १२१० तथा १२२० के प्राप्त हुये हैं जिनमें बीसलदेव का शासन-काल दिखलाया गया है। इस प्रकार यह कवि राजा बीसल देव का समकालीन ही सा ठहरता है, कवि ने अपने काव्य में वर्तमान कालिक क्रियाओं का उपयोग भी किया है, जिससे उक्त बात (उसकी समकालीनता) और भी पुष्ट हो जाती है।

ग्रन्थालोचन

इस वीर गीत-काव्य में ४ खंड और लगभग २००० चरण हैं। प्रथम खंड में मालवाधिपति श्री भोज परमार जी की सुकन्या राजमती के साथ कथा-नायक श्री बीसलदेव के विवाह का वर्णन किया गया है। द्वितीय खंड में बीसलदेव की उड़ीसा देश पर चढ़ाई, और वहाँ युद्ध में विजय का वर्णन है; यहाँ यह काव्य जय-काव्य के ही रूप में है। रानी राजमती के वियोग-दुःख का चित्रण तथा बीसलदेव का उड़ीसा से विजय-श्री के साथ लौट आने का अच्छा वर्णन किया गया है। चतुर्थ खंड में श्री भोजराज का आकर अपनी कन्या राजमती को लिवा ले जाने तथा बीसलदेव का फिर राजमती को चित्तौड़ ले आने का वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह काव्य विशेष रूप से वर्णनात्मक काव्य ही है। इसमें केवल दो ही मुख्य घटनायें हैं, १. बीसलदेव का विवाह २. उड़ीसा में उनकी चढ़ाई। इतिहास से पता चलता है कि श्री भोजराज का देहावसान बीसलदेव से प्रायः १०० वर्ष पूर्व ही हो चुका था। यदि इसे सत्य माना जाये (और ऐसा मानना ही चाहिये) तो बीसलदेव के विवाह आदि की

बातें केवल कल्पित ही ठहरती हैं। यह अवश्य है कि बीसलदेव की रानी एक परमार घर की ही राजपुत्री थीं, किन्तु वे श्री भोजराज की कन्या थीं यह निश्चित एवं सिद्ध नहीं, इसमें कवि की कल्पना ही प्रधान जान पड़ती है। हाँ यह हो सकता है कि धाराधिपतियों की उपाधि भोज ही रही हो और उसी को कवि ने अपने काव्य में रक्खा हो। अस्तु, इस विवादग्रस्त एवं अनावश्यक विषय को छोड़कर आगे देखिये। बीसलदेव की अन्य चढ़ाइयों का जिनमें उन्होंने बड़ी वीरता के साथ मुसलमानों को हराकर भगाया था, कुछ भी वृत्तान्त इस काव्य में नहीं है, यद्यपि इन युद्धों का वर्णन बीसलदेव के राजकवि श्री सोमदेव ने अपने "ललित विग्रह राज नाटक" नामी संस्कृत-ग्रन्थ में दिया है। यह ग्रन्थ शिलांकित रूप में अब भी राजपूताना-म्यूज़ियम में रक्खा है। विशेष बात इस रासो में यह है कि यह शृङ्गार-प्रधान काव्य है, और इसी से विवाह तथा रूठकर बीसलदेव का उड़ीसा चले जाने का वृत्तान्त शृङ्गार (विप्रलंभ शृङ्गार) के रूप में बहुत मनमाने तौर पर दिया गया है।

इसकी भाषा

इसमें राजस्थानी भाषा ही का प्राधान्य है, और साहित्यिक ब्रज भाषा इसमें नहीं प्रयुक्त की गई। कहीं कहीं ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली के प्राचीन रूप भी इसमें पाये जाते हैं जिससे ज्ञात होता है कि शिष्ट काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग उस समय वहाँ भी किया जाता था। इसकी भाषा में पिंगल भाषा (राजस्थान की साधारण साहित्यिक भाषा) का ही पूरा प्राधान्य एवं प्रभाव है। चूँकि यह एक गीत-काव्य है इससे इसकी भाषा को उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा के ही रूप में नहीं रक्खा गया है, और ऐसा

ही होना भी चाहिये। साथ ही चूँकि यह गाने के लिये बनाया गया था और लोग इसे गाते भी थे इससे इसकी भाषा आदि में बहुत कुछ परिवर्तन भी हो गया है। हाँ, हस्तलिखित प्रतियों की भाषा कुछ अपने वास्तविक रूप में बचकर रह सकती थी, किन्तु उसमें भी भिन्न भिन्न लेखकों की रुचि का प्रभाव कुछ न कुछ अंश में अवश्य ही पड़ा होगा। कहीं कहीं अरबी, फ़ारसी एवं तुरकी शब्द तथा मुसलमानपात्र (जैसे ताजुद्दीन मियाँ) भी इसमें पाये जाते हैं क्योंकि उस समय मुसलमान लोग पंजाब में आबाद हो चुके थे और इधर भी फैल रहे थे अतः उनका प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक ही सा था।

इस ग्रंथ को यद्यपि हम इसकी कथा-वस्तु तथा भाषा को देखते हुये इसके वास्तविक रूप में नहीं कह सकते, तौ भी इसको विचार पूर्वक देखकर हम निम्न बातों का अनुमान अवश्य कर सकते हैं।

१—शिष्ट तथा व्यापक (स्थायी) साहित्य के लिये प्रान्तीय भाषाओं के साथ ही साथ एक व्यापक तथा सर्वसाधारण के योग्य एक सामान्य भाषा का प्रयोग एवं प्रचार हो चला था, और चारणों में इसे पिंगल की संज्ञा दे दी गई थी। इसी के साथ अपभ्रंश से मिली हुई तथा उससे पूर्ण प्रभावित होने वाली राजस्थानी भाषा भी थी जिसे "डिंगल" नाम से पुकारा जाता था।

२—वीर एवं जय-काव्य में भी जिनमें वस्तुतः वीर-रस का ही प्राधान्य होना चाहिये, शृङ्गार रस की (संयोग एवं वियोग दोनों प्रकार के) प्रधानता मिलती है। साथ ही ऐतिहासिक घटनाओं में कवि-कल्पना का भी अच्छा समावेश प्रतीत होता है।

३—पृथ्वीराज रासो

वीर काव्य का तृतीय और सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा प्रधान ग्रंथ है "पृथ्वीराज रासो"। इसे हिन्दी के सब से प्रथम महा-कवि चंद्र वरदाई ने (सं० १२२५—१२४६ वि०) रचा था। यह रासो हिन्दी का सब से प्रथम महाकाव्य (अपने वास्तविक अर्थ में पूर्णतया नहीं) माना जाता है। चंद्र जी दिल्ली के अंतिम हिंदू-सम्राट श्री पृथ्वीराज चौहान के एक प्रधान सामंत तथा राज-कवि थे और जजात गोत्रीय भट्ट जाति के भूषण थे, इनका जन्म लाहौर (पंजाब में, जहाँ इनके पूर्वज रहा करते थे) में हुआ था। यह कहा जाता है कि महाराज पृथ्वीराज और इन का जन्म एक ही समय हुआ था और वे दोनों एक ही समय साथ ही साथ पंचत्व को भी प्राप्त हुये थे। पृथ्वीराज की इनसे बड़ी ही घनिष्ट मैत्री थी, दोनों सदा साथ ही रहते भी थे। चंद्र जी अनेक विषयों में अच्छे विद्वान थे और कहते हैं कि इन्हें जालंधरी देवी का इष्ट भी था, जिससे ये अदृष्ट काव्य भी कर सकते थे।

पुस्तकालोचन

पृथ्वीराज रासो में ६६ समय (सर्ग या अध्याय) तथा लगभग २५०० पृष्ठ हैं। उस समय में प्रायः जितनी भी छंदें प्रधान-तया प्रचलित थीं वे सब इसमें पाई जाती हैं। इसकी मुख्य मुख्य छंदें हैं:—१. कवित्त (छप्पय) २. दूहा ३. तोमर ४. तोटक ५. गाहा ६. आर्या। कहा जाता है कि इस के पूर्वार्ध की रचना तो चन्द्र जी ने की थी और उत्तरार्ध की उनके सुपुत्र कविवर जल्हन जी ने की थी। ऐसा ही कादम्बरी नामी संस्कृत-काव्य के विषय में

भी कहा जाता है। चंद्र जी ने यह कार्य स्वयमेव अपने पुत्र को सौंपा था, और इसका संकेत भी यों मिलता है :—

"पुस्तक जल्हन हत्थ दै, चलि गज्जन नृप-काज।
रघुनाथ चरित हनुमंत कृत, भूप भोजै उद्धरिय जिमि॥
पृथ्वीराज (पृथिराज) सुजस कवि चंद्र कृत,
चंद्-नंद उद्धरिय तिमि।"

इस ग्रंथ की कथा वस्तु यों है। आबू पर्वत में एक यज्ञ किया गया जिसके कुंड से चार क्षत्रिय-कुलों की उत्पत्ति हुई, उनमें से चौहान कुल प्रधान ठहरा। उसने अजमेर में आ कर राज्य स्थापित किया। इस राज-वंश का पूर्ण वृत्तान्त यहाँ से प्रारम्भ होकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने के समय तक सविस्तार मिलता है। इसके अनुसार पृथ्वीराज अजमेर-नरेश श्री सोमेश्वर चौहान के वीर पुत्र और श्री अर्णोराज के पौत्र थे। इनके नाना दिल्ली-पति श्रीअनंगपाल तुंवर (तोमर) थे तथा क़न्नौज-नरेश श्री जयचंद राठौर इनकी सगी मौसी के लड़के थे। जयचंद्र की कन्या संयोगिता इन पर अनुरक्त थी, स्वयंवर में उसने पृथ्वीराज की स्वर्णमूर्ति को हा जयमाला पहना दी, पृथ्वीराज ने यह सुना और आकर उसके साथ गांधर्व-विवाह कर लिया। जब उसे वे दिल्ली ले चले तब उनको जयचंद् से घोर युद्ध करना पड़ा, जिस के कारण दोनों राजाओं की शक्तियाँ क्षीण सी हो गईं। इसी अवसर को देख कर मुहम्मद ग़ोरी ने अफ़ग़ानिस्तान से भारत पर चढ़ाई कर दी, किन्तु पृथ्वीराज ने उसे हरा कर छोड़ दिया। ग़ोरी ने ७ बार पृथ्वीराज से युद्ध किया, किन्तु वह बराबर हारता ही गया। अन्त में वह पृथ्वीराज को धोखा दे कर पकड़ ले गया। काबुल में पृथ्वीराज बंदी रहे और चन्द्र की सहायता से शब्द-वेधी बाण चलाने का कौशल दिखलाते हुए ग़ोरी को

चंद्र के साथ मार कर स्वयमेव कटार मार कर मर गये। इन सब ऐतिहासिक घटनाओं के साथ इसमें पृथ्वीराज के सम्बन्ध में और भी अनेक बातें लिखी गई हैं, उनकी अन्य चढ़ाइयों तथा लड़ाइयों का भी वर्णन बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में किया गया है, अनेक क्षत्रिय राजाओं को हराकर पृथ्वीराज के द्वारा उनकी राज-कन्याओं का हरा और व्याहा जाना भी दिया गया है। साथ ही अनेक कल्पित घटनायें भी दी गई हैं। इस ग्रंथ में दिये गये संवतों का ऐतिहासिक संवतों से मेल नहीं मिलता, इस से बहुतेरे इतिहासज्ञ विद्वान इस ग्रंथ को केवल एक ऐसा काव्य ही मानते हैं जिसमें कल्पना के अतिरिक्त ऐतिहासिक तथ्य नहीं रहता। पृथ्वीराज की सभा के एक काश्मीर-वासी राजकवि ने, जिनका शुभनाम जयानक था, "पृथ्वीराज-विजय" नामी एक काव्य संस्कृत में लिखा है उसकी घटनायें तथा उनके संवतादि ऐतिहासिक घटनाओं तथा संवतों से सर्वथा मिलते हैं। इसके अनुसार पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी था। इसके देखने से रासो की अनेक बातें असंगत और अप्रमाणित ही सी ठहरती हैं।

यह बात अवश्य ही विचारणीय है कि यदि रासो गत संवतों में ६० और जोड़ दिया जावे तो जो संवत निकलते हैं वे इतिहास-गत संवतों से सर्वथा मिल जाते हैं, किन्तु ऐसा क्यों किया जाय यह संदिग्ध है।

हाँ, ऐसा करना चाहिये यह निम्नपद से कुछ ज्ञात भी होता है :—"एकादस सै पंचदह, विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपु जय पुर हरन को, भे पृथिराज नरिंद॥"

यहाँ अनंद का अर्थ (अ=शून्य=नंद=९) ९० से लिया जा

सकता है। किन्तु तौभी यह विषय संदिग्ध और विवाद-ग्रस्त ही ठहरता है तथा हमारे प्रसंग से परे भी है।

इसकी भाषा

इसकी भाषा बहुत ही गड़बड़ है, तोटक आदि छंदों में सानुस्वार वर्णों का अत्यधिक प्रयोग मिलता है। कहीं कहीं तो भाषा आधुनिक रूप में भी मिलती है, और क्रियाओं के नये रूप प्राप्त होते हैं, और कहीं कहीं भाषा अपने प्राचीन साहित्यिक रूप में ही है और प्राकृत तथा अपभ्रंश से ही पूर्णतया प्रभावित है। अपनी भाषा से भी यह ग्रन्थ परिवर्तित एवं दूषित रूप में जान पड़ता है। अपने शुद्ध एवं वास्तविक रूप में न होने के कारण यह ग्रंथ न तो इतिहास के ही और न भाषा के ही आधार पर यथार्थ रूप से विचारा जा सकता है।

अब तक में पृथ्वीराजरासो के मुख्यतया दो भिन्न भिन्न संस्करण निकले हैं १—रायल ऐसियाटिक सोसाइटी बंगाल से और २—काशी नागरी प्रचारिणी सभा बनारस से (इसने अभी रासो का एक अंश जिसका नाम इसने पंग रासो रक्खा है नहीं प्रकाशित किया) किन्तु इन दोनों में बहुत अन्तर है। अब तक रासो की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं वे सब संदिग्ध ही हैं, किसी को भी हम असली प्रति नहीं कह सकते, क्योंकि सबों में प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं। सब से प्राचीन प्रति जो आज तक प्राप्त हो सकी है, स० १६४२ की ही है।

यह अवश्य मान्य है कि पृथ्वीराज के समय में चन्द्र कवि थे अवश्य और उन्होंने एक पृथ्वीराज रासो लिखा भी था, क्योंकि इसका उल्लेख उक्त 'पृथ्वीराज विजय' नामी संस्कृत-नाटक में यों मिलता है—

" तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराजइवाभवत् ।
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिवव्यधात् " ॥

रासो में एक स्थान पर चन्द्र और जयचन्द्र के राजकवि केदार भट्ट के सम्वाद का भी उल्लेख पाया जाता है, जिससे यह स्पष्ट है कि केदार भट्ट चंद्र के समकालीन थे। केदार भट्ट ने (सं० १२२४—१२४३) भी चन्द्र के समान अपने राजा जयचन्द्र जी का सुयश गाया है, और वह ग्रन्थ " जयचन्द्र प्रकाश ' नाम से विख्यात भी है। इनके समकालीन एक मधुकर कवि ने भी "जयमयंकयशचन्द्रिका" नाम का एक जयकाव्य लिखा था। खेद है कि यह दोनों ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं। इनका उल्लेख अवश्य ही "राठौड़ांरी ख्यात" में जिसे सिंधायच दयालदास ने लिखा था और जो बीकानेर के राज्य-पुस्तकालय में सुरक्षित है, मिलता है। यह ख्यात उन्हीं दोनों उक्त ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

तेरहवीं शताब्दी में उत्तरीय भारत मुख्यतया दो प्रधान भागों में विभक्त था (यों तो छोटे छोटे राजे जो सामंत या सरदार कहलाते थे अपने छोटे छोटे राज्यों के साथ कई स्थानों में राज्य करते थे) एक तो चौहानों के आधीन था और दूसरा राठौरों (गहरवारों) के। प्रथम का तो केन्द्र दिल्ली में और द्वितीय का क़न्नौज में था। चौहानों का तो आतंक पश्चिमीय भारत तथा राजपूताने में था और राठौरों का पूर्वीय भारत में काशी तक और दक्षिण में बुन्देलखंड प्रान्त तक था। बुन्देलखंड के महोबा और कालींजर दो केन्द्र थे, जहाँ चन्देल वंशी राजाओं का राज्य था। चंदेल राजा परमर्दि देव (परमाल) जयचंद्र के मित्र और सामन्त थे। इनके यहाँ दो वीर सामन्त आल्हा और ऊदल नाम से बहुत विख्यात थे। इन्हीं दोनों वीर राजपूतों के वीरचरित्रों

का सविस्तार वर्णन जगनिक (सं० १२३०) ने वीर-गीतात्मक काव्य के रूप में किया है।

४—आल्हा

यह काव्य-ग्रन्थ "आल्हा" के नाम से बहुत प्रिय तथा विख्यात है, और समस्त उत्तरीय भारत में अब तक बड़े चाव से गाया जाता है। जगनिक के भी काव्य की असली प्रति अब नहीं प्राप्त होती, किन्तु उसके आधार पर लिखे गये अन्य आल्हा ग्रंथों का प्रचार अब तक उत्तरीय भारत में बहुत है। प्रायः प्रत्येक गाँव में इसे लोग गाते हैं। विशेषतया वर्षाऋतु में इसका गान अधिक होता है।

चूँकि यह गीत-काव्य है और सर्वत्र गाया जाता है इसलिये इसमें रूपान्तर एवं परिवर्तन का होना स्वभाविक ही सा है। गाने वालों ने इसे अपने अपने ढंगों पर ढाल लिया है और इसी लिये इसमें भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषाओं के रूप और उनकी शैलियाँ भी मिलती हैं, और इसीसे इसमें इस समय तक विशाल परिवर्तन हो गया है। देश-काल का पूरा पूरा प्रभाव इसकी भाषा तथा कथा-वस्तु पर पड़ चुका है और अब भी इसमें परिवर्तन होता जा रहा है।

चूँकि यह न तो साहित्यिक-पद्धति में ही है और न साहित्यिक भाषा में ही लिखा गया है, इसीसे पठित समाज के द्वारा यह संरक्षित और सम्मानित न किया जा सका, साधारण देहाती लोगों में ही यह अपना कलेवर बदलता चला आया। उसमें भी इसकी पदावली या शब्दावली तो अपने असली रूप में न टिक सकी और ग्रामीण लोगों के हाथों से यह स्वाभाविक ही है

हाँ, केवल इसकी ध्वनि अवश्यमेव व्यापकता तथा स्थिरता के साथ गूँजती रही।

आल्हा यों तो सर्वत्र ही गाया जाता है किन्तु इसका मुख्य केन्द्र बैसबाड़ा ही माना गया है।

जगनिक ने जिस महा गीत-काव्य की रचना की थी उसका यह एक अंश ही प्रतीत होता है, क्योंकि लोग अब तक इसे आल्ह-(आल्हा) खंड ही कहा करते हैं। अब से ६० या ७० वर्ष पूर्व फर्रुख़ाबाद के कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने प्रथम इसका एक संग्रह छपवाया था। इसके प्रथम तो यह केवल गाया ही जाता था, और इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी न मिलती थीं। यह ग्रंथ इन्हीं उक्त कारणों से कोई भी विशेष महत्ता हमारे लिये नहीं रखता।

५—हम्मीर रासो

इस काव्य-ग्रन्थ का उल्लेख तो पाया जाता है किन्तु इसकी असली प्रति अब तक नहीं प्राप्त हुई। जो प्रति आजकल मिलती है वह असली नहीं है, वरन् किसी अन्य कवि के द्वारा पीछे से लिखी गई जान पड़ती है। (हम्मीर रासो हिन्दी में) तथा हम्मीर काव्य को (संस्कृत में) सारंगधर (सं० १३५३ के लगभग) ने सं० १३५७ में रचा था। नयचन्द्र सूरि ने संस्कृत में एक "हम्मीर महाकाव्य" नामी ग्रन्थ लिखा था। हम्मीर महाराज ने कई बार बड़ी वीरता के साथ मुसलमानों से युद्ध किया और अपना यश चारों ओर फैला दिया था, उनका यशोगान देश में सर्वत्र ही गाया जाता था। अपभ्रंश भाषा में कवियों ने अनेकों मुक्तकपद आपकी कीर्ति-कीर्तन में लिखे थे।

चूँकि हम्मीर रासो की कोई असली प्रति प्राप्त नहीं होती

इसलिये हम उसकी यहाँ यथार्थ आलोचना नहीं कर सकते। सारंगधर कृत एक वैद्यकग्रन्थ (संस्कृत में) अवश्य ही अब तक उपलब्ध है जो "सारंगधर" संहिता के ही नाम से प्रसिद्ध है।

६—विजयपाल रासो

यह रासो ग्रंथ वर्तमान करौली के नरेश श्रीविजयपाल जी (सन् १०९३ ई०) के युद्धों का वर्णन देता है। इसे नल्ल सिंह भट्ट (सं० १३५५) ने लिखा था। ग्रन्थ की भाषा में प्राकृत और अपभ्रंश भाषायें मिश्रित रूप में पायी जाती हैं। यह ग्रन्थ उतना महत्व-पूर्ण नहीं है जितने महत्व-पूर्ण उक्त रासो ग्रन्थ हैं। इसी से हम इसकी आलोचना करना भी यहाँ उचित नहीं समझते।

वीर-काव्यावसान

उक्त लेख से तो यह स्पष्ट ही हो गया होगा कि वीर-काव्य का क्या रूप था, तथा किस प्रकार उसका प्रारम्भ एवं विकास हुआ था। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति का मुख्य कारण मुसलमानों का आक्रमण ही मानते हैं किन्तु हमारी समझ से यह मुख्य कारण नहीं, क्योंकि मुसलमानों के आक्रमणों के पूर्व से ही इस काव्य का सूत्रपात हो चुका था, यह अवश्य है कि मुसलमानों के आक्रमणों से इसमें कुछ विशेषता एवं अन्यरूपता सी अवश्य आ गई और इसीलिये हम इन्हें एक कारण कह सकते हैं।

हम यह दिखला ही चुके हैं कि इस काव्य के प्रधान रूप किस प्रकार के हैं, तौभी हम निष्कर्ष रूप में उन्हें यहाँ फिर दिखला देना चाहते हैं:—

१. वीर राजाओं (क्षत्रियों या राजपूतों) की वीरता-पूर्ण घटनाओं के साथ ही साथ उनमें उनकी विजय होने के उपलक्ष्य में उनका यशोगान करना इसका मूल उद्देश्य था। इससे यह काव्य वीर प्रशंसात्मक और घटना-वर्णनात्मक काव्य के रूप में लिखा गया था।

२ वीर राज-वंश का वर्णन करना भी इसका द्वितीय उद्देश्य था और इससे यह महाकाव्य के रूप का कुछ अनुकरण सा करता था।

३. वीर और शृंगार रसों का इसमें सामंजस्य रक्खा जाता था, और कल्पना का भी अच्छा समावेश किया जाता था।

४ गीत-काव्य और छंद काव्य के रूपों में यह लिखा जाता था तथा साहित्यिक तत्व इसमें न्यूनांश में ही रहते थे।

५ भाषा इसमें शुद्ध साहित्यिक न रह कर साधारण और प्रान्तीयता लिये हुये ही रहती थी। प्राकृत और अपभ्रंश का भी इस पर अच्छा प्रभाव रहता था।

६. क्षत्रिय राजाओं के पारस्परिक युद्धों से ही यह विशेष परिपुष्ट हुआ है, यद्यपि मुसलमानों के युद्धों का भी इस पर गहरा एवं पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

७ इसका वास्तविक रूप हमें अब अप्राप्त ही है, और इसी से इसकी पूरी विवेचना करना असाध्य सा है।

८ ऐतिहासिक घटनायें तथा उनकी तिथियाँ आदि इसमें तथ्यता के साथ नहीं प्राप्त होतीं। कदाचित् वे भिन्न भिन्न लेखकों एवं मनुष्यों के हाथों में पड़कर पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गई हैं। इस प्रकार के काव्य-ग्रन्थों की जो प्रतियाँ मिलती हैं, वे असली नहीं हैं, वरन् परिवर्तनों से भरी पड़ी हैं।

९. इसने अपने प्रभाव से संस्कृत के कवियों एवं उनके काव्यों को भी प्रभावित किया था, और कदाचित् इसी को देखकर संस्कृत के कवियों ने भी संस्कृत में इसी प्रकार के जय-काव्यों का लिखना प्रारंभ कर दिया था।

उदाहरणार्थ हम ले सकते हैं:—१—राज-कवि सोमदेव कृत "ललित विग्रह राज", २—पृथ्वीराज की सभा के राजकवि श्रीजयानक-कृत "पृथ्वीराज-विजय"। ३—केदारभट्ट-कृत "जयचन्द्र प्रकाश" (संस्कृत-महाकाव्य) ४—मधुकर कवि-कृत "जय मयंक यशचंद्रिका" ५—नयचंद सूरि कृत "हम्मीर महा-काव्य" एवं ६—सारंगधर-कृत "हम्मीर काव्य" आदि ग्रंथों को।

इस वीर-काव्य के पूर्व भी हिन्दी में कुछ काव्य-ग्रन्थ लिखे गये थे, जो प्रायः संस्कृत के ही आधार पर समाधारित थे। कुछ कवियों ने तो काव्य-शास्त्र एवं अलंकार-शास्त्र के संस्कृत में लिखे गये ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया था, और कुछ ने अपने मौलिक काव्य-ग्रन्थ भी लिखे थे। इस वीर-काव्य-साहित्य के अतिरिक्त भी इस काल में दूसरे प्रकार का साहित्य कुछ कवियों के द्वारा रचा गया था, किन्तु खेद है कि उसके बहुत से अंश का अब पता ही नहीं चलता। उक्त काव्यों (रासो ग्रन्थों) के कवियों के अतिरिक्त निम्न कवि और भी उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं—

१—केदार कवि—आप जयचन्द्र महाराज के राजकवि थे और संस्कृत में आपने "जयचन्द्र प्रकाश" नामी एक महाकाव्य लिखा था।

२—बारदरबेगा—जयचन्द्रात्मज श्री शिवाजी महाराज की सभा में आप राज-कवि थे।

३—मोहनलाल द्विज (सं०१२४७)—जल्हन के पश्चात् आप एक अच्छे कवि हुये। आपने "पत्तलि" नामक एक ग्रन्थ रचा था, जिसमें श्रीकृष्ण के विवाह में नंद के यहाँ होने वाली ज्योनार का वर्णन उत्कृष्ट छन्दों में किया गया है। यह ग्रन्थ सं० १९७९ की खोज में प्राप्त हुआ है।

४—कुमारपाल चरित के रचयिता ने सं० १३०० के लगभग में अपना यह ग्रन्थ रचा था।

५—दामोदर पंडित—आपने सं० १३२५ के लगभग में मराठी और हिन्दी मिश्रित भाषा में "वत्सहरण" नामी ग्रन्थ लिखा।

६—नामदेव—आप गुजरात के एक उच्चकोटि के कवि और साधु थे। अन्य कवि विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं, इसी से हम उन्हें यहाँ नहीं दे रहे।

महाराज हम्मीर के पश्चात् कोई भी ऐसा प्रबल पराक्रमी क्षत्रिय राजा नहीं हुआ जिसको लेकर कवि लोग वीर-काव्य लिख सकते। अतः कह सकते हैं कि श्री हम्मीर हो वीर-काव्य के नायकों में सबसे अंतिम नायक हैं। आपके पश्चात् वीर-काव्य की परंपरा, यदि स्थूल रूप से देखा जावे, शिथिल होकर वृद्ध ही सी हो जाती है। उसकी सत्ता एवं महत्ता एक प्रकार से रह ही नहीं जाती। इसका अवसान या अस्त सा हो जाता है, क्योंकि इस समय तक मुसलमानों का पैर भारत में जम गया था और उनका राज्य एवं अधिकार भी उत्तरीय भारत में स्थिर एवं स्थापित हो चुका था। राजपूत लोग यद्यपि छोटे छोटे राजाओं के रूप में अपने अपने छोटे राज्यों में राज्य करते थे, किन्तु वे इतने शक्तिवान न थे कि मुसलमानों को हराकर हटा सकते, वे अब एक प्रकार से मुसलमान सम्राटों के ही आधीन से हो गये

थे, अतः अब उनमें इतना साहस, उत्साह एवं बल न था कि वे कुछ उठ सकते। जनता तो प्रथम ही से राजनैतिक क्षेत्र से बहुत कुछ दूर रहती थी, वह इस क्षेत्र में कुछ भी कार्य न कर सकती थी, अब तो उसका साहस एवं उत्साह, जो कुछ भी रहा सहा शेष था, और भी जाता रहा, क्योंकि वह दासता एवं परतन्त्रता की बेड़ियों से पूर्णतया जड़ीकृत हो गई, और यह देखकर कि उसके वीर राजपूत रण में काम आ गये और केवल पराजय के ही और कुछ भी सफलता न प्राप्त हुई, वह सर्वथा हताश हो गई थी।

सौभाग्य-समय को परिवर्तित तथा विधि-विधान में रूपान्तरित देखते हुये उसकी चित्तवृत्ति (मनोवृत्ति) भी परिवर्तित हो चली। दुखी हृदय होकर उसे अब ईश्वरोपासना, भक्ति-भाव एवं ईश्वरानुराग की ही बातें अच्छी लगने लगीं। दुखी आत्मा को ईश्वर का ही एक सहारा स्वभावतः ही हुआ करता है। बस ईश्वर के गुणस्तवन से चित्त को सान्त्वना, धैर्य, एवं शान्ति देना ही उसका अभीष्ट कार्य हो चला, कवियों के भी हृदय अब मलीन एवं हतोत्साह हो गये, न तो उनकी नसों में वह वीरता का रक्त ही रह गया और न उनके मानसों में वीर रस की वे तरल तरंगें ही रह गईं, जो चन्द्र के समय में रहती थीं। अतः वे लोग भी ईश्वर-प्रेम एवं भक्ति-भाव की ओर प्रोन्मुख हो चले, और ईश्वर-स्तवन सम्बन्धी काव्य से अपना एवं अपनी दुखी जनता का मनोरंजन करने लगे। धार्मिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिये उन्हें अपने काव्य के ही द्वारा पूर्ण प्रयत्न करना पड़ा, क्योंकि अब विरुद्ध धर्मानुयायी मुसलमानों का यहाँ आधिपत्य जम गया था और इसी से उनके साथ हिन्दू जनता (हिन्दू जाति) का सम्पर्क-सम्बन्ध (विचार-विनिमय, आचार-परिवर्तन आदि) प्रतिदिन बढ़ रहा था। साथ

ही धर्माचरण एवं प्रभुगुण-गानादि से ईश्वर को प्रसन्न करना भी उन्हें अभीष्ट था, जिससे उन्हें पुनः स्वातंत्र्य-सुख आदि की प्राप्ति हो और उनके कष्टों का निवारण हो सके, भक्ति-भाव से प्रसन्न होकर भगवान उन्हें अपनाकर उनके दुखों को दूर करें। ज्ञान-योग के द्वारा ईश्वरीय आनन्द का प्राप्त करना तो सुख-साध्य एवं व्यापक रूप से सुलभ न था क्योंकि वह बड़ी ही कठिन समस्या थी, इसी से प्रेम एवं भक्ति के ही द्वारा (जो प्रायः सुलभ, व्यापक या सर्वसाधारण तथा सरल साध्य सी है) ईश्वरीय-आनन्द के प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाने लगा। इस समय मुसलमान सम्राटों की कुटिल नीति के कारण अन्य प्रकार से इष्ट-साधन न हो सकता था। दीन दास केवल ईश्वर ही को पुकार सकता है और उसी से अपनी मुक्ति के लिये प्रार्थना कर सकता है। इन्हीं सब कारणों से जनता की मनोवृत्ति एवं रुचि परिवर्तित होकर धार्मिक भक्ति-भावों की ओर लग गई और देश में धार्मिक विचार तथा ईश्वरानुराग की धारा चारों ओर द्रुति गति से प्रवाहित हो चली।

देश के राजपूतों में अब ऐसे वीरों के न होने से जो वास्तव में प्रशंसा-पात्र हों, कवियों को भी अब वीर-काव्य की ओर से उन्मुख होकर वैमुखी वृत्ति लेनी पड़ी, और जनता की चित्त-वृत्ति तथा समय के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले प्रभावों से प्रभावित होकर अपनी काव्य-धारा को धर्म की ओर झुकाना पड़ा। दूसरा कारण इस प्रकार के परिवर्तन का यह भी था कि कवि लोग अपने वीर राजाओं का यशोगान मुसलमानों के शासन में रह कर स्वतंत्रता के साथ मुक्तकंठ से कदापि न कर सकते थे, यदि कहीं कभी कोई प्रशंसनीय राजपूत राजा को पाकर वे वीर-काव्य के करने का अवसर भी पाते थे। हाँ राज-

पूत राज-दरबारों में कभी कभी कोई चारण बहुत सूक्ष्म रूप में दबी ज़बान से कुछ कीर्ति-कीर्तन कर देता था। कवियों के गिरे हुये हृदयों से वीरगान एवं काव्य की कड़ियों की लड़ियाँ निकलती ही न थीं, वे बेचारे इसीलिये, अपनी काव्य-धारा को इसकी ओर झुकाने में मजबूर ही से थे। हाँ उनके दुखी हृदय ईश्वर-स्तवन अवश्य कर सकते एवं करते थे। साथ ही देश-काल उन्हें अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के प्रभाव से एतदर्थ पूर्णतया प्रभावित भी कर रहा था।

मुसलमान लोग प्रथम ही से स्वभावतः ही (अपने धर्म-सिद्धान्तों के भी कारण) हिन्दुओं और हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी और नाशक थे। उनके आक्रमण भी प्रायः हिन्दुओं और उनके धर्म के नाशार्थ ही हुआ करते थे, वे हिन्दू धर्म को हटा कर अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे, हिन्दुओं को उनके धर्म के साथ नाश करना, उन्हें सब प्रकार दुःख देना, उनका धार्मिक कर्त्तव्य एवं मुख्य उद्देश्य सा ही था। अब वे यहाँ शासक के रूप में जम ही चुके थे और शक्ति के साथ सदैव ही यहाँ रहते थे, उनका विरोध करने तथा उनसे युद्ध करने का साहस एवं उत्साह अथवा बल एवं पराक्रम अब हिन्दुओं में पर्याप्त रूप से न रह गया था, वे पराजित हो कर हतोत्साह से हो चुके थे।

उनके वे आधीन तथा परतंत्र थे। ऐसी दशा में मुसलमानों को हिन्दू-धर्म को नाश करके अपने धर्म का प्रचार करना सर्वथा सुकर साध्य था। बस मुसलमानों ने ऐसा ही करना प्रारम्भ कर दिया। साथ ही दोनों जातियों का सम्पर्क-सम्बन्ध भी अपना प्रभाव व्यक्त एवं अव्यक्त रूप में डालने लगा। इन सब बातों को देख कर देश को अब धर्म-प्रचार एवं धर्म-रक्षा की आवश्य-

कता हुई। अब तक तो अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना ही आवश्यक था और उसकी रक्षा से धर्मादि की रक्षा स्वतः सिद्ध थी, किन्तु अब स्वतंत्रता का नाश होने तथा देश के परतंत्र हो जाने पर धर्म की रक्षा करना ही मुख्य एवं प्रधान हो गया, फिर ऐसी दशा में जब धर्म पर ही आक्रमण होने लगा और उसकी सत्ता का नाश किया जाने लगा। बस, इसी कारण जनता को हिन्दू धर्म का प्रचार करके उसे सुदृढ़, अटल एवं स्थायी करना ही अभीष्ट कर्तव्य ठहरा और जनता की प्रवृत्ति इसी ओर झुक चली। कवियों एवं प्रचारकों को सब प्रकार धर्म-प्रचार तथा उसकी रक्षा करना कर्तव्य सा हो गया।

इन्हीं उक्त प्रधान कारणों से साहित्य की परंपरा भी देश कालादि के प्रभावों से प्रभावित हो कर परिवर्तित हो चली और वीर-काव्य की ओर से हटकर धार्मिक एवं भगवद्भक्ति की धारा की ओर झुक चली। बस साहित्य के इतिहास का द्वितीय युग प्रारम्भ हो गया और उसकी द्वितीय अवस्था का उदय हो चला।

साहित्य के इस द्वितीय काल का वर्णन करने से पूर्व हम यहाँ कुछ अन्य आवश्यक बातों का भी दे देना उचित समझते हैं। सब से प्रधान बात जो हमें यहाँ कहना है, यह है कि जिस प्रकार हिन्दू-जनता की चित्त-वृत्ति अपने पराजय एवं परतंत्रता को देखकर दुख के साथ वीर-काव्य की ओर से हट गई थी उसी प्रकार मुसलमानों की चित्त-वृत्ति अपनी विजय एवं सफलता को देखकर सांसारिक सौख्य एवं आमोद-प्रमोद-पूर्ण प्रेम-शृङ्गार की ओर झुक गई थी। राज्य पाकर उन्हें अब हास-विलास ही अच्छा लगता था, प्रेम और शृङ्गार में ही वे आनन्द पाते थे। इसी से इस समय में मुसलमान कवियों एवं लेखकों ने प्रेम एवं शृङ्गार पूर्ण काव्य का लिखना प्रारम्भ कर दिया। मुसलमानों ने अब

केवल लूट मार करने तथा हिन्दुओं की मूर्तियों एवं उनके मंदिरों आदि को तोड़कर मसजिद आदि बनवाकर लौट जाने का विचार छोड़ दिया था और भारत में रहकर शासन करने का ही निश्चय कर लिया था। ऐसी दशा में उन्हें हिन्दुओं के साथ में रहना तथा उनको साथ लेकर अपना कार्य करना सर्वथैव आवश्यक था, बिना ऐसा किये वे यहाँ रह ही न सकते थे। हिन्दुओं के साथ सम्बन्ध करने के लिये (चाहे वह राजा-प्रजा संबन्ध हो, प्रभु-दास सम्बन्ध हो या और किसी प्रकार का प्रेमी-प्रतिवासी सम्बन्ध हो) यह आवश्यक था कि वे उनकी भाषा स्वयं सीखते और अपनी भाषा उन्हें सिखाते, और यों विचार विनिमय के साथ कार्य करते। हिन्दुओं के लिये भी अब यह आवश्यक हुआ कि वे मुसलमानों से जो अब उनके शासक हो चुके थे, अपना सम्बंध चाहे वह वाह्य संबंध के ही रूप में क्यों न हो, जोड़ते और उनके साथ रह कर कार्य करते, राज-भाषा सीखकर शासक जाति के विषय में (उनके धर्म, नियमों, उनकी रीति-रस्मों एवं अन्यान्य बातों का) पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करते, जिससे उनके साथ बरतने में उन्हें सुविधा होती। इन सब बातों के कारण यह समय दो भिन्न प्रकार की जातियों, सभ्यता-शैलियों, तथा दो भिन्न प्रकार के धर्मों एवं साहित्यों (भाषाओं और भाव-धाराओं) के सम्मेलन का समय था, और इसीलिये दोनों प्रकार के साहित्यों में पारस्परिक सम्पर्क एवं विनिमय के प्रभावों का पड़ना आवश्यक या अनिवार्य ही था। एक ओर से फ़ारसी (एवं अरबी) और दूसरी ओर से हिन्दी (एवं संस्कृत) की धारायें आकर मिल रही थीं। विजयी एवं शासक जाति का पराजित एवं शासित जाति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है यह एक स्वयंसिद्धि सी ही है। साथ ही जातीयता, राष्ट्रीयता और धार्मिक स्वतंत्रता भी अपनी

बहुत बड़ी महत्ता एवं सत्ता रखती है। हिन्दू लोग अन्य सब बातों में तो मुसलमानों के साथ सम्पर्क-सम्बन्ध (सहयोगादि) करने तथा उनके अनुसार चलने के लिये तैयार थे, किन्तु वे अपनी उक्त बातों की स्वतंत्र सत्ता न त्याग सकते थे, क्योंकि उसके त्याग देने से उनकी सत्ता एवं महत्ता किसी भी प्रकार इस संसा में न रह सकती थी। प्रत्येक जाति की सत्ता एवं महत्ता मुख्यतया या मूलतया उसके धर्म-कर्म एवं साहित्य पर ही निर्भर रहता है, यदि कर्म, धर्म, भाषा एवं साहित्य में किसी अन्य जाति के (चाहे वह शासक ही क्यों न हो) प्रभाव के कारण कुछ रूपान्तर हुआ तो उस जाति की राष्ट्रीयता एवं जातीय स्वतंत्रता के अस्तित्व में भी रूपान्तर हो जाता है, और यह अनिवार्य रूप से अवश्यम्भावी सा होकर रहता है। किसी जाति की राष्ट्रीय या जातीय स्वातंत्र्य के अस्तित्व को नष्ट करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि उस जाति का धर्म-कर्म जिस प्रकार भी हो परिवर्तित एवं रूपान्तरित कर दिया जावे। मुसलमान लोग यही करना चाहते थे और इसीलिये वे हिन्दुओं को जिस प्रकार भी हो उनके हिन्दू धर्म को नष्ट भ्रष्ट या परिवर्तित कराके अपने में मिला लेना तथा इस प्रकार सदा के लिये अपनी सत्ता एवं महत्ता के साथ अपना अस्तित्व एवं राज्य सदा के लिये भारत में अटल कर देना चाहते थे। यद्यपि उनमें इस सूक्ष्म सिद्धान्त का उस समय ज्ञान न था, वे केवल अपने धार्मिक बातों के कारण ही हिन्दुओं एवं हिन्दू धर्म को नष्ट करते थे, तौ भी यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो उनके धर्म में यह बात (हिन्दुओं एवं हिन्दू धर्म को नष्ट कर के मुसलमान मत का प्रचार, जैसे भी हो वैसे ही करना) उनके धर्मोपदेशकों के द्वारा इसी राजनैतिक नीति के आधार पर

रक्खी गई थी। अकबर ने इसे ख़ूब समझा था और इसीलिये उसने इसे राजनैतिक रहस्य (Policy) का रूप देकर उठाया था, तथा इसी के आधार पर दीन इलाही मत की रचना या व्यवस्था की थी, किन्तु प्रसन्नता एवं प्रशंसा का विषय है कि हमारे सूक्ष्म-दर्शी मर्मज्ञ विद्वान आर्यों ने इसे ख़ूब समझ लिया था और इसके विरोध में (इसे नष्ट एवं विफल करने के लिये) धार्मिक आन्दोलन (प्रबल एवं प्रचुर प्रचार-प्रस्तार के साथ) उठाया था और अपनी जातीय राष्ट्रीयता की स्वतंत्रता के मूल तत्व यानी धर्म को सुदृढ़ बना दिया था, और ऐसा करके अपनी सत्ता एवं महत्ता का अस्तित्व अचल सा कर दिया था। अस्तु, हिन्दी-साहित्य के नवीन युग का उदय धार्मिक प्रतिभा के साथ हो चला जिसका विवेचन हम अग्रिम अध्याय में करेंगे।

यहाँ एक बात और विशेष उल्लेखनीय यह है कि साहित्य-रचना का केंद्र अब वह न रह गया जो प्रथम था, वह भी समय, देश, परिस्थिति एवं साहित्य में होने वाले परिवर्तनों के प्रभाव से परिवर्तित हो गया। जिस समय साहित्य किसी राजनैतिक कारण से प्रभावित होता है उस समय उस की रचना का केन्द्र प्रायः राजनैतिक केन्द्र या उसके आस पास ही रहता है किन्तु जिस समय साहित्य किसी धार्मिक कारण से प्रभावित एवं परिवर्तित होता है उस समय उसका केन्द्र तीर्थस्थान, धर्म-विधायक के स्थान या, इसी प्रकार के किसी अन्य स्थान या उसके ही आस पास रहता है। ठीक यही बात हमारे धार्मिक साहित्य के भी साथ हुई, अब उसका केन्द्र व्रज (मथुरा, वृन्दावन जैसे नगरों एवं स्थानों में जहाँ श्रीकृष्ण जैसे ईश्वरावतार एवं योगेश्वर धर्मात्मा का जन्म एवं उनकी लीलायें हुई थी) जैसे धर्म-क्षेत्र में हो गया और राजपूतों की राजधानियों, जैसे दिल्ली, राजपूताना

तथा कन्नौज आदि में पूर्ववत् न रह गया। अब राजनैतिक समस्यायें साहित्य पर अपना प्रभाव न डालती थीं और दिल्ली को छोड़ कर अन्य राजधानियों के स्थान राजनैतिक दृष्टि से कुछ भी न रह गये थे।

इस प्रकार साहित्य का एक प्रधान केन्द्र तो ब्रज में हो गया और इसी केन्द्र की महत्ता-सत्ता बहुत विशेष रूप से प्रधान रही। इसी के साथ एक दूसरा केन्द्र भी नवोदित हो कर बन गया और वह उठा उस स्थान में या उसके आस पास जहाँ मुसलमान लोग आकर अपनी राजधानी बनाये हुये रहने लगे थे। चूँकि दिल्ली राजपूत-सम्राट पृथ्वीराज की प्रधान राजधानी थी, और पृथ्वीराज को ही पराजित करके मुसलमानों ने अपना सिक्का उत्तरीय भारत में जमाया था, इसलिये मुसलमानों या अफ़ग़ानों ने भी अपनी राजधानी दिल्ली ही रक्खी। बस दिल्ली ही में या इसके आस पास ही में साहित्य का एक दूसरा केन्द्र सा उठ गया।

अब इस प्रकार साहित्य के केन्द्रों में परिवर्तन दिखा चुकने पर हम आगे भाषा-परिवर्तन में भी यही सूक्ष्म रूप में दिखला देना उचित समझते हैं।

चूँकि साहित्य-रचना का केन्द्र अब व्रज प्रान्त हो गया था, और धार्मिक साहित्य की रचना का कार्य उठाया गया था, और वह भी शृंगार और माधुर्य के साथ, इसलिये स्वभावतः ही साहित्य के महाकवियों एवं महात्माओं के लिये यही आवश्यक एवं अनिवार्य ठहरा कि वे धार्मिक केन्द्र अर्थात् व्रज मंडल की ही भाषा को उठाकर उसे साहित्यिक रूप देते हुये व्यवहृत करें। व्रज भाषा में इसकी उपयोगिता एवं उपयुक्तोपादेयता के साथ ही साथ एक गुण यह भी बहुत महत्वपूर्ण एवं आकर्षक

था कि उसमें माधुर्य एवं लालित्य सभी भाषाओं से अधिकतर और विशेषतर था। इस गुण ने तो जादू का ही काम किया, धार्मिक भाव, प्रभाव एवं कारण से प्रेरित होकर महात्मा एवं महाकवि उसे उठा ही रहे, उन्हें जब इसका यह समाकर्षक गुण ज्ञात हुआ तो बस कहना ही क्या था, वे इस पर लट्टू एवं मुग्ध होकर सब प्रकार इसी को अपना चले। बस ब्रज भाषा ही हिन्दी-साहित्य की परम प्रधान साहित्यिक भाषा हो गई और काव्य-क्षेत्र में इसने अपना अचल आतंक एवं आधिपत्य सदा के लिये रमा जमा लिया, इसके मनोहारी माधुर्य, लालायितकारी लालित्य तथा स्पष्टता लिये हुये स्वाभाविक सारल्य एवं समस्त भाव, भावनाओं के उपयुक्त गाम्भीर्य ने इसे शीघ्र ही गेय गौरव के साथ आदरणीय अभ्युत्थान तथा अभ्युदय के उत्तुंग शृङ्ग पर ध्रुव जैसा अचल स्थान प्राप्त करा दिया। ब्रज भाषा काव्य-साहित्य के क्षेत्र की लोक-प्रिय भाषा बन कर दिन दूनी रात चौगुनी पल्लवित और पुष्पित होने लगी तथा धार्मिक साहित्य के विशाल प्रासाद का निर्माण करने लगी। देश, समय, दशा आदि के परिवर्तित रूप के प्रभाव से इस ब्रज भाषा के सामने रासो साहित्य का निर्माण करने वाली वह प्राचीन हिन्दी भाषा जो राजनैतिक कारणों से उत्पन्न हुई थी तथा जो अपने केन्द्रों के अनुसार भिन्न २ प्रकार की प्रान्तीय भाषाओं तथा प्राकृत और अपभ्रंश से बहुत कुछ प्रभावित रहती और केवल रासो जैसे वीर काव्य के ही लिये विशेष उपयुक्त एवं उपादेय थी (क्योंकि इसमें ओज-गुण प्रधान तथा वीर रस को परिपुष्ट करने वाले संयुक्त वर्णों वाले शब्दों, पदों आदि का ही प्राधान्य एवं बाहुल्य रहता था, और इसीसे शृंगार एवं भक्ति आदि के लिये यह विशेष उपयुक्त न थी (और जो

चन्द्र जैसे महाकवियों के द्वारा साहित्यिक रूप में रूपान्तरित की जाकर संस्कारों से संस्कृत की गई थी, अब हीन, दीन एवं क्षीण होकर लुप्तप्राय सी हो गई। अब उसका समय एवं स्थान भी न रह गया था।

इसी ब्रज भाषा के समान साहित्य के द्वितीय केन्द्र में भी लगभग इसी समय एक द्वितीय साहित्यिक भाषा का बीजारोपण हमारे मुसलमान कवियों एवं लेखकों के द्वारा किया गया। और ब्रज भाषा-काव्य के समान एक दूसरे प्रकार के शृंगारपूर्ण उर्दू काव्य का जन्म एवं उदय हो चला। इस प्रकार इस समय में दो भिन्न प्रकार के साहित्य, काव्य, एवं भिन्न प्रकार की भाषाओं एवं शैलियों की उत्पत्ति हो गई।

मुसलमानों के द्वारा जो उक्त साहित्यिक भाषा उठाई गई वह बहुत कुछ फ़ारसी एवं अरबी भाषाओं, उनकी पदावलियों तथा शैलियों से प्रभावित हो रही थी और ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह साहित्यिक भाषा उन महानुभावों के द्वारा उठाई गई थी जो फ़ारसी एवं अरबी के ज्ञाता थे। कह सकते हैं कि यही भाषा उर्दू का प्रारंभिक रूप है, या इसी के विकसित एवं परिमार्जित अथवा परिष्कृत रूप को उर्दू कहा गया है।

इसमें प्रभाव तो अरबी और फ़ारसी भाषा का पर्याप्त रूप से रहता था तो भी इसका जन्म तत्कालीन एवं तत्स्थान प्रचलित हिन्दी भाषा से ही हुआ था और उसी पर यह सर्वथा समाधारित भी रहती थी। इसीलिये आगे चलकर इसका एक रूप जो शुद्ध हिन्दी तथा संस्कृत भाषा से कुछ अधिक प्रभावित हुआ था, खड़ी बोली कहा जाने लगा और उर्दू से पृथक ही सा हो गया।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि ब्रजभाषा के समान उक्त किसी भी भाषा को हिन्दी संसार में प्राधान्य न प्राप्त हो सका। इसका कारण यही था कि ब्रजभाषा मे कई समाकर्षक गुण थे जिन्हें हम प्रथम ही सूचित कर चुके हैं। ब्रजभाषा ने अपना सहायक एवं आधार बहुत अंशों में चिर प्रचलित और सर्व लोक-सम्मानित उच्च कोटि की सर्व संस्कारों से भली प्रकार परिष्कृत, परिमार्जित एवं परिवर्धित (संशोधित तथा सुविकासित) संस्कृत को ही बनाया था और अपभ्रंश एवं प्राकृत से बहुत ही कम, यदि बिलकुल ही नहीं, साहाय्यादि ली थी कारण इसके मुख्यतया यही हैं :—

१—धार्मिक साहित्य एवं कृष्ण भक्ति सम्बन्धी काव्य साहित्य के निर्माण करने के लिये ही इस ब्रजभाषा को धर्म परायण महात्मा तथा महा कवियों ने उठाया था, और इसलिये संस्कृत से ही सहायता लेना इसके लिये आवश्यक एवं अनिवार्य था क्योंकि धार्मिक एवं कृष्ण-भक्ति का सुसाहित्य संस्कृत भाषा में ही प्रथम लिखा जा चुका था और उसी का प्रचार भी हो रहा था, और उसी के आधार पर महात्माओं को अपने धार्मिक साहित्य का निर्माण हिन्दी के क्षेत्र में करके प्रचलित करना अभीष्ट था।

२—संस्कृत भाषा सुदीर्घ समय से उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा के रूप में चली आ रही थी, अतः उसी का अनुकरण करना तथा उसी से सहायता लेना ऐसी ब्रजभाषा के लिये जिसे हिन्दी-संसार में उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा बनाना अभीष्ट था, सर्वथा आवश्यक एवं अनिवार्य था। यद्यपि प्रकृत और अपभ्रंश भाषायें भी बहुत कुछ रूप में तथा कुछ समय एवं स्थान तक साहित्यिक भाषाओं के रूप में रह चुकी थीं किन्तु उनमें वह विशेष कमनीय एवं अभिलषणीय गुण न थे जो संस्कृत में थे और

जिनको लेकर ब्रजभाषा को समलंकृत करना अभीष्ट समझा गया था। इसीलिये ब्रजभाषा ने इन भाषाओं से बहुत ही कम सहायता ली है।

३—धार्मिक उपदेशक एवं धर्माधिष्ठाता उस समय संस्कृत के ही विद्वान होते थे, इसी से वे संस्कृत की पदावली एवं उसकी शैली का अत्यधिक उपयोग करते थे, क्योंकि वे उसी से पूर्णतया प्रभावित रहते थे। संस्कृत सर्व-सम्मानित देव-वाणी तथा परम पुनीत भाषा मानी जाती थी।

यहाँ यह और समझ लेना चाहिये कि इन कारणों से वाध्य होकर इस प्रकार संस्कृत भाषा के आधार पर समाधारित करके ब्रजभाषा को उठाने वाले महात्मा महा कवियों ने यह भी किया था कि संस्कृत के शब्दों एवं पदों को पूर्णतया तत्सम एवं शुद्ध रूपों में न रख कर प्रायः सरलता स्पष्टता, एवं सुबोधता के लिये तद्भव रूपों में ही रूपान्तरित सा कर दिया था और इस प्रकार वे उन्हें देशज रूप देने का प्रयत्न करते थे।

संस्कृत के काव्य-साहित्य के आधार पर चलने तथा उससे सहायता लेने के कारण इस समय के भी ब्रजभाषा-काव्य (धार्मिक भक्ति-काव्य) में सत्काव्य-गुण (अलङ्कार, ध्वनि, व्यंजनादि) सभी अपने २ अच्छे रूपों में पूर्णता के साथ पाये जाते हैं, यद्यपि इस समय तक हिन्दी-साहित्य में काव्यशास्त्र का विकाश-प्रकाश पूर्णतया या किसी भी रूप में न हुआ था। काव्यशास्त्र के विकाश-प्रकाश का यह समय भी नहीं था, क्योंकि इस समय तो धर्म का ही प्रचार करना अभीष्ट एवं अवश्य-करणीय था। उसे रक्षित करके सुदृढ़ करने की ही प्रधान आवश्यकता थी। जब इससे शान्ति मिलती तभी विद्वान लोग काव्यशास्त्र जैसे विषयों की ओर

झुक सकते थे। देश में अभी धार्मिक अशान्ति ही सी थी, और ऐसी दशा में काव्यशास्त्र प्रस्फुटित एवं विकसित न हो सकता था।

इसीलिये पुष्प या पुण्ड, करनेश एवं गोप आदि का बोया हुआ काव्य शास्त्र की रचना का पौदा जो, अनुवाद के सलिल से संसिक्त किया गया था, मुरझाया सा पड़ा रहा। सभी कवियों और महाकवियों की प्रतिभा-शक्ति केवल धर्म-प्रचार एवं भक्ति-काव्य-निर्माण की ही ओर लगी रही, अस्तु।

हम कह चुके हैं कि मुसलमान कवियों एवं लेखकों ने भी हिन्दी-साहित्य का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था; और अरबी-फ़ारसी के साहित्य से प्रभावित होकर वे उनके साहित्यों की बातों को हिन्दी-भाषा के द्वारा कुछ देश काल को देखते हुये परिवर्तित एवं रूपान्तरित करके यहाँ प्रचलित करने लगे थे। ऐसा करने के मुख्य कारणों में से कुछ ये कहे जा सकते हैं:—

१. हिन्दू जनता, हिन्दू धर्म एवं हिन्दी भाषा को अपने अरबी व फ़ारसी से प्रभावित करने के लिये मुसलमानों ने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया था।

२ अपनी सभ्यता तथा अपने धर्म के सिद्धान्तों को हिन्दू-सभ्यता एवं हिन्दू धर्म के अन्दर समाविष्ट करके वे अपनी महत्ता-सत्ता को सुदृढ़ एवं चिरस्थायी करने के लिये हिन्दुओं के विचारादि परिवर्तित करना चाहते थे।

३ हिन्दी में साहित्य-रचना करके वे हिन्दी, हिन्दू एवं हिन्द को अपनी सहानुभूति एवं सहृदयता के आभास से समाभासित एवं प्रभावित करना चाहते थे, अस्तु। यह भी हो सकता है, जैसा कहा भी गया है कि, वे हिन्दी के प्रेमी थे और इसके गुण से प्रभावित हो चुके थे। जो कुछ भी हो, उन्होंने हिन्दी में कार्य

करके अपनी सहृदयता एवं उदारता का थोड़ा बहुत परिचय अवश्य दिया है, और इस प्रकार हिन्दी एवं उसके साहित्य का कुछ उपकार भी अवश्य किया है। हम कह हो चुके हैं, कि लगभग ११८० सं० में मसऊद एवं कुतुब अली, ११९१ सं० में साँई दान चरण तथा १२०५ से १२५८ सं० तक अकरम फैज़ अच्छे कवि एवं ग्रंथकार हो चुके थे। प्राचीन काल के उत्तर काल में मुसलमानों ने उर्दू के प्रारम्भिक रूप की कल्पना की, तथा उसे साहित्यिक रूप देते हुये शृंगार रस-पूर्ण प्रेम-गाथाओं का (जो पूर्ण-रूप से कल्पित ही होती थीं, यद्यपि वे किसी सच्ची ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखी जाती थीं) दोहों और चौपाइयों में लिखना प्रारम्भ कर दिया था। अमीर ख़ुसरो सब से प्रथम कवि थे जिन्होंने तत्कालीन हिन्दी को उठाकर उसे प्रारम्भिक उर्दू एवं खड़ी बोली का रूप दिया था। इसी से इन्हें लोग खड़ी बोली का प्रथम कवि मानते हैं। सं० १३८५ में मुल्ला दाऊद ने "नूरक चंदा" नाम की एक प्रेम-कहानी लिखी थी। ऐसी प्रेम-गाथायें या कहानियाँ संस्कृत में भी लिखी गई थीं, जैसे विक्रमोर्वशी, ऊषा और अनिरुद्ध की कथा, तथा कादम्बरी आदि, लेकिन इन प्रेम-गाथाओं से मुसलमानों की ये प्रेम-गाथायें भिन्न थीं, जिनकी विवेचना हम आगे करेंगे।

यहाँ अभी हम यही कहना चाहते हैं, कि मुसलमानों ने इस प्रकार की प्रेम-पीर वाली प्रेम-कथाओं का लिखना एक नवीन रूप में, जिस में फ़ारसी-साहित्य की परम्परा का ही प्राधान्य रहता था (हाँ उसमें भारतीय प्रेम-पद्धति की भी कुछ आवश्यक पुट रहती थी) प्रारम्भ कर दिया था। मुल्ला दाऊद का अनुकरण १६ वीं एवं १७ वीं शताब्दियों में कई मुसलमान लेखकों ने किया है, उन सब में से जायसी को ही विशेष सफलता प्राप्त हो सकी है। अस्तु, इस

पद्धति को हिन्दुओं ने विजातीय एवं विदेशीय समझकर कदाचित कभी नहीं अपनाया।

उक्त लेख से यह स्पष्ट हो गया होगा, कि वीर-काव्य का उदय एवं अस्त किस प्रकार राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव से हुआ था, तथा उसमें किस किस प्रकार कैसा २ और कब २ रूपान्तर हुआ है। वह किस प्रकार लुप्तप्राय हो गया और देश, काल तथा समाज की दशाओं के कारण किस प्रकार ब्रजभाषा, उर्दू तथा खड़ी बोली की उत्पत्ति हुई। व्रजभाषा किन २ कारणों से विकसित एवं प्रकाशित हो सकी। भक्ति-काव्य की उत्पत्ति एवं उसके विकाश के लिये कैसी २ आवश्यक व अनिवार्य परिस्थितियाँ उपस्थित हो गई थीं। साहित्य के अन्य अंग जैसे काव्य-शास्त्रादि क्यों न उठाये जा सके थे, जनता की विचार-धारा एवं चित्त-वृत्ति किस ओर अधिक बल वेग के साथ प्रवाहित हो रही थी, इत्यादि बातों का आवश्यक परिचय एवं ज्ञान कर चुकने पर अब हम धार्मिक साहित्य के विवेचन को उठाते हैं और साहित्य के नवीन युग पर ऐतिहासिक दृष्टि डालते हैं। हाँ यह कह देते हैं कि अब परिवर्तन का समय अपना पर्याप्त कार्य कर चुका था और दो भिन्न २ भाषायें, शैलियाँ तथा मत (धर्म) अपनी २ पृथक् २ पद्धतियों, चित्तवृत्तियों एवं सभ्यता सम्बन्धी आचार-विचारों के साथ एक दूसरे पर समयानुसार प्रभाव डालते हुये उठ चुके थे। संस्कृत और फ़ारसी भी परिस्थितियों के प्रभाव से अपना अपना प्रभाव पृथक २ डाल रही थी। हिन्दी भाषा को पर्याप्त विकाश-प्रकाश प्राप्त हो रहा था, यद्यपि उसको संस्कृत के समान सम्मान एवं गौरवादि अभी प्राप्त न हो सका था। विद्वान पंडित अब भी संस्कृत-साहित्य का कुछ निर्माण करते जा रहे थे। हाँ प्राकृत और अपभ्रंश नितांत ही लुप्त हो रही थीं, बौद्ध एवं जैन धर्मों के क्षीण होकर लुप्त हो जाने से उन में

प्रथम ही शैथिल्य एवं निर्बलता आ चुकी थी, अब तो हिन्दी के नवीन प्रतिभा-प्रभाव एवं उदय के कारण उनका रहा सहा प्रभाव भी अभाव को प्राप्त हो रहा था।

हिन्दी के उदय के साथ ही साथ हमने ऊपर यह भी दिखलाया है, कि कुछ मुसलमान लेखकों के द्वारा उर्दू के बीज का भी वपन किया जा चुका था। किन्तु वह उर्दू, यदि वास्तविक रूप से देखा जाय, एक विशिष्ट रूप की हिन्दी ही थी, जो आगे चल कर फ़ारसी और अरबी के विद्वानों के हाथों में पड़ कर उन्हीं भाषाओं तथा उनके साहित्यों से प्रभावित होती हुई एक विशेष रूप ग्रहण करके हिन्दी से पृथक हो गई और जो आज कल उर्दू के नाम से पुकारी जाती है। यहाँ पर यह भी कह देना अप्रासङ्गिक न होगा, कि इस समय वास्तव में अवधी और खड़ी बोली का भी उदय न हुआ था, केवल ब्रजभाषा ही समुदित होकर साहित्य-क्षेत्र में अग्रसर होने लगी थी।

पूर्व माध्यमिक-काल

वीर गाथा-साहित्य के पश्चात् हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में उसी प्रकार ओत-प्रोत मच गया था जिस प्रकार देश एवं समाज में। एक ओर कुछ मुसलमान लेखक (जैसे मुल्ला दाऊद आदि) नूरक-चन्दा जैसी प्रेम-कहानियों की भाँति श्रृङ्गारमयी-कहानियाँ लिख रहे थे। अमीर खुसरो की भाँति, कुछ मुसलमान कवि भाषा-काव्य-क्षेत्र में, फ़ारसी-साहित्य की काव्य-परम्परा तथा मनोवृत्तियों की शैलियाँ लेकर एक नवीन मिश्रित धारा के प्रवाहित करने का प्रयत्न कर रहे थे। दूसरी ओर समय के प्रभाव से वीर-गाथा की परम्परा के विनष्ट होने पर देश-काल की आवश्यकताओं के आधार पर कुछ धार्मिक सज्जन धार्मिक-

साहित्य की ही ओर सब प्रकार अपनी शक्ति लगा रहे थे। सम्वत् १४०७ में महात्मा गोरखनाथ ने संस्कृत में रचना करने के साथ ही साथ हिन्दी में भी रचना करना प्रारम्भ कर दिया। आप एक पंथ के प्रवर्तक थे और अपने सिद्धान्तों का व्यापक रूप में प्रचार करने के लिये आपने भी भगवान् बुद्ध और जैनमत-प्रवर्तक महात्मा महावीर के समान जन-साधारण की बोली (हिन्दी) उठाई थी। आप ही ब्राह्मण-कुल-भूषण प्रथम महात्मा हैं जिन्होंने इस प्रकार हिन्दी, हिन्दू और हिन्द का हित किया है। आप ही का अनुकरण फिर अन्य पंथ-प्रवर्तकों ने भी किया और हिन्दी के ही द्वारा अपने अपने उपदेशों एवं सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि आप एक पथ-प्रदर्शक भी थे, और आप ही के दिखलाये हुये पथ का अनुसरण (अर्थात् हिन्दी के द्वारा धर्म का प्रचार करना) श्री नानक, कबीर एवं स्वामी दयानन्द आदि ने भी किया है। संस्कृत के एक विद्वान महात्मा होकर और हिन्दी को अपना कर आपने संस्कृतज्ञ पंडित-मण्डली को भी हिन्दी की ओर आकृष्ट किया था। गद्य का सब से प्रथम ग्रन्थ, जो इस समय हमें अपने साहित्य में मिलता है, आप ही का लिखा हुआ है। जैसा हम प्रथम ही कह चुके हैं, इस समय ब्रज-भाषा ही साहित्यिक-भाषा हो रही थी और उसी का उपयोग साहित्यिक-रचना में किया जाना अभीष्ट एवं उचित समझा गया था। यही कारण है, कि आपने ब्रज-भाषा में ही रचना की है।

आप का गद्य उत्कृष्ट और सुन्दर है। गद्य में प्रथम रचना करके आपने गद्य-साहित्य की नींव डाल दी और इसीलिये आपको हिन्दी-गद्य का प्रथम लेखक माना गया है।

हम दिखला चुके हैं, कि अब तक हिन्दी-साहित्य प्रान्त के पश्चिमीय भाग में ही केन्द्रस्थ हो रहा था, किन्तु महात्मा गोरख-

नाथ के प्रभाव से प्रान्त के पूर्वीय भाग में भी साहित्य का संचार हो चला और इस ओर भी कवियों और लेखकों ने हिन्दी में साहित्यिक रचना करना प्रारम्भ कर दिया। चूँकि पूर्वीय प्रान्त में अवधी भाषा का प्राधान्य एवं प्रचार-प्राचुर्य था और अवधी ही व्यापक रूप से जन साधारण के बोल चाल की साधारण बोली थी, इसीलिए गोरखनाथ के पश्चात् इस प्रान्त के लेखकों एवं कवियों ने इसी अवधी भाषा को उठा कर इसे साहित्यिक रूप देते हुए अपना लिया। यह एक साधारण बात है, कि प्रत्येक लेखक एवं कवि साधारणतया अपने ही प्रान्त की भाषा में लिखना प्रारम्भ करता है क्योंकि उस भाषा से उसका पूर्ण परिचय रहता है और उसके उस प्रभाव से वह सदा स्वभावतः ही प्रभावित रहता है जो उस पर उसके जन्म-काल से ही पड़ता चला आया है। यद्यपि ब्रजभाषा शिष्ट साहित्यिक भाषा थी अवश्य और प्रायः प्रत्येक प्रान्त के कवियों एवं लेखकों को साहित्य-रचना के लिए उसी का प्रयोग करना उचित था, किन्तु सम्प्रदाय-पार्थक्य ने उन्हें ऐसा न करने दिया। ब्रजभाषा कृष्ण भक्तों की स्वाभाविक भाषा होकर उनके प्रतिद्वन्द्वी राम-भक्तों के द्वारा राम-काव्य के लिए कदापि व्यवहृत न की जा सकती थी। राम-भक्तों ने इसीलिए उसी प्रान्त की बोली में राम-काव्य लिखा है जहाँ के अयोध्या नामी मुख्य नगर में उनके इष्टदेव श्री रामचन्द्र जी का अवतार हुआ था। इस प्रकार उन्होंने कृष्ण-भक्तों के समान अवधी भाषा को भी विकसित एवं परिमार्जित करके उसे साहित्यिक रूप देते हुए साहित्य के क्षेत्र में ला उपस्थित किया। इस अवधी भाषा को आगे चल कर जायसी तथा तुलसीदास जी ऐसे महानुभावों के हाथों से अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यहाँ यह भी कह देना ठीक जँचता है, कि जिस प्रकार दिल्ली, और आगरे में मुसलमान साम्राज्य, साहित्य, तथा सभ्यता

के स्थापित होने पर उनके प्रभावों से हिन्दू-धर्म की रक्षा करने के लिये हमारे महात्माओं ने ब्रज को धार्मिक केन्द्र बना कर ब्रजभाषा में काव्य के द्वारा धार्मिक प्रचार किया था, इसी प्रकार लखनऊ में भी मुसलमानी राज्य, साहित्य तथा सभ्यता के स्थापित होने पर उनके प्रभावों का निराकरण करने के लिये हमारे महात्माओं ने अवधी भाषा के द्वारा अपने राम-भक्ति सम्बन्धी धार्मिक काव्य का प्रचार किया था। बनारस यद्यपि संस्कृत का एक परम प्राचीन, पवित्र और प्रधान केन्द्र था, तथापि वह हिन्दी-भाषा का केन्द्र न हुआ, क्योंकि वहाँ संस्कृत-साहित्य तथा आर्य सभ्यता का इतना प्रबल आधिपत्य था, कि उसके सामने कोई भी न ठहर सकता था, और इसीलिये उधर की ओर से लोग निश्चिन्त रहते थे, और जानते थे, कि मुसलमानी प्रभाव उस ओर पड़ ही नहीं सकता, अस्तु, वहाँ धार्मिक आन्दोलन तथा हिन्दी-साहित्य-प्रचार के केन्द्र का स्थापित करना व्यर्थ ही समझा गया, अस्तु।

इन सब बातों के साथ ही साथ हमें यहाँ यह भी देख लेना चाहिये, कि १४ वीं शताब्दी के बाद से हिन्दी और उसके साहित्य का विकास एवं विस्तार अच्छे रूप से हो चला था। इस भाषा ने विहार में भी अपनी सत्ता एवं महत्ता स्थापित कर ली थी। अब इसे धार्मिक आन्दोलनो एवं महात्माओं से पूरी सहायता मिल रही थी जिससे यह शीघ्रता के साथ उन्नति करने लगी थी। हिन्दी-काव्य का निर्माण इसी से अब राज-दर्बारों से, जहाँ वह वीर-काव्य के समय में हुआ करता था, हटकर महात्माओं के मंदिरों एवं स्थानों में होने लगा था, और शनैः शनैः हिन्दी-काव्य-साहित्य साधारण जनता के हृदयो में भी प्रवेश करने लगा था। हाँ, यह अब भी था, कि पंडित-समाज में

हिन्दी-भाषा का यथोचित मान-सम्मान एवं संचार-प्रचार न हो सका था। संस्कृतज्ञ विद्वान् इसकी तथा इसके काव्य-साहित्य की उपेक्षा ही करते थे, तथा हिन्दी में लिखना बहुत ही हेय और निंद्य समझते थे। यह दशा लगभग १६ वीं शताब्दी तक विशेष रूप से व्याप्त रही। इसका पुष्ट प्रमाण हमें महात्मा तुलसीदास तथा महाकवि केशवदास के ग्रंथों में मिलता है। उदाहरणार्थ निम्नांकित उद्धरण पर्याप्त हैं:—

"भाषा भणित मोरि मति भोरी।
हँसिबे जोग हँसे, नहिं खोरी॥"

—तु० रामायण

"भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा-कवि भो मंदमति, तेहि कुल केशवदास॥
उपज्यो तेहि कुल मंदमति, सठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चंद्रिका, भाषा करा प्रकास॥"

—केशवकृत रामचंद्रिका

राज-दरबारों में भी संस्कृत, उसके साहित्य तथा उसके पंडितों का बहुत मान-सम्मान अभी होता था। संस्कृत के साहित्य का निर्माण भी अभी अच्छे रूप में हो रहा था। इस समय में मौलिक संस्कृत-साहित्य तो एक प्रकार से बंद हो सा हो गया था, किन्तु प्राचीन ग्रंथों पर टीकायें एवं कुछ ऐसी ही पुस्तकें लिखी जाती थीं। संस्कृत-साहित्य के केन्द्र तो अब काश्मीर, काशी, एवं मिथिला (बंगाल-विहार) तो उत्तरीय भारत में और महाराष्ट्र प्रदेश दक्षिणीय भारत में थे। गुजरात प्रान्त में प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य का कुछ कार्य हो रहा था। प्रसंगवश यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है, पाठक विस्तृत विवरण के लिये हिस्ट्री

आफ संस्कृत लिटरेचर देख सकते हैं। अब यह बात अवश्य थी, कि उसका प्रचार-प्रस्तार देश की साधारण जनता में बहुत ही न्यून सा रह गया था। राज-दरबारों में भी हिन्दी ने अपना प्रवेश या संचार कर लिया था, क्योंकि अब देश, काल तथा भाषा में विशाल परिवर्तन हो गया था, और हिन्दी जन साधारण की साधारण भाषा हो गई थी, और संस्कृत केवल classical language या देववाणी ही सी हो गई थी, अस्तु। यहाँ एक बात और विशेष रूप से विचारणीय है और वह यह है, कि संत महात्माओं ने अपने-अपने उपदेशों, सिद्धान्तों एवं धर्मादेशों का प्रचार गद्य में न करके पद्य एवं काव्य के ही द्वारा किया। इसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है, कि काव्य साधारण गद्य या व्याख्यानादि की अपेक्षा अधिक रुचिकर, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होता हुआ अपनी संगीतात्मक माधुरी के कारण आनन्दप्रद और मनोरंजक भी होता है, तथा शीघ्र ही हृदयङ्गम होकर चिरस्थायी सा हो जाता है। इन महात्मा कवियों ने धार्मिक वाद-विवाद आदि को अरोचक, वैमनस्य तथा नीरसता आदि को जन्म देने वाला समझ नितान्त ही त्याग दिया था। तर्कात्मिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान को न उठा कर इन लोगों ने धार्मिक प्रचार में भाव-भावनापूर्ण सरस, सुन्दर तथा हृदय पर प्रभाव डालने वाले भक्ति-सिद्धान्त को ही उठाया था, और काव्य के उक्त गुणों को देख कर ही कदाचित उसका उपयोग धार्मिक साहित्य में किया था। गद्य का उपयोग कदाचित दो मुख्य कारणों से इन महात्माओं ने नहीं किया, प्रथम कारण तो कदाचित यह था, कि उस समय तक हिन्दी-भाषा तथा उसकी साहित्यिक शैली का रूप निश्चित न हुआ था, या यों कहिये कि उस समय तक गद्य का ही रूप स्थिर न हुआ था। महात्मा गोरखनाथ जी ने गद्य का एक ग्रन्थ जो

प्रथम गद्य ग्रन्थ था, लिखा था, किन्तु उनका गद्य सुव्यवस्थित एवं सुविनिश्चित साहित्यिक रूप में (Standard literary Prose) न था, उसमें प्रान्तिकता तथा ग्रामीणता आदि की असुविधायें बहुत थीं।

द्वितीय कारण कदाचित यह था, कि उस समय गद्य-साहित्य का प्रचार-प्रस्तार प्रेस आदिक उपयुक्त साधनों के अभाव से न हो सकता था। साथ ही गद्य बहुत स्थान और समय की आवश्यकता रखता है, और पद्य उसकी अपेक्षा कम स्थान, समय एवं श्रम चाहता है। गद्य उतना रुचिकर, चिरस्थायी और शीघ्र ही हृदयङ्गम होने वाला भी नहीं होता जितना पद्य होता है।

हम लिख ही चुके हैं, कि हिन्दी अब अपने विस्तार-व्रत को बढ़ा रही थी, उसने विहार में भी अपनी सत्ता एवं महत्ता जमा ली थी। हम देखते हैं, कि विहार में इसी समय। सं० १४४५ वि० से हिन्दी-साहित्य-रचना का समय महाकवि एवं मैथिल-कोकिल विद्यापति जी से प्रारम्भ हो गया था।

महाकवि-विद्यापति

आप ही सब से प्रथम कवि हैं जिन्हों ने कृष्णभक्ति-काव्य का हिन्दी-साहित्य में श्रीगणेश किया है। आपने संस्कृत-संसार के प्रसिद्धिप्राप्त एवं सिद्धहस्त महाकवि जयदेव जी का ही अनुकरण किया है और उन्हीं के गीतगोविन्द के समान कृष्ण-प्रेम पूरित गीत काव्य की रचना की है। आप का ही यह प्रभाव जान पड़ता है, कि कृष्णभक्ति-काव्य का हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में इतना प्रचार एवं प्रस्तार हो गया था।

भक्त कवियों को आप ने ही पथ-प्रदर्शन कराया है, और उन्हें दो मुख्य संदेशों की सूचना दी है:—

१—जन साधारण की बोली (भाषा) में भक्ति-काव्य की

रचना करना, और उसमें साहित्यिक गुणों का भी पर्याप्त समावेश करना।

२—भक्ति-काव्य में संगीत की भी पूरी पुट देना, जिससे वह और भी अधिक मधुर, गेय और रुचिकर या रोचक हो कर आनन्दप्रद एवं मनोरंजक हो जावे।

इनके साथ ही साथ आप ने भी जयदेव जी के समान कृष्ण-भक्ति में शृङ्गार एवं प्रेम के रसीले भावों का आधार रख कर उसे समाकर्षक एवं सरल बनाने पर भी पूर्ण बल दिया है। आप ने ऐसा ही कर के इसको एक प्रणाली सी हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में चला दी।

यह आप का ही प्रभाव जान पड़ता है, कि महात्मा सूरदास जैसे महाकवि ने भी हिन्दी कृष्ण-काव्य की रचना गाने योग्य पदों में शृङ्गार एवं प्रेम की सरस माधुरी के साथ की है, और वे अपने पश्चात् इसकी एक परम्परा सी छोड़ गये हैं।

आप का एक और गहरा प्रभाव कृष्ण-काव्य के लेखकों पर यह पड़ा, कि वे कृष्ण-भक्ति के काव्य में मानवीय लौकिक शृङ्गार का अधिकाधिक समावेश करने लगे और उसे लौकिक शृङ्गार रस से पूर्ण रूप से परिप्लावित करते करते कुछ अश्लील सा भी बनाने लगे।

विद्यापतिजी की भाषा यद्यपि विशेषतया मैथिलीय बिहारी ही है तथापि उसे हम बिहारी हिन्दी कह सकते हैं। आप ने दो नाटक भी रचे थे, और इस प्रकार आपने नाटक-रचना का भी हिन्दी-क्षेत्र में बीजारोपण कर दिया था, किन्तु वह उस समय अपने अनुकूल जलवायु एवं अवस्थादिक न पाकर बस अंकुरित होकर ही बिना पल्लवितादि हुये ही रह गया। उसे कृष्णकाव्य ने ऊपर उठने ही न दिया। आप ने जो मुक्तक-काव्य (Lyrics) की जो प्रणाली या

शैली श्री जयदेव जी से लेकर चलाई वह हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में सर्वथा सर्वसाधारण, व्यापक एवं चिरस्थायी हो गई। इसके साथ ही आपने श्री जयदेव जी के आधार पर श्रीकृष्ण जी के जिस प्रेमी नायक के रूप को उठाया था वह रूप भी कृष्ण-भक्ति-काव्य के लिये एक व्यापक तथा अनिवार्य रूप से वर्ण्य विषय सा होकर व्यापक हो गया।

आप ही के प्रभाव से कदाचित् कृष्ण-काव्य में संगीत-माधुरी का भी विशेष प्राधान्य हो गया। वास्तव में कृष्ण-भक्तों ने बड़ी चतुरता की, जो कृष्ण-काव्य में शृङ्गार, प्रेम तथा संगीत आदि का पूर्ण समावेश कर दिया क्योंकि इन्हीं गुणों से वे जनता के भाव-प्रधान-रस, प्रेमी मानसों को आकृष्ट कर धर्म में आरूढ़ रख सकते थे, और अन्य धर्म्मों की ओर जाने से उनकी प्रवृत्ति को रोक सकते थे, अस्तु हुआ भी यही।

अब इस लेख से जयकाव्य के अंतिम समय से लेकर धार्मिक भक्ति-काव्य के प्रारम्भिक समय तक की भिन्न भिन्न आवश्यक बातों का सूक्ष्म परिचय हमारे पाठकों को प्राप्त ही हो चुका होगा। वीर-काव्य का किस प्रकार अवसान हुआ और उसके पश्चात् क्यों धार्मिक विचार-धारा का कैसा उदय साहित्य-क्षेत्र में हुआ, यह भी अच्छी तरह ज्ञात हो गया होगा। साहित्य की इस समय कैसी दशा रही, और हिन्दी भाषा किस किस रूप में रूपान्तरित होती हुई आगे बढ़ी, इसका भी सूक्ष्मरूप से कुछ ज्ञान हमारे पाठकों को हो गया होगा।

अब हम आगे भक्ति-काल के धार्मिक भक्ति-काव्य-साहित्य की मार्मिक विवेचना एवं आलोचना करने जा रहे हैं। हाँ, यह आशा रखते हैं कि हमारे पाठक उक्त लेख की आवश्यक तथा मार्मिक बातों के तत्वों को अपने ध्यान में जागृत रक्खेंगे।

तृतीय अध्याय

मध्य काल

पूर्व धार्मिक भक्ति काल (१४००-१६००)

राजनैतिक दशा

भारत का इतिहास बतलाता है कि १२०६ ई० (१२६३ सं०) से उत्तरीय भारत में अफ़ग़ानों (पठानों) का राज्य स्थापित हो गया था और सब से प्रथम उनके ग़ुलाम (दास) वंश वालों ने शासन किया, उनके पश्चात् खिलजी, तुग़लक एवं सैयद वंश वालों के हाथों में यहाँ के राज्य की बागडोर रह कर अंत में लोदी वंश वालों के हाथ में आई। इस वंश के अंतिम बादशाह इब्राहीम लोदी को हरा कर मुग़ल वंश के नायक एवं बादशाह बाबर ने शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया और १५२६ ई० (१५८३ सं०) से मुग़ल-साम्राज्य की स्थापना कर दी।

हमारा दूसरा काल, जिसे हमने हिन्दी-साहित्य का मध्य काल तथा धार्मिक काल (Religious period) कहा है, जैसा उक्त अनुच्छेद से स्पष्ट है, पठान-साम्राज्य के उत्तर अथवा अंतिम काल से ही प्रारम्भ होता है। अतः हमें उसी समय की राजनैतिक दशा का अवलोकन करना यहाँ समीचीन जान पड़ता है।

यद्यपि पठानों ने भारत में शासन करने का तो प्रारम्भ कर दिया था और यहाँ रह कर वे उसका कार्य-सम्पादन भी करते थे, तथापि वे भारत को ऐसा देश न मानते थे जहाँ उन्हें सदा

के लिये अपना निवास-स्थान बनाकर उसी का होकर रहना है। वे इसे क़ाफ़िरों का ही देश मानते थे और इसी से इसके प्रति किसी भी प्रकार का विशेष ममत्व, सहानुभूति, स्नेह और अनुराग न रखते थे। वे अफ़ग़ानिस्तान को ही अपना देश समझते थे और उसी के प्रति उनमें पूर्ण अनुराग, सहानुभूति एवं ममत्व रहता था। भारत में रहकर वे केवल हिन्दुओं और उनके धन-धर्म को सभी प्रकार विनष्ट ही करने का उद्देश्य रखते तथा उसकी सिद्धि के लिये पूर्ण प्रयत्न भी करते थे। यही कारण था, कि वे हिन्दुओं के साथ सदैव ही सब प्रकार दुर्व्यवहार सा किया करते तथा उन्हें अपने अत्याचारों एवं अनाचारों से दलित सा करते रहते थे।

हिन्दुओं के धर्म तथा धन पर उनके अनीति-पूर्ण आक्रमण सदा ही हुआ करते थे। उन्हें वे अपना स्वाभाविक शत्रु सा मानते थे। अच्छे से अच्छे पठान बादशाह ने भी इसका पूर्ण ध्यान रक्खा है। जब, जिस प्रकार और जहाँ भी हुआ है पठानों ने हिन्दुओं के धन-धर्मादि के समूल नाश करने ही का पूर्ण प्रयत्न किया है। इन कारणों से हिन्दू-जनता भी उनके साथ शत्रु-भाव सा रखती थी तथा उनके प्रति सहयोगिता, सहानुभूति एवं स्नेह कदापि न रखती थी। परतंत्र होकर भले ही वह सिर न उठा सकती थी, किन्तु हृदय से उसे इनसे अपने धन-धर्मादि की रक्षा के लिये अटकना ही पड़ता था, और उसे सदैव ही इनसे सशंकित रह कर लड़ने और अपनी रक्षा करने के लिये सन्नद्ध ही रहना पड़ता था। वह बेचारी न तो सुख की नींद सो ही सकती थी और न शान्ति के साथ रह ही सकती थी। अनुचित करों से उसका रक्त चूसा जाता था, तथा अनीति-पूर्ण अत्याचारों से उसके हृदय के मर्मस्थलों पर भीषण एवं

असह्य आघात किये जाते थे। हिन्दू-स्त्रियों पर भी पैशाचिक आक्रमण होते थे, हिन्दू-तीर्थों एवं उनके धार्मिक स्थानों का नष्ट भ्रष्ट करना तो मुसलमानों का साधारण कार्य ही सा था, तथा हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाने का भी प्रयत्न किया जाता था। ऐसी दशा में हिन्दू-जनता को सुख और शान्ति कब मिल सकती थी। उन्हें अवश्यमेव अपने धन-धर्म की चिन्ता घेरे रहती होगी। हमने यह भी दिखलाया है, कि मुसलमानों के फ़कीर लोग अपने धर्म का प्रचार करते थे, ऐसी दशा में हिन्दुओं को यही आवश्यक एवं अनिवार्य था, कि वे अपनी धार्मिक सत्ता को जिस प्रकार भी हो सके रक्षित रक्खें, और इस प्रकार अपनी सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता बनाये रहें। राजनीतिक सत्ता तो चली ही गई थी और आर्थिक क्षति भी पूर्णरूप से हो चुकी थी, शेष रह गई थी चारित्रिक एवं धार्मिक सत्ता, यदि उसे भी वे रक्षित रखने का पूर्ण उद्योग न करते तो अपने अस्तित्व के लिये वे और करते ही क्या। यही कारण था कि ऐसी दशा में धार्मिक-विचार-धारा तथा धार्मिक जागृति के आन्दोलन की प्रगति बड़े वेग के साथ उठ चली।

हिन्दुओं को जब पठानों के अत्याचारों से असह्य वेदना मिलने लगी, तब उनके हृदयों मे अपने पुराने पराभव का दुख और भी प्रज्वलित हो उठा, और मुसलमानों के साथ उनकी पूर्व शत्रुता नई होने लगी। क्षत्रिय लोग अपना प्रतिशोध करने तथा मुसलमानों से अपना बदला लेने का प्रयत्न करने लगे। वे धीरे धीरे चुपचाप अपनी विनष्ट तथा खोई हुई शक्ति को फिर से प्राप्त करने का उपाय करने में सन्नद्ध हो उठे। इस ओर उन्हें किसी भी बाहिरी शत्रु से सामना भी न करना पड़ा, और देश में भी उनको किसी शत्रु का सामना न करना था। मुसलमानों से दलित एवं पीड़ित हो कर वे अब आपस में भी बहुत न लड़ने लगे।

यही सब कारण थे, कि १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक क्षत्रियों में कुछ शक्ति का संचय हो गया और वे राजैपूताने में अपना बल बढ़ा सके। राजपूताना एक ऐसा प्रान्त है जिसके प्रति किसी का विशेष अनुराग नहीं हो सकता। वह प्रान्त मरु-स्थान या रेगिस्तान ही है और इसीलिये वहाँ धान्यादिक भोज्य पदार्थ बहुत कम उगते है, वहाँ जल की भी बड़ी न्यूनता है, अतः वहाँ जीवन की समस्या बड़ी ही कठिन होती है, भोग विलासादि के सुखमय जीवन का प्रश्न तो बहुत ही दूर रह जाता है। यही मुख्य कारण है, कि यह प्रान्त राजपूत राजाओं का प्रधान प्रान्त होता हुआ भी युद्ध-क्षेत्र नहीं हुआ और मुसलमान इसकी ओर कभी नहीं बढ़े। समस्त अफ़ग़ान या पठान साम्राज्य केवल पंजाब, संयुक्त प्रान्त एवं विहार-बंगाल की ही सीमा के अंदर रहा है।

इसी प्रान्त की रक्षा के लिये राजपूत लोग बढ़ बढ़ कर दिल्ली आदि के मैदानों में (जहाँ पानीपत एवं कुरुक्षेत्र आदि के प्रसिद्ध रणांगण हैं) मुसलमानों से भिन्न भिन्न समयों में आ आकर लड़ा करते थे। मुसलमानों से हार जाने तथा उनके द्वारा उत्तरीय भारत के छीन लिये जाने पर राजपूत लोग राजपूताने में जाकर रहने लगे थे और वहीं उन लोगों ने अपने छोटे राज्य भी स्थापित कर लिये थे। मुसलमानों के आने से पूर्व राजपूताने के प्रान्त में कोई भी विशेष प्रधानता न थी, उसे राजस्थान होने का मुख्य गौरव मुसलमानों के पश्चात् ही प्राप्त हो सका है। अस्तु, राजपूताना १६ वी शताब्दी तक राजस्थान के रूप में परिणित हो चुका था और वहाँ के राजपूत (क्षत्रिय) राजा लोग भी कुछ शक्तिशाली होकर फिर से भारत के राजनैतिक क्षेत्र में अपने प्रशस्त वीर मस्तकों को उठाने लगे थे।

इसके साथ ही पठान जाति के अंतिम दो घराने जो सैयद और लोदी नामों से भारतीय इतिहास में विख्यात हैं, शक्तिहीन हो गये थे। उन्हें भोगविलास ने क्षीण एवं हीन कर दिया था। इसलिये उनका आतंक भारत में बहुत ही कम रह गया था। मुहम्मद तुगलक जैसे क्रूर एवं निर्दय बादशाहों की विषम यातनाओं से जनता अब ऊब उठी थी और उसके हृदय में वेदना तथा क्रोध की अग्नि धधक रही थी। हिन्दू जनता तो मुसलमान बादशाहों के साथ किसी भी प्रकार का विशेष सम्बन्ध न रखती थी और सदैव उनसे मुक्ति पाने की प्रार्थना करती रहती थी। मुसलमानों ने अपनी अनीति से प्रजा के हृदय में अपने प्रति सभी प्रकार की कुत्सित भावनायें उत्पन्न कर दी थीं, अतः जनता उनकी सहायता करने से तो दूर थी ही, अब वह उनके नाश के लिये ही ईश्वर से प्रार्थी हो रही थी। प्रथम ही जनता उनके प्रति सद्विचार न रखती थी क्योंकि वे विजातीय, विदेशीय, क्रूर, कुटिल एवं पीड़ा पहुँचानेवाले थे। उन्होंने प्रथम ही देश का सर्वापहरण कर लिया था और अब भी वे, जिस प्रकार होता था, उसका अहित करते थे। वे अब भी जनता के धन, धान्य एवं धर्म पर कुठाराघात कर रहे थे। अस्तु, इन्हीं सब कारणों से जनता मुसलमान-साम्राज्य से असंतुष्ट एवं रुष्ट होकर उसके प्रति वैमुखी वृत्ति रखती थी, और किसी प्रकार उनकी आधीनता में रहना न चाहती थी। वह अशक्त होकर उनका खुले हुये रूप में विरोध तो न कर सकती थी, किन्तु वह उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी विदेशीय के शासन में, यदि दैववशात् राजपूत-शासन असम्भव एवं असाध्य ठहरता हो, रहना स्वीकार कर सकती थी। जनता यह चाहती थी, कि कोई नया शत्रु उन पर आक्रमण करे तथा उन्हें हटा दे, वह उस शत्रु को सहायता देने में तैयार थी और इन पठानों का साथ कदापि न देना चाहती थी। यही

हुआ भी, बाबर ने जब हमला किया और पठानों से युद्ध किया तब जनता चुपचाप तमाशा देखती रही, उसने पठानों का साथ न दिया, और उन्हें हरवा दिया।

अस्तु, इस समय देश (उत्तरीय भारत) की जो हिन्दी एवं उसके साहित्य का मुख्य एवं मूल प्रान्त है, राजनैतिक परिस्थिति डाँवाडोल सी थी। राजपूत लोग इसे देख रहे थे और अपनी शक्ति बढ़ा भी रहे थे, किन्तु अभी इतने प्रबल न हो सके थे, कि पठान-साम्राज्य का सामना करके विजय प्राप्त कर सकते। हाँ, वे इसके लिये तैयारी अवश्यमेव कर रहे थे और एक उचित एवं उपयुक्त समय की बाट जोह रहे थे।

सन् १५२६ ई० (१५८३ सं०) में बाबर ने हिन्द पर आक्रमण किया और इब्राहीम लोदी को, जो पठान-साम्राज्य का अंतिम बादशाह था, पानीपत के रणांगण में पराजित करके उत्तरीय भारत के साम्राज्य को अपने हाथ में ले लिया। बाबर ने दिल्ली की बादशाहत लेकर मुग़ल-साम्राज्य की, जो लगभग १८०० सन् तक ठहरा रहा, स्थापना की। बाबर के प्रथम तैमूरलंग ने दिल्ली पर आक्रमण करके पठान-साम्राज्य को नितान्त ही शक्ति-हीन एवं क्षीण कर दिया था। यदि वह चाहता तो अपना साम्राज्य यहाँ स्थापित कर लेता, किन्तु वह तो यहाँ केवल लूट मार करने ही के लिये आया था और अपना अभीष्ट पूर्ण करके चला गया था। उसके आक्रमण से हीन हुआ पठान-साम्राज्य बाबर के सामने न ठहर सका, साथ ही पठान-साम्राज्य को अपने आधीन राजपूत राजाओं से कुछ सहायता भी न मिली, क्योंकि राजपूत लोग पठानों से असंतुष्ट एवं रुष्ट होकर विरुद्ध ही से थे, और अपने अनुकूल समय को देखते थे। यही दशा देश की जनता की भी थी। इसी अवसर पर राजपूतों ने अपना मौक़ा

अच्छा समझा और बाबर से युद्ध करना निश्चित किया, क्योंकि उन्होंने यह देख ही लिया था, कि बाबर अभी ही अभी इब्राहीम से लड़ ही चुका है और इससे उसकी शक्ति बहुत कुछ कम हो गई है, अतः हम उससे लड़कर अपना देश फिर से प्राप्त कर सकते हैं। वास्तव में उनका यह सोचना कुछ असगंत एवं निर्मूल न था, किन्तु विधि ने जो विधान रचा था वह उनके इस विचार के विरुद्ध था। राणा साँगा जैसे वीर विक्रमी को मुग़लों से हार जाना पडा। यह थी केवल विधि-विधान की वक्रता और काल की कुटिल कराल-चाल कि राजपूतों का यह प्रयत्न निष्फल गया, और दिल्ली में मुग़ल-साम्राज्य की स्थापना हो गयी। मुग़ल-साम्राज्य स्थापित तो हो गया, किन्तु वह वास्तव में कुछ था नहीं, केवल दिल्ली और उसके आस पास का प्रदेश ही उसके अन्दर आता था। शेष भारत में कई छोटे छोटे हिन्दू एवं मुसलमान राज्य, जो पठानों के ही समय में उन्हीं की असावधानी एवं कमज़ोरी से बन गये थे, स्वतंत्र रूप में विद्यमान थे, अस्तु।

बाबर ने ४ ही वर्ष राज्य करके परलोक का रास्ता लिया और मुग़ल-राज्य की बागडोर अपने उस प्रिय पुत्र के हाथ में छोड़ गया, जिसके जीवन के लिये उसने अपने को मृत्यु की वेदी पर बलिदान किया था। हुमायूँ ने अपने मुग़ल-साम्राज्य को अपने पिता की आज्ञानुसार अपने भाइयों में बाँट कर और भी हीन एवं क्षीण सा कर दिया था। यह समय एवं दशा राजपूतों के लिये अच्छी थी, किन्तु वे अभी पूर्ण रूप से तैयार एवं शक्तिशाली न हो सके थे, अतः वे शान्त ही रहे। इसी बीच में सूरवंश के बादशाह शेरशाह ने, जो बंगाल में राज्य कर रहा था, हुमायूँ पर आक्रमण करके उसे पराजय के साथ दिल्ली से हटा दिया और सूर-साम्राज्य की सत्ता स्थापित कर दी, किन्तु उसके पश्चात्

सूरवंशीय अन्य बादशाह शक्तिहीन, अकर्मण्य एवं कायर हुये अतः वे अपना राज्य अपने हाथ में न रख सके। हुमायूँ ने अपनी शक्ति एवं सेना को पुनः एकत्रित करके सूर-सम्राट को पराजित कर अपना राज्य फिर प्राप्त कर लिया। बस इसी समय से मुग़ल-साम्राज्य की सत्ता सुदृढ़ रूप से स्थापित हुई। मुग़ल लोग केवल लूट मार ही न करना चाहते थे, वरन् सुदृढ़ होकर सुव्यवस्था के साथ यहाँ राज्य करना चाहते थे, अतः उन्होंने देश एवं जनता को पठानों, की भाँति न सताया, वरन् अकबर ने तो हिन्दू-जनता के हृदय में अपने सुन्दर राज्य से अच्छा स्थान भी प्राप्त कर लिया था। सूरवंश के नेता शेरशाह ने भी यह समझ लिया था कि यहाँ राज्य करने के लिये यह आवश्यक है कि हिन्दुओं की सहायता राज्य के कार्यों में ली जावे और उनको साथ रक्खा जावे, अतः उसने भी हिन्दुओं को अपने यहाँ उच्च पदों पर रक्खा था। ऐसा करने से हिन्दुओं में भी कुछ राजकीय शक्ति एवं योग्यता (क्षमता) की जागृति हो गई थी,इसी से उस समय जब अंतिम सूर बादशाह और हुमायूँ में युद्ध हो चुका, इन्होंने भी अपने राज्य को वापस लेने का एक बार फिर प्रयत्न किया और अकबर एवं बैरम ख़ाँ से उन्होंने कई युद्ध किये, किन्तु दैव-दुर्विपाक से सफलता न प्राप्त कर सके। इसके कई कारणों में से एक प्रधान कारण यह भी था कि देश की साधारण जनता राजनैतिक क्षेत्र से सर्वथा परे ही थी, अतः वह ऐसे युद्धादिकों के अवसरों पर नितान्त ही शान्त और मौन रह कर उनके अभीष्टानभीष्ट सभी प्रकार के फलों या परिणामों को देखती, उनके लिये तैयार होती तथा, भाग्यभरोसे बैठी रहती थी। देश में इसीसे कुछ भी राष्ट्रीय जागृति न रहती थी, अस्तु।

इस उक्त लेख से अब स्पष्ट हो गया होगा कि उत्तरीय भारत

में सन् १५५६ तथा उसके भी कुछ आगे तक शान्ति न थी, क्योंकि तनिक तनिक समयों के ही उपरान्त राजनैतिक परिस्थितियों में अशान्ति एवं क्रान्तिपूर्ण परिवर्तनों की भीषण हानिकारी तरंगें उठती रहती थीं। ऐसे समय में साहित्य की सुचारु वृद्धि एवं रचना सर्वथा दुस्साध्य ही थी, यदि वह पूर्णरूप से असाध्य न थी। हाँ, विपत्ति के समय में स्वभावतः ही हमें भगवान का स्मरण आता है और उसी के भजन में चित्त लगता तथा शान्ति-सुख पाता है। बस यही बात हमें अपने साहित्य के क्षेत्र में भी सर्वथा चरितार्थ होती हुई मिलती है। १४०० से १६०० तक के समय में या १४ वीं शताब्दी के मध्य से १६ वीं शताब्दी के मध्य तक का जो कुछ भी साहित्य हमें मिलता है, वह ईश्वर-प्रेम, भगवद्-भक्ति एवं भगवद्-भजन से ही भरा हुआ है। हाँ, यह अवश्य है कि इस समय इस प्रकार का साहित्य बहुत विस्तृत एवं वृहत् रूप में बना है, और अपनी बहुत बड़ी प्रधानता एवं प्रतिष्ठापूर्ण प्रतिभा रखता है, उसमें ज्ञान-गरिमा, एवं गंभीर-गुरुता भी है। इसका कारण यह है कि यद्यपि इस समय में देश की राजनैतिक परिस्थिति में बड़ा उद्वेलन एवं अशान्ति पूर्ण क्रान्तिकारी परिवर्तन होता रहा, तथापि उसका प्रभाव जनता पर बहुत विशेष रूप में इसलिये न पड़ा, क्योंकि उसका सम्बन्ध विशेषतया मुसलमान बादशाहों से ही रहता था। एक मुसलमान-साम्राज्य पराजित हो नष्ट होता था और दूसरा उसके स्थान पर स्थापित होता था, अतः इस प्रकार के राजनैतिक युद्धों एवं क्रान्तियों का प्रभाव प्रथम एवं विशेषतया मुसलमानों पर ही पड़ता था।

हिन्दू एवं मुसलमान कवि तथा धार्मिक नेता अपने अपने प्रचार-कार्य में अभी लगे ही हुये थे, हाँ मुसलमानों को अवश्य ही अपने धर्म-प्रचार के कार्य में कुछ क्या पर्याप्त रूप से शिथिल इस-

लिये ही हो जाना पड़ा था, चूँकि उन पर उक्त राजनैतिक श्रोत-प्रोत एवं अशान्ति पूर्ण परिवर्तन का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा करता था। हिन्दू लोग इन राजनैतिक गड़बडियों से बहुत कुछ दूर एवं अप्रभावित से रहते थे, वे यह समझते थे कि मुसलमान मुसलमान ही हैं, वे हिन्दुओं के प्रति कदापि सद्भाव न रक्खेंगे, चाहे जिस विशेष मुसलमान-वंश का साम्राज्य हो, वही हिन्दुओं के धन, धरा, धर्मादि का अपहरण किसी न किसी रूप में करेहीगा। इनसे दूर ही रहना उचित है और हिन्दू-जनता को, जो राजधर्म एवं राज-भाषा आदि से शीघ्र ही तथा विशेष रूप से सरलता के साथ प्रभावित हुई जाती है, हिन्दुत्व की छाया में रक्षित ही रखना चाहिये। धन और धरा तो गई और अभी जावेगी तो जावेगी, धर्म तो किसी प्रकार रक्षित रहे, वह तो किसी भी प्रकार न जाने पावे। इसी विचार से वे अपनी धार्मिक सत्ता को ख़ूब सुदृढ़ रूप से रक्षित रखने का प्रबल प्रयत्न कर रहे थे, और काव्य, संगीत तथा अन्य आकर्षक साधनों के द्वारा हिन्दू-धर्म का प्रचार कर रहे थे। इसी समय में भक्ति के उस प्रवाह को, जो दक्षिणीय भारत से उत्पन्न होकर उत्तर की ओर धीरे २ आ रहा था, अनुकूल परिस्थितियों से अच्छी शक्ति प्राप्त हो गई, और वह भक्ति-प्रवाह इस वेग के साथ प्रवाहित हुआ कि उससे उत्तरीय भारत की समस्त हिन्दू-जनता सर्वथा सुस्नानित हो गई, और उसके सम्पर्क में रहने वाले सहृदय मुसलमान भी उस भक्ति-सरिता में लहराने लगे और उसके प्रभाव से प्रभावित हो गये।

हम प्रथम ही कह चुके हैं कि इस समय हमारे राजपूत लोग अपनी शक्ति के बढ़ाने तथा अपने देश को परतंत्रता के बन्धन से विमुक्त करने के प्रयत्न में लगे थे। उन्होंने मुसलमानों से उनकी शक्ति-हीनता के समय में युद्ध भी किया, किन्तु दुर्भाग्यवश विजय-

लाभ न कर सके, यही कारण था कि हिन्दी में वह पूर्वकालीन जय-काव्य अथवा वीर-काव्य न रचा जा सका। पराजित जाति हतोत्साह होकर अपने वीरों का कीर्ति-कीर्तन कैसे कर सकती है।*

---

* संस्कृत-साहित्य का कार्य भी इस अशान्ति के समय में कुछ शिथिल हो गया था। हम देख चुके हैं कि ११४२ में हेमचन्द्र जी ने, जो गुजरात के विद्वान् थे, कुमारपाल चरित्र लिखा था। जैन लेखकों ने भी कुछ अपना धार्मिक साहित्य रचा था। सोमप्रभाचार्य ने कुमारपाल प्रतिबोध नामक एक उत्तम ग्रंथ ११८४ में लिखा था, और उसी प्रकार श्री प्रेमतुंगाचार्य ने १३०४ ई० में "प्रवंध चितामणि" नामक एक ग्रंथ रचा था। किन्तु इन सब ग्रंथों की भाषा या तो अपभ्रंश है या अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी के मध्य की भाषा है। अतः हम उन्हें हिन्दी-साहित्य के अन्दर नहीं रख सकते।

मिथिला, काश्मीर, महाराष्ट्र और बंगाल में संस्कृत के पठन, पाठन तथा अध्ययन का कार्य हो रहा था। यद्यपि इस भाषा में मौलिक ग्रंथ न रचे जाते थे, और यदि रचे भी जाते थे तो वे बहुत ही अल्प संख्या में थे।

१९ वीं शताब्दी में श्री विश्वनाथ जी ने अपनो 'साहित्य दर्पण' नामी ग्रंथ, पूर्वीय बंगाल में लिखा था, और जीमूतवाहन ने इसी शताब्दी में अपना एक स्मृति सम्बन्धी ग्रंथ 'धर्मरत्न' नाम से लिखा था।

१४ वीं शताब्दी या १३८७ में श्री सायणाचार्य ने वेद भाष्य की रचना की, और वाममार्ग का मार्ग चला दिया। इसी प्रकार और भी टीका-टिप्पणी सम्बन्धी ग्रंथ इस काल में लिखे गये।

यह भी स्पष्ट ही है कि यहाँ मुसलमान विद्वान भी आ बसे थे। उनके द्वारा फ़ारसी-साहित्य का प्रचार एवं प्रस्तार हो रहा था। मुसलमान लोग यहाँ की संस्कृत और हिन्दी भाषा का अध्ययन करने लगे थे और हिन्दू भी फ़ारसी (और कुछ अंश में अरवी भी) सीख रहे थे, क्योंकि वही राज-

राजनैतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाल चुकने के पश्चात् अब हम धार्मिक दशा का भी सूक्ष्म वर्णन यहाँ कर देना उचित समझते हैं क्योंकि साहित्य में इसी का इस काल में पूर्ण रूप से प्रबल प्राधान्य हुआ है, और इससे सम्बन्ध रखने वाला बहुत बड़ा साहित्य जो परम प्रशस्त, उच्च कोटि का एवं प्रौढ़ है, रचा गया है।

धार्मिक दशा

भारत की धार्मिक दशा इस समय अस्थिर दशा में थी। यह तो हम दिखला ही चुके है कि बौद्ध धर्म के अंतिम काल में धार्मिक आन्दोलन एवं परिवर्तन हो चुका था, बौद्धधर्म का विनाश तथा पौराणिक एवं वैदिक (कुछ रूपान्तर के साथ) धर्म के संचार और प्रचार का प्रारम्भ हो गया था। स्वामी शंकराचार्य के प्रभाव से शैव धर्म एवं वेदान्तवाद का सिक्का भारत में सुदृढ़ रूप से जम ही गया था। इस प्रकार धर्म के दो रूप हो गये थे, एक में तो दर्शन शास्त्रों (तर्क या न्यायमूलक वेदान्तवाद) की प्रधानता रहती थी, इसके अनुयायी विद्वान लोग होते थे, दूसरे में शैवोपासना एवं शैवभक्ति की प्रधानता रहती थी, इसमें ज्ञान की मात्रा बहुत ही कम रहती थी, और महत्ता दी जाती थी इसमें उपासना एवं अर्चना आदि की। इस शाखा की उत्पत्ति बौद्ध-

---

भाषा थी। इस प्रकार परस्पर दो भाषाओं, सभ्यताओं एवं साहित्यों का आदान-प्रदान एवं सम्पर्कय-सम्बन्ध हो चला था। मुसलमान संस्कृत के उत्तमोत्तम ग्रंथों के अनुवादों से फ़ारसी-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे थे, साथ ही वे लोग इतिहास भी लिख रहे थे। हिन्दी (खड़ी बोली) और उर्दू की उत्पत्ति तो हो रही थी, किन्तु अभी ये दोनों भाषायें अंकुरित ही सी हो रही थीं। प्रान्तीय भाषाओं में भी कुछ रचनायें यत्र-तत्र हो रही थीं, किन्तु वे उल्लेखनीय नहीं हैं।

धर्म के उस रूप की प्रतिद्वंदता एवं विरोध में की गई जान पड़ती है जिसे महायान मार्ग कहते हैं और जिसमें बुद्ध जी को अवतार के रूप में मान कर पूजा जाता है।

साधारण जनता में इसी शैव मत का प्रचार एवं प्रस्तार हो रहा था। यद्यपि पुराणों में अवतारवाद अथवा सगुण (साकार) उपासना का तत्व या सिद्धान्त पूर्णरूप से विद्यमान है, तथापि इसका प्रचार एवं विस्तार बौद्ध धर्म की महायान शाखा के ही समय से विशेषरूप में प्रारम्भ हुआ था, और इसी के विरोध में शैवोपासना के रूप में यह सगुणोपासना का प्राधान्य बौद्धेतर जनता में हो गया था।

बौद्ध धर्म तो भारत से नष्ट होकर दूर ही हो गया था, किन्तु उसका समकालीन जैन मत अभी चल रहा था, यद्यपि उसका क्षेत्र एवं उसकी सीमा आदि बहुत ही संकीर्ण रूप में थीं। जैन मतानुयायी विद्वानों ने अपना एक अच्छा साहित्य भी (जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन हिन्दी में है) तैयार कर लिया था और तैयार करते जा रहे थे। यह मत गुजरात तथा मारवाड़ आदि के निकटवर्ती प्रदेश में ही प्रचलित था।

शैव मत के उत्पन्न होने के कुछ ही काल के बाद कदाचित् शाक्त धर्म की भी उत्पत्ति हुई होगी ऐसा अनुमान होता है। इस मत का विशेष प्रचार एवं प्राधान्य बंगाल में ही हुआ था, और अब तक वहीं पर इसका विशेष प्रचार एवं प्राबल्य है। इस मत के कारण धर्म में देवी की उपासना भी आ गई और फिर इसी के आधार पर पुराणोक्त सभी देवियों की उपासनायें चल पड़ीं, लक्ष्मी-पूजा, राधिका-भक्ति, तथा सरस्वती-पूजा आदि कदाचित् इसी के आधार पर (इसी की देखादेखी) चल पड़ी है।

इसके पूर्व धर्म में स्त्रियों का कदाचित् कोई भी स्थान न था,

कोई भी शक्ति स्त्री के रूप में न पूजी जाती थी। इसी के पश्चात् गंगा, जमुना आदि नदियों को भी देवियों के रूप में पूजा जाना प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है। चूँकि धर्म का वह रूप जिसमें तर्क तथा ज्ञान का प्राधान्य था और जो गूढ़, गंभीर एवं कठिन विवेक-वाद (बुद्धिवाद) तथा योग से सम्बन्ध रखता था, उन पर आधारित था बहुत ही संकीर्ण रूप में हो केवल विद्वत्समाज में ही रहता था और साधारण जनता की पहुँच एवं समझ से परे था, इसीलिये साधारण जनता के धर्म में केवल विश्वास मूलक उपासना सम्बन्धी विधानों का ही प्राधान्य रक्खा गया था और इसी से साधारण जनता के धर्म में अधिक रूपान्तर, परि-वर्तन एवं पार्थक्य आ गया था। अस्तु, साधारण धर्म के भिन्न २ रूप या मार्ग हो चले थे।

श्री सायणाचार्य के पश्चात् ही कदाचित् वाममार्ग का अभ्युदय होता है। इसका भी भारत के वैदिक धर्म पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसी के साथ ही साथ मुसलमान धर्म का भी, जो १२ वीं शताब्दी से यहाँ आकर प्रचलित हो रहा था, और जिसका प्रचार-प्रस्तार शक्ति की सहायता से भी किया जा रहा था, बहुत बड़ा प्रभाव हमारे धर्म पर पड़ा था, यद्यपि मुसलमान धर्म भी हमारे वेदान्तवाद से प्रगाढ़ रूप में प्रभावित हो चुका तथा हो रहा था, और वह सूफी मत के रूप में उत्पन्न होकर चल रहा था।

पंजाब प्रान्त में मुसलमानों का गहरा प्रभाव एवं प्राबल्य था, इससे वहाँ के हिन्दुत्व में बड़ा रूपान्तर हो रहा था। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पंजाब प्रान्त की दशा बड़ी ही विलक्षण सी हो गई थी। पंजाब ही में मुसलमानों का धार्मिक आन्दोलन भी ज़ोरों से जारी था। परिस्थिति बड़ी ही गहन रूप को पहुँच रही

थी। इसी समय में वहाँ एक बहुत बड़े नेता का जन्म हुआ, इन महात्मा का शुभ नाम नानक जी था। इन्होंने अपने देश की धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों को ख़ूब समझ लिया था और उनके परिणामों का भी अनुमान अपनी प्रशस्त एवं सूक्ष्म दूरदर्शिता से कर लिया था। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि धार्मिक परिस्थिति एवं राजनैतिक स्थिति का सुधार तभी हो सकता है जब एक ऐसा धर्म-सूत्र रचा जाये जिसमें पंजाब प्रान्त की समस्त जाति सुदृढ़ रूप से बाँधी जा सके। इसी विचार से उन्होंने सिक्ख (शिष्य) नामी एक नवीन धर्म की रचना की। इस धर्म का मूल आधार तो हिन्दू धर्म ही है, किन्तु कुछ ऐसे भी सिद्धान्त इसमें सन्निहित हैं जो मुसलमानों के कट्टर विरोधी हैं और उनकी धार्मिक रूढ़ियों एवं उनके प्रवेगों को नाश करने वाले हैं। कुछ सिद्धान्त हिन्दू धर्म के भी बहुत कुछ विपरीत से हैं, किन्तु उन्हें उस रूप में रखने की उस समय महती आवश्यकता ही न थी वरन् उनको उस प्रकार प्रचलित करना अनिवार्य ही सा था। इस का एक मुख्य कारण यह भी था कि पंजाब में मुसलमानों के धर्म का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ चुका था, और पंजाब वालों को यदि कट्टर हिन्दू धर्म के अनुसार चलाया जाता तो वे कदाचित् उस के लिये तैयार न होते, यही विचार कर गुरु नानक साहब ने एक नया विधान रचा था। इस विधान में उन्होंने कुछ ऐसे नियम भी रक्खे थे जिनका रहना जाति को सैनिक बनाने में अत्यंत आवश्यक था। उस समय जाति एवं जनता को सैनिक बनाना भी आवश्यक था, अस्तु, सोलहवीं शताब्दी में सिक्ख धर्म भी प्रारम्भ होकर फैल चला, किन्तु वह पंजाब प्रान्त में ही सीमित रहा।

अब यह स्पष्ट है कि इस समय उत्तरीय भारत में निम्नांकित धर्म एवं संप्रदाय (पंथ) प्रचलित थे :—

१-पौराणिक एवं वैदिक धर्म-इसके मुख्य रूप यों थेः—

—दार्शनिक (निर्गुण एवं ज्ञान) धर्म (Highly Philosophical religion or Rational Religion) जो उच्च विद्वत्समाज में था।

२-पौराणिक—एवं साधारण धर्म जो साधारण जनता में प्रचलित था और जिसमें ज्ञान और तर्क (विवेकात्मक सिद्धान्त) का प्राधान्य न होकर भावनात्मक सिद्धान्तों तथा सामाजिक व्यवस्थात्मक उपयोगी नियमों का ही प्रधान आधार रहता था। इसमें सगुण उपासना एवं भक्ति का मुख्य स्थान था।

३-शैवधर्म—जो दो रूपों में था, एक में तो दार्शनिक ज्ञान का तथा दूसरे में शैव उपासना एवं भक्ति का प्राधान्य था। यह विशेषतया दक्षिण से चल कर बङ्गाल और युक्त प्रान्त के मध्य भाग में प्रचलित था।

४-शाक्तधर्म—इसमें शक्ति की उपासना तथा भक्ति का ही विशेष प्राधान्य था, यह बङ्गाल से ही विशेष रूप में चला और वहीं विशेषतया प्रचलित रहा।

इसमें ज्ञान एवं दार्शनिक विवेकवाद का कोई भी अंश मुख्य रूप में न था और यदि कुछ था भी तो बहुत सी सूक्ष्म एवं न्यून रूप में। हाँ इसमें पुराणवाद तथा सगुण-उपासना का अंश आधार रूप में अवश्य था। मूर्ति-पूजा, बलिदान आदि कृत्य इसमें प्रधान से थे।

५-वैष्णव धर्म—इसका मुख्य उद्देश्य दार्शनिक तथा शैव मत के विरोध रूप में था। शैव धर्म के समान इसके भी प्रथम रूप में दार्शनिक विवेकवाद का और दूसरे में उपासनावाद एवं भक्ति-सिद्धान्त का ही प्राधान्य रहता था। इस दूसरे रूप के

२ मुख्य उपरूप राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के नाम से प्रचलित एवं विकसित हो गये थे।

इसके प्रथम रूप में निर्गुणवाद का ही प्राधान्य था, और वह स्वामी शंकराचार्य जी के वेदान्तात्मक अद्वैतवाद के विरोध रूप या उसके विशिष्ट रूप में उठाया जाकर विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रचलित किया गया, फिर उसी के साथ द्वैतवाद एवं द्वैताद्वैत आदि की भिन्न २ शाखायें निकल पड़ीं। यह मत दक्षिण से चलकर बङ्गाल, विहार, और अवध में होता हुआ मथुरा (व्रज) तक पहुँचा, और फिर पंजाब की ओर न जाकर राजपूताना तथा गुजरात में पहुँच गया, क्योंकि गुजरात में इसको श्रीकृष्ण जी की द्वारिका नामी पवित्र नगरी का अच्छा स्थान प्राप्त हुआ। सिक्ख धर्म के वेग से इसको पंजाब में अच्छा स्थान न प्राप्त हो सका।

अब इन प्रधान मतों के साथ प्राचीन जैन धर्म भी चल रहा था, किन्तु उसमें न तो कोई विशेष शक्ति ही रह गई थी और न उसमें अब कोई विशेष आन्दोलनादि सम्बन्धी कार्य ही होता था। हाँ, कुछ लोग उसको लिये हुये चले आ रहे थे। बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त तो (Philosophical Side) उच्चकोटि के विद्वानों में और उसके कुछ साधारण प्रयोगात्मक सिद्धान्त अवश्य ही न्यूनाधिक रूप से जनता में चल रहे थे।

मुसलमान धर्म अपने दो रूपों में प्रबल वेग से चलता जा रहा था। एक रूप में तो वेदान्त का प्रभाव पड़ा था, अतः उसमें निर्गुण अद्वैतवाद, भक्ति और प्रेम के अंश प्रधान थे, और दूसरे में कट्टर कुरान-वाद के, जिसमें ईश्वर का सगुण रूप माना जाता है और इससे जिसमें सगुणवाद एवं उपासना का भी प्राधान्य था, तत्व मौजूद थे।

इसी के साथ मुसलमान धर्म का एक विचित्र रूप, जिसका सम्बन्ध एवं आधार राजनैतिक तथा सैनिक बातों पर निर्भर है और जिसमें हिन्दू-धर्म के विरोधी भावों एवं सिद्धान्तों का ही प्राबल्य है चलाया या फैलाया जा रहा था।

इन उक्त धर्मों के अतिरिक्त कुछ नये संप्रदाय एवं पंथ भी चल पड़े थे, जिनमें व्यक्तित्ववाद एवं व्यक्तिगत सिद्धान्तों का प्राधान्य या प्राबल्य रहता था। जिन व्यक्तियों ने इनको जन्म दिया था, उन्हीं के सिद्धान्तों एवं नियमों के आधार पर इनकी विधान-व्यवस्था रहती थी, और उन्हीं के नाम से प्रायः ये प्रख्यात भी होते थे। इनमें से प्रधान २ पंथ जो इस समय तक उठ चुके थे ये हैं:—

१. गोरख पंथ—यह एक उपासना एवं तांत्रिक वाद था, इसका सम्बन्ध योग से भी था और कर्मकांड तथा कुछ शारीरिक क्रियाओं का भी इसमें प्रधान स्थान था। हाँ इसमें विवेक एवं दार्शनिक धर्म का अंश कुछ भी न था। यह गोरखपुर और उसके आस पास ही बहुत संकीर्ण रूप में चल रहा था। इसका प्रचार-प्रस्तार विशेषतया साधुओं में (जो प्रायः अपढ़ ही होते थे और निम्नश्रेणी के लोग थे) ही रहता था। वाममार्ग का कुछ तत्व इसमें भी पाया जाता था, और इसका एक विशेष रूप जिसमें वाममार्ग की विशेषता रहती है, अघोर पंथ के नाम से चलने लगा था।

२. सिक्ख-संप्रदाय—जो पंजाब प्रान्त में गुरु नानक साहब के द्वारा प्रचलित किया गया था और हिन्दू-धर्म (पुराण-वाद) के आधार पर खड़ा होकर राजनैतिक और सैनिक

सिद्धान्तों की भी सहायता से विकसित हुआ था। इसमें सामाजिकता का भी अच्छा अंश था।

३. **कबीर पंथ**—इसे कबीर साहब (सं० १४४०-१५१८) ने चलाया था। इसका भी प्रचार प्रायः निम्न कोटि के अपढ़ लोगों में था और इसमें निर्गुणवाद का प्राधान्य था। इसका बहुत कुछ अंश गोरख पंथ से मिलता है। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के साधारण नियम पाये जाते हैं तथा विवेक-वाद का नितान्तमेव अभाव है। हाँ, योग-सम्बन्धी कुछ शारीरिक क्रियाओं तथा चारित्रिक बातों की विशेषता है।

आगे इन उक्त पंथों एवं संप्रदायों का विकास इतना हुआ कि इनसे अनेक संकीर्ण एवं छोटे २ पंथ भिन्न २ व्यक्तियों के द्वारा उठाये एवं प्रचलित किये गये और १७ वीं शताब्दी तक वे विकसित होकर विशेष वेग से चलने लगे। हाँ इनमें ध्यान देने योग्य तथा विशेषावलोकनीय बात यह थी कि इनका प्रचार प्रधानतया निम्न कक्षा के ही लोगों में हुआ जो अपढ़ और मूर्ख ही थे। इनके द्वारा जाति-पाँति का विचार कम हो गया, और चारित्रिक तथा ज्ञानात्मक उन्नति की गुरुता का नितान्तमेव अभाव सा हो गया, विवेकात्मक दार्शनिक उच्च सिद्धान्तों का इनमें कोई भी स्थान न था। ये सामाजिकता तथा व्यक्तित्व की ओर ही विशेष रूप से झुके हुये थे। इनमें हृद्गत भावनाओं को ही विशेष प्राधान्य दिया गया था और मुसलमानों के सिद्धान्तों का भी गाढ़ा प्रभाव इन पर पड़ा था। अंध विश्वास का प्रचार-प्राबल्य इन्हीं के कारण बढ़ गया, क्योंकि इनमें ज्ञान एवं विवेक का कोई भी अंश न रक्खा गया था।

प्रभावः—चूँकि ये पंथ सुव्यवस्थित एवं ज्ञान-पुष्ट न थे

अतः इनका प्रभाव जनता पर अच्छा न पड़ा। चारित्रिक अवनति के साथ ही साथ इनके कारण ज्ञानोन्नति को भी गहरा धक्का पहुँचा, और अज्ञानांधकार का प्रस्तार हो गया। अंध विश्वास के कारण (जो इनके द्वारा प्रोत्साहित होकर प्रबल हो गया था) अनेक प्रकार की कुत्सित बातें धर्म के पवित्र क्षेत्र में आ डटीं। जनता को अकर्मण्य बनाने में भी इन संप्रदायों की शिक्षाओं का बहुत बड़ा हाथ है—

"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका यह कहैं, सब को दाता राम॥"

आदि उपदेशों से देश को आलस्य ही में भाग्य के भरोसे पर बैठे रहने की शिक्षा मिली। उक्त पंथों के कारण यहाँ के सामाजिक-संचालन से सम्बन्ध रखने वाले व्यवस्था-विधान में एक अनीप्सित तथा दुष्परिणामप्रद ओत-प्रोत सा मच गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज का कार्य सुचारु रूप से सुव्यवस्था तथा संगठनात्मक विधि के साथ न चल सका। इसी से ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि में भी इतनी बाधा पहुँची कि उसकी गति का एक प्रकार से पूर्ण प्रतिरोध ही हो गया। इस प्रकार की अन्यान्य कई हानियों के होते हुये भी इन पंथों की प्रबल प्रवाह-गति के वेग से मुसलमान धर्म की प्रगति, जो बलपूर्वक तथा कट्टरता के साथ बढ़ाई जा रही थी, अवश्यमेव क्षीण एवं बलहीन सी हो गई।

यहाँ यह बात भी देख लेनी चाहिये कि इन उक्त पंथों एवं धर्मों का विशेष प्रभाव युक्तप्रान्त के ऊपर न पड़ सका, क्योंकि यही प्रदेश प्राचीन आर्य-धर्म, सभ्यता तथा ज्ञान का केन्द्र था, और इसके वायुमण्डल में वैदिक एवं पौराणिक सिद्धान्तों का विवेकात्मक ज्ञान इतना भरा हुआ था कि उसके नष्ट करने की

बात तो दूर रही, उसे दूर करने तथा कम करने की भी शक्ति किसी भी धार्मिक आन्दोलन में न थी। वैष्णवधर्म का प्रचार यहाँ इसीलिये विशेष रूप से हो सका, क्योंकि वैष्णव धर्म के दो प्रमुख अवतारों के लीला-क्षेत्र यहीं हैं और यहाँ प्रथम ही से उन दोनों अवतारों की भक्ति और श्रद्धा का अच्छा प्रचार था। साथ ही यह प्रदेश राजनैतिक गड़बड़ी से भी बहुत कुछ रक्षित एवं बचा हुआ रहता था, अस्तु।

इन उक्त बातों के साथ ही साथ हम यहाँ यह भी सूचित कर देना समीचीन समझते हैं कि उक्त धर्मों अथवा मतों में से केवल वैष्णव (राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी संप्रदाय) धर्म का ही स्थान हमारे हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में प्रधान है, उसी के आधार पर हमारे धार्मिक काल के हिन्दी-साहित्य का बहुत बड़ा भाग रचा गया है और उसी से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य उच्च कोटि का, प्रौढ़, कला-कौशल पूर्ण, विदग्ध एवं सत्काव्य है। उसी के क्षेत्र में हिन्दी के सूर (सूर्य) और तुलसी जैसे महात्माओं तथा केशव, देव, विहारी, भूषण और मतिराम जैसे महा कवि एवं आचार्य हुये हैं।

कबीर पंथ के प्रधान प्रवर्तक महात्मा कबीरदास ने भी अपनी उम्दा उक्तियों से हिन्दी-साहित्य को गौरव दिया है किन्तु उनका काव्य सत्काव्य से कुछ घट कर ही है, कारण यह है कि कबीर-दास ने उसकी रचना केवल मुख से कह कर ही की है, और चूँकि वे स्वयमेव एक विद्वान तथा काव्यकला-कुशल कवि न थे, अतः उनके काव्य में भाषा, काव्य एवं छंद सम्बन्धी दोष बहुत से आ गये हैं। हाँ उसमें भावों की चारुता अवश्यमेव पाई जाती है। कबीर पंथ के अन्य महात्माओं के द्वारा हिन्दी-साहित्य (काव्य-साहित्य) का कोई विशेष उपकार एवं परिवर्धन नहीं हुआ।

कुछ संतों ने अवश्य ही कुछ साखी, दोहे आदि लिखे हैं, किन्तु उन सब के समुच्चय को सत्काव्य में कदापि नहीं लिया जा सकता और न अब तक लिया ही गया है।

मुसलमान फ़क़ीरों तथा कवियों ने भी अपने धार्मिक सिद्धान्तों को हिन्दू-सिद्धान्तों के साथ चतुरता से रखते हुये तथा प्रेम-पूरित कथाओं को उठाते हुये हिन्दी-साहित्य का कुछ कार्य किया है, किन्तु उसमें धार्मिकता की पुट बहुत ही न्यूनांश एवं गौण रूप में है, अतः वह यहाँ विचारणीय नहीं।

इन सब के अतिरिक्त गुरू नानक तथा गुजरात प्रान्त के कुछ महात्माओं एवं कवियों ने भी हिन्दी-साहित्य का उपकार किया है, किन्तु उसका स्थान कुछ विशेष कोटि का नहीं है।

यहाँ यह और कह देना उचित जान पड़ता है कि इस धार्मिक आन्दोलन से हिन्दी की दो शाखाओं की अच्छी उन्नति हुई। ब्रज-भाषा को प्रौढ़ एवं उच्च कोटि की सत्साहित्यिक भाषा के रूप में आने का अच्छा अवसर एवं सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसी प्रकार अवधी भाषा को भी साहित्यिक रूप और साहित्य में स्थान प्राप्त हो गया। प्राधान्य यदि किसी भाषा को साहित्य-क्षेत्र में मान, सम्मान एवं गौरव के साथ मिला तो केवल ब्रजभाषा को ही। हाँ यह अवश्य हुआ कि ब्रज भाषा विकसित एवं विस्तृत रूप में प्रचलित होती हुई कई शैलियों में विभक्त हो गई। उठी तो वह ब्रज की बोली से किन्तु बढ़ती हुई वह जिस जिस प्रान्त में पहुँची उसी उसी प्रान्त की बोली से कुछ कुछ प्रभावित होती गई, और कुछ समय तक इसी प्रकार अनिश्चित दशा में चलती रही। ब्रज से निकल कर इसने अपना पैर दो ओर विशेष रूप से बढ़ाया, एक तो पश्चिम की ओर राजपूताने में, जहाँ यह पिंगल नाम से साहित्यिक भाषा हो गई और अपने में राजपूताने की भाषा के

रूपों को रख कर एक विशेष रूप में हो गई। दूसरे पूर्व की ओर बढ़ कर इसने अपने भिन्न २ रूप कर लिये और समस्त प्रान्त के साहित्य-क्षेत्र मे व्यापक रूप से फैल गई, केवल अवध प्रान्त में, जहाँ अवधी के विकसित रूप का साम्राज्य था, यह न प्रचलित हो सकी, हाँ इसने अपने प्रभाव से अवधी को कुछ प्रभावित अवश्य किया और स्वतः भी उससे कुछ प्रभावित हुई।

इसने उत्तर की ओर चल कर फ़ारसी से मिल अपना रूप उर्दू का बना लिया, और फिर विकसित होकर वहाँ से खड़ी बोली के रूप में फिर आगे बढ़ी। इसी प्रकार इसने दक्षिण की ओर भी अपना पैर बढ़ाया और बुंदेली भाषा को कुछ प्रभावित होकर उसे अपने में मिला लिया।

इस प्रकार यह समस्त उत्तरीय भारत की सम्मान-प्राप्त एवं मान्य साहित्यिक भाषा हो गई*। अवधी को भी साहित्यिक रूप एवं गौरव प्राप्त हुआ था, किन्तु उसका विकास-प्रकाश इतना अधिक न हो सका जितना व्रज भाषा का। अस्तु, इस प्रसंग को हम यहीं छोड़ कर आगे बढ़ते हैं क्योंकि इसे हम अभी आगे और स्पष्ट करेंगे।

उक्त लेख से हमारे पाठकों को इस मध्य काल की धार्मिक दशा का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो गया होगा, यद्यपि वह सूक्ष्म रूप में ही यहाँ विस्तार-भय से दिया गया है। यहाँ हमने केवल उन्हीं बातों को दिखलाना उचित एवं उपयुक्त समझा है जिनका सम्बन्ध हमारे साहित्य से विशेष रूप में है। अब हम यहाँ सूक्ष्म-रूप से कुछ सामाजिक तथा उन दशाओं का भी वर्णन कर देना

---

* व्रज भाषा के विशेष विवरण को देखने के लिये देखिये हमारा "व्रजभाषा-पीयूष" नामी ग्रंथ।

चाहते हैं जिनका सम्बन्ध हमारे हिन्दी-साहित्य से है और जिनका प्रभाव किसी रूप में हमारी जनता की रुचि-परम्परा तथा विचार-धारा पर पड़ा है, इसके पश्चात् हम वैष्णव-धर्म तथा भक्ति-मार्ग पर भी कुछ आवश्यक प्रकाश डालते हुये अपने धार्मिक काव्य की विवेचना करने का प्रयत्न करेंगे।

सामाजिक दशा

वाम मार्ग का जो बौद्ध धर्म से भी पूर्व का धर्म है, प्रभाव समाज पर बहुत प्रगाढ़ रूप में पड़ चुका था और पड़ भी रहा था। बौद्ध धर्म का भी प्रभाव यहाँ की सामाजिक दशा एवं अवस्था पर इतना पडा कि एक प्रकार से समाज परिवर्तित सी ही हो गई। बौद्धों के बहिष्कार तथा उनसे अपनी समाज की स्वतंत्र सत्ता एवं महत्ता के रक्षित रखने के लिये समाज के नेताओं ने कतिपय ऐसे नियमोपनियमों की कल्पना कर दी थी, जिनके कारण समाज में संकीर्णता आ गई। सामाजिक विकास भी इस समय तक विशेष रूप में हो चुका था, और विकासवाद के अनुसार समाज भिन्न भिन्न शाखाओं एवं जातियों में विभक्त होकर आङ्गिक वृद्धि की ओर झुक गई थी। शैव एवं शाक्त आदि धर्मों का भी कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा था जिससे समाज की विधान से व्यवस्था में परिवर्तन हो रहा था।

मुसलमानों के आने के उपरान्त तो समाज में बहुत ही विशाल परिवर्तन हुआ, और उस परिवर्तन का होना अति आवश्यक एवं अनिवार्य सा ठहरा। बाल-विवाह, सती, उच्चता, नीचता एवं छूत-पाक के विचार या नियम प्रचलित हो गये थे। इनका प्रचार सकारण ही था। हिन्दुओं को अपनी सामाजिक स्वतंत्रता

एवं सत्ता-महत्ता की रक्षा विदेशीय मुसलमानों से करनी ही थी, अतः उन्हें ऐसे नियमों को प्रचलित करना अनिवार्य ही था जिनसे उनकी सामाजिक स्वतंत्रता विनष्ट न हो सके। यद्यपि कुछ चारित्रिक अवनति, अशान्ति एवं सुदृढ़ सुव्यवस्थित साम्राज्य की अविद्यमानता के कारण अवश्य हो गई थी किन्तु तौ भी अभी चारित्रिक उन्नति की ओर समस्त जनता का ध्यान लगा ही रहता था और लोग सच्चरित्र ही होने का प्रयत्न करते थे।

बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से जनता में अहिंसा का इतना प्रचार हो गया था कि देश एवं समाज से सैनिक-वीरता का भी अभाव ही सा हो गया था।

मुसलमानों से पराजित एवं परतंत्र होकर हिन्दू जनता को वलात् अपने कतिपय नियम तोड़ और मरोड़ डालने पड़े थे। पीर-पूजा एवं ताज़िया-पूजा आदि का कुछ २ संचार हो चला था। इन्हीं सब अनीप्सित वातों से समाज को वचाने के लिये हिन्दुओं को कतिपय नवीन देवों, देवियों एवं पूर्व प्रभूत वीरों की पूजा तथा अन्य ऐसे ही उपचारों की कल्पना करनी पड़ी थी।

कुछ उदार हिन्दू और मुसलमान ऐसे भी थे जो पारस्परिक सहानुभूति की जागृति कराते हुये विचार-विनिमय कर दोनों जातियों को एक ही स्नेह-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करते थे।

मुसलमानों के कारण स्वामी-दासत्व का भाव बढ़ रहा था, साथ ही स्त्री-समाज की रक्षा के विचार से उसकी स्वतंत्रता का कुछ अंश अपहृत भी हो गया था, पर्दा-प्रथा तथा ऐसी ही अन्य प्रथायें चल पड़ी थीं। इस समय सामाजिक दंड-विधान भी प्रवलता के साथ चल रहा था और सामाजिक मामलों को सुलझाने के लिये सामाजिक पंचायतें रहती थीं, ये ठीक उसी प्रकार की थीं जिस प्रकार की अन्य अपराधों के लिये गाँवों में साधारण

पंचायतें रहती थीं। जनता अपना न्याय मुसलमानों से न कराती थी, क्योंकि वे यहाँ के न्याय-विधान से अनभिज्ञ थे और उसे मानते भी न थे। साथ ही मुसलमान बादशाह तथा उनके गवर्नर आदि ग्रामों और नगरों के मामलों को न्यायानुकूल सुलझाने में अक्षम थे, वे हिन्दुओं को सताते थे, उनके मामलों को न्यायानुकूल देखना तथा सुलझाना तो बहुत दूर था। सामाजिक सत्ता तथा महत्ता को स्वतंत्र और सुदृढ़ रूप से सुरक्षित रखने के लिये कड़े नियमोपनियमों का विधान रक्खा गया था, सामाजिक वहिष्कारादि के दंड नियत कर दिये गये थे।

उपजातियों का वर्गीकरण इस समय कतिपय कारणों से लोगों के व्यवसाय, व्यापार एवं स्थानादि के आधार पर हो गया तथा हो रहा था। इसी के साथ ही साथ उनके कुछ सामाजिक नियमोपनियम भी पृथक् हो रहे थे, कतिपय विशिष्ट प्रथायें भी देश-काल तथा परिस्थितियों के कारण चला दी गई थीं।

भाषा एवं साहित्य की दशाः—उक्त कारणों तथा बातों से जनता की विचार-परम्परा तथा रुचि में अच्छा परिवर्तन हो गया था, इसीसे इनसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य सभी विषयों में भी परिवर्तन हो रहा था। इस समय दो भिन्न सभ्यता-शाखायें, तथा विचार-धारायें सम्पर्क में आ चुकी थीं, दो भिन्न २ भाषायें तथा उनके साहित्यों का सम्बन्ध-सूत्र बन रहा था। ऐसी दशा में देश की भाषा तथा उसके साहित्य में परिवर्तन का कुछ न कुछ होना अनिवार्य ही था। हिन्दी भाषा तथा हिन्दी-साहित्य पर फ़ारसी भाषा तथा उसके साहित्य का प्रभाव पड़ रहा था और फ़ारसी भाषा तथा उसके साहित्य पर हिन्दी भाषा और

उसके साहित्य का प्रभाव पड़ रहा था। यह अवश्य था कि हिन्दू लोग इस बात का कुछ प्रयत्न करते थे कि उनकी भाषा तथा उनके साहित्य पर फ़ारसी भाषा तथा उसके साहित्य का प्रभाव न पड़ सके, क्योंकि यदि ऐसा हो जावेगा तो हिन्दुओं की स्वतंत्र सत्ता न रह सकेगी। भाषा और साहित्य ही किसी जाति की ऐसी संपत्ति है जिसका यदि स्वतंत्र अस्तित्व न रह गया तो उस जाति की भी स्वतंत्र सामाजिक सत्ता कभी न कभी अवश्य ही न रह जायेगी। इसी विचार से "न वदेत् यावनीम् भाषाम् न गच्छेत् यवन-मन्दिरम्" इस प्रकार के नियम बना दिये गये थे। हिन्दी भाषा (व संस्कृत) तथा उसके साहित्य का प्रभाव मुसलमानों पर तथा उनकी भाषा फ़ारसी व तत्साहित्य पर अवश्य ही पड़ रहा था, और इसे मुसलमान लोग बचा भी न सकते थे, क्योंकि उनका कार्य बिना हिन्दी के, जो देश की भाषा थी, चल ही न सकता था। तुकान्त शायरी हमारे हिन्दी के अन्तानुप्रास या तुक के ही प्रभाव का फल था*। संस्कृत के कितने ही प्रशस्त ग्रंथों का अनुवाद फ़ारसी में हो रहा था और इस प्रकार फ़ारसी के साहित्य पर संस्कृत एवं हिन्दी का पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा था। सूफ़ी मत का विकास हमारे वेदान्त के ही प्रभाव का फल है।

व्रज भाषा के प्रभाव से प्रभावित होकर मुसलमानों ने रेख़ता तथा उर्दू भाषा को जन्म दे दिया था तथा उनका विकास कर रहे थे। व्रज भाषा में भी फ़ारसी के बहुत से शब्द आ गये थे, और उनका प्रयोग साहित्य में भी हो चला था। मुसलमान कवि एवं लेखक ने फ़ारसी की शैलियों तथा उसके साहित्य

---

* फ़ारसी में भी तुकान्त कविता होती है, किन्तु बहुत संकीर्ण रूप में।

की विचार-परम्परा का समावेश हिन्दी में कर रहे थे। प्रेम-गाथाओं की रचनाओं से वे हिन्दी-साहित्य में एक नवीन काव्य-पद्धति का संचार कर रहे थे। हिन्दी-काव्य के अलंकार एवं पिंगल आदि का भी प्रभाव उर्दू-काव्य में पर्याप्त रूप से पड़ रहा था। अस्तु, सारांश यह है कि इस समय भाषा तथा उसके साहित्य में परिवर्तन या रूपान्तर हो रहा था। इस विषय पर अभी चूँकि हम आगे और यथास्थान एवं यथावश्यकता प्रकाश डालते जावेंगे इसलिये यहाँ यह सूक्ष्म वर्णन ही देकर हम आगे बढ़ते हैं और अपने ग्रहीत विषय को स्पष्ट करने के लिये वैष्णव धर्म तथा राम और कृष्ण-काव्य पर प्रकाश डालते हैं।

वैष्णवमत और उसका ऐतिहासिक विवेचन

प्रारम्भकाल:—भारत के प्राचीन इतिहास का ठीक २ पता हमें इस समय नहीं चल रहा। राजनैतिक इतिहास का तो कुछ पता चलता भी है, किन्तु अन्य प्रकार की धार्मिक दशाओं आदि का परिचय हमें नहीं प्राप्त होता, क्योंकि धर्मादि सम्बन्धी इतिहास-ग्रंथों का हमारे यहाँ अभाव ही है। जो कुछ भी हमें इन विषयों के सम्बन्ध में ज्ञात होता है वह प्रायः अनुमान पर ही निर्भर है, पुरातत्वान्वेषण तथा इसी प्रकार के अन्य साधनों के सहारे से हम कुछ प्राचीन सभ्यता एवं धर्मादि का ज्ञान कर पाते हैं।

: वैष्णवधर्म का कब जन्म हुआ, उसके जन्म-दाता कौन महात्मा थे, किस प्रकार उन्होंने इसे उठाया और आगे चलाया, इन प्रश्नों के उत्तर हमें पूर्ण रूप में नहीं प्राप्त हो रहे। ये सब बातें निश्चित न होकर एक प्रकार से संदिग्ध ही सी हैं। जो

कुछ भी हमें खोज करने से ज्ञात हो सकता है उसका मूल सारांश यह है कि वैष्णव धर्म ईसवी शताब्दी से लगभग ५०० या इससे भी अधिक वर्षों से प्रारम्भ हुआ था। इसका आधार किसी एक विशेष सिद्धान्त या विचार-धारा पर नहीं है, यदि रहा भी हो तो हमें उसका निश्चित रूप से पता नहीं। जहाँ तक ज्ञात हो सका है वैष्णव धर्म में कई धर्मों के तत्वों एवं उनकी विचार-धाराओं का सामंजस्य है।

प्रथम यहाँ दार्शनिक अथवा तर्कात्मक विवेकवाद का प्राधान्य था. और उपनिषद तथा षट्दर्शनों के प्रभाव से सगुण एवं साकारवाद की प्रधानता न थी। यह अवश्य था कि कुछ समय से अथर्ववेद के कारण तांत्रिक धर्म तथा उपासना-विधान का प्रचार हो चला था, किन्तु वह था गौण रूप में ही। बौद्ध धर्म की द्वितीय शाखा के, जिसे हीनयान शाखा कहते हैं, अनुसार बुद्ध जी को ईश्वर का अवतार मान लिया गया, जिससे साकार एवं सगुणवाद को विशेष प्रोत्साहन और बल प्राप्त हो गया। कदाचित् इसी के अनुकरण-रूप में तथा बौद्ध धर्म की इस शाखा की प्रतिद्वंदता के लिये उत्तरीय भारत में साकार एवं सगुण सिद्धान्तों का प्रचार-प्रस्तार हुआ और कदाचित् इसी के आधार पर मूर्तिपूजा का भी प्रचार किया गया। अथर्ववेद से उपासना तथा सामवेद से अर्चना-विधानादि की व्यवस्था का प्रचार हो गया।

खोज से पता चलता है कि लगभग ४०० वर्ष पूर्व ईसा के एक वासुदेव सम्प्रदाय पश्चिमीय मध्य भारत में चलने लगा था। यह कदाचित् बौद्ध और जैन धर्म के समानान्तर चलता था और अवतारवाद के ऊपर समाधारित था। बुद्ध और महावीर के समान इसके वासुदेव नामी प्रवर्तक को ही ईश्वरावतार मान

लिया गया था। यह महात्मा कान्हायन गोत्रीय होकर कृष्ण के वंश से सम्बन्ध रखते थे। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यह कृष्ण हमारे वृष्णी कुलोद्भव द्वारकेश कृष्ण न थे, वरन् ऋग्वेद में उल्लिखित एक महात्मा थे।

वासुदेव संप्रदाय में वासुदेव की पूजा होने लगी और ऋग्वेदोल्लिखित कृष्ण के समान इन्हें भी एक अवतार मान लिया गया।

इसी समय एक दूसरा सम्प्रदाय भी चल रहा था, जिसमें भी अवतारवाद की प्रधानता थी और ईश्वर को नारायण या हरि के रूप में मान कर पूजा जाता था। इसका सूत्रपात पित्रशिखंडिन नामी महात्मा के द्वारा किया गया था।

महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत नारायणीय अध्याय में इनका कुछ संकेत पाया जाता है और यह ज्ञात होता है कि नारायण की आराधना भक्ति के साथ ही होनी चाहिये। यही एक नवीन तत्व था जो उक्त सम्प्रदाय में आ गया था। सम्भवतः स्वामी रामानुज जी पर इसी का कुछ प्रभाव पड़ा था क्योंकि वे भी नारायणोपासना पर बल देते हैं। इसमें भी बौद्धों के प्रभाव से अहिंसा का प्राधान्य सा था, और हिंसायुक्त बलि तथा अन्य ऐसे ही कर्मकांड का अभाव रखा गया था। इसका केन्द्र कदाचित् मथुरा प्रान्त के ही निकट था। इसी से सम्भव है कि वहाँ कृष्ण-भक्ति की लतिका सुचारु रूप से पुष्पित, पल्लवित एवं सुफलप्रद हुई है।

कुछ समय में उक्त दोनों सम्प्रदायों का सामंजस्य करके एक ही सम्प्रदाय कर दिया गया और नारायण, हरि, वासुदेव एवं कृष्ण को ईश्वर के ही भिन्न २ नाम और रूप मान लिये गये।

ऐसा भी ज्ञात होता है कि लगभग २०० वर्ष पूर्व ईसा के

विष्णु-पूजा का प्रचार हो गया था। वेद-वर्णित विष्णु को ही सर्वेश्वर मान लिया गया था। पुराण में तो विष्णु को ही पूर्ण रूप से प्रधानता दे दी गई है और हरि, नारायण, वासुदेव आदि को इन्हीं का अवतार कहा गया है। इस प्रकार उक्त सभी सम्प्रदाय आगे चलकर एक ही मुख्य संप्रदाय के रूप में हो जाते हैं।

मथुरा के निकट लगभग २०० वर्ष ई० के एक आभीर या अहीर जाति थी, जो विदेशीय ही थी, इसमें गोपाल कृष्ण (गाय के परिपालक कृष्ण) की पूजा होती थी। इसका सम्बन्ध उक्त नारायण एवं हरि सम्प्रदाय से न था। हाँ, आगे चलकर इसको भी विष्णु-सम्प्रदाय में रख दिया गया और कृष्ण को भी विष्णु का एक विशिष्ट रूप मान लिया गया।

हरिवंश पुराण में इसकी प्रधानता दिखलाई गई है और सबों को एक ही विष्णु भगवान का अवतार कहा गया है। इसी २०० ई० के निकट तक ६ अवतार हो गये और सब में विष्णु एवं नारायण को प्रधानता दे दी गई। इस प्रकार के वैष्णव धर्म का प्राधान्य-प्रचार लगभग १०० ई० के पश्चिमीय युक्त प्रान्त में हो गया था, यहीं से यह किसी प्रकार दक्षिण भारत में पहुँच गया। उत्तरीय भारत में ६०० वर्ष पूर्व ई० से लेकर २०० ई० तक वैष्णव धर्म उक्त रूपान्तरों के साथ विकसित हुआ है। इसके पश्चात् इसका विकास यहाँ बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रबल आन्दोलनों के सामने शिथिल होकर रुक सा गया। हाँ अपने नवीन प्रान्त अर्थात् दक्षिणाय भारत में यह क्रमशः उत्तरोत्तर विकसित हो चला।

लगभग २०० ई० में मदूरा प्रान्त के निकट वृष्णी जाति के कुछ व्यक्ति वैष्णव धर्म को लेकर बस गये और वहीं उन्होंने अपना एक

छोटा सा राज्य भी स्थापित कर लिया। दक्षिणीय भारत में की गई खोज से यह पता चलता है कि लगभग ४०० या ५०० ई० में तामील देश के कुछ संतों ने एक संघ बनाया जिसमें विष्णु-भक्ति से सम्बन्ध रखने वाला कुछ साहित्य, जिसमें संगीत का ही प्राधान्य था, रचा गया। इस संत-संघ का केन्द्र आडवार में था और नारायण तथा विष्णु को सर्वेश्वर मानते तथा उन्हीं के भक्ति-भजन में ये संत लीन रहते थे। इनमें भावों तथा भावनाओं का ही प्राधान्य था। अतः इनकी उपासना या भक्ति में भाव (Sentiments or Emotions) तथा रागात्मक तत्व का ही विशेष महत्व था।

लगभग १००० ई० के दक्षिणीय भारत में एक दूसरा ऐसाही संघ संन्यासियों का तैयार हुआ, जिसमें उत्तरीय भारत के वेदान्तानुयायी संन्यासियों के दार्शनिक विवेकवाद का ही मानना प्राधान्य था और जो निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म को ही प्रधान था। हाँ, इन संन्यासियों में विष्णु की भी महत्ता एवं सत्ता मानी जाती थी। ये लोग अद्वैतवाद और मायावाद के पक्ष में न थे। इसलिये जब अद्वैतवाद का आक्रमण इन पर हुआ तब इन्होंने उसके विरोध में अपना आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। शंकर स्वामी के इस प्रकार ४ प्रतिद्वंदी उठ चले, जो भक्त होते हुए भी (वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुये भी) दार्शनिक तत्ववेत्ता थे। ये चारों प्रमुख महात्मा थे (१) रामानुजाचार्य (२) माधवाचार्य (३) निम्बार्क और (४) विष्णुस्वामी। वेदान्त का आधार लेकर ये चारो महात्मा अद्वैतवाद (मायावाद) के सामने उठे। चूँकि अद्वैतवाद का आधार वेदान्त था, इसीलिये इन्होंने भी वेदान्त का सहारा लिया और उस पर अपने विचित्र दार्शनिक भाव के साथ स्वतंत्र टीकायें भी लिखीं। केरल प्रान्त-वासी श्री

स्वामी शंकराचार्य के समान ये लोग भी अपने मत (विशिष्टाद्वैत) के प्रचारार्थ उत्तरीय भारत में आ गये थे।

श्री रामानुजाचार्य (सं० १०७२) के मत का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है कि आप के मतानुसार ब्रह्म एक होकर भी अपनी इच्छा से साकार एवं सगुण रूप धारण कर अवतार ग्रहण करता है। ब्रह्म में चित् (जीव या आत्मा) और अचित् (शरीर या प्रकृति) दोनों की सत्ता है तथा माया की भी स्थिति इन्हीं के साथ है। इस प्रकार आप का सिद्धान्त वेदान्तान्तर्गत ब्रह्मवाद का विकसित एवं विवर्धित रूप ही है। अद्वैतवाद तो आप के मत का आधार-भूत सिद्धान्त है ही, किन्तु उसमें आगे कुछ विशेषता भी कर दी गई है, इसी से इसे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त कहा गया है। ब्रह्म ही का रूपान्तर होकर ईश्वर, चित् (आत्मा) और अचित् अथवा प्रकृति का अस्तित्व उत्पन्न होता है। ब्रह्म एवं ईश्वर के अनेक रूपों की अपेक्षा नारायण का उपरूप ही सर्व-प्रधान है, अतः नारायण ही उपास्य एवं इष्ट देव हैं, उनकी शक्तिरूपासहयोगिनी लक्ष्मी जो हैं। नारायण ही के वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध आदि उपरूप हैं। इस प्रकार आपके अनुसार वासुदेव सम्प्रदाय भी आप के मत का एक उपरूप मात्र है।

ईश्वर के अन्य रूपों में १० अवतार या रूप जैसे रामावतार एवं कृष्णावतार आदि भी आ जाते हैं।

ईश्वर की व्यापकता सब कहीं है, वह प्रत्येक मानस में विराजमान है और यों अन्तर्यामी होकर वह अपने भक्त योगियों को प्रत्यक्षीभूत भी होता है। सर्वव्यापी एवं विभु होकर वह अपनी साकारता एवं सगुणरूपता से मूर्तिमय भी होता है, अतएव उसकी मूर्ति भी आराध्य, उपास्य एवं सेव्य है। ईश्वर की ऐसी ही मूल व्याख्या के साथ ही साथ आपने जीवात्मा की

भी व्याख्या की है, जिसका निष्कर्ष यह है कि आत्मा के ३ रूप होते हैं:—१—वह रूप जो संसार के माया-मोह से सब प्रकार बद्ध रहता है और इसीलिये स्वतंत्र न रह कर बद्ध कहलाता है। २—वह रूप जो लौकिक विकारादि से पृथक् एवं परे होकर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त हो स्वतंत्र हो जाता है, और इसी से उसे मुक्त कहते हैं। ३—आत्मा का वह शाश्वत एवं चैतन्य स्वरूप जो अपने सत्य रूप में रह कर आनन्दमय रहता है, और इसीसे सच्चिदानन्द होता हुआ नित्य कहा जाता है। प्रथम दो दशाओं में तो आत्मा को जीवन-मरण अथवा जन्म-मृत्यु की जालिका में रहना पड़ता है, किन्तु तृतीय दशा में वह पूर्ण स्वतंत्र होकर जन्म और मरण से परे रहता है, हाँ अपनी इच्छा से अवतार ग्रहण कर सकता एवं करता है। आत्मा के इसी सर्वोच्च रूप को परमात्मा या ईश्वर कहते हैं। इस रूप के ३ प्रधान एवं विशेष उपरूप होते हैं, जिन्हें ब्रह्मा (उत्पत्तिकारक) विष्णु (परिपोषक) और शंकर (नाशकारक) कहते हैं।

बद्ध आत्मा की दो मुख्य दशायें होती हैं १—चैतन्य और २—अचैतन्य : चैतन्यावस्था में उसके दो प्रधान अभीष्ट उद्देश्य रहते हैं १—धर्मार्थ एवं काम की प्राप्ति करना तथा २—मोक्ष की प्राप्ति करना। इनमें से प्रथम में शारीरिक एवं लौकिक सौख्य की और द्वितीय में मानसिक और अलौकिक सौख्य (शान्ति-पूर्ण आनन्द) की प्रधानता रहती है।

द्वितीय प्रकार के आनन्द की प्राप्ति भक्ति से ही हो सकती है, हाँ वह भक्ति हो उस नारायण की ओर जो सत्यं, शिवं, सुन्दरं तथा सत्य, ज्ञान और आनन्द का स्वरूप है। भक्ति के साथ ही उपासना और ध्यान का भी होना आवश्यक है। अब भक्ति के लिये पूजा, उपासना आदि के साथ ही साथ निष्काम कर्म (फल की

इच्छा के बिना कर्म करना) के भाव को प्रधान होना चाहिये और इस प्रकार उसमें कर्मयोग को भी विशेष या पूर्ण मात्रा होनी चाहिये। इसके द्वारा उस ज्ञान-योग का मार्ग खुल जाता है, जिसमें पहुँच कर आत्मा प्रकृति से पूर्णतया परे होकर ब्रह्म के ही एक रूप में रूपान्तरित हो जाती है। ऐसा होने के साथ ही भक्ति-योग की प्रधानता प्रतिभात होने लगती है और फिर ब्रह्म के साथ एक-रूपता एवं आत्मीयता के ज्ञात होने से उसकी अविरल एवं निरंतर धारणा रहती है। इस प्रकार आपने भक्ति-योग को प्रधानता दी है और ब्रह्म को साकार एवं सगुण दिखला कर अद्वैतवाद के अन्दर विशेषता उत्पन्न कर दी है। आपके प्रभाव से उत्तरीय भारत में साकार एवं सगुणात्मक अवतारवाद को प्रबलता एवं प्रधानता प्राप्त हुई। आप ही के मतानुयायी होकर स्वामी रामानन्द जी ने राम-भक्ति का प्रबल प्रचार किया है। रामानुज महाराज ने ब्रह्म के नारायण रूप पर बल दिया था, किन्तु स्वामी रामानन्द जी ने श्री रामचन्द्र जी को नारायण का अवतार मान कर अपना इष्ट देव माना था और उन्हीं की भक्ति को प्रधानता दी थी। स्वामी रामानुज जी ने केवल द्विजों को ही नारायण-भक्ति का अधिकारी मान कर उन्हें ही उसकी शिक्षा एवं दीक्षा दी थी, किन्तु रामानन्द जी ने राम-भक्ति की शिक्षा-दीक्षा का द्वार सभी के लिये समान भाव से खोल दिया। इसके साथ ही रामानन्द जी देश, काल तथा परिस्थिति को देख कर अपने धर्म का उपदेश-प्रचार साधारण बोल-चाल की भाषा में ही करते थे, जिससे उसका प्रचार-प्रस्तार व्यापकता के साथ प्रभाव-पूर्ण हो सके। स्वामी रामानुज जी ने ऐसा न किया था और संस्कृत भाषा में ही अपने मत का प्रचार किया था। रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा में दो बड़े महात्मा हुये, १—कबीरदास, जिन्होंने-कबीर पंथ का प्रचार

किया और २—महात्मा तुलसीदास, जिन्होंने रामायण जैसे महाकाव्य की रचना करके रामभक्ति को प्रौढ़ और सुदृढ़ किया। इनका विवेचना हम आगे करेंगे।

निम्बार्क स्वामी (स्वर्गारोहण काल सं० ११६२) का प्रभाव स्वामी रामानुज जी की अपेक्षा अधिक पड़ा है। आपने संस्कृत भाषा में श्रीमद्भागवत की टीका और श्रीकृष्ण-भक्ति का प्रचार भी किया। आप भी दक्षिणी ब्राह्मण थे और दक्षिण से ही आकर उत्तरीय भारत में अपने मत का प्रचार करते थे। आप ने वृन्दावन को श्रीकृष्ण जी की लीला-भूमि का केन्द्र जानकर अपना स्थान बनाया था और वेदान्त पर अद्वैत और मायावाद के विरोध में एक गंभीर टीका लिखी। आप के मत का उत्तरकालीन कृष्ण-भक्ति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। कहना चाहिये कि कृष्ण-भक्ति के आप ही प्रधान प्रवर्तक हैं।

माधवाचार्य (सं० १२५४-१३३४) भी दक्षिणी ब्राह्मण-संन्यासी थे। आप ने भी अद्वैतवाद और मायावाद के विरोध में वेदान्त पर एक विद्वतापूर्ण टीका लिखी है। आप लक्ष्मी और विष्णु के भक्त और उपासक थे। इस प्रकार आप वैष्णव ही थे, और वास्तव में वैष्णव उसी को कहना भी चाहिये जो विष्णु और लक्ष्मी का ही उपासक या भक्त हो, न कि विष्णु के अवतारों का। कृष्ण की भक्ति को प्रधान मानने वाले श्रीकृष्ण जी को विष्णु जी का एक अवतार उसी प्रकार मानते हैं, जिस प्रकार राम-भक्त श्रीरामचन्द्र-जी को। श्री वल्लभाचार्य ने जिस प्रकार भक्ति-सिद्धान्त श्रीनिम्बार्क स्वामी से लिया था उसी प्रकार उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों का आधार श्रीविष्णु स्वामी के ही मत को विशेष रूप से बनाया था। श्री विष्णु स्वामी के विषय में कुछ विशेष इसलिये नहीं कहा

जा सकता, चूँकि उनका हाल भूत के गहन गर्भ में ऐसा विलीन है कि उसका पता ही नहीं लगता।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिणीय संन्यासियों के दो मुख्य वर्ग थे, एक तो पूर्णरूप से दार्शनिक था और दूसरा भगवद्भक्त होकर भक्ति के मार्ग का प्रवर्तक था।

यह भी हमारे पाठकों को भली भाँति ज्ञात है कि बौद्ध धर्म का केन्द्र विहार में ही (गया में) था और उसका प्रचार भी वंगाल और विहार में विशेष रूप से हुआ था। दक्षिणीय संन्यासियों ने इस बौद्ध धर्म के विरोध में ही अपना धार्मिक आन्दोलन उठाया था। साथ ही जिस प्रकार बौद्ध धर्म के दो मुख्य रूप—१ दार्शनिक और २ अवतारवाद—थे उसी प्रकार इन लोगों ने भी अपने धार्मिक आन्दोलन के दो मुख्य रूप—१ दार्शनिक अथवा वेदान्तात्मक अद्वैतवाद तथा २—सगुणोपासनात्मक अवतारवाद सम्बन्धी भक्तिवाद—रक्खे थे। स्वामी शंकराचार्य आदि तो प्रथम के और निम्बार्क स्वामी आदि द्वितीय के प्रवर्तक एवं प्रचारक थे। दक्षिण से आकर इन लोगों ने उत्तरीय भारत में अपने २ मतों का प्रचार करते हुये बौद्ध धर्म को अस्त कर दिया। चूँकि विहार और बंगाल में ही बौद्ध धर्म की विशेष महत्ता और सत्ता थी इसीलिये उक्त महात्माओं तथा उनके अनुयायियों ने उन्हीं प्रान्तों में प्रथम विशेष प्रचार किया।

वंगाल में, जैसा हम प्रथम लिख चुके हैं, शैव एवं शाक्त मतों का भी अच्छा प्रचार था, शङ्कर स्वामी से शैव को विशेष प्रबलता प्राप्त हो गई थी, निम्बार्क एवं अन्य महात्माओं ने इसीलिये राम और कृष्ण सम्बन्धी वैष्णव धर्म का प्रचार किया। संयुक्त प्रान्त में वैष्णव धर्म (उसकी राम एवं कृष्ण भक्ति सम्बन्धी दोनों शाखाओं के साथ) का अंकुर प्रथम ही से विद्यमान था, अतः

युक्त आचार्यों को इस प्रान्त में विशेष सफलता प्राप्त हुई और इन महात्माओं ने इसी बात को देखकर बङ्गाल एवं विहार में अपने द्विशाखात्मक वैष्णव धर्म का प्रचार करने के उपरान्त यहीं आकर अपने २ केन्द्र स्थापित किये और अपने २ मतों का प्रचार बड़े बल और वेग के साथ किया।

बङ्गाल में पहुँचकर वैष्णव धर्म की कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी शाखा में यह विशेषता और आ गई कि उसमें कृष्ण के साथ राधिका की भी भक्ति एवं उपासना प्रचलित हो गई। यह बङ्गाल की शक्ति-उपासना का ही प्रभाव था कि राधिका को श्रीकृष्ण की परम प्रिया और देवी का स्थान प्राप्त हो गया।

भागवत में, जहाँ ही कृष्ण-भक्ति का मूल तत्व सन्निहित है, राधा (राधिका) का नाम भी नहीं है, साथ ही कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी संस्कृत के अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी राधिका का कोई पता नहीं लगता। इनकी महत्ता एवं सत्ता उत्तरकालीन भक्तवरों की ही कल्पना है, जिसका आधार शाक्त धर्म की शक्ति या देवी के ही अस्तित्व पर है।

लगभग १५ वीं शताब्दी में श्री चैतन्य स्वामी ने बङ्गाल में कृष्ण-भक्ति का प्रचार बड़े बल और वेग के साथ किया। चैतन्य स्वामी एक अनन्य कृष्ण-भक्त महात्मा और कुछ समय के लिये श्री वल्लभाचार्य के समकालीन भी थे। आपने राधा-कृष्ण-भक्ति पर विशेष प्रबलता रक्खी है, यद्यपि राधा-भक्ति का सूत्र-पात श्री निम्बार्क स्वामी ने ही कदाचित किया था, तथापि राधा-भक्ति को विशेष महत्ता श्री चैतन्य स्वामी ने ही दी है। राधा-भक्ति का प्रचार आपने भक्ति-उपासना की ही प्रतिद्वंदता में सम्भवतः किया था। आप ही के कारण बङ्गाल के कतिपय कविवरों ने कृष्ण-काव्य की रुचिर रचना की है। विहार के

कवि-कोकिल श्री विद्यापति जी का सुन्दर कृष्ण-काव्य आप ही के प्रशस्त प्रभाव का फल है। हाँ, विद्यापति जी के काव्य (उसकी शैली) पर श्री जयदेव जी के गीत गोविन्द नामी गीत-काव्य का, जो ११ वीं या १२ वीं शताब्दी के लगभग रचा गया था, बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

चैतन्य स्वामी के शिष्यवर श्री रूपसनातन बङ्गाल से आकर वृन्दावन में ही रहने लगे थे। इन्होंने यहाँ गौड़ वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की, कदाचित इन्हीं के प्रभाव से वल्लभाचार्य की कृष्ण-भक्ति में राधा-भक्ति और शृङ्गार रसात्मक प्रेम के तत्वों का प्रधानता के साथ समावेश हो गया था। इन्हीं महाराज के गौड़ वैष्णव सम्प्रदाय का एक विशेष फल राधावल्लभीय संप्रदाय के रूप में समुत्पन्न हो गया है।

कृष्ण-भक्ति की एक शाखा महाराष्ट्र देश में होती हुई गुजरात और मारवाड़ तक पहुँची थी। इस शाखा की मुख्य विशेषतायें ये हैं कि इसमें राधिका-भक्ति पर कोई भी विशेष बल नहीं दिया गया और रामानन्दी सम्प्रदाय के समान इसमें उपासना-कर्म को प्रधानता नहीं दी गई, हाँ कृष्ण-भक्ति की महत्ता अवश्य स्थापित की गई है और साथ ही उसमें चारित्रिक विमलता तथा विरक्ति पर अवश्यमेव विशेष बल दिया गया है।

इस सूक्ष्म विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि १५ वीं तथा १६ वीं शताब्दी तक उत्तरीय भारत में वैष्णव सम्प्रदाय अपनी मुख्य दो शाखाओं के साथ पूर्ण रूप से प्रचलित होकर व्यापक हो गया था, और उसके प्रधान केन्द्र हमारे संयुक्त प्रान्त के दो मुख्य तीर्थ स्थानों—वृन्दावन और अयोध्या में हो गये थे। यद्यपि इसका उदय दक्षिणीय भारत में ही हुआ था और वहीं से यह बङ्गाल और विहार में होता हुआ यहाँ आया था। इस पर

उस समय के अन्य मतों—शैव, शाक्त तथा बौद्धादि धर्मों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था और इसकी फिर कई शाखायें भी हो गई हैं।

अब हम वैष्णव संप्रदाय के प्रभाव से हमारे जिस धार्मिक (भक्ति) काव्य की सृष्टि हुई है उसकी विवेचना यहाँ करते हैं, प्रसंगवश ही हमने सूक्ष्मता के साथ वैष्णव धर्म का ऐतिहासिक विवेचन यहाँ किया है और उसके जन्म, विकास एवं प्रभावों का स्वल्प परिचय अपने पाठकों को दे दिया है।

धार्मिक-काव्य

हिन्दी-साहित्य के जिस माध्यमिक काल का वर्णन हम कर रहे हैं उसमें धार्मिक विचारों एवं आन्दोलनों की ही प्रधानता एवं विशेषता सर्वोपरि रही है, इसीलिये हमने उसे धार्मिक काल कहा है और इसी आधार पर हम उस समय के काव्य को धार्मिक काव्य की एक व्यापक एवं साधारण संज्ञा दे रहे हैं।

अब इस धार्मिक काव्य पर विचार-पात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसे हम निम्नांकित मुख्य विभागों या वर्गों में विभक्त कर सकते हैं:—

१-दार्शनिक (Philosophical) **काव्यः**—जिसमें दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों एवं भावों का ही पूर्ण रूप से प्राधान्य रहता है। इस प्रकार के काव्य की दो मुख्य धारायें हो जाती हैं। प्रथम धारा तो दार्शनिक एवं वेदान्तात्मिक निर्गुण तथा निराकारवाद को लेकर प्रवाहित होती है और आध्यात्मिक (Egoistic or subjective) प्रेम के रस से मानव-मानस को परिप्लावित करती है। इस प्रकार के काव्य को हम निर्गुण या निराकार सम्बन्धी प्रेम-काव्य कह सकते हैं। इसके भी मुक्तक (Lyric) एवं कथा-

त्मक (Narrative) दो मुख्य रूप हो जाते हैं, जिनमें से प्रथम में भाव की प्रधानता और द्वितीय में कथानक एवं घटना तत्व की विशेष महत्ता रहती है, हाँ श्रृंगार रस तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली रति के साथ ही साथ प्रेम का सर्वथा अनवरत प्राधान्य रहता है। द्वितीय धारा दार्शनिक सिद्धान्ताचल से फूटकर सगुण तथा साकारवाद को लेती हुई शारीरिक एवं मानसिक दशाओं के साथ ही साथ लौकिक प्रेम के रस से सहृदय जनों को स्नेह-सुख से सिंचित करती है और ज्ञान और योग को गौण रूप में रखकर भक्ति और अनुरक्ति को ही विशेष महत्ता-सत्ता के साथ परिपुष्ट करती है। इस धारा की दो मुख्य शाखायें हो जाती हैं यद्यपि दोनों का उद्गम एक ही वैष्णव भक्ति के स्रोत से होता है। ये दोनों शाखायें विष्णु के दो मुख्य अवतारों के कारण एक दूसरे से पृथक हो जाती हैं और राम-भक्ति-काव्य और कृष्ण-भक्ति-काव्य के नाम से विख्यात होती हैं। इन दोनों धाराओं में मुख्यतया कथात्मक एवं घटनात्मक (Narrative and discriptive) वर्णन का ही विशेष प्राधान्य मिलता है, हाँ कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी काव्य की धारा में राम-भक्ति-काव्य की धारा से मुक्तक काव्य का तत्व कुछ विशेष मात्रा में पाया जाता है। इस प्रकार हम प्रथम धारा को निर्गुण धारा और द्वितीय को सगुण धारा कह सकते हैं, फिर इनके उपस्रोतों या रूपों को भी उक्तरीत्यानुसार पृथक २ रख सकते हैं।

२-नीत्यात्मक (Moral or Ethical) काव्य, इसमें चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाले उत्तम उपदेशों एवं नियमों का चारुता के साथ प्राधान्य रहता है, और सुनीति के ही आधार पर इसकी रचना की जाती है। इसका उद्देश्य जनता मे सच्चरि-

त्रता के भावों का भरना, उसे सदाचारी और सुकर्मी बनाना है, इसीलिये यह काव्य सभी प्रकार के सद्गुणों के उपार्जन करने तथा सत्कर्म करते हुये सदाचारी बनने का आदेश एवं उपदेश देता है। यह काव्य मुख्यतया मुक्तक एवं कुलक आदि के रूप में ही रहता है। इसका एक रूप वह भी है जिसमें किसी एक आदर्श व्यक्ति के आदर्श कार्यों का चित्रण किया जाता है और उसके विरोध में एक दुश्चरित्र व्यक्ति के दुष्कर्मों का आलेख्य रचा जाकर आदर्श व्यक्ति की विजय और दुष्कर्मी की पराजय दिखलाई जाती है। यह कार्य प्रायः नाटक और उपन्यासों के ही द्वारा विशेष रूप से किया जाता है। हमारे माध्यमिक काल में इस रूप की रचना कुछ विशेष रूप में नहीं की गई और प्रधानता दी गई है केवल प्रथम रूप को ही।

३-मिश्रित धारा—इस काव्य-धारा में उक्त सभी धाराओं का भिन्न २ मात्राओं अथवा अंशों में सामंजस्य रहता है। भिन्न २ सम्प्रदाओं एवं पंथों के आधार पर इसकी भिन्न २ कई छोटी २ शाखायें हो गई हैं, जिन्हें हम आगे चलकर प्रसंगानुसार दिखाते जावेंगे। संतकाव्य को हम इसी कक्षा में रख सकते हैं।

अपने माध्यमिक कालीन धार्मिक काव्य का यह साधारण वर्गीकरण करके हम अब अपने इसी विभाजन-क्रम के अनुसार प्रत्येक प्रकार के धार्मिक-काव्य की मार्मिक विवेचना करते हुये उसके प्रधान एवं मुख्य कविवरों तथा उनके मुख्य काव्य-ग्रन्थों का सूक्ष्म किन्तु पर्याप्त परिचय देना उचित समझते हैं।

यद्यपि उक्त धार्मिक-काव्य को सगुणोपासनात्मक कृष्ण-भक्ति सम्बन्धिनी काव्य-धारा प्रचीनतर और प्रबलतर है अवश्य, तथापि हमारे हिन्दी-साहित्य में उसका उदय एवं विकास निर्गुण

काव्य धारा के पश्चात् ही हुआ है, इसीलिये हम प्रथम निर्गुण धारा का ही विवेचन करना समीचीन समझते हैं। इसके उपरान्त ही हम सगुण धारा को उठावेंगे और उसकी मार्मिक विवेचना करेंगे।

यहाँ हम यह अवश्य सूचित कर देना चाहते हैं कि धार्मिक काव्य के उक्त रूपों के कारण हिन्दी भाषा के कई रूपों का विकास-प्रकाश हुआ है और भिन्न २ प्रकार के धार्मिक काव्यों की रचना उन्हीं भिन्न २ भाषाओं में हुई है जिनका प्रचार-प्रस्तार उन प्रान्तों में विशेष रूप से था, जिन प्रान्तों में उनके आधार भूत धर्मों का प्रचारान्दोलन विशेष हुआ था। यह हम प्रथम ही कह चुके हैं कि धार्मिक आन्दोलनों के ही कारण जन साधारण की बोली (बोलचाल की साधारण एवं व्यापक भाषा) उठाई गई और उसे साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न किया गया। धार्मिक सिद्धान्तों तथा उनके केन्द्रों की विभिन्नता के कारण धार्मिक साहित्य (काव्य) की भाषा में भी भिन्नता एवं प्रान्तिकता आ गई है, और हिन्दी-साहित्य-रचना के लिये एक सर्व मान्य एवं व्यापक (Standard and General) भाषा का ऐसा सुनियंत्रित या निश्चित रूप जिसमें स्थिरता, व्यापकता तथा एक रूपता हो स्थिर होकर न बन सका। इसका परिणाम एवं प्रभाव कुछ अच्छा भी न हुआ, और इसी कारण कदाचित संत-काव्य का वह बहुत बड़ा भाग जिसकी भाषा में प्रान्तीयता की विशेषता थी, स्थायी और प्रौढ़ रूप के साथ व्यापक न हो सका।

कृष्ण-काव्य और राम-काव्य के प्रमुख विद्वान् कविवरों ने अपने २ काव्य-साहित्य के बल से साहित्यिक भाषा के स्थिर रूप का बनाना सोचा और तदर्थ प्रयत्न भी किया, किन्तु उनके प्रयत्न से हिन्दी भाषा के दो मुख्य साहित्यिक रूप बन गये, और कोई

विशेष सफलता न हो सकी। व्रजभाषा और अवधी भाषा दोनों विकसित होकर साहित्य के क्षेत्र में आ अवतीर्ण हुईं, इन दोनों की भिन्नता एवं स्वतंत्रता के कारण समस्त काव्य-साहित्य के लिये एक सर्वमान्य भाषा न बन सकी। हाँ, यह अवश्य हुआ कि व्रज के अष्टछाप वाले कविवरों तथा कृष्ण-काव्य के अन्य कवियों के प्रयत्न से व्रजभाषा को अवधी से विशेष गौरव और प्रौढ़ता प्राप्त हो गई और उसका प्रचार-प्रस्तार भी अधिक बढ़ गया, उसे साहित्य में अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त हो गया, किन्तु उसे यह गौरव न प्राप्त हो सका कि वह साहित्यिक क्षेत्र में एक छत्र साम्राज्य पा जावे और सर्वमान्य तथा व्यापक होकर साहित्य-रचना के लिये सर्व प्रयुक्त, सर्वोपयुक्त और स्थायी ठहरे। स्थायी साहित्य के लिये एक सर्वमान्य, स्थायी और निश्चित भाषा का नियंत्रित रूप से रहना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है, किन्तु ऐसा होना इसलिये सम्भव न था चूँकि उस समय भिन्न २ साम्प्रदायिक धार्मिक आन्दोलनों का प्रचार हो रहा था और जनता के पास पारस्परिक सम्पर्क-सम्बन्ध रखने के लिये सुविधा-पूर्ण साधन उपस्थित न थे। साहित्य विशेष रूप से प्रान्तों में ही सीमित रहता था और इसीलिये उसमें प्रान्तीयता की मात्रा विशेष रहती थी। अपने २ साम्प्रदायिक-सिद्धान्तों के अनुसार धार्मिक आन्दोलनों का प्रचार करनेवाले कवि लोगों ने परिस्थिति और आवश्यकता को देखते हुये बस अपने २ इसी मुख्य कर्तव्य का करना उचित समझा और स्थायी साहित्य के लिये एक निश्चित एवं स्थायी भाषा का विकास-प्रकाश करना भाषा-साहित्य के दूसरे युग एवं दूसरे कवियों अथवा विद्वान लेखकों के लिये छोड़ दिया। अस्तु,यह कार्य हमारे गद्य-काल के विद्वानों ने उठाया और उसके पूर्ण करने का सफल प्रयत्न भी किया।

धार्मिक काल में धार्मिक-काव्य के कारण जिन प्रान्तीय भाषाओं को प्राधान्य एवं साहित्यिक रूप प्राप्त हुआ तथा जिनका विकास-प्रकाश हुआ है वे मुख्यतया दो ही हैं:—(१) व्रजभाषा-जिसका विकास ब्रजप्रान्त की बोली से सूरदास तथा अन्य भक्त कविवरों के द्वारा, जिनमें से श्री हितहरि जी, नन्ददास घनानन्द और परमानन्ददास पूर्वकाल में, आचार्य केशव, देव, विहारी* और पद्माकर आदि उत्तरकाल में मुख्य हैं, (*विहारीलाल ने ही व्रजभाषा को नियंत्रित, स्थायी, और निश्चित रूप दिया है और इस वर्तमान समय में श्री "रत्नाकर" जी ने उसे विकसित किया है) किया गया था, और जिसे काव्य-साहित्य में गौरव पूर्ण और प्रधान स्थान प्राप्त हुआ था। (२) अवधी भाषाः— जिसका विकास अवध प्रान्त की बोली से जायसी ने प्रारम्भ किया और जिसे महात्मा तुलसीदास ने साहित्यिक रूप देकर काव्य-साहित्य में व्रजभाषा के समान एक अच्छा स्थान प्राप्त करा दिया था। इसका विकास-प्रकाश फिर विशेष रूप से अन्य कवियों के द्वारा

---

*नोटः—मुग़ल बादशाहों से हिन्दी भाषा को कोई विशेष प्रोत्साहन तो मिलता ही न था, उसे दरबार एवं राज-कार्य में भी कोई स्थान न दिया जाता था और न उसकी शिक्षा, उसके विकास-प्रचार आदि की ही व्यवस्था की जाती थी, अतः उसे अपनी उन्नति करना कठिनतर हो रहा था। उसे एक राष्ट्रभाषा एवं साहित्यिक भाषा का रूप कैसे प्राप्त हो सकता था। यह भी कदाचित एक कारण हिन्दी के साहित्यिक एवं राष्ट्रीय रूप में न विकसित होने का हो सकता है।

इसी के साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा की विकासोन्नति का कार्य विद्वन्मंडली भी विशेष रूप से न करती थी, विद्वान द्विज इससे कुछ घृणा सी रख संस्कृत ही को विशेषता दिया करते थे। हाँ, अब वह दशा न थी जो इसके पूर्व प्रारम्भ-काल में थी।

न किया गया। आज कल तो यह भाषा मृतप्राय सी हो गई है। इन दोनों *भाषाओं के अतिरिक्त यद्यपि महात्मा कबीरदास एवं अन्य सन्त कवियों ने कई प्रान्तीय बोलियों (यथा बनारसी, मारवाड़ी, एवं अन्य बोलियों) को उठाया था, किन्तु वे उन्हें साहित्यिक रूप देकर साहित्य-क्षेत्र मे न स्थापित कर सके, कदाचित इसका मुख्य कारण यह था कि वे ऐसे भाषा-मर्मज्ञ एवं विद्वान न थे कि ऐसा गुरुतर कार्य कर सकते और उन्हें ऐसा करना अपने धार्मिक प्रचार-कार्य के सामने इष्ट भी न था। इसके साथ ही चूँकि उनके धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार पठित समाज में न हो सका और उनके उठाये हुये धार्मिक काव्य को उनके पश्चात् विकसित करनेवाले उनके अनुयायी ऐसे न थे जो विद्वान होते, इसीलिये उनकी उठाई हुई भाषा भी विकसित होकर साहित्यिक रूप के साथ उठकर साहित्य-क्षेत्र में न आ सकी। उनकी भाषा में उनके निम्न श्रेणी-वाले अपठित अनुयायियों के कारण विकास का होना तो दूर रहा उलटे और अनीप्सित रूपान्तर हो गया।

इन सन्तों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने या तो ब्रजभाषा को ही उठा लिया था या अवधी ही को, अथवा बहुतों ने दोनों के मिश्रित रूप को ही ग्रहण करके प्रयुक्त किया, और कभी २ या कहीं २ उसमें अपनी ओर से अपनी २ प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित होकर कुछ रूपान्तर एवं परिवर्तन भी कर दिया है।

इन सब बातों के साथ ही यह बात भी विशेष रूप से विचारणीय है कि उक्त दोनों प्रधान साहित्यिक भाषाओं पर उस समय

---

* ब्रजभाषा और अवधी के विशेष ज्ञान के लिये देखिये हमारा "ब्रज-भाषा पीयूष" नामी ग्रन्थ

की राष्ट्र या राज-भाषा फ़ारसी का पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ रहा था। यह प्रभाव उन कवियों के द्वारा विशेष रूप से पड़ा है जिनका सम्बन्ध मुग़ल-दरबारों से विशेष था। इसी प्रकार उन सन्त कवियों के कारण इन भाषाओं में भिन्न २ प्रान्तीय भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है, जो भिन्न भिन्न स्थानों एवं प्रान्तों में भ्रमण किया करते थे।

इसी स्थान पर यह और कह देना उचित जान पड़ता है कि प्रारम्भिक काल के समान हिन्दी-साहित्य की रचना का कार्य अब केवल चारण और भाट आदि निम्न वर्ण के लोग ही न करते थे, वरन् अब ब्राह्मणों ने भी हिन्दी को उठाना, अपनाना और उसमें साहित्य की रचना करना प्रारम्भ कर दिया था। महात्मा गोरखनाथ जी प्रथम ब्राह्मण महात्मा थे जिन्होंने हिन्दी में रचना करने का श्रीगणेश किया था, और दूसरे ब्राह्मणों को यह पथ प्रदर्शित किया था। आपने गद्य-रचना का भी सबसे प्रथम प्रारंभ किया और उसमें अवधी को प्राधान्य न देकर ब्रजभाषा को ही प्राधान्य दिया था। आपके काव्य में प्रान्तीय भाषा का अवश्यमेव बाहुल्य एवं प्राबल्य पाया जाता है। आपके ऐसा करने से ही अवध प्रान्तीय अन्य कवियों को भी अवधी बोली के उठाने का साहस एवं प्रोत्साहन मिला है। यद्यपि ब्राह्मणों का ध्यान हिन्दी-साहित्य-रचना की ओर आकृष्ट हो गया था तथापि अभी वे उसके प्रति बहुत श्रद्धा एवं चाव न रखकर घृणा का ही भाव विशेष रूप से रखते थे, यह आचार्य केशव और महात्मा तुलसीदास के ग्रंथों से स्पष्ट हो है। चूँकि यह काल धार्मिक जाग्रति एवं आन्दोलन का ही विशेष रूप से था, और चूँकि प्राचीन काल से ब्राह्मण ही विद्या-विशारद और ज्ञान-विज्ञान के तत्वज्ञ होते हुये धर्म एवं धार्मिक (नीति, रीति, कर्म आदि)

विषयों के मर्मज्ञ होकर धर्मोपदेशक और कर्तव्यकर्म-विधायक होते आ रहे थे, इसलिये, इस धार्मिक काल तथा धार्मिक आन्दोलन के समय में भी उन्हीं को नेता होकर आगे चलते हुये समस्त समाज एवं देश को सद्धर्म के मार्ग पर ले चलना पड़ा। देश इन्हीं पर भरोसा और विश्वास रखता था, इसी से इनको इस काल में भी अनेकानेक संकटों एवं अत्याचारों को सहन करके भी अपूर्व त्याग और कर्तव्यानुराग के साथ धार्मिक आन्दोलन करना और देश एवं समाज की धार्मिक और सामाजिक (राष्ट्रीय National) सत्ता और महत्ता की रक्षा करना पड़ा।

चूँकि मुसलमानों ने फ़ारसी और अरबी का प्रचार करके (शेरशाह, मुहम्मद तथा फ़ीरोज़ तुग़लक आदि ने अरबी और फ़ारसी के स्कूल या मकतब खोलवा दिये थे और इस प्रकार अपनी भाषा, साहित्य तथा सभ्यता के साथ ही साथ अपने धर्म के सिद्धान्तों से हिन्दुओं को परिचित करते हुये प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था) उन्हें राष्ट्र या राजभाषा के रूप में रखकर हिन्दुओं की भाषा, सभ्यता तथा धार्मिकता पर अपना पूर्ण प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया था और फिर इसका कुछ विशेष प्रभाव न देखकर हिन्दी भाषा को स्वयमेव उठाकर उसी के द्वारा अपनी सभ्यता तथा धार्मिकता से प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था, इसीलिये यह आवश्यकता थी कि अपनी राष्ट्रीय, सामाजिक तथा धार्मिक सत्ता की रक्षा के लिये हिन्दू एवं ब्राह्मण भाषा के हिन्दी ही द्वारा अपने धर्म का संरक्षण एवं प्रचार करते, क्योंकि अब हिन्दी भाषा ही देश और समाज की सर्व साधारण और व्यापक भाषा हो गई थी। इसी कारण धार्मिक नेताओं ने हिन्दी भाषा के ही द्वारा धार्मिक आन्दोलन और संरक्षण का कार्य किया है। ब्राह्मणों को भी अपनी सम्पूर्ण समृद्धिशालिनी परम-

समुन्नत संस्कृत भाषा को छोड़कर हिन्दी भाषा को उठाना और उसके द्वारा अपने धर्म का प्रचार करना अनिवार्य ठहरा। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-साहित्य का धार्मिक-काव्य-विभाग प्रौढ़ और प्रचुर रूप मे तैयार हो गया। यह अवश्य था कि शास्त्रीय एवं ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी कौशल-कार्य अभी विशेष रूप से संस्कृत ही में होता रहा।

प्रारम्भिक काल के समान अब भाषा के क्षेत्र में प्राकृत एवं अपभ्रंश का कोई भी प्राधान्य न था, हिन्दी इन दोनों से पृथक एवं विमुक्त होकर अब अपनी स्वतंत्र सत्ता और महत्ता रखती थी। इसकी लेखन-शैली में भी प्रथम से अब अधिक विकासोन्नति हो गई थी, यद्यपि अभी इसका कोई एक सर्वमान्य, व्यापक और सुनियंत्रित या निश्चित रूप स्थिर न हुआ था। भिन्न भिन्न प्रान्तों में वहीं की भाषाओं का प्राधान्य रहता था और वह सर्वथा एक प्रकार से समय एवं परिस्थिति को देखते हुये स्वाभाविक या अनिवार्य ही सा था। इतना होते हुये भी व्रजभाषा को अब साहित्य के क्षेत्र में विशेष प्रधानता प्राप्त हो चुकी थी और साहित्य-रचना में विशेष रूप से उसी का उपयोग किया जाता था।

इसके पश्चात् साहित्य क्षेत्र में द्वितीय स्थान अवधी भाषा को प्राप्त था, किन्तु उसका उपयोग उतनी प्रधानता एवं प्रचुरता से न होता था जितनी प्रधानता से व्रजभाषा का होता था।

१—दार्शनिक काव्य

माध्यमिक काल मे धार्मिक आन्दोलनों तथा विचारों की प्रधानता एवं प्रबलता होने के कारण हमने उस काल को धार्मिक काल और उस काल में रचे गये काव्य-साहित्य को धार्मिककाव्य-साहित्य कहा है, और यह भी लिखा है कि इस धार्मिक-काव्य

को हम दार्शनिक (Philosophical) नीत्यात्मक (Moral or Ethical) और मिश्रित नामी तीन मुख्य विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

इन तीनों प्रकार के काव्यों में से विशेष प्राधान्य प्रथम प्रकार के ही काव्य का है अतः हम उसी की विवेचना प्रथम करते हैं।

हमारे इस भारतवर्ष में धर्म के इस रूप का जैसा अच्छा विकास-प्रकाश हुआ है, वैसा अन्यत्र किसी भी देश में अब तक नहीं हो सका। आध्यात्मिक ज्ञान यहाँ का सर्वथा पूर्ण, प्रौढ़ और तर्क पुष्ट होकर सर्वोच्च ठहरता है। षट् दर्शनों के द्वारा इस आध्यात्मिक ज्ञानोदधि के छः विभाग कर दिये गये थे, और सभी विभागों के सिद्धान्त सभी प्रकार तर्क-पुष्ट एवं न्याय-संगत होकर अकाट्य और उच्चकोटि के विवेकात्मक हैं। संस्कृत भाषा में इस शास्त्रीय ज्ञान का विशद् आगार उपस्थित है। इस अध्यात्म ज्ञान का इतना प्रबल प्रचार हुआ था कि देश के सभी ककुभ-कोण, तथा यहाँ का वायुमंडल इससे पूर्णतया गुंजित एवं अनुनादित हो चुका था इसलिये इसका कुछ न कुछ अंश प्रत्येक प्राणी के मन-मस्तिष्क में स्वतः ही प्रविष्ट हो जाता था। पूर्ण तर्कात्मक एवं न्यायात्मक होकर वह सर्व साधारण की पहुँच से कुछ परे अवश्य था, किन्तु विद्वानों के लिये यही एक मान्य मुख्य धर्म था। हाँ इसके आधार पर साधारण जनता के लिये एक सूक्ष्म धर्म की व्यवस्था पृथक कर दी गई थी। किन्तु वह पर्याप्त न रह गई थी, देश की परिस्थिति अब कुछ परिवर्तित हो चुकी थी, समय और समाज अब रूपान्तरित हो गया था, अतः ऐसी दशा में साधारण जनता के लिये एक साधारण धर्म-व्यवस्था की आवश्यकता थी। यही विचार कर भगवान बुद्ध ने बौद्ध धर्म का और श्री महावीर जी ने जैन धर्म का प्रचार साधारण जनता में उन्हीं की साधारण भाषा में किया था।

यह देखा जाता है और स्वाभाविक भी है कि प्रत्येक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान एवं कला आदि के दो विभाग हो जाते हैं, प्रथम तो वह जो विकसित एवं प्रौढ़ विचार एवं विवेक-बुद्धिवाले लोगों के लिये उपयुक्त होता है और दूसरा वह जो साधारण श्रेणी के लोगों के लिये उचित होता है। इसका प्रधान कारण यही जान पडता है कि सभी व्यक्ति समान बुद्धि एवं शक्ति के नहीं होते, कुछ लोग तो विशेष बुद्धि और शक्ति रखते हैं और इसीलिये उनमें विशेष विवेक एवं ज्ञान होता है और कुछ लोग साधारण श्रेणी की बुद्धि और शक्ति रखते हैं जो उच्चकोटि के ज्ञान-विज्ञान की क्षमता न रखकर केवल ऐसे ही साधारण ज्ञान की पाचन-शक्ति रखते हैं जिसके लिये विशेष विवेक तथा तर्क की आवश्यकता नहीं होती,इसी विचार से हमारे प्राचीन धर्मोपदेशकों को भी भगवान बुद्ध के समान साधारण जनता के लिये धर्म के साधारण सिद्धान्तों के आधार पर नये स्वल्प नियमों के सुव्यवस्थित समुच्चय रूपी पद्धति को विद्वज्जनोपयुक्त आध्यात्मिक (दार्शनिक) ज्ञानागार से विलग करके प्रचलित करना पड़ा।

साधारण जनता में जितनी विशेषता, प्रधानता एवं प्रबलता मानसिक (हार्दिक) भावात्मक (Emotional) और भावनात्मक या रागात्मक (Sentimental) विषयों की होती है उतनी विवेकात्मक, तर्कात्मक और बुद्ध्यात्मक (Rational, Logical and Wise) विषयों की नही होती। साधारण लोग तर्क को न लेकर विश्वास को ही विशेष रूप से अपनाते हैं और उसी के आधार पर चलते हैं, ऐसा विद्वान लोग नहीं करते। यह नितांत नैसर्गिक ही है और इसीलिये साधारण जनतोपयुक्त ज्ञान एवं धर्म में रागानुराग एवं भाव-भावनाओं को ही पूर्ण प्राधान्य दिया जाता है, इन्हीं के आधार पर धर्म की अट्टालिका खड़ी की जाती

है। यही कारण है कि साधारण जनता की धर्म-पद्धति विश्वास पर समाधारित होकर रागात्मिका वृत्तियों पर ही प्रभाव डालने-वाली तथा उन्हीं को उत्तेजित करनेवाली होती है। विपरीत इसके विद्वानोपयुक्त धर्मपद्धति के सम्बन्ध में होता है, उसमें तर्क, विवेक और आध्यात्मिक ज्ञान की ही पूर्ण प्रधानता रहती है। इसीलिये विद्वत्समाज का धर्म विशेषतया आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रहता है। यही कारण है कि बौद्ध धर्म के भी साधारण धर्म (रूप) तथा दार्शनिक धर्म (रूप) दो विभाग हो गये थे।

शंकर स्वामी के दार्शनिक (वेदान्ती) अद्वैतवाद के साधारण जनता में व्यापक रूप से प्रचलित न हो सकने का यह एक मुख्य कारण था, साथ ही उसके विपरीत उनका शैव-सम्प्रदाय जिसमें रागात्मक एवं विश्वासात्मक भक्ति की प्रधानता थी कुछ विशेष विस्तृत रूप से जनता में प्रभाव डाल सका। इसी प्रकार रामानुजाचार्य एवं माधवाचार्य आदि का धर्म,जो रागात्मक विश्वास पर ही समाधारित था, जनता में बड़े वेग, प्रबलता तथा प्रचुरता के साथ व्यापक हो सका था।

माध्यमिक काल के प्रारम्भ ही से बङ्गाल एवं विहार में होता हुआ दक्षिण देशोत्पन्न या दक्षिण देशागत भक्ति धर्म (कृष्ण-भक्ति) प्रधान होकर फैल रहा था और कवियों के ध्यान को अपनी ओर समाकृष्ट कर कृष्ण-काव्य की रचना से साहित्य-सदन को सजाने लगा था, किन्तु हमारे संयुक्त प्रान्त में उस समय उसका प्रभावातंक इतना न फैला था कि उससे कवि एवं विद्वान समाकृष्ट होकर साहित्य-रचना कर चलते। हिन्दी-क्षेत्र अभी उसके लिये पूर्ण रूप से तैयार न था। हाँ उसमें अभी केवल प्रारम्भिक क्षेत्र-रचना का कार्य हो चला था और मैथिल-कोकिल विद्यापति ने

विहारी हिन्दी में कुछ कृष्ण-काव्य की, जो गीत-काव्य के ही रूप में है, रचना करके बीजारोपण का कार्य कर दिया था, हम इसे कृष्ण-काव्य के अध्याय में स्पष्ट करेंगे।

हम लिख ही चुके हैं कि १४ वीं और १५ वीं शताब्दियों में वैष्णव धर्म आगे बढ़कर हमारे प्रान्त में फैल रहा था, और स्वामी रामानन्द तथा वल्लभ स्वामी अपने २ मतों का प्रचार कर रहे थे, किन्तु अभी उनका प्रभाव पूर्ण रूप से जनता के मन-मानस पर स्थायित्व के साथ न पड़ सका था।

यह भी हम जानते हैं कि इसी समय में मुसलमान लोग भी अपने धर्म का बड़े ज़ोरों से प्रचार-प्रस्तार कर रहे थे। वे न केवल प्रचार-कार्य एवं उपदेशादि से ही प्रचार-कार्य करते थे वरन् शक्ति आदि अन्य साधनों का भी उपयोग करके उसे जनता के हृदयों में प्रविष्ट कर रहे थे। शक्ति आदि साधनों का उपयोग करके वे अपने उद्देश्य की पूर्ति भले ही कुछ अंशों में कर सके थे, किन्तु उसमें वैष्णव धर्म के समान मनमोहिनी शक्ति के न होने से जनता पर उसका स्वतंत्र समाकर्षक प्रभाव न पड़ा था। जनता अभी अपने साधारण पौराणिक धर्म के पथ पर दृढ़ता के साथ चली जा रही थी। हाँ विद्वान मुसलमानों के ऊपर हमारे दार्शनिक मत का अच्छा प्रगाढ़ प्रभाव पड़ रहा था। वे उसी के आधार पर स्थिर होकर अपने सूफी मत को विकसित कर रहे थे। हिन्दू जनता अब तक हृदय से गीता के "श्रेयः स्वधर्मो विगुणः परधर्मोभयावहः" इस सिद्धान्त के अनुसार अपने ही पौराणिक एवं दार्शनिक मतों पर दृढ़ थी। प्रसन्नता के साथ परधर्म ग्रहण करना तो दूर रहा वे परधर्मियों का सब प्रकार का वहिष्कार कर रहे थे, और यहाँ तक वे अपने को विधर्मियों से परे रखते थे कि उन्हें छूना तथा उनकी छुई हुई वस्तुओं का भी ग्रहण करना पाप समझते थे और

इस प्रकार अपनी सामाजिक एवं धार्मिक सत्ता या अस्तित्व की स्वतंत्रता को रक्षित बनाये हुये थे।

मुसलमान लोग उन्हें अपने में मिलाने की अनेक प्रकार से प्रबल चेष्टा के साथ सभी प्रकार के साधनोपायों का उपयोग कर अविश्रान्त तथा प्रबल प्रयत्न कर रहे थे। अपने पैग़म्बरवाद को भारतीय भक्तिपूर्ण अवतारवाद के सामने शिथिल तथा ऊनतामय देखकर अब उन्होंने प्रेमात्मक एकेश्वरवाद का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। यही एकेश्वरवाद वेदान्त-विहित अद्वैतवाद (ब्रह्मवाद) से मिलकर सूफी मत के विकसित रूप में प्रगट हो गया। समय और परिस्थिति के साथ ही साथ हिन्दू-मुसलिम-सम्पर्क का ऐसा प्रभाव फैला कि इस सूफीमत की गति मुख्यतया दो रूपों में हो गयी। एक ओर तो यह ब्रह्मवाद एवं एकेश्वरवाद को प्रधानता देता था और दूसरी ओर प्रेम और भक्ति के साथ ही साथ विश्वास को उठाकर, रागात्मक पैग़म्बरवाद एवं ख़ुदावाद को विशेषता देता था। प्रथम रूप में यह विशेष रूप से पठित जनता (मुसलमानों) में और द्वितीय रूप से यह अपठित व साधारण श्रेणी के मुसलमानों तथा उनके विशेष सम्पर्क में रहनेवाले निम्न कोटि के हिन्दुओं में फैल रहा था। हिन्दुओं की सुपठित एवं उच्च श्रेणी तथा साधारण श्रेणी भी इन दोनों से विशेष प्रभावित न होती थी क्योंकि उन दोनों के लिये यहाँ प्रथम ही से वेदान्त-गत ब्रह्मवाद और पुराण-गत भक्तिपूर्ण अवतारवाद जो सूफी के दोनों उक्त रूपों से विशेष उत्तम थे, उपस्थित थे। साथ ही अपनी सामाजिक एवं धार्मिक स्वतंत्र सत्ता को रक्षित रखने के विचार से विधर्मियों का वहिष्कार करनेवाले हिन्दू लोगों में उक्त सूफी मत के किसी भी रूप का इसलिये प्रचार-प्रवेश न हो सका क्योंकि उनमें जाति-पाँति की (जो सामाजिक स्वतंत्र अस्तित्व का मूल तत्व है) व्यवस्था का विचार न था, सभी अनुयायी एक ही से

थे। उच्च एवं स्वतंत्र विचारवाली हिन्दू जनता इसके लिये तैयार न थी, वह किसी भी रूप में विजातियों या विधर्मियों के साथ मिल-कर अपनी सामाजिक एवं धार्मिक सत्ता को विनष्ट न करना चाहती थी, यही एक प्रधान कारण था कि उक्त सूफीमत के रूपों का प्रभाव उच्च श्रेणी की हिन्दू जनता पर न पड़ सका। हाँ उस जनता पर अवश्यमेव इसका प्रभाव कुछ अंशों में पड़ सका जो निम्न श्रेणी में परिगणित होती थी और जिसमें उच्च विचाराचार का विशेष महत्व-सत्व न था। अस्तु, ऐसी ही परिस्थिति में हमारे प्रान्त के पूर्वीय भाग से, जहाँ स्वामी रामानन्द जी श्री रामानुजा-चार्य के द्वैतवाद को विकसित करके ईश्वर या ब्रह्म के रामावतार का प्रचार-प्रकाश कर रहे थे, कबीरदास ने अपने निर्गुण मतात्मक कबीर पँथ का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। कबीरदास के बहुत पूर्व लगभग ११९२ सं० में महाराष्ट्र देश में उन महात्मा नामदेव का जन्म हो चुका था जिन्होंने सगुणोपासना एवं मूर्तिपूजा के साथ ही साथ एकेश्वरवाद (सर्वत्र सर्व समय में सबके लिये एक ही ईश्वर है जिसके देश जाति एवं समय के पार्थक्य-प्रभाव से भिन्न भिन्न रूप और नाम हो जाते हैं) के द्वारा राम-रहीम की भी एकता का प्रचार किया था। जाति-पाँति की एकता का सूत्र इनके पदों में भी झलकता है और भक्ति का भाव इनमें भी प्रधान था। साथ ही ज्ञानात्मक ब्रह्मवाद की भी उक्तियाँ कहीं २ आपने दी हैं और अरबी, फ़ारसी के भी शब्दों को अपनाते हुये हिन्दी के एक व्यापक रूप की ओर प्रयत्न किया है, जिससे इनके उपदेश हिन्दू और मुसलमान दोनों समझकर ग्रहण कर सकें। यह होने पर भी हम कबीरदास ही को निर्गुण-धारा का सर्व प्रथम महात्मा एवं कवि मानते हैं क्योंकि नामदेव में एकेश्वरवाद तथा सगुणो-पासना के, जिसमें मूर्तिपूजा भी है, साथ सूफी मत का अच्छा समावेश न था और इसीलिये उनमें ब्रह्मवाद का प्रेम-प्रधान

तत्व ऊनता में था। यह बात कबीरदास में न थी। कबीरदास ने अपने एक निर्गुण मत के प्रधान प्रवर्तक के रूप में उठकर भारतीय अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद की स्थूल बातों को स्वामी रामानन्द की शिष्यता में रहकर लेते हुये सूफी संतों के संस्कार से प्रेमात्मक पैग़म्बरवाद का प्रचार किया है, इसी से इनमे अद्वैतवाद और एकेश्वरवाद का ऐसा मिश्रित सा रूप पाया जाता है जिसमें तत्समय-प्रचलित पौराणिक भक्ति-मार्ग की निरूपित की हुई भक्ति की भी पुट दी गई है। साथ ही नामदेव के समान इनकी बानी में जाति-पाँति की भी एकता मिलती है, हाँ उनके विपरीत इनमें मूर्ति-पूजा एवं अवतार का विरोध अपने परम कट्टर रूप में ठीक उसी प्रकार मिलता है जैसा मुसलमानों में। बौद्ध धर्म का अहिंसातत्व भी इनमे पूर्ण रूप से पाया जाता है। गोरखनाथ या अन्य तांत्रिक शैव एवं शाक्तों के समान इनमें उपासना नहीं मिलती। इस विचार से अब हम निर्गुण धारा का प्रारम्भ इन्हीं महात्मा से करते हैं और उस धारा के काव्य की विवेचना पर प्रकाश डालते हैं।

—:※:—

क—निर्गुण शाखा

जिस निर्गुण शाखा की सूचना उसके सूक्ष्म परिचय के साथ अभी दी गई है वह मुख्यतया दो भागों में विभक्त हो जाती है। प्रथम भाग उसका वह है जिसका आधार भारतीय दार्शनिक ब्रह्मज्ञान (अद्वैतवादात्मक) है और जिसमें उपासना की पुट लगी हुई है किन्तु जो सगुणोपासना के पूर्ण विरोध के साथ चलता है। इसमें दार्शनिक अंश की प्रधानता होने से विरागात्मक

नीरसता तथा जटिलता भी है। इसमें साथ ही ब्रह्मवाद भी अपने उस विकसित रूप में नहीं रहता जिस पूर्णोन्नत रूप में वह वेदान्त में पाया जाता है इसीलिये इसका प्रभाव विद्वत्समाज पर कुछ भी न पड़ सका। हाँ, अपठित एवं निम्न कोटि की जनता पर अवश्य ही यह कुछ आतंक जमा सका है क्योंकि निम्न श्रेणी के व्यक्तियों में बुद्धि, हृदय और वाणी में से किसी भी प्रकार का विकास-संस्कार नहीं पाया जाता। इसने निम्न श्रेणी की जनता को उच्च विचारों का प्रतिबिम्ब सा दिखलाकर ऊपर उठने की ओर अवश्य आकृष्ट किया है। इस प्रकार इसके द्वारा कुछ अंशों में सामाजिक सुधार हो सका है, इसी विचार से कुछ पाश्चात्य विद्वान इसके प्रचारकों को समाज-सुधारक (Social Reformers) कहते हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो इसका प्रभाव या परिणाम कुछ विशेष अच्छा नहीं हुआ, देश में ऐसे अपठित संतों की संख्या बढ़ चली जिन्होंने साधुओं की साधुता को एक प्रकार से पूर्णतया कलुषित करते हुये विनष्ट ही सा कर डाला है। इससे सामाजिक हित एवं उन्नति के होने की अपेक्षा अहित एवं अवनति ही सी हुई है।

द्वितीय भाग उक्त निर्गुण शाखा का वह है जिसका आधार सूफीमतात्मक शुद्ध प्रेम-मार्ग है इसमें अलौकिक प्रेम का प्रतिबिम्ब लौकिक प्रेम के पटावरण के पीछे दिखलाया जाता है, और ईश्वर को प्रियतम मानकर उसी में प्रेम-नेम के साथ लीन किया जाता है, इसका प्रेम-मार्ग संकटाकीर्ण होकर दुःखप्रद तो दीखता है किन्तु सच्चे प्रेमी को वह अन्त में प्रियतम से मिलाकर सच्चा सुख देनेवाला ठहरता है जैसा इसमें प्रेम का अलौकिक सुधा-रस मिलता है वैसा ही इसके मार्ग में अलौकिक दुख एवं पीड़ाकारी विष-रस भी पीना पड़ता है। प्रेमात्मक होकर यह हृदय को द्रवीभूत करनेवाले शृङ्गार और करुण रसों तथा भाव-

भावनाओं से परिपूर्ण रहता है। इसका आधार एक प्रेम-कथानक ही होता है जिसमें प्रेमोद्दीपिनी घटनायें घटित की जाती हैं। इसका मार्मिक-स्थान रहस्यमय एवं परोक्ष रूप में रहता है, इसीलिये यह सहृदय एवं प्रेमी लोगों के, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, हृदयों पर अपना पूर्ण प्रभाव समानता के साथ डालकर उनकी लौकिक रागात्मिका वृत्तियों को रहस्यवाद के अलौकिक सौंदर्य, प्रेम एवं सुख की ओर अग्रसर करता है। इसका रहस्यवाद दार्शनिक रहस्यवाद के विपरीत सरस और मर्मस्पर्शी ही होता है, उसमें विरागात्मक नीरसता तथा विवेक की रूखी विशेषता नहीं रहती। इन विशेषताओं के ही कारण इसका काव्य-साहित्य प्रेम-गाथात्मक होता हुआ रहस्यमय होता है। हम उक्त निर्गुण शाखा के इन दोनों भागों में से प्रथम को तो ज्ञानाभासाश्रय तथा द्वितीय को प्रेमात्मक रहस्यमय कह सकते हैं। चूँकि हमारे हिन्दी-साहित्य में प्रथम विस्तृत रचना ज्ञानाभासाश्रय भाग की ही मिलती है अतः हम उसी पर प्रथम प्रकाश डालना उचित समझते हैं:—

—:※:—

१—ज्ञानाभासाश्रय

निर्गुण शाखा के इस विभाग का सबसे प्रधान और प्रथम कवि महात्मा कबीरदास ही कहे जाते हैं। महात्मा कबीर का जन्म-सम्वत १४७५ माना जाता है, यद्यपि यह भी पुष्ट और सर्वमान्य नहीं, क्योंकि इसे कुछ लोग संदिग्ध मानते हैं। इनकी जाति के विषय में बड़ा मतभेद है। कहते हैं कि काशी-निवासी एक ब्राह्मण की विधवा कन्या से स्वामी रामानन्द जी के भूल से दिये गये आशीर्वाद के प्रभाव-स्वरूप में इनका जन्म हुआ था, इनकी माता ने इन्हें लोकलज्जावश लहरतारा के ताल के समीप छोड़

दिया और अली या नीरु नामी एक जुलाहे ने पाया, उसीने इनका पालन-पोषण अपने पुत्र के समान किया और चूँकि उसके कोई और दूसरा लड़का न था, इन्हें ही अपना उत्तराधिकारी पुत्र भी बनाया। इस प्रकार ये स्वभावतः हिन्दू होकर मुसलमान से परिपालित जुलाहे कहलाये, उन्होंने लिखा भी है :—

काशी का मैं बासी बम्हन, नाम मेरा परबीना।
एक बार हरिनाम बिसारा, पकरि जुलाहा कीना॥

मेरे कौन तनैगा ताना

इस पद से यह भी ज्ञात होता है कि इनकी आस्था हिन्दू-धर्म में कुछ अधिक थी और जुलाहा होना ये अपने दुष्कर्म (हरि-नाम के भुलाने) का ही फल मानते थे तथा जुलाहे के कर्म को भी अच्छा न समझते थे।

इसी समय में श्री रामानुजाचार्य के शिष्य एवं अनुयायी स्वामी रामानन्द जी (जो प्रयाग-निवासी कान्यकुब्ज-कुल में सं० १४५६ में उत्पन्न हुये थे) एवं उनके रामावतारात्मक वैष्णव मत का बड़ा प्रावल्य या प्रचार हो रहा था, इनका सम्प्रदाय विशेष उन्नति कर रहा था और प्रायः समस्त पूर्वीय प्रान्त उसे ग्रहण कर रामानन्द जी का अनुयायी हो रहा था। स्वामीजी एक सिद्ध योगी तथा संस्कृत के धुरंधर विद्वान थे, और हिन्दी से भी बड़ा प्रेम रखते थे। कुछ पद आपने हिन्दी में भी बनाये थे। आपने महात्मा राघवानन्द से दीक्षा ली थी, जो लोक-प्रसिद्ध श्री रामानुजाचार्य (सं० ११५०) के शिष्यवर देवाचार्य से दीक्षा प्राप्त महात्मा हरिनन्द के शिष्य थे। इन्हीं महात्मा रामानन्द जी को कबीर साहब ने अपना गुरु मान लिया। कहते हैं कि एक दिन एक प्रहर रात रहे कबीरदास पंचगंगा घाट की मार्गवर्तिनी एक

सीढ़ी पर लेटे रहे, जब रामानन्द जी आये तब उनका पैर इनके ऊपर पड़ गया और ये चिल्ला उठे। स्वामी जी बोल उठे "बेटा राम राम कह"। कबीर ने इसे ही गुरु-मंत्र मान लिया। रामानन्द जी के अन्य शिष्यों ने यह जानकर इन्हें प्रथम तो अपना गुरु भाई न माना, किन्तु इनकी विचित्र गुरु-भक्ति देखकर फिर मान लिया।* अस्तु ये रामानन्दी ही कहलाये।

कबीर साहब पर रामानन्दजी का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा वरन् अन्य सन्तों, महात्माओं और सूफ़ी फकीरों से ये बहुत प्रभावित हुये थे। ये पढ़े लिखे न थे और इसी से जो कुछ भी इन्होंने रचा वह केवल मुख से भाषा ही था, लिखा न था। इनके ग्रंथों को अन्य शिष्यों ने लिखा था। इनके रचे हुये लगभग ८२ ग्रंथों में से बीजक सबसे अग्रगण्य, प्रधान और प्रतिष्ठित है।

कबीर साहब ने जातिपाँति का भेद हटाकर अपना एक निराला ही पंथ चलाया है। ये महात्मा उलटवाँसी कहने के लिये प्रसिद्ध हैं, इनकी कविता में भाव एवं विचार तो अच्छे हैं किन्तु काव्य के अन्य सभी गुण अविद्यमान हैं। भाषा भी ठेठ देहाती और बनारसी-मिश्रित अवधो है। ये सत्संग-प्रेमी और इसी से बहुश्रुत और अनुभवी योगी थे। इन्होंने मुसलमान फ़क़ीरों का भी सत्संग किया था और उनसे सूफ़ी मत की अनेक बातें जान ली थीं। कुछ मुसलमान इन्हें शेख़ तक़ी का शिष्य कहते हैं, किन्तु यह

---

* स्वामी रामानन्दजी के कुछ प्रमुख शिष्य थेः—सेन नाई (रीवाँ-वासी) जिसके शिष्य, कहते हैं, रीवाँ के महाराज हुये हैं, स्वामी भवानन्द, पीपा जी (गरगरौन गढ़ के राजा थे) धना और रैदास आदि। इन सबों की कवितायें साखी और पदों आदि के रूप में प्राप्त होती हैं, उनमें राम-भक्ति का अच्छा प्रवाह है, भाषा, भाव और काव्य की दृष्टि से उन्हें हम उच्चकोटि की साहित्यिक कविता नहीं कह सकते।

ठीक नहीं ठहरता। *(देखो भूमिका, शब्द सागर के पृ० ७५ में)
इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों मतों की कुछ प्रमुख एवं साधारण (व्यापक) बातों को चुनकर एकत्रित कर लिया था और दोनों मतों की अन्येतर बातों का, जिन्हें वे बुरा समझते थे, ज़ोरों से खंडन किया है। हिन्दू और मुसलमान दोनों इनके पंथ में पाये जाते हैं। इस सबका मुख्य कारण यही जान पड़ता है कि इनका संस्कारों से ही दोनों मतों से सम्बन्ध था और सम्पर्कादि के कारण दोनों ही का गहरा प्रभाव इन पर पड़ा था। हिन्दुत्व का अंश कुछ तो इन्हें स्वभावतः पैतृक सम्पत्ति के रूप में और कुछ संस्कार-संसर्ग से मिला था, इसी प्रकार मुसलमान धर्म का कुछ अंश आप में सूफी फक़ीरों के सत्संग से आ गया था। इस प्रकार दोनों अंश मिलकर एक नये पंथ के रूप में आगे प्रगट हो गये।

भारतीय ब्रह्म एवं अद्वैतवाद को सूफी मत के साथ मिलाकर कबीर ने प्रेम और उपासना के साथ अपनी एक निराली भक्ति और भगवान् का कल्पना कर ली। योगियों के सत्संग से इन्होंने कुछ योग का भी अनुभव-ज्ञान उपार्जित कर लिया था। जिसका कुछ संकेत आप स्थान २ पर अपनी बानी में देते भी चले हैं। सुपठित न होने के कारण इन पर सभी मतों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य ही पड़ गया था और किसी मत-विशेष में इनकी सुदृढ़ता के साथ आस्था न हो सकी थी। यही कारण है कि उन्होंने कहीं तो सर्वव्यापी निरुपाधि एवं निर्गुण ब्रह्म की सत्ता अद्वैत मतानुसार, कहीं भक्ति एवं उपासना के साथ द्वैत और त्र्यकवाद और कहीं मायावाद तथा योगानुभवादि के साथ कुछ रहस्यवाद की भी झलक दिखाई है। सारांश यह है कि कबीर सत्संग

---

* कबीर को निगुरा या गुरुहीन कहा जाता था, कदाचित इसी से इन्होंने चालाकी करके रामानन्द को अपना गुरु बनाया था, स्पष्ट रूप से कदाचित इन्हें जुलाहा जान कर वे अपना शिष्य न बनाते।

के प्रभाव से बहुश्रुत और अनुभवी महात्मा होकर अनेकानेक दार्शनिक, वैष्णव और सूफीमत सम्बन्धी बातें अपनी बानी में दिखलाते हैं।

समाज (हिन्दू और मुसलमान) का भी उन्होंने भ्रमण तथा सम्पर्क, संस्कार एवं साहचर्य से मार्मिक अनुभव प्राप्त कर लिया था और इसी से वे उनकी आलोचना भी बड़ी मार्के की कर सके हैं, हाँ अपनी आलोचना में वे कुछ अशिष्ट, आवश्यकता से अधिक, स्पष्टवादी (outspoken) खरे और कटु हो गये हैं। उपासना को वे मानसिक दशा के बाहर नहीं लेते और इसी से उसके वाह्याडंबरों और कर्मकांड के कृत्यों को गौण एवं अनावश्यक कहते हैं। प्रेम को आपने प्रधान स्थान देकर माधुर्य भक्ति को (जिस में इष्टदेव को पति एवं प्रियतम के रूप में और अपने को उसकी प्रिया या सहचरी प्रेमिका के रूप में लिया जाता है) विशेषता दी है। यह मुसलमानों का ही प्रभाव जान पड़ता है।

साकार-उपासना, मूर्तिपूजा, रोज़ा, नमाज़ एवं बलि आदि का आप ने तीव्रता के साथ विरोध एवं खंडन किया है। आपने सृष्टि की उत्पत्ति आदि का अपना एक स्वतंत्र विधान दिखलाया है, और विचित्र कल्पना की है। प्रतिभा के प्रभाव से आपने अनूठी अनूठी बातें कही हैं। कहीं कहीं तो आपने कुछ अवतारवाद का भी संकेत दिया है, और गर्व के साथ लिखा है कि उन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ है और उन्हीं को सत्य मार्ग और सत्य ज्ञानानुभव प्राप्त हुआ है। वेद और .कुरान आदि को आपने कुछ भी नहीं माना, और इस प्रकार नास्तिकता का भी परिचय दिया है, हाँ गुरु का स्थान बहुत ऊँचा माना है।

कबीर का काव्य

अब तक तो हमने कबीर की धार्मिक बातों का सूक्ष्म परिचय दिया है, अब हम उन्हीं बातों एवं भावों से पूर्ण उनके काव्य पर

सूक्ष्म प्रकाश डालते हैं। कबीरदास, जैसा लिखा जा चुका है, केवल एक योगी या संत थे, और उन्हें अपने एक पंथ (मत) विशेष का उपदेश एवं प्रचार करना ही इष्ट था। वे कुछ पढ़े लिखे और अधीत न थे, उनमें काव्य एवं काव्य-शास्त्रादि का भी ज्ञान शून्य ही था। अपने मत का प्रचार करने के लिये ही उन्होंने जो कुछ भला बुरा बन सका, मुख से कह डाला, हाँ अपने वाग्वैचित्र्य के प्रभाव से वे उसे व्यापक तथा प्रभाव-पूर्ण बनाने में बहुत कुछ सफल प्रयास भी हुये, विशेषतया निम्न श्रेणी की अपठित समाज में उनकी बानी का अच्छा प्रभाव पड़ा। उच्च श्रेणी की पठित जनता पर उनका प्रभाव पड़ता ही कैसे। उपदेशकों के समान उन्होंने खंडन और व्यंग्यवाक्‌वाणों का ख़ूब उपयोग किया है। अपनी उल्टी और कौतुक-कुतूहलकारी उक्तियों से उन्होंने लोगों पर अपना अच्छा आतंक जमा दिया था।

उनका काव्य सदोष ही है, निर्दोष वह हो कब सकता था? जब उन्हें काव्य-शास्त्र और छन्द-शास्त्र का पर्याप्त ज्ञान न था। हाँ उनमें कवि-प्रतिभा अवश्यमेव थी और वह प्रगट भी हुई, यदि उसे विद्या एवं ज्ञान का सहयोग प्राप्त हो जाता तो निस्संदेह वह उन्हें न जाने क्या बना देती, और उनकी बाणी को सर्वोच्च कोटि की कविता में रूपान्तरित कर देती। उसी प्रखर प्रतिभा के कारण हमें उनकी वाणी में काव्य के कुछ सद्गुण भी प्राप्त हो जाते हैं:—उन्होंने रूपकों, दृष्टान्तों, उत्प्रेक्षाओं और अन्योक्तियों का अच्छा उपयोग किया है और इन्हीं के सहारे ज्ञान की बड़ी चुटीली बातें कहीं हैं। उक्ति-वैचित्र्य भी आपमें विलक्षण ही था और इसी से आप की कविता बहुत कुछ कुतूहलानन्दकारिणी तथा रोचकाकर्षक हो गई है।

व्यंग्यबल से भी आपने अपने काव्य को ख़ूब पुष्ट किया है और एक मत-प्रवर्तक के समान गर्वोक्तियों के द्वारा अपना व्यक्तित्व

एवं आतंक ख़ूब जमाया है। माधुर्यभक्ति की पुट देकर आपने प्रेमपूर्ण शृङ्गार तथा वियोग-वेदना का अच्छा चित्रण किया है, इसी प्रकार की कड़ियों में शृङ्गार एवं करुण रस का अच्छा प्रवाह प्राप्त होता है। सृष्टि-उत्पत्ति की कल्पना में अद्भुत, संसार की नश्वरता में शान्त तथा कहीं कहीं हास्य रस का भी स्वाद आप के काव्य में मिलता है। कुछ थोड़े से पद आपने दृष्टकूट के समान कहे हैं। आप ने कई प्रकार की छन्दें लिखी हैं किन्तु प्रायः सभी सदोष और अशुद्ध हैं, क्योंकि आपको छन्दशास्त्र या पिङ्गल का ज्ञान न था। ये छंदें सभी ग्रामीण और अशिष्ट सी हैं।

आपकी भाषा एक मिश्रित भाषा के रूप में है, उसमें खड़ी बोली, उर्दू, विहारी या पूर्वी हिन्दी (बनारसी बोली) और अवधी आदि कई बोलियों का समावेश पाया जाता है। यह अवश्य है कि आपकी पुस्तकें भिन्न २ लेखकों के हाथों से लिखी जाकर बहुत कुछ परिवर्तित रूप में होकर संदिग्ध ही हैं। आपकी भाषा में, ऐसा जान पड़ता है, समय २ और स्थान २ पर भिन्न २ व्यक्तियों के कारण बहुत कुछ हेर फेर हुआ है। कहीं २ ब्रज भाषा की भी पुट दे दी गई है, इस प्रकार इनकी भाषा मिश्रित और संदिग्ध रूप में ही मिलती है।

यह बात अवश्य है कि आपकी भाषा प्रसाद गुण-पूर्ण और ठेठ देहाती ढंग की है अतः वह कुछ कर्णकटु और अशिष्ट भी है। शैली आप की, कुछ कूटों एवं उलटवासियों को छोड़कर प्रायः साधारण और सरल ही है। भाषा में व्याकरण की अशुद्धियाँ भी बहुत पाई जाती हैं, इसके मुख्य दो कारण हो सकते हैं—१—वे ठेठ ग्रामीण भाषा ही, जो अन्य बोलियों के समावेश से मिश्रित रूप में हैं, लिखते हैं, जिसे व्याकरण के आधार पर नियमनियंत्रित और निश्चित रूप कदापि प्राप्त नहीं होता, साथ ही उस समय हिन्दी

भाषा का कोई व्याकरण तथा उससे नियंत्रित एवं निश्चित किया हुआ कोई स्थिर रूप न बना था। २—कबीर एक अपठित और संत श्रेणी के महात्मा थे अतः उनसे व्याकरण-सम्मत शुद्ध भाषा की आशा नहीं की जा सकती। यही कारण है कि आप की भाषा में उद्दंडता (Barbarism) प्रान्तीयता (Colloquialism) और जड़ता (Roughness) मिलती है, शब्दों पर कौतुक करने और अस्पष्ट एवं असंगत व्यवहारों के कारण वह कहीं कहीं अस्पष्ट भी हो गई है।

कल्पना, भाव (विचार) और भावनाओं के विचार से आप का काव्य अवश्यमेव सत्काव्य कहा जा सकता है। आप ही सब से प्रथम महात्मा हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रभाव से हिन्दी का अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय हित किया है। चंद्र के पश्चात आप ही ने विस्तृत एवं विशद काव्य हिन्दी में लिखा है, हम आप को इसी विचार से साहित्यिक कवियों में एक प्रधान स्थान देते हैं। हाँ, उन्हें हम महाकवि कहने के लिये तैयार नहीं, प्रखर प्रतिभा पूर्ण महात्मा अवश्य ही कह सकते हैं। वे अब तक इसी रूप में माने भी गये हैं। हमारे श्रद्धेय मिश्रबन्धुओं ने उन्हें अपने हिन्दी नवरत्न में महाकवि मान कर अच्छा स्थान दिया है अवश्य, किन्तु हम इससे सहमत होने में संदिग्ध हैं। (देखो "हिन्दी नवरत्न")

कबीर दास के कई शिष्य थे, उनमें से निम्नलिखित ही प्रधान हैं:—

१—**भग्गोदास या भग्गूदास**—कहते हैं कि ये बीजक ले भागे थे और इसी से भग्गूदास कहलाये।

२—**श्रुति गोपाल**—आपने सुख निधान ग्रंथ सं० १५७७ में रचा था।

३—धरमदास—आपने कबीर के द्वादश पंथ, निर्भय ज्ञान और कबीर बानी नामी ३ ग्रंथ लिखे। आपने कबीर की वाणी का संग्रह सं० १५२१ में किया था। सं० १५७५ में आप ही कबीरदास की गद्दी के अधिकारी हुये। आप की रचना कबीर की अपेक्षा अधिक सहृदयता-पूर्ण एवं सरस है, उसमें कर्कशता, उद्दंडता और कटुता नहीं। आप की अन्योक्तियाँ व्यंग्यमय और मनोरंजक है, खंडन और विरोध से दूर रह कर केवल प्रेम-पूर्ण निर्गुणोपासना में ही आप लीन रहे।

कबीरदास के एक लड़का भी था, जिसे कमाल कहा जाता है। कमाल का मत कबीर से नहीं मिलता, अतः कबीर ने रुष्ट होकर कहा थाः—

"बूड़ा बंस कबीर का, उपजा पूत कमाल।" कमाल ने भी हिन्दी में कुछ कविता की है, किन्तु वह उल्लेखनीय नहीं है।

कबीरदास ने काशी से मगहर में जाकर, जहाँ मरने से मुक्ति नहीं होती, यह कहते हुये कि "जो कबिरा कासी मरै तौ रमै कौन निहोर" सं० १५७५ में पंचत्व प्राप्त किया था। उक्त पद से ज्ञात होता है कि वे राम को तो मानते थे किन्तु उस प्रकार और उस रूप में न मानते थे जिस प्रकार या जिस रूप में रामानन्द एवं उनके अन्य स्मार्त वैष्णव शिष्य लोग। इस प्रकार कबीर ने १२० वर्ष की आयु पाई।

कबीर का मुख्य ग्रंथ, बीजक, है जिसमें ३ खंड हैंः—१—रमैनी, २—शब्द ३—साखी। (बीजक का अर्थ है हिसाब-बही, Invoice या गुप्त रहस्य का सूचक) वेदान्तात्मक ब्रह्म ज्ञान की स्थूल बातें, सामाजिक आलोचना, शुद्ध प्रेम, छुआ-छूत, माया, नश्वर संसार एवं अन्य स्फुट उपदेश बीजक में पाये जाते हैं।

* (इनके अन्य ग्रंथों की तालिका देखो मिश्र बन्धु विनोद-भाग१ में)

—:o:—

अन्य मुख्य सन्त कवि

महात्मा नानक का स्थान उक्त श्रेणी में द्वितीय है, आप भी कबीर के समान एक पंथ या मत के प्रवर्तक हैं, आप का यह मत सिक्ख मत कहलाता है और समस्त पंजाब प्रान्त में पूर्ण रूप से प्रचलित एवं व्यापक है।

सिक्ख जाति अपनी बहादुरी और धार्मिक दृढ़ता के लिये प्रसिद्ध है, यह एक सैनिक (Warrior or warlike) समाज है और मुसलमानों को दबाने में इसी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

गुरु नानक का जन्म तिलवंडी ग्राम ज़िला लाहौर में सं० १५२६ की कार्तिक-पूर्णिमा के दिन कालूचन्द खत्री के घर में हुआ था। आप स्वभावतः सरल, साधु और प्रतिभावान थे। आपके दो पुत्र श्रीचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र नाम के थे, लक्ष्मीचन्द्र जी ही आगे चलकर उदासी संम्प्रदाय के प्रवर्तक हुये।

गुरु नानक का ही यह प्रभाव था कि पंजाब प्रान्त में हिन्दू धर्म, और हिन्दू-सभ्यता की सत्ता एवं महत्ता अब तक ठहर सकी। पंजाब प्रान्त में मुसलमान लोग प्रायः १० वीं एवं ११ वीं शताब्दी से आकर बस रहे थे और इसी से उनका प्रभाव वहाँ

---

* नामदेव—वैष्णव सम्प्रदाय के स्वामी ज्ञान देव के आप शिष्य थे। आपने लगभग १४८० सं० के कविता की, आप के पद सिक्खों के ग्रंथ साहब में मिलते हैं। आप का "नामदेव की बानी" लिखा हुआ ग्रंथ द्वि० त्रै० खोज में मिला है। आपने साखी, पद, राग सोरठ, दोहे, और भजन लिखे हैं। भाषा आपकी व्रजभाषा है, और ऐसी प्रौढ़ है कि सूर-काल की सी जान पड़ती है। आप छीपी जाति के एक बड़े भक्त महात्मा थे।

बहुत वेग-बल से पड़ रहा था, संस्कृत एवं उसके साहित्य का पठन-पाठन वहाँ बन्द ही हो गया था, उसके स्थान पर फ़ारसी और अरबी का प्रचार प्रबलता के साथ हो रहा था, इसी से वहाँ की भाषा तथा धर्म-कर्मादि में इस सम्पर्क-साहचर्यजन्य प्रभाव से बहुत रूपान्तर आ गया था। मुसलमान धर्म का प्रचार बढ़ रहा था और हिन्दू धर्म का लोप ही सा हो रहा था। बलात् तो कुछ हिन्दू मुसलमान किये ही जा रहे थे, अब तो कुछ इच्छा-नुसार भी उस धर्म को अपनाने लगे थे। ऐसे ही समय में गुरु नानक ने कबीर के निर्गुणोपासना सम्बन्धी संत मत को लेकर कुछ थोड़े ही रूपान्तर के साथ एक स्वतंत्र मत का प्रचार किया और सिक्ख (शिष्य) धर्म तथा सिक्ख समाज की स्थापना करते हुये हिन्दुत्व की रक्षा की।

कबीर के सदृश ये महात्मा भी कुछ पढ़े लिखे न थे, इसी से आप एक सफल कवि एवं लेखक न होकर एक सच्चे भक्त और सिद्ध महात्मा हो सके, अपनी प्रतिभा के बल से आपने अनेक सूक्तियों तथा सदुपदेशों की सृष्टि रची है। आपके भजनों का संग्रह "ग्रंथ साहब नामी" सिक्ख-समाज से पूज्य ग्रंथ में सं० १६६१ में किया गया था।

आप की भाषा पंजाबी ही थी, किन्तु आपको ब्रजभाषा का भी ज्ञान और प्रेम था, और इसी से आप के कुछ भजन ब्रजभाषा में भी मिलते हैं। आपकी हिन्दी आपकी पंजाबी से भी कुछ प्रभावित हो गई है, और यह स्वाभाविक ही है। सीधे सादे धार्मिक भावों को आपने सीधी सादी भाषा में ख़ूब व्यक्त किया है। चूँकि आपकी हिन्दी-कविता कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं, इसी से हम उसकी विवेचना नहीं कर रहे।*

---

*चरणदास—आप ने सं० १५३७ में 'ज्ञान स्वरोदय' नामी एक ग्रंथ लिखा।

दादूदयाल

आप का जन्म सं० १६०१ में अहमदाबाद नामी स्थान (गुजरात) में माना जाता है। आपकी उत्पत्ति के भी विषय में उसी प्रकार की बातें कही जाती हैं जिस प्रकार की महात्मा कबीर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में। आपकी भी जाति का विषय संदिग्ध तथा विवाद-ग्रस्त है। कोई इन्हें गुजराती ब्राह्मण और कोई मोची या धुनिया कहता है। कहते हैं कि आप बच्चे के रूप में लोदीराम नामी एक नागर ब्राह्मण को साबरमती झील में बहते हुये मिले थे। सम्भवतः आप निम्नश्रेणी के ही जान पड़ते हैं। आप के गुरु का भी कुछ पता नहीं लगता, हाँ आप ने अपनी कविता में कई स्थानों पर कबीर का नाम लिया है, और सैद्धान्तिक रूप में आप उन्हीं के अनुयायी भी जान पड़ते हैं। आपने अपना एक स्वतंत्र पंथ भी चलाया, जो दादू पंथ कहा जाता है। आपने पर्याप्त भ्रमण एवं संत-सत्संग भी किया था। आपका शरीरान्त सं० १६६० में नराना नामी स्थान के पास (जो जयपुर से २० मील पर दादू पंथियों का मुख्य तीर्थ स्थान है) हुआ था। वहाँ आपके कपड़े और ग्रंथ अब भी रक्खे हुये हैं।

आपके पंथवाले भी निर्गुणोपासकों के समान निरंजन एवं निराकार की उपासना करते हैं और सत्तराम (सत्यराम) कहते हुये वंदन एवं अभिवादन करते हैं। ये कंठी, माला तथा तिलक नहीं रखते। दादू जी की बानी में कबीर-रचित साखियों से मिलने जुलनेवाले दोहों का ही प्राधान्य है, हाँ कुछ थोड़े से पद भी उसमें यत्र तत्र प्राप्त होते हैं।

भाषा आप की राजस्थानी (जयपुरी) से मिली हुई तथा प्रभावित हुई पश्चिमी हिन्दी है। आपने कुछ पद गुजराती और

पंजाबी में भी लिखे हैं। साथ ही आपने अपनी भाषा में अरबी एवं फ़ारसी के भी शब्दों का विशेष प्रयोग किया है। हाँ, अन्य निर्गुणोपासक संत कवियों के समान आप ने भी अपनी क्रियाओं को खड़ी बोली के ही रूपों में विशेषतया रक्खा है।

आप की कविता कबीर की कविता की अपेक्षा अधिक प्रेमपूर्ण, सरस और गम्भीर है, हाँ उसमें उक्ति-वैचित्र्य तथा व्यंग्य-चमत्कार अवश्यमेव वैसा नहीं जैसा कबीर में है। निर्गुणोपासकों के प्रायः सभी मुख्य विषयों पर आपने कविता की है और उसमें ब्रह्म-व्यापकता, सत्गुरु-महिमा, जाति-पाँति तथा धर्मादि के पार्थक्य का निराकरण, आत्मबोध और जग-नश्वरता आदि को प्रधानता दी है। यह अवश्य है कि आप की रचना उच्च कोटि की साहित्यिक रचना नहीं है, इसी से हम उसे यहाँ उल्लिखित करना तथा उसकी विवेचना करना अनुपयुक्त समझते हैं।

सुन्दरदास

खंडे वाल (वैश्य) कुल में ये चैत्र शुक्ल ६ सं० १६५३ में जयपुर राज्य के द्योसा ग्राम में उत्पन्न हुए। ६ वर्ष की ही अवस्था में ये बाबा दादूदयाल के शिष्य हो गये। साधु जगजीवन के साथ ये दादूदयाल के देहावसान पर काशी में आये और ३० वर्ष तक संस्कृत-व्याकरण, वेदान्त एवं पुराणादि पढ़ते रहे। आप कुछ फ़ारसी भी जानते थे। शारीरिक एवं मानसिक दोनों दशाओं में आप सौम्य थे। स्वभाव सरल और कोमल था। आप ही निर्गुण सन्तों में से एक अकेले सुपठित, काव्य-कला के ज्ञाता, साहित्यिक और बाल ब्रह्मचारी थे।

काव्य शास्त्र तथा व्याकरणादि के ज्ञान से आप का काव्य सरस, सुन्दर और साहित्यिक होता था। भाषा आप की सुसज्जित

व्रजभाषा है, क्योंकि राजपूताने तथा पश्चिमीय प्रान्त में व्रजभाषा का ही पूर्ण साम्राज्य था, साथ ही अन्य निर्गुणी अपठित सन्तों के समान आप ने संगीतात्मक तथा सदोष पद आदि न लिखकर शुद्ध छन्दों—घनाक्षरी एवं सवैया आदि में ज्ञान एवं देशाचार आदि विषयक अच्छी रचना की है। आप का मुख्य ग्रंथ "सुन्दर विलास" है, जिसमें उक्त छन्दों का ही प्राधान्य है। छन्दों में यमक, अनुप्रास एवं अन्य अर्थालंकारों का निर्वाह अच्छे चातुर्य-चमत्कार तथा सौन्दर्य के साथ मिलता है। प्रान्तिक आचार-विचार एवं व्यवहारादि पर आप ने अच्छी उक्तियाँ लिखी हैं। काव्य-शास्त्र से सुपरिचित होने के कारण आप की कविता अन्य संत कवियों से पूर्णतया पृथक् (विषय को छोड़कर) और उत्तम कोटि की है, उसमें ऊटपटांग की गढ़न्त और कोरी तुकबन्दी नहीं। निर्गुण पंथी होकर भी अपने साहित्याध्ययन से प्रभावित होकर आपने लोक-धर्म की उपेक्षा नहीं की। आपने शास्त्रानुकूल ही निर्गुण कल्पना का प्रबन्ध बाँधा है। कबीरादि के समान ऊटपटांग कल्पना नहीं की ; यथाः—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्व पुनि अहंकार है।
अहंकार हू तें तीन गुण सत, रज, तम,
तमहू तें महाभूत विषय प्रसार है॥
रजहू तें इन्द्री दस पृथक् पृथक् भईं,
सत्वहू तें मन आदि देवता विचार है।
ऐसी अनुक्रम करि शिष्य सों कहत गुरु,
"सुन्दर" सकल यह मिथ्या भ्रम-जार है।

काव्य-रचना के विषय में आपने लिखा है :—

बोलिये तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय ,
ना तौ मुख मौन गहि मौन होय रहिये ।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक, छन्द, अरथ अनूप जामैं लहिये ॥
गाइये तौ तब जब गाइबे को कंठ होय,
श्रवण के सुनत ही मन जाय गहिये ।
तुक-भङ्ग, छन्द-भङ्ग, अरथ मिलै न कछु,
"सुन्दर" कहत ऐसी बानी नहिं कहिये ॥

भाषा और अनुप्रासादिक की छटा भी देखियेः—

गेह तज्यो, असनेह, तज्यो, पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी ।
मेह सहे सिर सीत सहे तन, धूप सहै जो पँचागिनि बारी ॥
भूख सही रहि रूख तरे, पर "सुन्दर दास" सबै दुखचारी ।
डासन छाँड़ि कै, कासन ऊपर आसन मार्यो पै आस न मारी ॥

आप का देहान्त सांगानरें में कार्तिक शुक्ल ८ सं० १७४६ में हुआ था ।

बाबा मलूकदास

लाला सुन्दरदास खत्री के घर में आप बैसाख कृष्ण ५ सं० १६३१ में कुएडा ज़िला इलाहाबाद में उत्पन्न हुए। आप एक बड़े नामी और सिद्ध संतों में थे और आप की करामात सम्बन्धी कई दन्त कथायें सुनी जाती हैं। आप की दो पुस्तकें प्रख्यात हैं :— (१. रत्नखान और २. ज्ञानबोध)

भाषा आप की फ़ारसी, अरबी आदि के शब्दों से मिश्रित हो विशेषतया खड़ी बोली है और साधारण बोल चाल की ही भाषा सी है। हाँ, कहीं २ अच्छा काव्योचित पद-विन्यास तथा सौंदर्य पाया जाता है। आप का काव्य अन्य संत कवियों से कुछ उन्नत

है। आप ने आत्मबोध, प्रेम एवं विराग आदि पर अच्छा लिखा है। १०८ वर्ष की आयु पाकर आप का देहान्त सं० १७२९ में हुआ।

अक्षर अनन्य

आप के जन्म-संवत् आदि का ठीक पता नहीं। हाँ, सं० १७१० में आपके वर्तमान रहने का पता चलता है। आप सेनुहरा (दतिया) के कायस्थ और राजा पृथ्वीचन्द्र के दीवान थे। विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे थे। महाराज छत्रशाल के शिष्य थे। आपने योग और वेदान्त के साधारण विषयों पर कई पुस्तकें लिखी हैं और दुर्गासप्तशती का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। आपकी कविता साधारण श्रेणी ही की है, धार्मिक एवं साम्प्रदायिक दृष्टि से वह चाहे कुछ हो।

उपसंहार

उक्त प्रधान सन्त कवियों के अतिरिक्त भी अनेक सन्त कवि हुए हैं, जिनकी बानियाँ निम्न श्रेणी के लोगों में अब तक प्रचलित हैं। कतिपय ऐसे सन्त-कवियों की बानियों के संग्रह प्रयाग के वेलविडियर प्रेस से प्रकाशित भी हुई हैं।

इन सब सन्त कवियों की रचनाओं के देखने से ज्ञात होता है कि वे केवल साधारण बोल-चाल की प्रान्तीय एवं मिश्रित भाषाओं में ही लिखी गई हैं। सन्तों ने अपने व्यक्तित्व को प्रधानता देकर अपने नामों से अपने अपने स्वतन्त्र पन्थ एवं सम्प्रदाय चला दिये और इस प्रकार धार्मिक संगठन तथा मतैक्य का अस्तित्व दूर कर दिया, जिसका प्रभाव या फल देश एवं समाज पर अच्छा न पड़ सका। इन लोगों के कारण प्रान्तीयता का भी भेद बढ़ चला और साहित्यिक क्षेत्र में भी भिन्न भिन्न प्रान्तों की भिन्न भिन्न प्रकार की

साधारण एवं ग्रामीण बोलियाँ भी आ चलीं, जिससे भाषा का एक सर्वमान्य सुव्यवस्थित एवं स्थायी साहित्यिक रूप नियम-नियन्त्रणा के साथ सुविनिश्चित एवं स्थिर न हो सका। काव्य-क्षेत्र में भी इसका प्रभाव उचित एवं सुफलप्रद न पड़ा।

इन सन्तों में से बहुत ही कम ऐसे थे, जो सुपठित एवं साहित्य से परिचित थे, उन्हें छोड़ कर शेष सभी अपठित और साहित्य से अभिज्ञ थे, अतः उनके द्वारा केवल निम्न कोटि का ही काव्य रचा जा सका, जिसे साहित्य के उच्च क्षेत्र में कोई भी स्थान न दिया जा सका।

चूँकि इनका निर्गुणवाद उतना सरस और समाकर्षक न था (यद्यपि इन लोगों में से कुछ ने उसे सरस एवं मञ्जुल बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया और उसे काव्य तथा संगीत से, जिनमें मनोहारी मधुरता रहती है, संयुक्त भी किया) जितने से साधारण जनता तथा पठित-समाज समाकृष्ट हो मुग्ध हो सके। यही कारण था कि इन सन्तों के काव्य का प्रचार-प्रसार साहित्य एवं समाज में प्राचुर्य एवं प्राबल्य के साथ न हो सका। साथ ही इनके काव्य में व्यापकता तथा मानव-जीवन की विस्तृत भाव-व्यञ्जना का ऐसा अभाव सा था कि वह उसके कारण सगुणोपासक भक्त कवियों के सरस एवं भाव-व्यञ्जक व्यापक काव्य के सन्मुख कुछ भी न ठहर सका। अस्तु, यद्यपि इन सन्त कवियों की परम्परा चलती रही और उसी के साथ उनकी काव्य-परिपाटी भी अपनी साम्प्रदायिक विशेषता के साथ जारी रही, तथापि उसका कोई भी सन्तोषप्रद तथा लाभदायक प्रभाव एवं फल न तो समाज ही पर पड़ सका और न साहित्य पर ही, इनका सारा काव्य-साहित्य यों ही पड़ा रहा।

अब हम निर्गुणोपासक उन सन्त कवियों के काव्य को उठाते हैं, जिन्होंने अपनी निर्गुणोपासना में प्रेम-तत्व का प्राचुर्य के साथ सामंजस्य किया है और कथाओं का सहारा लेकर सरस कथा-काव्य सा लिखा है। इन्होंने साथ ही यह भी किया है कि लौकिक प्रेम के भीतर अलौकिक प्रेम की झलक भी दिखलाई है और सांसारिक घटनाओं तथा वाह्य जगत के साथ पारलौकिक तथा अन्तर्जगत का सुन्दर सामंजस्य किया है। यहीं रहस्यवाद का सच्चा अभास मिलता है।

यहाँ हम कुछ निष्कर्ष रूप में हिन्दी की दशा को भी दे देना चाहते हैं। इस समय तक हिन्दी ने अपना साम्राज्य पञ्जाब से विहार तक फैला दिया था। ब्रजभाषा को साहित्यिक क्षमता प्राप्त हो चली थी, वह काव्य-क्षेत्र में एक व्यापक तथा सर्वमान्य सी होने लगी थी। अब हिन्दी को बड़े बड़े आदमी (राजा, धार्मिक, सन्त, महात्मा, कवि तथा पण्डित) भी अपनाने लगे थे। प्रसिद्ध महाराज श्री कुम्भकर्ण जी ने भी हिन्दी में रचना की और आपही कदाचित् हिन्दी के सर्व प्रथम टीकाकार हुए हैं। वीर काव्य का अब अवसान तथा धार्मिक का उत्थान ज़ोरों से हो चला और हिन्दी के धार्मिक काव्यकार, धार्मिक महात्मा, सन्त तथा फ़क़ीर हुए। प्रेम-कथा-काव्य का उदय दामों और क़ुतबन के द्वारा होकर मुल्लादाऊद की प्रणाली से प्रौढ़ हुआ। अब हिन्दी तथा उसके साहित्य का मार्ग साफ़ हो गया। यद्यपि अभी हिन्दी को पूर्णतया निश्चित स्थिरता न प्राप्त हो सकी थी, लोग अपनी अपनी प्रान्तीय बोली में लिखते थे, तौभी अब तक में ब्रजभाषा को दृढ़ता तथा साहित्यिक क्षमता प्राप्त हो चली थी और उसे ही सत्कवि साहित्यिक काव्य-भाषा बना कर व्यापकता देते हुए उठाने लगे थे। अस्तु—

प्रेमात्मक निर्गुण कथा-काव्य

हम प्रथम ही दिखला चुके हैं कि मुसलमान लोग भी अब हिन्दी-भाषा को अपनाकर उसमें काव्य लिखते हुए अपने धर्म का प्रचार कर चले थे। उन पर भारतीय बातों का भी अच्छा प्रभाव पड़ रहा था और वे भारतीय जनता तथा उसके साहित्य पर अपने धर्म एवं साहित्य का प्रभाव डाल रहे थे। इसी कारण सूफ़ी धर्म का यहाँ विकास-प्रकाश हो सका और उसके द्वारा निर्गुणोपासना की पूर्व लिखित शैली एवं परम्परा का प्रवाह प्रेमात्मक उपासना की ओर झुका दिया गया। सूफ़ी सिद्धान्त का आधार यद्यपि वेदान्तात्मक निर्गुणवाद तथा व्यापक एकेश्वरवाद ही है, तथापि उसका विकास बहुत कुछ मुसलमान मत के भी सिद्धान्तों से प्रभावित होता हुआ किया गया है।

इस शाखा के प्रचारक प्रायः मुसलमान फ़क़ीर ही हुए हैं, जिनमें संस्कारजन्य मुसलमान-परम्परा तथा सम्पर्क-साहचर्य से उत्पन्न होने वाली भारतीय पद्धति का संमिश्रित प्रभाव पड़ा था। इन फ़क़ीर कवियों ने कथा-काव्य ही के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रदर्शन किया है और फ़ारसी की मसनवियों के समान काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें फ़ारसी बहर के स्थान पर हिन्दी के दोहा-चौपाई नामी छन्द रक्खे गये हैं और काव्य-परम्परा में फ़ारसी और हिन्दी दोनों भाषाओं की काव्य-परिपाटियों का न्यूनाधिक रूप में सामञ्जस्य किया गया है। हिन्दू-जनता में इसे व्यापक तथा विस्तृत रूप से प्रचलित करने के लिये इन फ़क़ीर कवियों ने अपने अपने प्रान्त की ठेठ बोल-चाल की साधारण या ग्रामीण भाषा का अपने इन काव्यों में कुछ न्यूनाधिक रूपान्तर के साथ प्रयोग किया है। प्रायः यह देखा जाता है कि इन कवियों ने मुसलमानी सिद्धान्तों

को भारतीय सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक अपनाया और महत्वपूर्ण दिखलाया है। इन्होंने लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम का अच्छा प्रदर्शन कराया है और वाह्यजगत के भीतर अन्तर्जगत का अच्छा सामञ्जस्य एवं प्रतिबिम्ब दिखलाया है। लोकोत्तर आनन्द तथा भावना का, प्रेम एवं सौन्दर्य की विश्व-व्यापिनी प्रतिभा के साथ इन लोगों ने अच्छा आभास दिया है।

कहीं कहीं किसी किसी ने भारतीय हिन्दू-धर्म की कतिपय बातों को इस रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है कि उस चित्रण से उन बातों की ओर से घृणा सी उत्पन्न हो जाती है और उनकी महत्ता में बहुत कुछ ऊनता आ जाती है। प्रेम-पद्धति को भी फ़ारसी ढंग की साड़ी पहिनाई गई है और मुसलमानी सभ्यता के प्रेम का ही प्राधान्य रक्खा गया है। यह अवश्य है कि साधक एवं सिद्धि को नायक तथा नायिका के रूप में चित्रित करते हुए इन फ़क़ीर कवियों ने ईश्वरीय प्रतिभाशक्ति से मिलाने वाले प्रेम का अच्छा प्रदर्शन किया है।

यह ध्यान में सदा रखने की बात है कि इन्होंने माधुर्य भक्ति के ही समान अपनी प्रेम-पद्धति का चित्रण किया है और लौकिकता से अलौकिकता की ओर उसे चलाया है। प्रेम-पथ की विपत्तिपूर्ण घटनाओं के वर्णन में रहस्यात्मक आध्यात्मिकता की छाया साधक या उपासक (प्रेमी भक्त) के पथगत विघ्नादि की सूचना के साथ बड़ी मार्मिकता से दिखलाया है।

यहाँ प्रायः समस्त कथा या उसका मूल तत्व विकसित होता हुआ अन्योक्ति-संश्लिष्ट (Allegorial) ही सा रक्खा जाता है और समस्त वाह्य जगत अभ्यन्तर जगत का प्रतिबिम्ब मात्र सा चित्रित या आभासित होता हुआ जान पड़ता है।

इन प्रेमात्मक गाथाओं में मानसिक पक्ष को ही विशेष प्रधानता

दी जाती है और दी भी जानी चाहिये, क्योंकि प्रेम का सम्बन्ध हृदय ही से है, विवेकात्मक मन या मस्तिष्क से कदापि नहीं। इन गाथाओं में प्रेम का आध्यात्मिक रूप ही अपनी विशेषता रखता है और वह ऐसे व्यापक एवं विशद रूप में चित्रित किया जाता है कि उसी के अन्तर्गत विश्व के सभी साधारण एवं असाधारण, स्वाभाविक एवं कृत्रिम तथा जड़ एवं चैतन्य सम्बन्धी व्यापार सजीव भाव-व्यञ्जना की उत्कृष्ट दशा के साथ आभासित होते हैं। यही कारण है कि यह वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी और भावोद्दीपक होता हुआ व्यापक तथा मनोहारी होता है।

यहाँ प्रेम यद्यपि लौकिकता के साथ उठता चलता है, तथापि उसमें अलौकिकता का अच्छा आभास रहता है, नायक एवं नायिका के बीच ऐहिक दाम्पत्य प्रेम न केवल शुद्ध वासनात्मक प्रेमी-प्रेमिका के ही प्रेम के रूप में रहता है, वरन् उसमें सेव्य-सेवक भाव, अथवा दास्यभाव की भी अच्छी पुट रहती है, साथ ही माधुर्यभाव की भी कहीं कहीं झलक आ जाती है। स्त्री-पुरुष (पति-पत्नी) सम्बन्धी ऐहिक प्रेम आगे चल कर फ़ारसी ढङ्ग के इश्क का रूप धारण करता हुआ आत्मा और परमात्मा के शुद्ध सात्विक तथा आलौकिक प्रेम की ही ओर झुक जाता है। चूँकि प्रेम की उत्पत्ति प्रायः सौंदर्य से होती है, अतः यहाँ लौकिक एवं स्वाभाविक सौंदर्य को उठाकर उसे अलौकिक तथा ईश्वरीय सौंदर्य का अतीतता तथा अनन्त विश्व-व्यापिनी विशदता की ओर झुका दिया जाता है। सौंदर्य और प्रेम से शृङ्गार रस की ही उत्पत्ति होती है, अतः यहाँ शृङ्गार रस प्रधान रहता है। हाँ, यहाँ के शृङ्गार में अलौकिकता तथा पवित्र-भाव-व्यंजकता के साथ ही साथ भक्ति की भव्यता की ही विशेषता रहती है। प्रेम यहाँ सदैव गुण-प्रधान, विशेषोन्मुख तथा लोलुपता-

रहित ही होता है. वह पूर्वरागादि के समान सामान्योन्मुख एवं अगुण-प्रधान नहीं होता। इसीसे वह सत्य, स्वाभाविक, सजीव और हृदयस्पर्शी होता है।

फ़ारसी की मसनवियों में एकान्तिक, आदर्शात्मक तथा लोकान्तरव्यापी प्रेम का ही निरूपण मिलता है। यह सांसारिक बातों, घटनाओं तथा विषयों से दूर रह कर लोकेतर किसी स्वतन्त्र सौंदर्य की सत्ता तथा महत्ता के ही साथ सम्बन्ध रखता हुआ दिखलाया जाता है। लोक-व्यवहार तथा कर्तव्यादि की छाया के आधार पर इसमें प्रेम से ही उत्पन्न होने वाले व्यापार दिखलाये जाते हैं। भारत की प्रेम-गाथाओं में लोकसम्बद्ध और व्यवहारात्मक प्रेम का ही रूप दिखलाया जाता है, वह लोकजीवन के भिन्न भिन्न विभागों तथा व्यापारों के तत्वों को ही प्रधानता देता हुआ चलता है। इन दोनों पद्धतियों का सुन्दर सामंजस्य करके इन सूफ़ी फ़क़ीर कवियों ने अपनी प्रेम-गाथाओं में लोकपक्ष तथा आदर्श-लोक-वाह्य पक्ष दोनों का रूपक खड़ा किया है। साथ ही उसे प्रायः भावात्मक और व्यवहारात्मक भी रक्खा है।

फ़ारसी-साहित्य की प्रेम-गाथाओं में नायक के ही प्रेम का वेग अधिक प्रबल रहता है, किन्तु भारतीय प्रेम-गाथाओं में इसके विपरीत नायिका का ही प्रेम विशेषाधिक तीव्र रहता है। अब इन दोनों को समानता के साथ परस्पर मिला कर इन फ़क़ीर कवियों ने अपनी प्रेम-गाथाओं में प्रायः दोनों प्रेम-पद्धतियों के आदर्शों का चित्रण किया है। यहाँ पर अब प्रेम-गाथाओं की इस प्रेम-पद्धति का भी सूक्ष्म विवेचन कर देना उचित जान पड़ता है।

प्रेम गाथा-साहित्य में दाम्पत्य प्रेम के वर्णन करने की मुख्यतया ४ प्रणालियाँ देखी जाती हैं:—

१—साहचर्यज प्रेम—यह वह प्रेम है, जो नायक और नायिका के विवाह-सम्बन्ध से सम्बद्ध हो जाने पर सम्पर्क और साहचर्य के कारण पारस्परिक सुपरिचय हो जाने तथा जीवन-व्यापी सम्बन्ध के ज्ञात होने पर उत्कर्ष पाता है। यही प्रेम प्रायः स्वाभाविक, शुद्ध और विमल होता हुआ चिरस्थायी होता है। इसमें पारस्परिक सहानुभूति, दुःख में समवेदना तथा स्नेहोत्पन्न सम्बन्ध-समता रहती है और कर्तव्य-बुद्धि से यह प्रेम संयत तथा संचालित रहता है।

२—मोहज प्रेम—यह प्रेम प्रायः नायक और नायिका में परस्पर मोहित हो जाने के उपलक्ष में अंकुरित होकर प्रस्फुटित होता है। इसी का परिणाम प्रायः उनमें विवाह-सम्बन्ध करा देता है। इसमें प्रथम समाकर्षण (जो रूप-सौंदर्यादि के कारण उत्पन्न होता है) और फिर परस्पर अपनाने की इच्छा के साथ प्रीति उत्पन्न होती है। एक दूसरे को प्राप्त करने का प्रयत्न प्रायः नायक के ही द्वारा विशेष रूप से किया जाता। हाँ, कभी कभी नायिका के द्वारा भी नायक की प्राप्ति का उद्योग होता है और प्रायः नायक के प्रयत्न में नायिका अपनी ओर से सहायता पहुँचाया करती है। इस प्रकार इसके प्रयत्न में रूपान्तर हो जाते हैं। प्रयत्न के समय में संयोग और वियोग दोनों का सन्निवेश होता है। फिर दोनों का विवाह-सम्बन्ध हो जाने पर प्रायः उनकी प्रेम-लीलाओं की इति श्री ही सी हो जाती है। इस प्रेमगाथा में संयोग अल्पकाल के लिये ही कहीं घूमते-फिरते होता है और इससे इसमें आदिम प्राकृतिक जीवन की स्वाभाविकता (Natural Pastoral life) की भी अच्छी पुट रहती है। हमारी शकुन्तला, विक्रमोर्वशी आदि की कथायें इसी कोटि की हैं।

३—रागज प्रेम—यह प्रेम प्रायः पूर्वानुराग के साथ ही

उत्पन्न होता है। नायक या नायिका के हृदय में गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन अथवा ऐसे ही अन्य साधनों से प्रथम अनुराग उत्पन्न होता है और दर्शन या साक्षात्कार की प्रबल उत्कंठा उठकर उन्हें सप्रयत्न कराती है। साक्षात्कार एवं पारस्परिक स्नेह-संलापनादि के पश्चात् उनका प्रयत्न सफल होकर विवाह सम्बन्ध में परिणत होता है। इसमें भी प्रयत्न दोनों में से किसी एक की ओर से या दोनों ही की ओर से हो सकता है। इस प्रेम की उत्पत्ति सौंदर्य, सद्‌गुण एवं सुलक्षणों के प्रति स्वाभाविक उपासना-प्रवृति के ही आधार पर होती है। इसका उद्‌गम प्रायः पूर्वराग से ही होता है, जिसमें अभिलाषा का ही पूर्ण-प्राधान्य रहता है। जब इसमें हृदय की उदात्त वृत्ति की विशेषता आ जाती है, तभी यह प्रेम में रूपान्तरित होने लगता है। पूर्वराग में भी प्रथम प्रर्याप्त प्रौढ़ता, प्रबलता तथा परिपक्वता आ जानी चाहिये, तब कहीं उसे आगे बढ़ना चाहिये, नहीं तो वह अस्वाभाविक सा होता हुआ लोभ के रूप में ही परिणत हो जावेगा।

चूँकि पूर्वराग में रूप-गुण की प्रधानता होती है। अतः वह सामान्योन्मुख ही होता है। जब वह व्यक्ति-प्राधान्य के साथ विशेषोन्मुख हो जाता है, तभी वह प्रेम कहलाता है। प्रेम में बुद्धिगत व्यभिचार तथा विवेक-विकार और वस्तु-चयन के साथ परिवर्तन आदि की मात्रायें नहीं रहतीं। वह जिस वस्तु के प्रति हो गया, उसके प्रति हो ही गया, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, चाहे उससे कितनी ही अच्छी कोई अन्य वस्तु क्यों न प्राप्त हो सकती हो। प्रेम हृदय का हृदय से ही सम्बन्ध मात्र है, मन और मन की ही अचल प्रवृत्ति है, वह हृदय को ही स्पर्श करता तथा अपनाता है, शरीर आदि को नहीं। शरीर आदि तो उसके लिये गौण ही हैं। पूर्ण परिचय ही प्रेम का प्रबल उत्पादक एवं विकासक है और

वह साक्षात्कार का ही मुखापेक्षी रहता है, क्योंकि प्रेम अपनी ही आँखों से देखता है, दूसरे की आँखों से नहीं। हाँ, जिस पूर्वराग से उसकी उत्पत्ति होती है वह गुण, कविता एवं चित्रदर्शनादि की निरन्तर आवृत्ति से प्रबल होता है, किन्तु वह इतने ही से प्रेम में कदापि परिणत नहीं होता और न प्रेम ही बन जाता है। प्रेम में एक विशिष्टता और एकनिष्टता की ही प्रधानता रहती है। प्रेम का पूर्ण विकास एवं प्रकाश, विपत्ति में ही होता है, दुःख ही उसको पल्लवित करने वाला है, वियोग (किसी विशेष इष्ट व्यक्ति के समागम के अभाव का दुख) ही उसे प्रबल करनेवाला है, इसमें समागम की (अनिर्दिष्ट व्यक्ति के साथ) सामान्य वेदना नहीं रहती। विवाह-सम्बन्ध के पश्चात् यह प्रेम गार्हस्थ्य रूप में परिपुष्ट हो भक्ति एवं दास्य भाव के साथ मिलकर उत्कृष्ट होता हुआ तथा दोनों हृदयों को एक करता हुआ सेव्य-सेवक भाव से बल पाकर उपास्योपासक प्रेम के रूप में आ जाता है। नल दमयंती और ऊषा और अनिरुद्ध का प्रेम इसी कोटि का है।

(४) **विलासात्मक प्रेमः**—यह निम्नकोटि का प्रेम है, क्योंकि इसमें लोलुपता एवं लोभादि की ही मात्रायें प्रधान तथा विशेष रूप में रहती हैं। यह बहुत ही संकीर्ण तथा अस्थिर होता हुआ अस्वाभाविक ही सा रहता है। वासना-पिपासा तथा लालसामयी वैषयिक तृष्णा की शान्ति ही में इसकी प्रायः इति श्री होती है। कर्पूर मंजरी तथा रत्नावली आदि में इसी प्रकार के प्रेम का चित्रण किया गया है।

उक्त चारों प्रकार के प्रेम का वर्णन भारतीय साहित्य में पाया जाता है, किन्तु ध्यान रखना चाहिये कि भारतीय प्रेम-पद्धति में वियोग-वेदना की पूरी प्रधानता स्त्रियों में ही दिखलाई जाती है, पुरुषों में नहीं, क्योंकि पुरुषों के लिये यह कर्तव्य माना गया है

कि वे अपने हृदय को संसार के अन्य कर्तव्यों के लिये भी सुदृढ़ तथा पुष्ट बनायें। पुरुष के हृदय का वर्णन कविवर भारवि ने इस प्रकार किया है :—

"वज्रादपिकठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
नाराणाम् हि चेतांसि, कोहि विज्ञातुमर्हति॥"

—उत्तर रामचरित्र

यह अवश्य है कि पुरुषों को भी वियोग-दुख होता है, किन्तु वे अपने पौरुषेय बल से उसे दृढ़ता, गम्भीरता तथा धीरता के साथ सहते हुए विशेष बढ़ने नहीं देते। यह बात स्त्रियों में नहीं होती, उनका हृदय स्वभावतः पुरुषों के हृदयों से अधिक कोमल और भावों से प्रभावित हो जानेवाला होता है, उसमें उतनी दृढ़ता, गंभीरता तथा शक्ति नही होती। फ़ारसी साहित्य में बात इसके विपरीत ही मिलती है, उसमें पुरुष ही पर प्रेम-तथा वियोग का अधिक तीव्र प्रभाव पड़ता है। भारतीय प्रेम-पद्धति में नायिका में प्रेमी के प्रति कठोरता न दिखलाई जाकर वह नायक में ही प्रायः दिखलाई जाती है और प्रायः प्रेम-पथ में कठोरता किसी भी ओर नहीं दिखलाई जाती, किन्तु फ़ारसी प्रेम पद्धति में, नायिका को नायक के प्रति कुछ विशेष कठोर दिखलाया जाता है, वही उस पर ख़ंजर चलाती, उसे क़त्ल करती और उसके मरने पर बड़े सौभाग्य से कहीं उसकी मज़ार पर दो फूल चढ़ाकर चिराग़ जला देती है और प्रायः यह भी नहीं करती। भारत में नायिका का प्रेम और फ़ारस में नायक का प्रेम अधिक तीव्र दिखलाया जाता है। साथ ही फ़ारस में प्रायः प्रेम-पात्र और प्रेमी दोनों ही मनुष्य होते हैं और इस प्रकार वहाँ के कवि जीव और ब्रह्म में प्रेम स्थापित कर सूफ़ी सिद्धान्तानुसार लौकिक प्रेम को उठाकर अलौकिक ऐकान्तिक और आदर्शात्मक बना देते हैं। हमारे यहाँ ऐसा न

करके नायिका और नायक में ही प्रेम स्थापित कर (नायिका में उसको तीव्र रखकर) आत्मा (नायिका) और परमात्मा (नायक) का सम्बन्ध दिखलाया जाता है। फ़ारसी साहित्य के प्रभाव से ही कदाचित् हमारे यहाँ माधुर्यभक्ति (जिसमें परमात्मा को पति और आत्मा को स्त्री मानकर भक्ति की जाती है) का प्रचुर प्रचार एवं प्रावल्य किया गया है।

हमारे सूफ़ी फ़क़ीरों ने फ़ारसी तथा भारतीय दोनों प्रकार की प्रेम-पद्धतियों से न्यूनाधिक रूप में सार तत्व ले कर अपनी एक मिश्रित प्रेम-पद्धति का विकास किया है और उससे काव्य-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। प्रेम को व्यापक और प्राकृतिक बनाते हुए इन लोगों ने अन्तर्जगत का वाह्य जगत (प्रकृति) में और वाह्य जगत का अन्तर्जगत में अच्छा प्रतिबिम्ब दिखलाया है। दोनों में अन्योन्याश्रय एवं साहचर्य सम्बन्ध (Interdependant and Coexistant relation) स्थापित करते हुए एक में ही एक-रूपता के साथ मिला दिया है, इस प्रकार प्रकृति को पृथक् मानते हुए भी उसे आत्मा का ही प्रतिबिम्ब सिद्ध किया है और यों द्वैत एवं अद्वैत को सुन्दरता से सुलझा दिया है।

इन लोगों ने प्रेम को भावात्मक एवं व्यवहारात्मक दोनों शैलियों में चित्रित किया है। साथ ही प्रेम की भारतीय एवं फ़ारसी दोनों पद्धतियों की सभी मुख्य एवं प्रधान बातों को एक साथ रखकर भक्ति और उपासना की ओर झुकाते हुए लौकिक रूप से अलौकिक रूप की ओर ले गये हैं और हृदयहारिणी तथा विभुत्व-विधायिनी शैली पर वाह्य जगत को अन्तर्जगत का ही प्रतिबिम्ब-रूप दिखलाया है। सर्वसामान्य एवं सर्वनिष्ठ हृदय तत्व की विश्वव्यापिनी भावना के द्वारा चराचर को एक ही जीवन-सूत्र में बाँध कर एकेश्वरवाद तथा "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" की

सूचना दी है। प्रेम की इस व्यापक भावना में सहानुभूति सम-वेदना तथा दया (करुणा) आदि के कोमल तत्वों का भी सर्वत्र सुचारुता से समावेश किया गया है, जिससे प्रेम की भावना में, रोचकता, कोमलता तथा सहृदयता के साथ ही साथ मर्मस्पर्शिता का तीव्र वेग आ जाता है। सर्वत्र प्रायः माधुर्य की भव्यभावुकता का स्निग्ध, निर्मल एवं अकृत्रिम परिचय परम शुद्धता तथा कोमलता के साथ प्राप्त होता है। प्रेम की संयोगावस्था में, जो प्रकृति आनन्दमयी होती है, वही वियोगावस्था में दुःखमयी हो जाती है। इस प्रकार वह हार्दिक दशा की ही छायारूपिणी रहती है, यह यहाँ पूर्णरूप से दिखलाया जाता है। प्रकृति के पदार्थों को समसुखी एवं समदुखी दिखलाते हुए उनमें सहानुभूति और समवेदना आदि का उदय करके प्रेम-तत्व का सूक्ष्म चित्रण किया जाता है। सादृश्य एवं वैषम्य दोनों प्रकार की भावनायें पूर्ण वेग के साथ व्यंजित की जाती हैं, जिनकी उत्कृष्ट दशा में भी स्वाभाविकता बनी रहती है। हावों-भावों का भी अच्छा प्रदर्शन इन संत कवियों ने अपनी प्रेम-कथाओं में किया है।

प्रेम को इस प्रकार चित्रित करते हुए ये सूफ़ी फ़क़ीर उसे अन्त में ईश्वरोन्मुख कर देते हैं और या तो स्पष्टरूप से कथा के अन्त में या आदि में उसे अन्योक्ति पूर्ण कह देते हैं या उसमें अन्योक्ति का होना वे बीच बीच में यथा स्थान सूचित करते चलते है।

इनका प्रेम लौलिक पक्ष से अलौकिक पक्ष की ओर तथा उसकी गम्भीरता एवं व्यापकता अनंतता की ही ओर अग्रसर होता जाता है। उनका सौन्दर्य अतीत की ही सूचना देता है। समस्त ऐहिक प्रतिबन्धों से परे होकर इनका प्रेम आध्यात्मिक क्षेत्र में ही जाता हुआ जान पड़ता है और वह विश्वव्यापी होकर अपने अन्दर अन्तर्जगत के व्यापारों के प्रतिबिम्ब रूप में वाह्यजगत या

प्रकृति के सभी व्यापारों को रख लेता है। इसी प्रकार इनके सौंदर्य का वर्णन भी ऐसा होता है कि वह उस अतीत सौंदर्य की ही सूचना देता है, जिसका कुछ आभास प्रतिबिम्ब रूप में हमें इस सृष्टि में दृष्टिगोचर होता है। उसी अनन्त सौंदर्य का माधुर्य सर्वत्र विकसित होता हुआ जान पड़ता है।

नायक और नायिका को मिलानेवाला इनका यह प्रेम-पंथ आत्मा और परमात्मा को मिलाने वाले प्रेम-पंथ का स्थूल आभास ही जान पड़ता है। नायक या प्रेम-पथिक इनका एक सच्चे साधक या अनन्य भक्त के ही रूप में चित्रित किया जाता है, नायिका ही इनकी ईश्वर या परमात्मा के रूप में दर्शित होती है या वह परमात्मा से मिलानेवाली विवेक बुद्धि ही सी जान पड़ती है। यहाँ यह ध्यान रहे कि जिन फ़क़ीरों पर फ़ारसी या मुसलमानी प्रभाव अधिक होता है वे नायिका ही को परमात्मा के समान माशूक़ा के रूप में चित्रित करते हैं, क्योंकि फ़ारसी पद्धति में ईश्वर को माशूक़ (प्रेमिका) या प्रेम पात्र तथा भक्त को आशिक़ (प्रेमी) प्रणयी के रूप में माना जाता है। हाँ, जिन पर भारतीय पद्धति का प्रभाव विशेष पड़ता है, वे भले ही इसके विपरीत मानते तथा नायिका को बुद्धि के रूप में मानते हैं। परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग दिखलानेवाला सद्‌गुरु एक सहायक के रूप में तथा शरीर नगर के और मन राजा आदि के रूप में रहता है। प्रेम के ठीक पथ से भटकाने वाले शैतान के रूप में एक व्यक्ति तथा माया एवं जगज्जाल के रूप में एक या कुछ अन्य व्यक्ति रहते हैं। इस प्रकार इनकी प्रेम-कथायें प्रायः व्यंग्य-गर्भित ही रहती हैं और ऐसा करने के लिये इन फ़क़ीर कवियों को अन्योक्ति, समासोक्ति एवं अन्य ऐसे ही व्यंग्यार्थ-पुष्ट अलंकारों से सहायता लेनी पड़ती है जिससे कथाओं में सुकाव्यता आ जाती है।

इन सूफी फ़क़ीरों का भी मत ठीक हमारे भक्त साधुओं के समान है, दोनों यह मानते हैं कि ईश्वर की प्राप्ति न केवल मानसिक विवेक-बुद्धि सम्बन्धी प्रखर एवं सत्य ज्ञान से ही हो सकती है वरन् हृदय सम्बन्धी प्रेम एवं भक्ति से भी हो सकती है। आध्यात्मिक ज्ञान के ही समान हार्दिक प्रेम या भक्ति की भावना भी ईश्वर से मिलाने में सफल होती है।

ब्रह्म-प्राप्ति के साधन दोनों ही हैं, एक में तो तर्क-पूर्ण विवेक-जन्यज्ञान का और दूसरे में विश्वास एवं प्रेम-पूर्ण भक्ति-सम्बन्धी अनुराग का ही प्राधान्य है। इस प्रकार ये प्रज्ञा के सामने (Knowing attitude of rational mind or knowledge) भावनात्म रागात्मिका वृत्ति (Feeling attitude of sentimental or Emotional side of heart) को भी ईश्वर-प्राप्ति का साधन सिद्ध करते हैं। इनका प्रेमी एक भावुक या सहृदय जिज्ञासु होता हुआ सच्चा भक्त होता है जो अपने सद्गुण से ब्रह्मज्योति का, जिसमें अनन्त सौंदर्य, प्रतिभा एवं आनन्द रहता है, आभास पाकर उसी में लीन एवं प्रवृत्त हो जाता है और संसार के सब व्यापार-व्यवहारों के अज्ञानांधकार तथा माया के सब प्रपंचों से परे होकर उस ज्योति में लय हो जाता है। इस दशा के प्राप्त होने से पूर्व उसे उन अनेकों विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है जो उसके पथ में माया तथा शैतान के द्वारा उपस्थित की जाती हैं और जिन्हें वह हटाता तथा धीरता से पार कर जाता है।

इस प्रकार आध्यात्मिक रहस्यों का चित्रण करते हुए ये फ़क़ीर कवि बीच बीच में योग (राज योग तथा हठ योग) की विविध क्रियाओं, उसके कतिपय विधानों एवं उसकी विधियों या साधनाओं का भी सूक्ष्म एवं सांकेतिक वर्णन दे देते हैं

और इन्हीं के साथ वे कभी २ सूफ़ी मत के अनुसार साधकों की भिन्न २ अवस्थाओं एवं उनके प्राप्त होने की विधियों का भी सूक्ष्म परिचय कराते जाते हैं। साधारण घटनाओं की साधारण बातों में भी बड़ी मार्मिकता एवं चतुरता के साथ संत सुकवियों ने आध्यात्मिक गूढ़ तथा गंभीर रहस्यों की छाया दिखलाते हुए अपने रहस्यवाद का संदेश दिया है। विश्व-मांगल्य, सत्य और दिव्य सौंदर्य की पवित्र प्रेम के साथ सदुपासना करना ही इनका मुख्य उपदेश एवं उद्देश्य समझना चाहिये।

कहीं कहीं प्रसंगानुकूल इन लोगों ने अतीतानन्द के दिव्य संसार का अच्छा आभास देते हुए स्वर्गीय सौंदर्य का चित्रण भी किया है और दिखलाया है कि यह माया-ग्रसित भव-जाल ही हमें उस दिव्य सौंदर्यानन्द के कमनीयानुभव-सुख से पृथक् कर देता है, बाल्यकाल में अवश्यमेव हममें उसका कुछ आभास बना रहता है और उसकी सुस्मृति के ही प्रभावाधार पर हम इस संसार में भी अपने चारों ओर अलौकिकतामय अनन्त सौंदर्य एवं दिव्यानन्दोल्लास का कुछ प्रतिबिम्ब देखते तथा उसका कुछ अनुभव करते हुए मग्न हुआ करते हैं। हाँ, ज्यों ज्यों बड़े होकर हम इस मायामय संसार-पाश से जकड़ते जाते हैं त्यों ही त्यों हमारा वह सौंदर्यानन्द-संस्कार, उसका वह स्मृति-सुख तथा वह प्रेमोल्लासपूर्ण दिव्य प्रकाश मिटता जाता है। इसीलिये यह संसार हमें दुःखादि अनीप्सित वस्तुओं से भरा हुआ जान पड़ता है। यहाँ जन्म लेना मानो कारागार में पड़ना प्रतीत होता है और यहाँ के सभी संस्कार या व्यापार हमें स्वप्नवत् प्रतिभात होते हैं। सांसारिक जीवन हमारे लिये एक निद्रानिशा-काल सा जान पड़ता है। हम इन सब बातों का अनुभव संसार में जकड़ जाने पर बहुत कम किया करते हैं, परन्तु जब इस संसार में हम

सौंदर्यानन्द पूर्ण अमर धाम से आते हैं तब हम उसका स्मरण कर, इसे देख कर तथा दोनों धामों की तुलना सी करके रो पड़ते हैं। थोड़े समय के पश्चात् हम इस भव-प्रभाव के कारण धीरे धीरे उस दिव्य धाम को भूल सा जाते हैं और बड़ी कठिनाई से उसका स्मरण या मानसिक अनुभव कर पाते हैं। इसी की पुनर्प्राप्ति या जागृति के लिये हमें योगादि के विधान बताये गये हैं। जब हम अपने मन को प्रेम एवं भक्ति से संसिक्त करके ध्यान व धारणा की सहायता से अनुरागान्वित उस अतीत सौंदर्य तथा अनन्तानन्द की उपासना और आराधना करते हैं तथा अपनी उस अतीत-स्मृति को उत्तेजित एवं चैतन्य करते हैं तब हमें समाधि की दशा में, (जब हमारा सारा संपर्क-सम्बन्ध इस संसार से छूट जाता है और हमारे मन में इसका ध्यान भी नहीं रह जाता तथा उसी आनन्द और सौंदर्य पूर्ण अमर धाम की स्मृति-छाया का आभा-सालोक छिटक जाता है) उस अनन्तानन्द तथा दिव्य सौंदर्य का प्रेम-प्रकाशपूर्ण प्रतिबिम्ब स्मृति-क्षेत्र में नये रूप से दिखलाई पड़ने लगता है।

इस प्रकार इन संत सुकवियों ने यह दिखलाया है कि न केवल मन की ज्ञान-विमज्जित सुनिर्मल तर्क-बुद्धि ही के द्वारा हम सच्चिदानन्द (सत्य, ज्ञान, आनन्द पूर्ण ब्रह्म या ईश्वर) का सान्निध्य, सायुज्य तन्मयत्व आदि प्राप्त कर सकते हैं वरन् अपनी प्रेम-भक्ति से परिष्कृत एवं संस्कृत रागात्मिका वृत्ति की उत्तेजना तथा चैतन्यता के भी द्वारा उसी सत्य सौंदर्यानन्द-स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। न केवल विमलबुद्धि ही सत्य तत्व का निर्णय कर उस तक हमें पहुँचा सकती है वरन् हमारी शुद्ध प्रेम-भक्ति से विमलीकृता रागात्मिका मनोवृत्ति भी पहुँचा सकती है। इस प्रकार इन्होंने भी भक्ति-मार्ग का सहारा लिया है

तथा उसे ज्ञान-मार्ग से इस अर्थ में अच्छा माना है कि वह सर्वसाधारण, सरल और सुख-साध्य होता हुआ शीघ्र ही अभीष्ट फल का देने वाला है। भक्ति-मार्ग से कुछ विशेषता इन लोगों ने प्रेम-तत्व को प्रधानता देकर की है। किन्तु यदि देखा जावे तो भक्ति में प्रेम का तत्व सन्निहित ही है। यह बात अवश्य है कि इन संतकवियों ने रहस्यवाद के आधार पर अपने निर्गुण-निराकारवाद को प्रेम तथा भक्ति की सौंदर्यानन्दमयी सुस्मृति-विधायिनी मनोवृत्ति के सहारे से चलाया है और भक्ति-मार्ग के कवियों ने सगुणसाकार-वाद को महत्व दिया है और उसमें रहस्यवाद की छाया नहीं चित्रित होने दी। हाँ भक्त कवियों ने सौंदर्य तथा आनन्द को इतनी लोक-व्यापिनी व्यंजना के साथ नहीं रक्खा जितनी इन संत कवियों ने।

वैष्णवभक्त कवियों में सगुण-साकार-वाद की ही प्रधानता रही, इसीलिये उनके भक्ति-भावात्मक काव्य में योग-साधनादि की अपेक्षा उपासना तथा आराधना आदि की विशेष प्रबलता पाई जाती है किन्तु इन संत कवियों में निर्गुण-निराकारवाद की विशेष प्रधानता होने से इनके प्रेमात्मक काव्य में योग-साधनादि आध्यात्मिक साधनाओं का ही प्राचुर्य या प्राबल्य पाया जाता है। यह अवश्य है कि इन संत कवियों ने अपने इस अध्यात्म भाव के साथ मानवीय मनोवृत्तियों, रागात्मिका भावनाओं तथा मानसिक सद्वासनाओं का भी सुन्दर सामंजस्य करके उसमें लोकव्यापिनी व्यंजना के द्वारा अतीतानन्द तथा असीम सौंदर्य का आभास या आलोक दिखलाया है।

व्यक्तित्व से ये कवि आगे बढ़कर लोक-परलोक के व्यापकत्व तक जाने का प्रयत्न करते हैं और इसी प्रकार लौकिकता से पारलौकिकता की ओर ये जनता के हृद्गत भावों को ले जाना चाहते हैं।

संसार के सुख, सौंदर्य, प्रकाश एवं प्रेम को दिखलाते हुए ये अलौकिक परमानन्द, अनंत सौंदर्य, अनूपरूप, दिव्य ज्योति-प्रतिभा तथा असीम पावन प्रेम की लोक-रंजिनी तथा अखिल ब्रह्मांड-व्यापिनी महत्ता-सत्ता का कमनीय, प्रतिविम्ब दिखलाने लगते हैं। इसीसे इनके अपरिमेय प्रेम और सौंदर्य के विश्वव्यापी प्रभाव तथा रूप-प्रकाश में दिव्य लोकोत्तर कल्पना का कल कौतुक भी पाया जाता है। ये आत्मा को ऊपर उठा कर उस परमात्मा से मिला देते हैं जिसके ही सकाश तथा जिसकी ही सतसंग-सुरभि के पाने से यह संसार दिव्य धाम होकर अलौकिक आनन्द, असीम सौंदर्य तथा पुनीत प्रेम-प्रकाश का प्रासाद सा दीखने लगता है। इनके काव्य में रहस्यपूर्ण परोक्षाभास का अच्छा चित्रण पाया जाता है। स्वाभाविक माधुर्य और प्रकृति (मानव प्रकृति तथा निसर्ग) चित्रण इनके काव्य में अपने सच्चे रूप रखते हैं। मनोविज्ञान के मूल सिद्धान्तों का सुन्दर निर्वाह एवं उपयोग भी इनके द्वारा किया गया है। मानव-मस्तिष्क या मन की ही दशादिकों के अनुरूप इन्होंने प्रकृति का प्रदर्शन करा के "जाकी रही भावना जैसी" वाला सिद्धान्त चरितार्थ किया है।

प्रकृति-चित्रण में, यह अवश्य है, ये सन्त कवि प्रायः भारतीय एवं फ़ारसी पद्धतियों को एक साथ ले कर चलते हैं। इनमें दृश्यों का चयन भी बहुत ही उपयुक्त तथा मार्मिक रूप में पाया जाता है। प्रेम के प्रदर्शन में तो ये विशेष सफल हुए हैं। समस्त संसार में ये प्रेम ही प्रेम का पवित्र तथा अनन्त प्रकाश देखते हैं, इसे ये लौकिक तथा अलौकिक दोनों रूपों में देखते हुए लौकिक से अलौकिक की ही ओर उसे प्रधानता देकर चलाते हैं। यही प्रेम प्रिय (परमात्मा) की ओर ले जाने वाला सत्य, शुद्ध तथा

सुन्दर मार्ग या साधन है। अपने प्रिय परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुओं में इसका प्रेमी हृदय रमता है और सच्चे प्रेमी का यही गुण भी है।

इन कवियों में यह बात विशेष रूप से देखी जाती है कि ये अपने प्रेमी नायक को एक साधक, नायिका को सुख सौंदर्य-मयी ब्रह्मज्योति, गुरु को पथ-प्रदर्शक, प्रेम को साधन और प्रेमिका की प्राप्ति को जीवन का आदर्शलक्ष्य मानते हुए चलते हैं। साधक के मार्ग में जो विघ्न होते हैं उन्हें ये प्रेम मार्ग के विघ्नों, मार्ग के टिकाश्रमों को सूफ़ी-साधकों की चार अवस्थाओं (शरीअत, तरीकत हकीक़त और मारफ़त) के रूप कहते हैं।

इसी के साथ ही साथ ये योग शास्त्र तथा वेदांत के सिद्धान्तों को भी स्थान स्थान पर प्रसंगानुकूल चरितार्थ या घटित करते चलते हैं। योग के दो रूपों (राज योग तथा हठ योग) में से इनकी प्रवृत्ति प्रायः हठ योग की ही ओर विशेष रहती है इसीलिये योगवर्णित इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तथा कुंडलिनी के साधन, बारह चक्रों का भेदन तथा दशद्वार-प्रवेश, आदि हठ योग की अन्य क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाली बातों की भाव-गम्य सूक्ष्म सूचना इनके काव्यों में यत्र तत्र पाई जाती है। प्रायः ये लोग आत्मा को परमात्मा के समीप जाने की समता स्त्री के मायके से पति के समीप जाने से किया करते हैं। कबीर तथा जायसी आदि में यह साम्यभाव स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। इस प्रकार इन कवियों ने भारतीय दर्शन शास्त्र के मूल तत्वों के साथ अपने सूफ़ी रहस्यों का सुन्दर सम्मिश्रण किया है। सूफ़ी मत के प्रभाव से ये कभी २ साकारोपासना की ओर भी झुक जाते हैं, किन्तु प्रधानता अंत में निर्गुणोपासना को ही दिया करते हैं।

सूफ़ीमत में परमात्मा अनन्त शक्ति, गुणों, सौंदर्य तथा अनन्त आनन्द का सागर माना गया है। "सोऽहम्" के समान (उसी के अनुवाद के रूप में) "अनलहक़" इसका मूल मंत्र है। ध्यान रखना चाहिये कि इस मत का आधार ब्रह्मवाद तथा आत्मवाद ही है और इन्हीं की इसमें पूर्ण प्रधानता है। इसमें देववाद या एकेश्वरवाद के तत्वों की पुट नहीं। मुसलमान धर्म तथा भक्ति-सम्प्रदाय में एकेश्वरवाद तथा देवतावाद का ही प्राधान्य है। इनमें सृष्टि की रचना, उसका पालन तथा नाश करने वाला एक सर्वशक्तिमान प्रधान देवता माना जाता है और जीव तथा जगत (प्रकृति) की सत्ता उससे पृथक् मानी जाती है। किन्तु ब्रह्मवाद तथा सूफ़ी मत के अनुसार यह सब जगत ब्रह्म ही है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई भी नहीं, ब्रह्म ही सत्य, ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप और नित्य है, जीव उससे पृथक् नहीं।

सूफ़ी मतानुसार मनुष्य के ४ प्रधान भाग हैं, १—विषयात्मक वृत्ति या इंद्रिय (नफ़स) इसी का दमन करना साधक का मुख्य उद्देश्य है। २—आत्मा (रूह) ३—हृदय (क़ल्ब), इन्हीं दोनों के द्वारा साधन का कार्य किया जाता है, इन दोनों में वैसा विशेष भेद नहीं जैसा हमारे दार्शनिक मत में है, इसी क़ल्ब (हृदय) पर सभी वस्तुओं का प्रतिबिंब पड़ता है तथा उनका ज्ञान होता है। ४—बुद्धि (अक़्ल) यही ज्ञान की मुख्य साधिका है।

इसी प्रकार सूफ़ी लोग ४ जगत् भी मानते हैं १—भौतिक जगत (आलमें नासूत) २—चित् जगत या आत्म संसार (आलमें मलकूत या आलमें अरवाह) ३—आनन्द लोक (आलमें ज़बरूत) ४—सत्संसार या ब्रह्मलोक (आलमें लाहूत)।

आत्मा और रूपात्मक वाह्य जगत के मध्य हृदय (क़ल्ब) ही एक साधन रूप पदार्थ है, इसी पर रूप-जगत का प्रतिविम्ब

पड़ता है और इसी के द्वारा आत्मा और वाह्य जगत में विम्ब-प्रतिविम्ब सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आत्मा ज्ञान-रूप प्रत्यय है और हृदय वह पदार्थ है जिस पर ज्ञान या भाव का प्रतिविम्ब पड़ता है और भाव चित्र चित्रित होते हैं।

उक्त चार जगतों में से प्रथम को छोड़ कर शेष तीन हमारे सच्चिदानन्द के ही अन्तर्गत हैं और उसी के विश्लेषण-रूप ही हैं।

सत् संसार या ब्रह्म सब से परे है, यहाँ तक कि वह आत्म-संसार से भी परे है। चित् तो आत्मा-सान्निध्य चित्मान से जड़ बुद्धि में उत्पन्न होनेवाला धर्म या ज्ञान ही मात्र है। ब्रह्म इससे परे है क्योंकि वह निर्गुण और अज्ञेय है। जब तक हृदय स्मरण (ज़िक्र) और ध्यान (मुराक़बत) से पूर्णतया विमलीभूत नहीं हो जाता तब तक वह सत् या ब्रह्म का ज्ञान नहीं कर सकता। स्मरण के लिये प्रथम अहंभाव का त्याग कर अपने को भूल जाना चाहिये, फिर ज्ञाता और ज्ञान दोनों की भावनाओं को भी भुला देना चाहिये और केवल अर्थ या विषय के ही आकार को शेष रखना चाहिये।

सूफ़ियों का हृदय (क़ल्ब) हमारे वेदान्तियों की आत्मा का अन्तःकरण होकर जड प्रकृति का एक विकार ही है और उसी पर जगत का प्रतिविम्ब पड़ता है, अतः यह सिद्धान्त वेदान्त के विम्बप्रतिविम्बवाद का ही रूप है। सूफ़ियों की भक्ति का वही स्वरूप है जो हमारे भक्ति-सम्प्रदाय वाले वैष्णवों की भक्ति का है। जिहाद (नफ़स का दमन या इन्द्रिय-निग्रह) ही विरतिपक्ष तथा जिनके ज़िक्र (स्मरण) मुराक़बत (ध्यान) ही भक्तिगत रति के रूप हैं। दृश्य संसार रूपात्मक तथा नामरूप होता हुआ असत् है,

इसके प्रति जो रति भाव हममें है जब उसे हम इससे हटाकर अदृश्य या सत् ब्रह्म पक्ष में लगाते हैं तभी हमें ब्रह्म-सान्निध्य प्राप्त हो सकता है, इसीलिये हमें संसार से विरक्त होना और ब्रह्म में अनुरक्त होना पड़ता है। अपने इसी प्रेम-प्रधान भक्ति-भाव के कारण सूफ़ियों को भी हमारे भक्ति-सम्प्रदाय के समान हृदय को प्रधानता देनी पड़ी है और उसे परोक्ष रूप में परोक्ष चित् तथा शक्ति के साथ रखना पड़ा है। परमात्मा में ही यह परोक्ष हृदय आधार के रूप में प्राप्त होता है। इस हृदय का विकास यहाँ तक तो केवल उपास्योपासक या परमात्मा के सम्बन्धरूप में हुआ, हमारे भक्तों ने इसी हृदय को और विकसित किया और इसके उस रूप को भी खोजा जिसका सम्बन्ध लोक-रक्षा, विश्व-मांगल्य तथा लोकरंजन से है और जो मनुष्य मनुष्य के व्यवहार में भी अभिव्यक्त होता है। यह हृदय उसी परम हृदय (परमात्मा के हृदय) की अभिव्यक्ति है। हमारे वैष्णव भक्तों के इसी विशेष विश्वरंजक हृदय की भव्योदार भावना ने निर्गुण संतों के लोक से औदासीन्य एवं वैराग्य उत्पन्न करानेवाली वाणी पर विजय प्राप्त की और हिन्दू जनता के हृदयों को आकृष्ट कर आनन्द से परिप्लावित करते हुए हिन्दू धर्मान्तर्गत वैष्णव भक्ति में सदा के लिये निश्चलता से लगा दिया।

सूफ़ी मत में साधक की ४ अवस्थायें होती हैं और इन्हीं चारों को पार कर वह सिद्धि प्राप्त करता है। धार्मिक ग्रंथों के विधि-विधान तथा निरोध-निषेध का पूर्ण पालन करना उसके लिये प्रथमावस्था में अनिवार्य है, इसे "शरीअत" या कर्मकांड कहा गया है। वाह्यचारी के लिये योग की क्रियाओं आदि के पश्चात् हृदय को निर्मल कर ईश्वर का ध्यान करना द्वितीयावस्था में आवश्यक है, यही उपासना या तरीक़त है। भक्ति और उपा-

सना के पश्चात् सत्य का ज्ञान होता है और साधक तत्वदृष्टि पाकर त्रिकालज्ञ हो जाता है, यही ज्ञानावस्था है।

तदनन्तर साधक उपवासादि साधनों के द्वारा अपने को प्रेम-मय करके अपने उपास्यदेव में लीन-विलीन हो जाता है यही उसकी सिद्धावस्था है।

इन्द्रिय-निग्रह के साथ परमात्मा के सान्निध्य की प्राप्ति का मार्ग सूफ़ीमत में "तरीक़ा" कहलाता है। इसमें साधक को मौन, एकाकी जीवन, इच्छा-निरोधादि का आश्रय लेना आवश्यक होता है। इसमें कई विश्राम-स्थान (मुक़ामात) माने जाते हैं। मुख्य इनमें से चार ही हैं और प्रायः इनके वे ही रूप होते हैं जो उक्त चार अवस्थाओं के हृदय की आभ्यांतरिक दशा विशेष की, जो ईश्वरानुग्रह से प्राप्त होती है और जिसमें साधक अपने को भूलकर ईश्वर में ही लीन हो आनन्दमग्न हो जाता है "हाल" कहते हैं, यह हमारे उस समाधि की दशा है जिसकी प्राप्ति ईश्वर-प्रणिधान से होती है।

इस हाल के दो पटल कहे गये हैं, प्रथम हैं त्याग-प्रधान, जिसके अन्तर्गत १–आत्म-सत्ता, प्रतीति-त्याग (फ़ना) २–अहंभाव-त्याग (फ़क़द) और ३–प्रेम-प्रमाद (शुक्र), द्वितीय पक्ष है प्राप्ति पक्ष, इसके अंदर १–परमात्मा में स्थिर होना (बक़ा) २–ईश-प्राप्ति (वज्द) ३–शान्ति-सुख (शेख़) आते हैं साधक यों तो सब प्रकार के व्यापार करता रहता है किन्तु हृदय में वह सदैव उसी भगवान की भावना में लीन रहता है, हमारी स्मृतियों की विधि को ये लोग साधक की प्रथम सीढ़ी मानते हैं और यों हमारे साथ चलते हैं। यह सब होते हुए भी सूफ़ी लोग मानसिक अनुराग तथा हृत्तत्व-प्रेम पर विशेष बल रखते हैं, उनका मत है कि प्रेम ही पर-मात्मा की सत्ता एवं महत्ता का मुख्याधार तत्व है। यह प्रेम

प्रथम निर्विशेष भाव से एकान्त तथा अद्वैत रूप में रहा और फिर उसमें रूपान्तर हुआ और वह अमरत्व-रहित न रह कर वाह्योपकरण के साथ व्यक्त हो चला और इसी से इस सृष्टि की परमात्मा से उत्पत्ति हो चली। ईश्वर ने इसी प्रेम को वाह्यविषयाकार में देखने की इच्छा की और शून्य से ही अपना एक प्रतिरूप या प्रतिविम्ब रच दिया। इसमें सभी गुण प्रायः उसी के से थे और इसी का नाम आदम पड़ा, अस्तु यही आदम उस परमात्मा का व्यक्त रूप माना गया।

इसी विचार से परमात्मा और आत्मा में समान गुणों के होने से आत्मा और परमात्मा का सान्निध्य एवं ऐक्य स्थापित होता है। दोनों मिलकर एक ही हो जाते हैं। यद्यपि यह होता है अवश्य तो भी परमात्मा में आत्मा की अपेक्षा कुछ विशेषता रहती है। दोनों का एक में हल होना ही "हुलूल" कहा जाता है। इस प्रकार ईश्वर में मनुष्यता और मनुष्यता में ईश्वरता का सामंजस्य प्राप्त होकर अवतारवाद् का भी तत्व यहाँ आभासित होने लगता है। यह सिद्धान्त हमारे श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टद्वैत से बहुत कुछ साम्य रखता है।

अरब के इब्न नामी विद्वान् सूफ़ी ने आत्मा और परमात्मा दोनों को एक ही परब्रह्म की सत्ता के दो पटल या पत्त कहे हैं और इस प्रकार फिर अद्वैत की ओर इसे वह ले गया है। वेदान्त का भी यही विचार है और इसी प्रकार निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म का द्वैत दूर किया जाता है। जब ब्रह्म शुद्ध सत्व में आभासित होता है तब तो वह ईश्वर और जब अशुद्ध सत्व में प्रतिविंबित होता है, तब जीव कहा जाता है, है ब्रह्म वस्तुतः एक ही शुद्ध रूप।

सूफ़ी मत यह भी मानता है कि ब्रह्म की एक ही नित्य तथा

सत्य सत्ता के साथ यह जो दृश्य संसार में अनेकत्व का जाल दिखलाई पड़ता है, वह और कुछ न होकर उसी एक पारमार्थिक सत्ता का भिन्न २ रूपों में प्रतिबिंब मात्र है। ब्रह्म की एक परम सत्ता के दो मुख्य रूप सूफ़ी मानते हैं:-१-एक नित्यरूप २-अनंत रूप, और इसी के वे दो मुख्य गुण भी मानते हैं:—१-उत्पादक २-उत्पन्न, इन्हीं के आधार पर उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति नाम, रूप और गुणों की समष्टि रूप से दृश्य संसार सी होती है। इसी प्रकार वह निर्गुण, निर्विकार (निर्विशेष) तथा एक सच्चिदानन्द होता हुआ भी सगुण, साकार तथा अनेक रूप सा प्रतिबिंबित या प्रतिभात होता है। अस्तु, यह दृश्य जगत भूय मात्र न होकर उस ब्रह्म या परम सत्ता का अभिव्यक्त अस्तित्व ही है, जिसमें सत्ता और गुणादि जाकर एक ही हो जाते हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूफ़ी मत में मुख्यतया दो बातें अस्पष्ट सी ही हैं:—१-ब्रह्म की सत्ता का चित्स्वरूप २-दृश्य जगत का ब्रह्माध्यास होना। ये दोनों बातें हमारे वेदान्त में भली भाँति स्पष्ट की गई हैं।

उपासना के लिये यह आवश्यक सा ही हो जाता है कि ज्ञाना-नन्दस्वरूप निर्गुण ब्रह्म साकार एवं सगुण रूप में माना जावे। इसीलिये सूफ़ी लोग भी उसे अनन्त गुणागार तथा असीम सौं-दर्यानन्द-सागर कहते हुए अपने प्रियतम के रूप में देखते हैं और ब्रह्मानन्द को सांसारिक प्रेमानन्द के ही समान व्यक्त करते हैं। कभी कभी सूफ़ी लोग ब्रह्म को "बुत" या प्रतिमा रूप में भी पूजते हैं। अनलहक़ (अहं ब्रह्मोऽस्मि) को प्रधानता देकर सूफ़ी मत आत्मा और परमात्मा का ही द्वैत दूर करता है। जगत को वह ब्रह्म-प्रतिबिंब ही मानता है और इस प्रकार वेदान्त के प्रति-बिंबवाद की भी सहायता ले लेता है।

आत्मा और परमात्मा को एक ही मानकर शरीर के ही भीतर एक विशिष्ट स्थान पर ब्रह्म की सत्ता देख उस तक जाने की साधना (मार्ग तथा साधन) का रहस्यात्मक वर्णन सूफ़ी लोग किया करते हैं। इससे वे पिंड और ब्रह्मांड को भी एक बना देते हैं। ब्रह्म के सूक्ष्म चित् से जीवात्माओं की तथा सूक्ष्म अचित् से जड़ जगत की उत्पत्ति मान कर ये सृष्टि की उत्पत्ति उसी ब्रह्म से ही मानते हैं। सूफ़ी फ़क़ीर अवश्य ही कभी २ इसलामी सृष्टि-उत्पत्ति (आदम-हौवा की कथा) का वर्णन किया करते हैं।

सूफ़ियों की उपासना में हृदय-तत्व प्रधान रहता है तथा वे प्रेम के ही द्वारा अपने को प्रेमी और ब्रह्म को प्रिय मानकर प्रेमानन्द में लीन हुआ करते हैं। प्रेम ही को वे परमात्मा तथा उसकी महत्ता-सत्ता का मुख्य तत्व कहते हैं, उसे वे निर्विशेष व अव्यक्त भाव से उठाकर सविशेष व व्यक्त भाव की ओर ले जाकर एक ब्रह्म से (एक परमात्मा से) अनन्त आत्माओं से पूर्ण इस समस्त वाह्य तथा व्यक्त जगत का विकास दिखलाते हैं। परमात्मा के एकान्त, अव्यक्त, अद्वैत तथा अपरत्व-रहित प्रेम के द्वितीय व्यक्त, द्वैत तथा परत्व युक्तरूप के द्वारा (कारण ही) तत्प्रतिरूप मानव नामी नाम गुणवाले पदार्थ की उत्पत्ति होती हुई दिखलाते हैं और इस प्रकार वे अवतारवाद की ओर भी झुक जाते हैं। इस तरह यद्यपि ईश्वर और मनुष्य में एकता सी अवश्य दीखती है तथापि कुछ सूफ़ी दोनों में भेद दिखलाते हैं, वे दोनों के बीच में कुछ विशेषता सी रखते हैं और यों आत्मा के परमात्मा में लीन हो जाने पर भी उसे वे कुछ पृथक् सा देखते हैं। वे ब्रह्मानंद को ठीक वैसी ही कोटि का मानते हैं जिस कोटि का लौकिक प्रेमानन्द होता है।

सूफ़ी लोग वेदान्तान्तर्गत विवर्तवाद की भी सहायता लेते

हैं और संसार को ब्रह्म का, जो सत्य, चित् एवं प्रेमानन्द पूर्ण सत्यसार है, विवर्त या कल्पित कार्य मानते हैं और इसे केवल अभ्यास या भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान कहते हैं। इसी के साथ वे बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेत एवं अज्ञातवाद का भी आश्रय ले लिया करते हैं। प्रकृति-पटल पर उसकी दो विशेषताओं यानी आवरण (निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को ढाँकने वाली) तथा विक्षेप (उसके स्थान पर अन्य नाना रूपों को परिवर्तन के साथ प्रतिबिंबित करने वाली सत्ता) के आधार पर वे निर्गुण ब्रह्म को सगुण साकार रूपों में प्रतिबिंबित देखा करते हैं। कहीं २ वे ज्ञाताज्ञेय तथा दृष्टादृष्ट को एक करके ब्रह्म को वेदान्त के समान संसार का निमित एवं उपादान दोनों कारण कहते हैं। माया को उसी की वे शक्ति मानते हैं और उसके विस्तार को ब्रह्म-प्रतिबिम्ब के रूप में संसार समझते हैं।

तत्वदृष्टि के आधार पर वे इस पिंड और ब्रह्मांड को एक मानते हुए पिंड ही में समस्त संसार या ब्रह्मांड को देखते हैं। यहीं से वे हठ योग आदि की क्रियाओं तथा मार्मिक बातों का सुन्दर रूपकों के द्वारा चित्रण करते हैं।

सृष्टि-विकास के सम्बन्ध में प्रायः ये लोग भारतीय तथा मुसलमानी दोनों मतों की बातों का सामंजस्य कर दिया करते हैं। साथ ही एक ओर तो उसे वे पूर्णतया आध्यात्मिक या दार्शनिक रूप में रखते हैं और दूसरी ओर उसमें अवतारवाद की भी पुट देते हुए पौराणिक कल्पना का चित्रण करते हैं। विशिष्टाद्वैत के आधार पर वे ब्रह्म को चिदचिद् रूप विशेष निर्गुण मानते हैं, उसके चित् नामी अंग से आत्माओं की और अचित् नामी अंग से जड़ जगत की उत्पत्ति दिखाते हैं।

सूफ़ी लोग प्रायः यही प्रयत्न किया करते हैं कि प्रत्येक मत

की सुन्दर तथा मूल सत्य बातों को ले लेते हैं और इस संसार के मूल में एक अज्ञेय रहस्य को भी देखा करते हैं। इसीलिये इनके काव्य में रहस्यवाद की भी पुट पाई जाती है। रहस्यात्मक भावनाओं से संतों को बड़ा प्रेम है।

रहस्यवाद

जिस प्रकार दार्शनिक ब्रह्मवाद ज्ञान (विवेक-मन या मस्तिष्क) तथा चिंतन का गूढ़, गहन तथा चरम विषय है उसी प्रकार रहस्यवाद भी कल्पना तथा भावना (मनोवृत्ति या हृदय) का विषय है। यह अवश्य है कि दोनों में एक विशेष सम्बन्ध है, कह सकते हैं कि ज्ञान-वाद जहाँ ठहर सा जाकर यह कहने लगता है कि आगे ऐसा अज्ञेय रहस्य है जो अप्रमेय सा है वहीं मानो रहस्यवाद आ जाता है, मनुष्य को जब मन या मस्तिष्क अपने ज्ञान से संतुष्ट नहीं कर पाता तब हृदय अपनी अनुभूति या भावना के द्वारा कल्पना की सहायता से संतुष्ट करने लगता है। हृदय में एक विचित्र प्रकार की सुन्दर सुखद ज्योति सी दीखने लगती है और अन्तःकरण के अनुभूति-क्षेत्र में कल्पना दौड़ कर एक अपूर्व परोक्ष शक्ति की भावना को उत्तेजित करने लगती है। इस प्रकार स्थूल इंद्रिय-गोचर (concreat) पदार्थों के स्थान पर सूक्ष्म भावतत्व (abstract) की काल्पनिक अनुभूति उठती है और भावना तथा वासना के साथ मिलकर सामने प्रत्यक्ष सी होने लगती हैं। हृदय की रागात्मिका वृत्ति इसमें अपना विचित्र आमोदप्रद कौतुक करने लगती है।

रहस्यवाद का मूल सिद्धान्त यह बतलाता है कि इस व्यक्त सृष्टि के पटल में एक परोक्ष अव्यक्त सत्ता है, उसी का यह सब आभास है जो हमें इस संसार में नाना रूपरूपान्तरों के साथ दिखलाई पड़ता है। यही परोक्ष शक्ति तथा सत्ता ब्रह्म, ईश्वर

तथा परमात्मा या ख़ुदा आदि अनेक नामों से व्यक्त की जाती है। संसार के सभी पदार्थों, कार्यों एवं व्यापारों आदि में इसी का सुन्दर प्रतिबिंब है और समस्त संसार इसी के साथ सर्वथा सम्बद्ध है, यही इस विश्व का एक गूढ़ रहस्य है। आगे बढ़कर यही रहस्य मनुष्य के अन्तर्जगत में भी इसी परोक्ष तथा अपरिमेय शक्ति की सत्ता तथा महत्ता को दिखलाता है, इसी की अनुभूति एक रहस्यवादी को संसार से खींचकर अन्तर्जगत में ले जाती तथा इसी परोक्ष के सौंदर्यानन्द में लीन कर देती है। वह अपनी इसी परोक्ष सत्ता में और इसी परोक्ष शक्ति में अपने को देखने लगता है तथा इसमें इतना लीन-विलीन हो जाता है कि वह स्वतः रहस्यमय बन कर रहस्येश्वर के ही रूप में परिणत हो जाता है। यही वेदान्तादि में आत्मा और परमात्मा के एकीकरण के रूप में दिखलाया गया है। अन्तर दोनों में यही है कि इसमें तो कल्पना-मयी भावना की अनुभूति प्रधान है (अस्तु हृदयतत्व विशेष प्रबल है) और उसमें ज्ञानपुष्ट उपासना (चिंतनसंगत मन या मस्तिष्क-तत्व) प्रधान है।

रहस्यवाद का एक दूसरा रूप वह भी है, जो यह प्रतिवादित करता है कि इस संसार के आगे एक ऐसी विशिष्ट मूल सत्ता (सत्य, नित्त तथा निर्गुण ब्रह्मरूपिणी) है जिसका जानना असाध्य या असंभव ही है, यह परोक्ष शक्ति अपरिमेय या अज्ञेय है। हम उसके कार्यों, व्यापारों तथा उसकी बातों को किसी प्रकार ठीक ठीक नहीं जान सकते, बस इसीलिये वह सत्ता रहस्य-मयी कही जाती है। रहस्य शब्द "रहसि" से बना है जिसका अर्थ है एकान्त। एकान्त में स्थित रहने या होनेवाले को रहस्य कहा जाता है—"रहसि एकान्ते वर्तते, भवः, स्थितः वा यत् तत् रहस्यम्।"

इस रहस्यपूर्ण सत्ता का अनुभव हम अपनी अन्तःकरण-वर्तिनी अनुभूति के उस क्षेत्र में कर सकते हैं जहाँ भावना-पूर्ण कल्पना रागात्मिका वृत्ति के सहारे हमारी आत्मा को उस अनन्त सौंदर्यानन्दमयी दिव्य ज्योति का साक्षात्कार कराती है।

रहस्यवाद प्रायः दो मुख्य रूपों में पाया जाता है:—

१—**व्यापक रूप में**—जहाँ समस्त विश्व ब्रह्म के अन्तर्गत होकर एक परोक्ष शक्ति का आभास सा कहा जाता है और उसके समस्त रूप, कार्य, व्यापार तथा पदार्थादि उसी के प्रतिबिम्ब माने जाते हैं।

२—**संकीर्णरूप में**—जहाँ अन्तर्जगत हो इसके अन्तर्भूत होकर एक अपरिमेय सत्ता से व्याप्त देखा जाता है। यहाँ भक्त-भगवान का सम्बन्ध ठीक वैसा ही चित्रित किया जाता है जैसा लौकिक प्रेमी और प्रियतम का। यद्यपि उक्त रूप में भी प्रेम की पूरी सत्ता-महत्ता रहती है तथापि वह विस्तृत एवं व्यापक रूप में ही न कि इस प्रकार संकीर्ण रूप में। इसी दूसरे रूप में हमारे वैष्णव संप्रदाय के भक्त प्रवरों ने अपनी माधुर्य भक्ति को रक्खा है। सूफ़ियों ने भी इसी रूप के रहस्यवाद को प्रधानता दी है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि इस रूप में प्रेम, भक्ति तथा भावना का अच्छा सामंजस्य होता है और इसीलिये हृदयतत्व जो मनोरंजक, सुखद तथा समाकर्षक होता है, इसमें प्रधान रहता है।

प्रथम रूप में ऐसा नहीं होता, यद्यपि उसमें भी हृदयतत्व-वाले प्रेम का प्रधानता पाई जाती है तथापि उसमें कुछ विस्तृत एवं व्यापक रूप में और ज्ञान की पुट के साथ। इसी को योगियों ने उठा कर उपासना तथा योग सम्बन्धी अन्य साधनाओं

(क्रियाओं) से संयुक्त करते हुए एक दूसरे ही रूप में रख दिया है।

रहस्यवाद का मूल तत्व ब्रह्म ही है किन्तु इसकी शाखाओं में भिन्न २ रूपों की छाया दिखलाई पड़ती है। इसी की एक शाखा अवतारवाद-पद्धति भी है। अवतारवाद में वह व्यापकता, विशदता तथा उदारता नहीं, जो रहस्यवाद में है, वरन् इसमें संकीर्णता (व्यक्तिगत व्यापकता) का ही प्राधान्य है। व्यक्ति-विशेष में उस असीम ब्रह्म की अभिव्यक्ति अपनी समस्त विभूतियों के साथ केन्द्रीभूत हो जाती है। हाँ इसमें मनोवृत्तियों, भावनाओं तथा हृदय के मार्मिक तत्वों की विशेषता अवश्यमेव बड़ी ही विस्तृत तथा सांगोपांग सी रहती है। इसीलिये यह सहृदयों के लिये विशेष मनारंजक तथा आकर्षक होती है। भक्ति, अनुरक्ति, प्रेम-नेम तथा प्रीति-प्रतीति का इसमें बहुत बड़ा साधन है, इसीलिये यह सरस समुदाय में विशेष मान्य एवं व्यापक हो गया है।

हमारे राम-कृष्ण-भक्त वैष्णवों ने इसे ही ज़ोरों से उठाया तथा विकसाया है। अवतारवाद की प्रधानता हमारे देश में इतनी व्यापकता तथा प्रबलता के साथ हुई कि उसके सामने रहस्यवाद को दब ही जाना पड़ा। हाँ यह अवश्य हुआ कि उसका अत्यन्ताभाव न हो सका और वह अवतारवाद में भी कहीं कहीं मूल तत्व के रूप में आभासित ही होता रहा। भक्तों के कुछ संप्रदायों में रहस्यवाद ख़ूब विकसित हुआ, किन्तु उस व्यापकता और उदारविशदता के साथ नहीं जिसके अन्दर समस्त संसार आकर लीन-विलीन हो जाता है। भक्तों का रहस्यवाद-भक्त और भगवान के लौकिक प्रेमी-प्रियतम-सम्बन्ध के रूप में ही चित्रित होकर रह गया। इसी सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये

भक्तों ने माधुर्य-भाव को जागृत किया है और मीराबाई, कबीर-दास तथा जायसी आदि ने इसी को प्रधानता दी है। इसी के साथ दूसरी ओर व्यापक अद्वैतात्मक रहस्यवाद का पौदा फूलता फलता चला, किन्तु उसे फिर उक्त भक्ति-मार्ग के रहस्यवाद के प्रखर प्रभंजन ने झुकाकर धराशायी सा कर दिया, वह बहुत ऊपर उठ न सका। मुसलमान संत फ़क़ीरों ने इस अद्वैतात्मक रहस्यवाद में वेदान्त तथा सूफ़ी मत का सामंजस्य करके एक सामान्य प्रेम-मार्ग उठाया जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों पद्धतियों के तत्व सन्निहित थे और जो दोनों ओर झुकता हुआ चलता था। कबीर इस प्रकार के प्रेम-मार्ग का प्रथम कवि है। जायसी आदि ने उसका अच्छा तथा सविकास अनुकरण किया है। गुरु नानक, दादू तथा अन्य संतों ने इसे पल्लवित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे बहुत कुछ सफल न हो सके। कबीर ने इसका श्री गणेश तो किया, किन्तु वह इसका विकास अच्छी तरह न कर सका, क्योंकि वह पढ़ा लिखा एवं विद्वान न था। उसने सुना बहुत था, इसीलिये, उसने इसमें योग, समाधि तथा निर्गुण, सगुणवाद आदि की बातें भी मिला दीं। उसके पश्चात् इसमें निर्गुणोपासना का तत्व कुछ प्रधान सा हो गया, जिससे उसकी मधुरता, अनेक रूपता तथा मनोरंजकता में कुछ ऊनता सी आ गई। यही कारण है कि कबीर आदि संतों के निर्गुणात्मक रहस्यवाद में रमणीयता और मधुरता नहीं मिलती। कबीर आदि में प्रेमात्मक सूफ़ी मत-पुष्ट रहस्यवाद तो था किन्तु साथ ही उनमें मुसलमानी एकेश्वरवाद, वेदान्ती मायावाद, निर्गुणवाद आदि के नीरस तत्व भी उपस्थित थे।

रहस्यवाद का सच्चा तथा सुन्दर स्वरूप हमें मुसलमान संत कवियों के प्रेमगाथा-काव्य में ख़ूब दिखलाई पड़ता है। तनिक

ध्यान देने और देखने की बात है कि इसी समय अंग्रेज़ कवियों में भी रहस्यवाद का अच्छा प्रस्फुटन हो रहा था। शैली तथा प्रकृति-पुजारी अन्य अंग्रेज़ कवि इसके उदाहरण हैं। ये समस्त प्रकृति को रहस्यमयी दिखलाते हुए, उसे उस असीम सौंदर्यानन्द पूर्ण पुरुष के प्रेम में पगी हुई चित्रित करते हैं। साथ ही उसमें विश्वव्यापी सुख-सौंदर्य तथा प्रेम की सरस व्यंजना भी वे भर देते हैं।

रहस्यवाद के उक्त रूपों के अतिरिक्त एक रूप और भी है और वह तांत्रिक लोगों की तंत्र-मंत्र-पद्धतियों से परिपूर्ण उपासना में पाया जाता है। यह रूप बहुत ही संकीर्ण और नीरस सा ही है। कह सकते हैं और जैसा पाश्चात्यों ने कहा भी है कि यह एक प्रकार का मिथ्या एवं भ्रमात्मक रहस्यवाद है। अस्तु, इस सूक्ष्म लेख से यह तो ज्ञात ही हो चुका होगा कि इस माध्यमिक काल में धार्मिक काव्य की निर्गुण धारा का किस प्रकार उदय तथा विकास हुआ, वह किन २ मार्गों तथा रूपों में प्रवाहित हुई तथा प्रेमात्मक निर्गुणोपासना, माधुर्यभाव-पूर्ण रहस्यवाद और आध्यात्मिक अद्वैतवाद का किस प्रकार किस २ रूप में प्रचार-प्रस्तार हुआ और इन सब के कारण हिन्दी-साहित्य के काव्य में प्रेमगाथा-काव्य का कैसा उदय हुआ।

अब हम उन प्रधान कविवरों की ओर आते हैं जिन्होंने इस विचार-धारा को अपना कर प्रेम पूर्ण रहस्यात्मक निर्गुणोपासना-पोषक गाथा-काव्य की रचना की है। इसके प्रथम हम यहाँ यह भी बता देना उचित समझते हैं कि यह काव्य-साहित्य यद्यपि बड़े उच्च भावों, भावनाओं तथा घटनाओं से सुसज्जित है तथापि यह बहुत उच्चकोटि का काव्य नहीं माना गया और न इसका संचार प्रचार प्रथम विद्वन्मंडली में ही हुआ, न इसे उच्च-कोटि के सत्काव्य-साहित्य में कोई प्रधान स्थान ही दिया गया।

इसका कारण यह था कि यह उन सतों (विशेषतया मुसलमान फ़क़ीरों) के द्वारा रचा गया था, जो कुछ विशेष विद्वान् तथा साक्षर न थे, जिन्हें भाषा तथा काव्य-शास्त्र (पिंगल तथा अलंकार शास्त्र) आदि का पूर्ण ज्ञान तथा धर्मशास्त्र तथा दर्शन शास्त्र का भी यथावत् परिचय न प्राप्त था। ये सन्त प्रायः बहुत ही कम पढ़े लिखे या निरक्षर भट्टाचार्य ही थे, हाँ सत्संग, सम्पर्क तथा परिभ्रमण से इनमें बहुज्ञता थी। ये बहु श्रुत अवश्य थे और बहुत सी बातें जानते थे, इसीलिये इनके काव्यों में अनेक विषयों की बातें न्यूनाधिक रूप में पाई जाती हैं। इनमें साक्षरता न होने से इनका सम्पर्क सभ्य व सुपठित समाज से न था, वरन् निम्न श्रेणी के लोगों में ही ये संतों और फ़क़ीरों के रूप में घूमते फिरते तथा अपने मतों या विचारों का प्रचार किया करते थे इसीलिये इनकी भाषा प्रायः ठेठ ग्रामीण और प्रान्तिक रूप में है तथा उसमें साहित्यिक क्षमता नहीं है। ये सन्त कवि अपने धार्मिक विचारों के प्रचार का कार्य अवध प्रान्त में ही करते थे और इसका कारण यह था कि ये यह जानते थे कि आगरा या पश्चिमीय प्रान्त में कृष्ण-भक्ति का ज़ोर है अतः वहाँ उनके प्रचार का प्रभाव न पड़ सकेगा। अवध प्रान्त में ऐसी बात नहीं, अतः यहाँ उनका प्रभाव अच्छा पड़ेगा। ये लोग इस प्रान्त के दक्षिणीय भाग में भी जहाँ काशी जैसा सुदृढ़ तथा ज्ञानागार केन्द्र है न आते थे। हाँ घूमते फिरते कभी २ यहाँ के वायुमंडल से कुछ ज्ञान-सौरभ लेने के लिये अवश्यमेव आ जाया करते और कुछ सुन-सुना तथा सीखसिखा कर फिर चले जाते थे। यही कारण है इन संत कवियों ने जो कुछ भी कहा है वह अवधी भाषा में ही विशेष रूप से कहा है। यह अवधी भाषा अपने ठेठ देहाती

बोल चाल के ही रूप में है, उस समय इसके साहित्यिक रूप की निश्चित रचना हुई भी न थी और न इन संत कवियों में ऐसी योग्यता तथा प्रतिभा ही थी कि ये इसे साहित्यिक रूप दे सकते। यह कार्य श्री तुलसीदास जी की ही प्रतीक्षा करता रहा। इन संत कवियों का चूँकि विशेष सम्पर्क-सम्बन्ध (आना जाना, मिलना जुलना आदि) ब्रज प्रान्त के ब्रजभाषा-विद्वानों से था ही नहीं, इसीलिये ये उस ब्रजभाषा से जिसको साहित्यिक भाषा होने का गौरव प्राप्त हो गया था और जिसका प्रयोग साहित्य-क्षेत्र में व्यापकता के साथ सर्वत्र सभी प्रधान कवियों के द्वारा किया जाता था, कुछ भी परिचित न थे और इसीलिये इन्होंने इसका प्रयोग भी नहीं किया। साथ ही इनका उद्देश्य साधारण तथा निम्न श्रेणी की जनता में अपने विचारों के प्रचार करने का था, अतः इनके लिये यही अनिवार्यावश्यक था कि ये उनकी ही साधारण बोल चाल की भाषा में अपने विचारों का निबंधन करते और इन लोगों ने किया भी यही।

इसी के साथ हमें यह भी देख लेना चाहिये कि इन संत कवियों के काव्यों में काव्य को अनेक अशुद्धियाँ तथा त्रुटियाँ हैं, इसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है कि इन लोगों को छंद शास्त्र (पिंगल) और काव्य शास्त्र का यथेष्ट ज्ञान क्या कुछ भी ज्ञान न था इसीलिये इन लोगों ने प्रथम शुद्ध साहित्यिक छंदों में अपना काव्य लिखा हो नहीं और यदि कुछ लिखा भी है तो केवल दोहा और चौपाई जैसी नितान्त सरल और सूक्ष्म छंदों में ही लिखा है। बहुधा इन लोगों ने उन्हीं देहाती छंदों का उपयोग किया है जो बहुत ही साधारण हैं तथा जिनका प्रचार पूर्णतया देहातों में ही पाया जाता है। अस्तु, अब हम इन संत कवियों में से उन प्रधान कविवरों का वर्णन यहाँ करते हैं जिनका

साहित्य एवं समाज में विशेष स्थान है और जो अपनी २ विशिष्ट शैलियों के प्रधान प्रवर्तक माने जाते हैं।

प्रेमात्मक सूफ़ी कथा-कार संत कवि

कुतुबन शेख़

प्रेमात्मक सूफ़ी सिद्धान्ताधारित कथा-काव्य के लेखकों में आप सबसे प्रथम आते हैं। चिश्ती वंशीय शेख़ बुरहान के आप शिष्य तथा शेरशाह के पिता हुसेनशाह के आप दरबारी कवि थे। आप ने "मृगावती" नामी एक प्रेम-कथा दोहे-चौपाइयों में सन् ९०९ हिजरी या सं० १५५८ वि० में लिखी। इस कहानी में आपने लौकिक प्रेम से अलौकिक, व्यापक तथा सत्य प्रेम की ओर कथा चलाई है। प्रेम-पथ के पथिक या साधक का त्याग, कठिन कष्ट तथा रहस्य दिखलाते हुए आपने इसमें आध्यात्मिक रहस्यवाद की भी पूरी पुट दे दी है और सूफ़ी मत के सिद्धान्तों का समावेश कर दिया है। यह शैली या परिपाटी कुतुबन जैसे सूफ़ी कवियों ने कदाचित् .फ़ारसी साहित्य के कविवरों से ही ली है। इसकी विशेषता यही है कि इसमें इन लोगों ने आध्यात्मिक रहस्य की व्यंजना भी रख दी है और केवल कल्पित कथा ही नहीं रक्खी। यद्यपि यहाँ लोकपक्ष-चित्रण ही प्रत्यक्ष रूप में दिखलाई पड़ता है तथापि उसमें लोकोत्तर आध्यात्मिक रहस्यों का चित्रण भी व्यंजित रहता है और वह बड़ी ही गूढ़ता तथा सरलता के साथ। इन लोगों ने राजचरित्र, पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथा-काव्य भारतीय महा-काव्य की सर्गबद्ध पद्धति के अनुसार न लिख कर कल्पित कहानियाँ जिनमें प्रेम-चित्रण का ही पूर्ण प्राधान्य रहता है तथा जिनमें लोकोत्तर आध्यात्मिक रहस्यों की गंभीर तथा मार्मिक-व्यंजना विश्वव्यापिनी प्रेमानन्दश्री

मनोरंजकता के साथ सन्निहित रहती है, लिखी हैं। इनकी शैली फ़ारसी के मसनवी काव्य की ही है। मृगावती में पाँच २ चौपाइयों के पश्चात् एक २ दोहे की योजना की गई है और समस्त पुस्तक में यही क्रम रक्खा गया है।

मंझन

आप कुतुबन के पश्चात् आते हैं। आपकी जीवनी के विषय मे कुछ विशेष पता अभी तक नहीं लग सका, केवल आपकी 'मधु मालती' नामी एक प्रेम-कथा की खंडित प्रति प्राप्त हुई है। यह पुस्तक भो मृगावती के ही रूप में लिखी गई है, पाँच चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा दिया गया है और सर्वत्र यही क्रम रक्खा गया है। इसके देखने से यह ज्ञात होता है कि कवि का हृदय अत्यंत मृदु, स्निग्ध और सदय था। उसमें बड़ी ही उच्चकोट की कल्पना तथा वर्णन-चातुरी थी। प्रकृति-निरीक्षण तथा निरूपण भी बड़ी ही सुन्दरता से किया गया है, भाव-भावनाओं की अभिव्यक्ति बड़ी ही मार्मिक तथा हृदयहारिणी है। आध्यात्मिक प्रेम-रहस्य की भाव-व्यंजना सर्वत्र बड़ी कुशलता के साथ समाविष्ट की गई है। कथा इसकी विस्तृत तथा जटिल है। इसमें न केवल नायक और नायिका ही का चित्रण किया गया है वरन् उपनायक और उपनायिका की भी योजना की गई है जिससे कथा-विस्तार तथा अन्य विपत्त-वाधा आदि का भी अच्छा संयोग बन जाता है। सहानुभूति, निस्वार्थ प्रेम, त्याग और संयम का अच्छा आदर्श रक्खा गया है। इस प्रकार इसमें आदर्शवाद की भी पुट है। आपने जन्म जन्मान्तर तथा कालान्तर आदि के व्यवधान को रखते हुए अखंड प्रेम-तत्व में व्यापकता तथा नित्यता भी दिखलाई है। यही वह प्रेम-तत्व है जिसके

अटूट सूत्र से यह रहस्यमय समस्त संसार बँधा हुआ है और जिसका आश्रय पाकर जीव उस परब्रह्म तक पहुँच जाता है जो प्रेम, सत्य, सौंदर्य तथा नित्यानन्द की परावधि है और जिसके ही ज्योत्याभास से यह समस्त संसार आभासित है। प्रेम-प्रधान सूफ़ी मत के अन्य सभी सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप में आपने इसमें सन्निहित कर दिये हैं।

यद्यपि इस ग्रन्थ के समय का ठीक ठीक पता नहीं लगता तथापि यह मान्य सा ही हो गया है कि इसकी रचना सम्भवतः पद्मावत से प्रथम और 'मृगावती' के पश्चात् ही की गई थी और यह सं० १५५६ से १५६५ वि० के बीच में ही रचा गया था। जायसी ने अपने पद्मावत नामी कथा-काव्य के ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती जिन चार ऐसी प्रेम-कथाओं का उल्लेख किया है, उनमें से एक यह भी है। जायसी ने जो क्रम दिया है उसके अनुसार मधुमालती इस प्रकार की प्रेम-कथाओं की श्रेणी में तीसरी है इसके पूर्व मुग्धावती तथा मृगावती नामी दो कहानियाँ रची जा चुकी थीं तथा इसके पश्चात् 'प्रेमावती' नामी एक कहानी और लिखी गई थी। खेद का विषय है कि उक्त चारों कथाओं की प्रतियों में से प्रथम और चतुर्थ अभी तक अप्राप्त हैं। अस्तु उनके विषय में अभी कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता।

मलिक मुहम्मद जायसी

आप एक प्रसिद्ध सूफ़ी फ़क़ीर हैं। आप के विषय में हमारे प्रसिद्ध विद्वान श्री पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने पद्मावत ग्रंथ की विशद भूमिका में अच्छा प्रकाश डाला है, पाठकों को उसे अवश्य देखना चाहिये। हम यहाँ बस यही कहना चाहते हैं कि आप जायस के रहनेवाले तथा शेख़ मेंहदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य थे।

यह कहा जाता है कि आप ने शेरशाह के समय में या सं० १५६७ के आस पास "पद्मावत" नामी एक प्रसिद्ध प्रेम-कथा-काव्य की रचना की थी। आप के इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः फ़ारसी लिपि में ही लिखी हुई हैं और उनमें प्रायः ग्रंथ-रचना-काल सन् ६२७ ही दिया हुआ है, किन्तु ऐसा मानने से यह शेर-शाह के समय से दूर पड़ जाता है, अस्तु यह निर्धारित किया गया है यह ६४७ सन् हिजरी ही पढ़ा और माना जाना चाहिये।

ऐसा कहा जाता है कि जायसी का जन्म मनौती मानने से एक दरिद्र कुल में हुआ। जब ये ७ वर्ष के थे तब ये चेचक से बीमार हुए और उसी के कारण इनकी एक आँख और एक कान बेकाम हो गये, हाँ मरने से ये बच गये। इनका चेहरा भी ख़राब हो गया। इस समय तक इनके माता-पिता दोनों मर चुके थे और ये बिलकुल ही अनाथ हो गये थे। उसी समय से ये साधुओं और फ़क़ीरों के साथ में रहने और फ़क़ीर होकर घूमने लगे। कहते हैं कि ये आगे चल कर एक पहुँचे हुए फ़क़ीर हुए। साधुओं और फ़क़ीरों के सम्पर्क में रहने से इनमें वेदान्तादि दर्शनों तथा सूफ़ी सिद्धान्तों का अच्छा मिश्रित ज्ञान आ गया था। ये बहुश्रुत तथा बहुज्ञ थे। हठयोग, वेदान्त, रसायन तथा सूफ़ी मत आदि के अनेक मूल सिद्धान्तों से इनका परिचय था। आपने इनकी जान-कारी को अपने ग्रंथों में व्यक्त भी दिया है। गोरख पंथ की भी बहुत सी बातें ये जानते थे। ये सच्चे जिज्ञासु, सत्संगी और उदार थे। सूफ़ी तथा मुसलमान मत की ओर इनका विशेष झुकाव था। इसलामी पैग़म्बरवाद (जो एक प्रकार से एकेश्वरवादान्तर्गत सगुणवाद सा ही है) में इनकी पूरी आस्था थी, हाँ इनकी प्रकृति उन्नत, उदार तथा सारग्राहिणी अवश्य थी।

पहुँचे हुए फ़क़ीर हो कर भी ये भावुक भक्त के ही समान

रहे। कबीर के समान किसी अपने पंथ-विशेष की सृष्टि इन्होंने नहीं की। इनमें ऐसी उदारता, सहृदयता तथा सुजनता थी कि ये सामान्य मानव-धर्म के भी अनुरागी थे। कबीर के समान इनमें आत्माभिमान न था, ये अपने पूर्ववर्ती सभी महात्माओं को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। कबीर को भी ये एक बड़ा साधु मानते थे। इन्होंने भी कई शिष्य किये पर उस रूप में नहीं जिस रूप में कबीर ने। आप के दो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं:— १—पद्मावत और २—अखरावट। अखरावट में आपने वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण को लेकर कुछ मुख्य सिद्धान्तों की बातें लिखी हैं। पद्मावत आप का एक लोकप्रिय तथा उत्तम ग्रंथ है। प्रेमात्मक सूफ़ी प्रेम-गाथा-काव्य का यह एक अनुपम रत्न है। इसका प्रबंध-काव्य अपने रंग ढंग का निराला ही है। उक्त ऐसे चार ग्रंथों का उल्लेख हम प्रथम ही कर चुके हैं, यह पाँचवाँ ग्रंथ है, दोनों ग्रंथ आप के अवधी भाषामयी चौपाइयों में ही हैं और दोनों में ईश्वर, सृष्टि, जीव, प्रेम तथा रहस्यात्मक अध्यात्मवाद के तत्वों पर विचार प्रगट किये गये हैं। पद्मावत में एक ऐतिहासिक आधार वाली कल्पित प्रेम-कथा है, जिसके अन्दर लोक-पक्ष तथा लोकोत्तर रहस्यपूर्ण अध्यात्म पक्ष का सुन्दर सामंजस्य है और लोकोत्तर अपरिमेय प्रेम, सौंदर्य तथा आनन्द की अत्यंत गम्भीर, सरस और मार्मिक व्यंजना सन्निहित है, इसी के साथ इसमें मानव-मन की मार्मिक तथा सर्वव्यापिनी रागात्मिका वृत्तियों, भावनाओं तथा दशाओं की बड़ी ही कोमल, हृदयग्राहिणी तथा सरस अभिव्यंजना है जो सहृदयों को बिना आकृष्ट किये नहीं रहती। इसमें जीवन की सामान्य दशाओं तथा प्रकृति के साधारण दृश्यों का ऐसा भावपूर्ण चित्रण किया गया है कि उनका प्रभाव सभी मनुष्यों पर समान रूप से पड़ता है। इसमें आप ने हिन्दू

और मुसलमान दोनों मतों की बातों के मिलाने का सफल प्रयत्न किया है। हाँ विशेषता कहीं २ मुसलमानी बातों को दे दी है और कहीं २ हिन्दुओं की धार्मिक बातों का चित्रण कुछ अनीप्सित तथा उपहासात्मक रूप में किया है। अतीत परोक्ष शक्ति की व्यंजना के साथ ही आप ने प्रत्यक्ष जीवन की एकताओं की भी अभिव्यंजना इसमें रक्खी है। इसमें योगियों की साधनाओं, तन्मार्गगत कठिनाइयों तथा सिद्धियों का भी चित्रण किया गया है, वेदान्त तथा सूफ़ी मत के मूल सिद्धांतों की मार्मिक व्यंजना भी पाई जाती है, सर्वत्र अनन्त, दिव्य सौंदर्य, सत्य, नित्य तथा अलौकिक प्रेम और लोकोत्तर आनन्द का मार्मिक आभास पाया जाता है। कह सकते हैं कि यह ग्रंथ प्रेम-कथा-काव्यों की श्रेणी में सर्वाग्रगण्य, प्रौढ़, सरस और पूर्ण है। अस्तु,

उसमान कवि

ग़ाज़ीपुर के निवासी शेख़ हुसेन के आप सुपुत्र तथा हाज़ी बाबा (जो शाह निज़ामउद्दीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा में थे) के शिष्य थे। इनके चार भाई थे। आपने सं० १६७० में (१०२२ हिजरी या १६१३ ई०) में "चित्रावली" नामी एक प्रेम-कथा लिखी। यह समय जहाँगीर बादशाह के शासन का था। आपने उक्त पुस्तक के प्रारम्भ में स्तुति के पश्चात् पैग़म्बर, चार ख़लीफ़ाओं तथा जहाँगोर की प्रशंसा की है। फिर नगर तथा कवि-वंश का वर्णन किया है।

आपने जायसी की ही शैली का पूरा पूरा अनुकरण किया है, कहीं २ तो उनकी ही पदावली उठा कर रख दी है। विषय और भावादि का रखना तो रहा ही। यह अवश्य है कि कहानी आप की सर्वथा मौलिक और कल्पित ही है। आप ने काबुल, मिश्र, रूम,

गुजरात तथा सिंहल द्वीप आदि का उल्लेख करते हुए अंग्रेजों के द्वीप का भी उल्लेख किया है, इससे यह स्पष्ट है कि आप को जहाँगीर के समय में आने वाले अंग्रेज़ों तथा उनके द्वीप का पता था और उसी के प्रभाव से प्रभावित होकर आप ने उनके द्वीप का भी उल्लेख किया है।

"बलंदीप देखा अंगरेज़ा। जहाँ जाइ, जेहि कठिन करेजा।
ऊँच नीच धन संपति हेरा। मद बराह भोजन जिन्ह केरा।"

आपने भी जायसी की भाँति अपनी इस पुस्तक में सात सात चौपाइयों के पश्चात् एक २ दोहा रक्खा है। आध्यात्मिक तत्व की व्यंजना तो इसमें है ही, विशेषता यह है कि इसमें पौराणिक पुट भी है, इन्होंने अपने साधक रूपी नायक को शिव जी का अंश भूत योगी कहा है। शेष अन्य बातों के वर्णन जायसी के ही समान किये हैं। जान पड़ता है कि आप पर पदुमावत का पूरा प्रभाव पड़ा था।

शेख़ नबी

शेख़ जी को ही प्रेमात्मक कल्पित कथा-काव्यकार सूफ़ी संत कवियों की श्रेणी का अंतिम प्रधान कवि कहना चाहिये। आप ग्राम मऊ (ज़िला जौनपुर) के निवासी थे और जहाँगीर के समकालीन थे। सं० १६७५ में आपने "ज्ञानदीप" नामी एक आख्यान-काव्य ग्रंथ लिखा, जिसमें राजा ज्ञानदीप तथा देवजानी की प्रणय-कथा सूफ़ी मतानुसार आध्यात्मिक रहस्यवाद की परम्परागत प्रणाली के आधार पर कही गई है। इसमें और कोई नवीन उल्लेखनीय विशेषता नहीं है, कथा कल्पित और मौलिक है किन्तु वर्णन शैली वही परम्परागत पुरानी है।

सूफ़ी फ़क़ीरों की प्रणय-कथा की परम्परा का प्राचुर्य शेख़ जी के

ही समय तक विशेष रूप में रहा, उनके पश्चात् उसमें शिथिलता आ गई, क्योंकि उस समय तक वैष्णव कविवरों के भक्ति-काव्य का सरस सिंधु चारों ओर उमड़ने लगा और सारा उत्तरीय भारत उसमें निमग्न हो गया। उस सिंधु की तरंगावलि के प्रबल प्रवाह ने इस प्रेम-कथा-काव्य के प्रवाह को दबा दिया। हाँ इसका नितान्त अभाव न हुआ और यह आगे भी कभी २ तथा कहीं कहीं उछलता रहा, किन्तु बहुत ही मन्द और हीन दशा के साथ। इस परम्परा की मंदायमान दशा के मुख्य सूफ़ी फ़क़ीर कवियों का सूक्ष्म वर्णन हम यहीं कर देना समीचीन समझते हैं, क्योंकि यही पाठकों के लिये सुविधामय होगा।

क़ासिम शाह ने, जो दरियाबाद (बाराबंकी) के निवासी थे, सं० १७८८ के लगभग राजा हंस और जवाहिर रानी की एक कल्पित प्रेम कथा उसी परम्परा के आधार पर लिखी। आप की इस "हंस जवाहिर" नामी प्रेम-कथा-काव्य की पुस्तक में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है।

नूर मुहम्मद—आप सबरहद निवासी तथा दिल्ली के मुहम्मदशाह के समकालीन थे। सं० १८०१ (११५७ हि०) में आपने "इन्द्रावती" नामी एक कहानी लिखी। इसमें कालींजर के राजकुमार तथा आगरपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम-कथा दोहे, चौपाइयों की उसी पद्धति के अनुसार लिखी गई है। पाँच पाँच चौपाइयों के बाद एक एक दोहे का क्रम वैसा ही इसमें है जैसा जायसी के पूर्व प्रचलित था। यही पुस्तक सूफ़ी फ़क़ीरों की प्रेम-कथा-काव्य-परंपरा की अंतिम मुख्य पुस्तक मानी जाती है।

आगे अन्य फ़क़ीरों या संतों ने जो कथायें लिखी हैं उनमें सूफ़ी मत सम्बन्धी यह परम्परा अपने पूर्णोदय में नहीं पाई जाती,

हाँ प्रेम की व्यंजना उनमें अवश्य है। आध्यात्मिक रहस्यवाद की भी झलक इनमें बहुत न्यून या बिलकुल ही नहीं पाई जाती। मुसलमान फ़क़ीरों को छोड़कर अन्य दो चार हिन्दू कवियों ने भी कुछ प्रणय कहानियाँ लिखी हैं, उनमें पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथायें ही उठाई गई हैं और कल्पना का कौशल नहीं रक्खा गया। आध्यात्मिक रहस्यवाद का भी प्रभाव इनमें वैसा नहीं पाया जाता। इनका प्रेम केवल लौकिक पक्ष गत ही रक्खा गया है। उसमें लोकोत्तर प्रेम तथा अनन्त सौंदर्य का आभास नहीं। अतः हम इसे **ऐतिहासिक या पौराणिक कथा प्रबन्ध-काव्य-प्रणाली** कह सकते हैं। इसी का प्रौढ़ रूप हमें श्री तुलसीदास कृत "रामचरित मानस", श्री केशवदास कृत "रामचन्द्रिका" तथा अन्य ग्रंथों में प्राप्त होता है। इस प्रौढ़ रूप में यह विशेषता रक्खी गई थी कि कथा में एक पूर्ण जीवन की कथा रहती थी, जिसमें जीवन की सभी मुख्य घटनाओं तथा अवस्थाओं का चित्रण किया जाता था। कथा का आधार सर्वथा पौराणिक या ऐतिहासिक ही रहता था और उसमें धार्मिक तथा चारित्रिक आदर्शों का ही महत्व दिखलाया जाता था। किन्तु अपने संकीर्ण रूप में यह कथा-काव्य प्रेम की प्रधानता रखता था तथा उस की ही दशाओं व घटनाओं का चित्रण करता था। इस पद्धति के काव्यों में से प्रधान काव्य ये हैं:—

१—लक्ष्मण सेन पद्मावती की कथा—इसे सं० १५१६ में दामो नामी कवि ने लिखा था। इसकी भाषा में राजपूतानी पुट है और छंदोभंग आदि दोष भी इसमें पाये जाते हैं।

२—रसरतन काव्य—इसे प्रतापपुरा (मैनपुरी) निवासी मोहन दास कायस्थ के पुत्र पुहकर कवि ने सं० १६७३ में लिखा। यह काव्य सरस और साधारण है।

३—कनक मंजरी—निज़ामत ख़ाँ के (औरंगज़ेब के सूबेदार) आश्रित रहने वाले काशीराम कवि ने (जन्म सं० १७१५) इसे लिखा और इसमें धनधीरशाह तथा रानी कनक मंजरी की प्रेम-कथा चित्रित की।

४—कामरूप की कथा—इसे ओड़छा-नरेश राजा पृथ्वी-सिंह के राज-कवि हरसेवक मिश्र ने लिखा था, इसमें राज-कुमार कामरूप और राजकुमारी की प्रणय-कहानी सरसता के साथ कही गई है।

५—प्रेमपयोनिधि—(सं० १९१२) पटियाला-नरेश श्री महेन्द्रसिंह के राज-कवि, मृगेन्द्र सिक्ख ने इसमें राजा जगत प्रभाकर तथा राजा सहपाल की राज-कन्या की प्रेम-कहानी लिखी है।

इन काव्यों के नामों में प्रायः यह विशेषता दी गई है कि वे नायिका या नायकों में से एक ही के नाम पर हैं, कुछ में तो नायक का नाम रक्खा गया है और कुछ में नायिका का, साथ ही कुछ में एक सरस व स्वतंत्र नाम दिया गया है। किसी २ कवि ने दोनों का नाम रक्खा है। अस्तु,

अब इसी प्रकार सूक्ष्म रूप में हम यहाँ कुछ उन मुख्य प्रबन्ध-काव्यों के नाम दे देते हैं जिनकी कथायें ऐतिहासिक या पौराणिक ही हैं। सब से प्रथम ऐसे काव्य का नाम "हरिश्चन्द्र पुराण" आता है, इसे कवि नारायण देव ने सं० १४५३ में लिखा था, इसमें राजा हरिश्चन्द्र की कथा कही गई है। इसी प्रकार की कुछ पुस्तकें और भी हैं, जो न तो प्रसिद्ध या उल्लेखनीय ही हैं और न प्राप्त ही हैं।

नोटः—निर्गुण धारा के काव्य-साहित्य को हम स्थूल रूप से दो मुख्य बिभागों में विभक्त कर सकते हैं :—

१—प्रबन्धात्मक कथा-काव्य (Narrative and Discriptive)—

इस श्रेणी में प्रेम कथा-काव्य का समस्त साहित्य रक्खा जा सकता है। यह काव्य-साहित्य विशेष रूप से पूर्वीय हिन्दी या अवधी भाषा के ठेठ देहाती तथा सर्वसाधारण के बोल-चाल की भाषा में लिखा गया है। इसमें दोहों और चौपाइयों का ही क्रम रक्खा गया है, तथा प्रायः यह उन मुसलमान सूफ़ी फ़क़ीरों के द्वारा लिखा गया है जिनमें हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य (पिंगल, काव्य शास्त्रों) तथा भाषा-परिपाटी का ज्ञान पर्याप्त न था इसी से इसमें छंदोभंग तथा अन्य ऐसे ही अनेक दोष पाये जाते हैं। इस काव्य का प्रारम्भ वास्तव में दामों नामी कवि ने सं० १५१६ में लक्ष्मण-सेन और पद्मावती नामक प्रेम-कहानी लिखकर किया था। सम्भवत-जायसी ने इसी के आधार पर अपना पद्मावत विकसित रूप में लिखा है, जिसमें कल्पना प्रधान है। इसी के एक दूसरे रूप को हम **पौराणिक कथा-काव्य** कह सकते हैं, इसमें कथायें प्रेमगाथा-काव्य के समान काल्पनिक नहीं होतीं वरन् वे सर्वथा पौराणिक एवं ऐतिहासिक ही रहती हैं। ऐसा काव्य-साहित्य, प्रायः हिन्दू कवियों के ही द्वारा लिखा गया है। यह प्रेम-गाथा-काव्य के समान सूफ़ी मत सम्बन्धी प्रेमात्मक आध्यात्मिक रहस्य-वाद से पूर्ण नहीं रहता है।

२—मुक्तक (Lyrical and Reflective)—इस श्रेणी के अन्दर निर्गुण मार्गवाले कबीर आदि के रचे हुए स्फुट काव्य आते हैं। इसमें प्रायः प्रान्तीय बोलियों का ही बाहुल्य एवं प्राधान्य है। कबीर तथा उनके शिष्यों ने पूर्वीय हिन्दी (बनारसी तथा मिश्रित) में ही अपने काव्य रचे हैं। इस काव्य-साहित्य में दोहों को छोड़ कर और कोई भी साहित्यिक छंद नहीं प्राप्त होतीं, छंदों के स्थान पर इसमें देहाती राग (साखी, झूलना, रेखता, होली, फाग, हिंडोला, काफ़ी, बारहमासा आदि) विशेष पाये जाते हैं। इसमें साहित्यिक पटुता तथा काव्य-कला का नितांत अभाव ही सा है। इसमे निर्गुणवाद का प्राधान्य है और इसी से इसमें नीरसता की ही विशेषता है। इसका संचार-प्रचार भी विशेषतया निम्न

श्रेणी की जनता में ही देखा जाता है। यह रचा भी प्रायः अशिक्षित और निम्न श्रेणी के संतों के द्वारा, जिनमें सत्संग-सम्पर्क से बहुज्ञता या बहुश्रुतता थी, गया है। संतों की बानी का बहुत बड़ा भाग इसके अन्दर आता है।

जिस प्रकार कुतबन शेख़ तथा मुल्लादाऊद से प्रेम-कथा-काव्य का और दामों आदि के द्वारा पौराणिक कथा-काव्य का उदय हुआ।तथा जायसी व तुलसी के द्वारा उसे प्रौढ़ता मिली उसी प्रकार इस मुक्तक ज्ञान-काव्य (निर्गुणात्मक) का उदय महात्मा गोरखनाथ से होकर, महात्मा कबीर के द्वारा विकास भी हुआ। अन्य संत कवियों ने इसे रक्षित ही सा रक्खा है, आगे वे इसे बढ़ा नहीं सके। अस्तु, अब हम, इसी के साथ द्वितीय धार्मिक काव्य-धारा की विवेचना करने जा रहे हैं।

धार्मिक भक्ति-काव्य

सगुण वैष्णव कवि

कृष्ण-भक्ति-काव्य

मध्यकाल में हिन्दी-साहित्य का सुन्दर सरोवर वैष्णव धर्मोपदिष्ट भगवद् भक्ति के अलौकिकानन्द-रस से परिपूरित हुआ है और सुकवियों तथा महाकवियों के ग्रन्थों से उसी प्रकार सुन्दर, सुसज्जित तथा सौरभित हुआ है जिस प्रकार शतदल, एवं सहस्रदल वाले सुरभित सरोजों से सरोवर होता है। रसिक भ्रमरों तथा सरस सुरीले विहंगों से जिस प्रकार एक कमल-कानन गुंजित होता है उसी प्रकार यह साहित्य-कानन भी भक्तों की मधुर, मंजुल तथा मनोरम गान-तानों से कूजित हुआ है। इस

क्षेत्र में अनेक सरस, सुकोमल तथा सुधा-सौरभ-सने सुमनों ने अपना २ प्रेम-पराग चारों ओर ख़ूब बिखरा दिया है और समस्त जनता के हृदयों में उसे चिरकाल के लिये भली प्रकार पैठा बैठा दिया है। इसकी आनन्दप्रद शालिमा को सर्वथा सहृदयों के अन्तर्जगत में पूर्णतया रमा जमा दिया है। कह सकते हैं कि हमारे हिन्दी-साहित्य-कानन के लिये यह कमनीय कुसुमाकर का ही काल था। काव्य-कला-वल्लरियों के लिये यह विकास-वैभव का सुसमय था, भाषा भामिनी के लिये यह पूर्ण यौवन की ही वेला थी और धार्मिक सत्ता तथा महत्ता की यह जागृति-उषा थी, अस्तु, यही मध्य काल हमारे साहित्य के इतिहास का एक परम प्रधान समय है और इसी की हमें विशेष विवेचना तथा समालोचना करनी चाहिये। इसी का पूर्ण अध्ययन हमें करना योग्य है, किन्तु इसके पूर्व हमें यह अधिक उचित जान पड़ता है कि हम प्रथम उस वैष्णव धर्म की सूक्ष्म रूप में यहाँ व्याख्या कर दें, जिस के ही कारण हमारे काव्य-साहित्य को इतनी महत्ता-सत्ता, प्रधानता तथा गौरव पूर्ण मान-मर्यादा प्राप्त हुई है।

सर भंडारकर महोदय ने वैष्णव धर्म के ऐतिहासिक विकास पर एक सुन्दर तथा विद्वतापूर्ण ग्रंथ लिखा है और बड़ी गवेषणा तथा विवेचना के साथ इसके भिन्न २ रूपान्तरों पर प्रकाश डाला है। यद्यपि वैष्णव सम्प्रदाय के कतिपय विद्वद्वरों ने वैष्णव धर्म की व्याख्या की है और उस पर कई ग्रंथ लिखे हैं, तथापि उसके ऐतिहासिक विकास के यथाक्रम तथा यथेष्ट वर्णन करने का प्रयत्न उन लोगों ने नहीं किया, क्योंकि उनका उद्देश्य एक पुरातत्वान्वेषक विद्वान के समान ऐतिहासिक विकास के दिखाने का न था, वरन् जनता को वैष्णव धर्म की शिक्षा का देना ही था। अस्तु, जो सूक्ष्म ऐतिहासिक विकास हम यहाँ इस धर्म या मत

का दे रहे हैं वह विशेषतया भंडारकर महोदय के ही आधार पर समाधारित है।

हमें प्राचीन भारतीय धर्म के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म के उपरान्त भारत (उत्तरीय भारत) में औपनिषदिक तथा ब्राह्मण धर्म का प्रचार हुआ और इनके आधार पर दो प्रकार के मत प्रचलित हो चले। एक में तो दार्शनिक अध्यात्मवाद का और दूसरे में कर्म-कांड तथा उपासना का प्राधान्य था। एक में ज्ञान की ही महा महत्ता थी और वही जीवन के मुख्योद्देश्य अर्थात् मोक्ष या अपवर्ग का मूल साधन माना गया था, * और दूसरे में भक्ति की किंचित्पुट के साथ कर्म-कांड (यज्ञादिक) युक्त उपासना की विशेष प्रवलता थी। यज्ञादिक के ही सफल संपादन से अभीष्ट फलों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) की प्राप्ति हो सकती है; यही विचार प्रधान माना गया था। प्रथम मत का प्रचार सब प्रकार विद्वन्मंडली में ही था और द्वितीय का प्रायः राजाओं, एवं अन्य धनी-मानी लोगों की समाज में देखा जाता था, साधारण तथा निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के लिये ये दोनों एक प्रकार से असाध्य से ही थे। वे इनमें से किसी का भी आश्रय न ले सकते थे, अस्तु साधारण जनता के लिये एक साधारण धर्म की आवश्यकता हुई, जिसकी पूर्ति के लिये तत्व-दर्शी ऋषियों ने पुराणों की रचना करके एक पौराणिक धर्म की कल्पना कर दी, जिसमें चारित्रिक विकास की प्रधानता थी और

---

* "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" बिना ज्ञान के मुक्ति या मोक्ष नहीं। दुःख जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः"— दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष मिथ्या ज्ञान के उत्तरोत्तर (प्रतिलोम क्रम से) नाश से अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उक्त दोनों मतों के मूल तथा स्थूल तत्वों का सूक्ष्मता के साथ सम्मिश्रण था। इस पर भी साधारण या निम्न श्रेणीय जनता की आत्म-तुष्टि न हो सकी। ऐसी अवस्था में भगवान बुद्ध ने लगभग ५०० पूर्व ईसा के अपने एक नवीन बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यद्यपि वे वैदिक तथा दार्शनिक मतों के विरोधी न थे, तथापि वे यह मानते थे कि ये दोनों धर्म साधारण जनता के लिये उचित या उपयुक्त नहीं, योग, तपस्या, उपासना (कर्म-कांड या यज्ञादिक) और ज्ञानार्जित ब्रह्मात्म-स्वरूप-प्राप्ति सर्वथा शुद्ध, मान्य और कमनीय है अवश्य, किन्तु साधारण लोगों के द्वारा नहीं। अस्तु, उन्होंने चारित्रिक उन्नति पर विशेष बल रखते हुए अहिंसात्मक शान्ति के प्राप्त करने का वह सामाजिक साम्यपूर्ण विधान बनाया जिसका संपादित करना सभी के लिये साध्य एवं सरल था।

कुछ थोड़े से रूपान्तर के साथ, इसी प्रकार श्रीश्रद्धेय महावीर स्वामी ने अपने जैन मत का प्रचार साधारण जनता में लगभग इसी समय किया और इस प्रकार साधारण जनता के लिये उत्तरीय भारत में (पूर्वीय तथा मध्य प्रदेशों में) दो साधारण सिद्धान्तों वाले मत प्रचलित हो गये। उत्तरीय भारत का दक्षिण-पश्चिमीय प्रान्त अभी सूना ही सा रह गया। यद्यपि जैन धर्म वैदिक सिद्धान्तों को पूर्णतया मानता था और ब्रह्म, कर्म आदि के सिद्धान्तों पर उसकी पूर्ण आस्था थी तथापि उसमें भी वेद को कोई बहुत विशेष प्रधानता न दी जाती थी। ये दोनों धर्म उस समय की प्रचलित साधारण बोली में ही जनता के समझने के लिये सिखाये जाते थे, यही बोली विद्वानों के हाथों से परिष्कृत होकर साहित्यिक क्षमता के साथ 'पाली' भाषा बन गई और फिर प्राकृत एवं अपभ्रंश में रूपान्तरित हो कर आधुनिक रूपों में आ गई।

जैन मत का उतना विस्तृत तथा व्यापक प्रचार-प्रस्तार न हो सका जितना बौद्ध धर्म का, क्योंकि जैन मत को न तो राष्ट्र से ही सहानुभूति एवं प्रबलता प्राप्त हो सकी और न समाज एवं साम्राज्य से ही। बौद्ध धर्म को सम्राटों ने अपनाया और अपनी शक्ति से उसे बढ़ाया तथा दूर दूर तक प्रचलित या प्रस्तारित भी किया। समाज या जनता से भी पूरी सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त हुई, बस बौद्ध धर्म भारत में व्यापक सा होकर अन्य देशों जैसे लंका, ब्रह्मा, श्याम, चीन, तिब्बत तथा जापान आदि में भी फैल गया। हाँ, मध्य भारत के उत्तरीय भाग, जहाँ अब हमारा संयुक्तप्रान्त है तथा दक्षिणीय भाग, (जहाँ जैन मत का प्रचार था) दक्षिणीय तथा पश्चिमीय भारत में इसका प्रचार विशेष व्यापकता के साथ न हो सका, उत्तर-पश्चिमीय प्रदेशों जैसे अफ़ग़ानिस्तान (पूर्वीय भाग) तुर्किस्तान (दक्षिणीय तथा पूर्वीय) काश्मीर आदि में यह कनिष्क जैसे बौद्ध सम्राटों के द्वारा ख़ूब प्रचलित तथा प्रस्तारित किया गया। संयुक्तप्रान्त में यह इसीलिये व्यापक रूप से न फैल सका क्योंकि यहाँ औपनिषदिक तथा ब्राह्मण धर्मों और साथ ही इनके स्थान पर प्रचलित होनेवाले पौराणिक धर्म का पूर्ण आतंक छाया हुआ था। उज्जैन में संस्कृत के मुख्य केन्द्र होने के कारण जिस प्रकार बौद्ध धर्म राजपूताने तथा मध्य भारत में न फैल सका था, उसी प्रकार बनारस में भी संस्कृत विद्या के केन्द्र होने के कारण संयुक्त प्रान्त में भी यह न फैल सका। दक्षिणीय भारत में उसी समय एक दूसरा ही धार्मिक विकास हो रहा था, अतः वहाँ भी यह न फैल कर लंका में प्रचलित हो पाया, अस्तु।

हमें इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म का उदय तो ५०० वर्ष पूर्व ईसा में हुआ था किन्तु इसका विकास विशेष

रूप से सन् ईसवी १ से ५०० तक में हुआ। इस विकास-काल में इसकी दो मुख्य एवं प्रधान शाखायें हो गईं। प्रथम को **महायान मार्ग** और द्वितीय को **हीनयान मार्ग** कहते हैं। इसी विकास-काल में इस धर्म के द्वारा पाली एवं प्राकृत भाषाओं का भंडार धार्मिक ग्रन्थरत्नों से ख़ूब भरा गया। इसके पूर्व तो बौद्ध धर्म का उच्च साहित्य विशेषतया संस्कृत भाषा में ही रहता था। हाँ इस विकास-काल में भी इसका उच्चकोटि का धार्मिक साहित्य जिसमें दार्शनिक तथा आध्यात्मिक तत्व विशेष रहते हैं, प्रायः संस्कृत भाषा में ही लिखा जाता था। उत्तरीय भारत में प्रचलित होनेवाले महायान बौद्ध-धर्म में सदाचार की उतनी प्रधानता न थी जितनी हीनयान या दक्षिणीय बौद्ध-धर्म में। महायान मार्ग में दार्शनिक तथा कर्मकांड सम्बन्धी उपासना की विशेष प्रधानता थी और इसी में विशेष रूपान्तर हुआ था। हीनयान मार्ग में चारित्रिक तत्व की ही महा महत्ता थी और भगवान बुद्ध के प्राथमिक मूल सिद्धान्तों की यथेष्ट रक्षा की गई थी। महायान मार्ग में बुद्ध महात्मा को भगवान का अवतार माना गया था और इस प्रकार इसमें सगुणोपासना तथा अवतारवाद का समावेश किया गया था। इस मार्ग के ही इस तत्व का यह परिणाम है कि हमारे पौराणिक सनातन धर्म (हिन्दू धर्म) में अवतारवाद तथा सगुणोपासना के सिद्धान्त संनिहित कर दिये गये हैं। इस मार्ग के प्रभाव से हमारे पौराणिक धर्म में स्वर्ग, नर्क, प्रतिमा-पूजन तथा तीर्थ-यात्रा आदि की बातें आ गई हैं और पूजन-विधान में बहुत कुछ दिखावे की बातों का समावेश हो गया है। इस प्रकार धर्म-प्रचार में कलाओं, उनके ललित तथा मनोरंजक रूपों या बातों को विशेष स्थान दिया जाने लगा, अस्तु।

जिस प्रकार बौद्ध धर्म के दो मार्ग उसके विकास-काल में हो

गये थे और मूल सिद्धान्तों में रूपान्तर हो गया था, ठीक उसी प्रकार जैन धर्म में भी हुआ। उसके भी दो मुख्य मार्ग हो गये, एक तो श्वेताम्बर के नाम से और दूसरा दिगम्बर नाम से प्रचलित हुआ। इन दोनों में अपनी २ विशेषतायें रहीं, हाँ अहिंसा आदि के सिद्धान्त दोनों में समान रूप से बने रहे। इस धर्म तथा इस के मार्गों के सिद्धान्तों आदि का भी प्रभाव हमारे पौराणिक धर्म पर पर्याप्त रूप से पड़ा। अहिंसा-सिद्धान्त का समावेश हमारे पौराणिक धर्म में इसी के आधार पर हुआ है और हमारे पशुमेध यज्ञों को इसी के कारण हटना पड़ा है, शैव, शाक्त तथा तान्त्रिक धर्मों को भी इसके कारण रूपान्तरित सा होना पड़ा है।

जिस समय बौद्ध धर्म का उदय उत्तरीय भारत के पूर्वीय प्रान्त (मगध) में हो रहा था, उसी समय पश्चिमीय प्रान्त में भी एक विशेष प्रकार के प्रारंभिक वैष्णव धर्म का श्रीगणेश हो रहा था। पश्चिमीय भारत में इसी समय के निकट (लगभग ४ या ५ सौ वर्ष पूर्व ईसा) एक प्रकार के **बासुदेव सम्प्रदाय** का उदय हुआ था। इस सम्प्रदाय का भी मूल उद्देश्य वही था जो बौद्ध तथा जैन मतों का था। यह भी साधारण जनता के लिये वैदिक कर्मकांड की पद्धतिवाली यज्ञादि सम्बन्धी उपासना तथा औपनिषदिक या दार्शनिक अध्यात्मवाद के स्थान पर उठाया गया था। इसमें सगुणोपासना का प्राधान्य था, जो बौद्ध तथा जैन धर्मों के विकसित रूपों में हमें दिखलाई पड़ता है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि कदाचित् इसी से प्रभावित हो कर बौद्ध तथा जैन धर्मों में भी सगुणोपासना का समावेश किया गया था। इस संप्रदाय का श्रीगणेश एक बासुदेव नामी महात्मा ने जो कान्हायन गोत्रीय कृष्णवंश में उत्पन्न हुए थे, किया था। सम्भवतः यह कृष्ण ऋग्वेदीय कृष्ण थे और हमारे मथुरा वाले

नंद-वंशावतंश श्रीकृष्ण से पृथक् थे। जिस प्रकार बुद्ध तथा महावीर की पूजा आगे चलकर बौद्धों तथा जैनों में भगवान के रूपों से होने लगी, उसी प्रकार इस महात्मा वासुदेव को भी आगे चलकर उनके अनुयायी भगवान का अवतार मान कर पूजने लगे।

लगभग ४०० वर्ष पूर्व ईसा के ऐसा ही एक दूसरा संप्रदाय चला, जिसे **नारायण या हरि संप्रदाय** कह सकते हैं, क्योंकि इसमें नारायण या हरि रूपी ईश्वर की पूजा होती थी। इसमें भी सगुणोपासना तथा अवतारवाद की पूरी प्रधानता थी।

महाभारत के शान्ति पर्व (नारायणी अध्याय) में इस मत का कुछ उल्लेख दिया गया सा जान पड़ता है। इसमें भक्ति की विशेषता दिखलाई गई है, साथ ही इसमें यज्ञादि सम्बन्धी कर्म-कांडों का भी (अहिंसा के साथ) विधान है। जान पड़ता है कि इस मे भी बौद्ध धर्म के ही आधार पर अहिंसा के भाव का समावेश किया गया है। यह भी मथुरा के ही निकट उठा था। महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि वासुदेव, नारायण तथा हरि तीनों को एक ही भगवान (विष्णु) के भिन्न २ अवतार या नाम माने जाने लगे थे और यों ये सम्प्रदाय एक में मिल से गये थे। कदाचित् रामानुजाचार्य ने इसी के आधार पर अपनी नारायणोपासना का विधान उठाया था।

ईसा के लगभग २०० वर्ष पूर्व **विष्णूपासना** का प्राधान्य हो चला और पुराणों में भी इसी को विशेष महत्ता दी गई, अतएव इसके प्रभाव से प्रभावित हो कर उक्त दोनों सम्प्रदाय इसी के अन्दर आ गये और विष्णु को ही प्रधानता देकर पूजने लगे, उन्होंने अपने उपास्य देवों को विष्णु के ही अवतार मान लिये।

इसमें विष्णु वही हैं जिनका वर्णन वेदों में पाया जाता है।

लगभग २०० ई० में मथुरा के निकट एक विदेशीय आभीर जाति (अहीर) में गोपालकृष्ण की उपासना प्रारम्भ हुई, इन गोपाल कृष्ण का विष्णु आदि उक्त देवों से इस समय कुछ भी सम्बन्ध न था। हाँ उत्तर काल में इन्हें विष्णु का ही एक अवतार मान लिया गया। हरिवंश पुराण में इन्हीं की प्रधानता या महत्ता पाई जाती है। भागवत में इन्हीं को कंस के वधार्थ होने वाला नारायणावतार कहा गया है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि हमारे वैष्णव धर्म के ये ही प्रारम्भिक चार प्रधान तत्व या मार्ग हैं, इन्हीं की समिष्टि से वैष्णव सम्प्रदाय की कृष्णोपासना का विधान रचा गया है।

हम देख चुके हैं कि लगभग इसी समय में बौद्ध-धर्म का विकास-प्रकाश बड़ी तेज़ी से हो रहा था और उसका प्रचार-प्रस्तार भारत में चारों ओर बढ़ रहा था, अस्तु, उसके ऐसे व्यापक आतंक के सामने इन उक्त वैष्णव तत्वों की गति को दब जाना पड़ा। सारा समाज बौद्ध और जैन हो रहा था। अस्तु, ऐसी दशा मे उक्त सम्प्रदाय के कुछ वृष्णीवंशीय लोग अपने वैष्णव धर्म के साथ दक्षिणीय भारत की ओर चले गये। इन्हीं ने दक्षिणीय भारत में वैष्णव धर्म की स्थापना की और लगभग २०० ई० में मदूरा के पास इसका केन्द्र बना दिया।

चौथी और पाँचवीं शताब्दियों में आडवार नामी स्थान में कुछ संत (भक्त) कवियों ने तामील भाषा में विष्णु-भक्ति सम्बन्धी गीत-काव्य लिखकर धार्मिक काव्य का श्री गणेश किया। यह ध्यान रहे कि ये कृष्ण को विष्णु का अवतार न मानते थे। हाँ, उनमें विष्णु या नारायण की ही भक्ति विशेष प्रधानता के साथ थी।

लगभग ९ वीं या १० वीं शताब्दियों में एक दूसरा संत-समुदाय

वहीं उठा। यह उक्त संतों के समान न था वरन् इस समुदाय के संत या महात्मा लोग विद्वान दार्शनिक तथा अध्यात्मवादी थे। इनमें सब से प्रधान श्री श्रद्धेय भगवान **शंकराचार्य** जी थे। ये वेदान्त शास्त्र के पूर्ण विद्वान तथा अद्वैतवाद के प्रौढ़ प्रवर्तक थे। आप ने भक्तिवाद का एक प्रकार से खंडन सा किया और अद्वैत-वाद का प्रचुर प्रचार दक्षिण में करके उत्तरीय भारत में जहाँ बौद्ध तथा जैन मतों का प्रबल प्रचार हो चुका था, पदार्पण किया तथा अपने प्रखर प्रताप से दोनों मतों का पूर्ण खंडन कर उन्हें सदा के लिये भारत से उठा ही सा दिया।

१००० ई० के निकट इस अद्वैतवाद तथा मायावाद के विरोध में कुछ संतों ने उसी दक्षिणीय प्रान्त से उठ कर अपने भक्तिवाद का सरस सिद्धान्त चारों ओर भारत में फैला दिया। इन महा-त्माओं में चार महात्मा ही प्रधान हैं:—

१—स्वामी रामानुजाचार्य (लगभग १०७३ सं०) **२—माधवाचार्य ३—निम्बार्कस्वामी ४—विष्णु स्वामी।** ये चारों महात्मा श्री शंकर स्वामी के समान वेदान्त को मुख्य आधार मानते थे और चारों ने उस पर अपनी २ स्वतंत्र टीकायें भी लिखी हैं। शंकर स्वामी के नीरस अद्वैतवाद तथा माया-वाद को ये न मानते थे, इसी से इन लोगों ने उसके आधार पर अपनी ओर से कुछ अन्य विशेषतायें, देश-काल की दशाओं के अनुसार, अद्वैतवाद में और रख दी और इस प्रकार अपने २ स्वतंत्र मार्ग निश्चित करके चला दिये। सब ने भक्ति-पूर्ण उपासना को ही विशेष प्रधानता दी है और सगुण ब्रह्म के अवतारों में से अपने २ अभीष्ट अवतारों को विशेष प्रधान माना है। यद्यपि स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद में भी सगुण ब्रह्म-सत्ता का कुछ आभास सा था, किन्तु वह आभास भक्ति-भाव के सरस तथा सह-

हृदय स्वरूप के लिये पर्याप्त या उपयुक्त न था। इन महात्माओं ने इसे दूर किया और अपने २ विशिष्टाद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों में भक्ति-भाव को ही प्रधानता दी। कह सकते हैं कि इन महात्माओं ने अद्वैतवाद को विकसित या परिष्कृत सा किया है। इन लोगों ने दक्षिणीय भारत से चलकर उत्तरीय भारत में अपने मतों का प्रचार किया।

उत्तरीय भारत में इसी समय ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो चुकी थीं जिनके कारण देश तथा समाज में धार्मिक आन्दोलन एवं पुनर्जागृति की महती आवश्यकता थी और जनता को एक ऐसे साधारण धर्म की अभिलाषा थी जिसके आश्रय से वह अपनी धार्मिक सत्ता को सुरक्षित रख सके। ऐसे धर्म में यही अनिवार्य था कि हृदय तत्व की (भावनाओं, सरल साध्य आदर्शों और साधारण मूल नियमों की) प्रधानता हो। मुसलमान धर्म का प्रचार भी नवागत मुसलमानों ने बड़े वेग से प्रारंभ कर दिया था, ऐसी दशा में देश की सामाजिक तथा धार्मिक सत्ता को रक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक या अनिवार्य ही सा था। इन सब बातों के कारण उत्तरीय भारत में इन महात्माओं के सरस तथा भक्ति पूर्ण विशिष्टाद्वैत सम्बन्धी साधारण धर्म का नवांकुरित पौदा बड़े वेग तथा बड़ी शीघ्रता से पल्लवित एवं पुष्पित होकर बढ़ने लगा और विकसित होकर अपनी शाखाओं-प्रतिशाखाओं से चारों ओर निखरने-बिखरने लगा। इसकी सरस-सहित्य-सुमनावली के मनमोहक सुधा-सौरभ, प्रेम-पराग तथा अलौकिक सुधारस सुस्वाद से समस्त देश एवं समाज व्याप्त हो गया।

उक्त चारों महात्माओं ने विशिष्टाद्वैत को तो समानता के साथ उठाया किन्तु अपने २ मार्ग या पंथ विशेष प्रकार के

निश्चित कर स्वतंत्र एवं पृथक् रूप से स्थापित कर दिये। स्वामी रामानुजाचार्य * ने वेदान्तीय अद्वैतवाद सम्बन्धी ब्रह्म को लेकर उसके चित् तथा अचित् दो स्वरूप दिखला जीव तथा जगत् को उन्हीं में व्याप्त कर दिया, इन दोनों को विशेषतामय दिखलाकर ईश्वर के एक विशेष रूप की कल्पना कर दी, जिसके ही अंश से यह संसार या प्रकृति तथा जीव या आत्मा का विकास-प्रकाश होता है। अन्त में ये सब उसी में उसी प्रकार लीन होते हैं जैसे उत्पन्न होते हैं।

ईश्वर के नाना रूपों की कल्पना करके सब से प्रधान या पर रूप आपने नारायण (विष्णु) को ही प्रतिपादित किया और उसी के सामीप्य के लिये भक्ति-साधन के द्वारा पुरुषार्थ करना जीव का मुख्य जीवनोद्देश्य बतलाया। इसी के साथ आपने साकार (सगुण) सिद्धान्त के साथ अवतारवाद की भी योजना कर दी और इस समय इसकी महती आवश्यकता भी थी, क्योंकि मुसलमान तथा उनसे पूर्व बौद्ध और जैन लोगों ने इसका श्री गणेश कर ही दिया था और जनता पर इसका गहरा प्रभाव पड़ चुका तथा पड़ रहा था। ऐसी दशा में इस तत्व को न रखना उचित न था। नारायण नामी प्रधान रूप के अतिरिक्त ईश्वर के अन्यान्य रूपों की भी व्यवस्था आप ने रक्खी और वासुदेव, संकर्षण (वैष्णव धर्म के प्रारंभिक इष्ट देव) प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, राम, कृष्ण आदि को भी पूज्य बतलाया। ईश्वर को व्यापक तथा विभु मानकर आपने अन्तर्जगत तथा वहिर्जगत में समान रूप से उपस्थित दिखलाया, इसी आधार पर आपने योगियों के आत्म या ब्रह्मदर्शन तथा भक्तों के प्रतिमा-पूजन को प्रतिपादित किया।

---

* रामानुजाचार्य का जन्म सं० १०१६ में कहा जाता है।

ईश्वर के अवतार में आपने जन्म मरण की साधारण तथा संकीर्ण सीमा नहीं मानी, अवतार लेते हुए भी उसे आपने इन दोनों की शृंखला से मुक्त माना।

आत्मा को रूपों या दशाओं की श्रेणियों में विभक्त करते हुए आपने दिखलाया है कि जो आत्मा सांसारिक माया (स्वकर्म-सूत्रादि) से बँधी रहती है, वह बद्ध है, इसके दो रूप होते हैं, १–अप्रबुद्ध (तर्कयुक्त) or Rational, यथा मनुष्यादि, जिसे धर्मार्थ-काम (सांसारिक) तथा मोक्ष (अलौकिक) पदार्थों की इच्छा रहती है और जो इनको भगवद्भक्ति से प्राप्त करने में समर्थ होता है अथवा जो कर्म-योग के द्वारा इन्हें प्राप्त करता है। आपने योग को भक्ति के रूपों के आधार पर तथा उसी से पुष्ट करते हुए ३ मुख्य रूपों में दिखलाया है :—

१—**कर्म योग**—इसमें गीता के समान आपने निष्काम कर्म को ही प्रधान माना है, पूजा, व्रत, तीर्थ तथा ईश्वरार्थ अन्य प्रकार के कर्म-कांड या उपासनादि साधनों को निरीहता के ही साथ करना उचित कहा है। यह उपासना पूर्ण है।

२—**ज्ञान योग**—जिसमें दार्शनिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान को प्रधानता दी गई है, यह विद्वानों के लिये उचित है। इसमें शुद्ध ब्रह्मवाद (अद्वैतवाद) का तत्व विशेष रहता है, जीव और ब्रह्म प्रकृति से परे होकर एक रूप में माने जाते हैं।

३—**भक्ति योग**—उपास्यदेव का निरंतर ध्यान तथा भक्ति-भाव से उसकी उपासना में तल्लीन होना ही इसमें प्रधान रहता है। भक्ति के ही द्वारा उसकी प्राप्ति होती है, यह साधारण जनता के लिये ही उपयुक्त कहा गया है। भक्ति में आपने उपासना, यज्ञ, व्रत आदि को रख लिया है।

२–मुक्त आत्मा उस समय होती है जब वह सांसारिक बातों से

परे होकर चिर सुख-शान्ति का अनुभव करने लगती है। इसी के उस रूप को जो शाश्वत तथा अपने असली रूप को, जिसमें देवत्व रहता है, प्राप्त हो जाता है, नित्य तथा शुद्ध कहते हैं। इसी रूप की पराकाष्ठा को प्राप्त होने वाले देव ब्रह्मा और शिव हैं। इस प्रकार आपने धार्मिक वैमनस्य के भी, जो शैवों तथा वैष्णवों में चलने लगा था, दूर करने का विधान रच दिया। रामानुज जी के सम्प्रदाय का प्रस्तार तथा इनके भक्ति-भाव पूर्ण वैष्णव (नारायणोपासना) सिद्धान्तों का प्रचार अवध आदि प्रान्तों में ख़ूब हो गया।

आपके सम्प्रदाय का केन्द्र प्रथम तो काशी में रहा फिर वहाँ से वह प्रयाग तथा अयोध्या में पहुँचा। आपकी शिष्य-परम्परा में स्वामी राघवानन्द के शिष्य स्वामी **रामानन्द** जी बड़े ही सिद्ध तथा प्रसिद्ध महात्मा हुए।

स्वामी रामानन्द जी प्रयाग-निवासी कान्यकुब्ज कुलोत्पन्न श्री पुष्पसदन जी के सुपुत्र थे। आप की माता का शुभ नाम सुशीला था। आपने भी स्वामी रामानुज जी के वैष्णव-मार्ग को नारायणोपासना की ओर से झुकाकर श्री रामोपासना की ओर प्रबलता के साथ कर दिया। दार्शनिक तथा आध्यात्मिक तत्व तो आपने वही रक्खा जिसका उपदेश श्री रामानुज जी ने दिया था किन्तु आपने उपासना का मार्ग अपना एक स्वतंत्र रूप में निश्चय किया। आपने लीला-प्रधान आदर्श अवतारवाद को लौकिक दृष्टि से अधिक महत्व दिया और इसीलिये आपने मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी को ईश्वरावतार मानकर अपना मुख्योपास्य देव ठहराया तथा श्री रामोपासना को ही प्रचलित किया। आपने अपना मूलमंत्र "राम नाम" ही रक्खा। आपने देश, जाति तथा वर्णादि सम्बन्धी भेद-भाव के विचार को भक्ति-मार्ग वाले भक्त-प्रवरों के बीच से परे

करने की ओर भी संकेत किया। इस प्रकार आपने वैष्णव धर्म को व्यापक और उदार करने का प्रयत्न किया।

रामानुज जी के समान वैष्णव धर्म की दीक्षा को आपने न केवल द्विजातिमात्र की ही सीमा के अन्दर रक्खा वरन् उसे समस्त जातियों के विस्तृत क्षेत्र में विस्तृत कर दिया। इस प्रकार आपने एक स्वतंत्र भक्त-दल बनाया, जिसमें सभी जाति के लोग थे और इन्हें "बैरागी" संज्ञा दे दी। वर्णों और आश्रमों के प्राचीन प्रचलित विधान को आप पूर्णरूप से स्वीकार करते तथा उसे स्वीकृत करने का उपदेश भी देते थे, क्योंकि लौकिक (सामाजिक) तथा राष्ट्रीय व्यवस्थादि के लिये इसकी परमावश्यकता है। हाँ उपासना के क्षेत्र में आपने वर्णादि की व्यवस्था के संकीर्ण रूप को दूर कर सब को सामान रूप से अधिकार देने की पद्धति चलाई। संसार के कर्म-क्षेत्र में आप वर्णादि की चिर प्रचलित व्यवस्था को शास्त्र-विहित मानते हुए उचित तथा उपयुक्त मानते थे, किन्तु उपासना-क्षेत्र में इस प्रकार के लौकिक प्रतिबंध को आप दूर रखते थे। राम-भक्ति का उपदेश देते हुए आप राम नाम की महिमा बहुत कहा करते थे। आपने कई शिष्य किये और १५ वीं शताब्दी में राम-भक्ति को सदा के लिये सुदृढ़ता से स्थापित कर गये। आप संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान था आचार्य थे, आपने ब्रह्मसूत्र पर "आनन्द भाष्य", श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य, वैष्णव मतान्तर भास्कर, श्री रामार्चन-पद्धति आदि कई ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे। इनमें से कुछ का अब तक पता नहीं लगा। हिन्दी में भी कभी कभी आप विनय तथा स्तुति के पद गाया करते थे। आप की उपासना में **दास्य भाव** की ही पूर्णतया प्रधानता है और आप रामचन्द्र के दासों या भक्तों को भी पूज्य मानते हुए श्री हनुमान जी आदि की भी बड़ी वंदना किया

करते थे। आप की ही शिष्य-परम्परा में हमारे हिन्दी-काव्य-साहित्य के कमिलनी-कुल-वल्लभ श्री महात्मा तुलसीदास जी ने अपने रामचरित मानस तथा अन्यान्य सद्ग्रंथों के द्वारा श्री राम-भक्ति के सुधारस से हिन्दी-संसार तथा हिन्दी-साहित्य को परिप्लावित कर दिया। रामानंदी संप्रदाय में आप एक सिद्ध एवं प्रसिद्ध महात्मा माने जाते हैं।

श्री निम्बार्क स्वामी का स्थान भी यदि श्री रामानुजाचार्य से बढ़कर नहीं तो उनसे कुछ विशेष कम भी नहीं है। आप भी संस्कृत विद्या तथा दर्शन शास्त्र के पूर्ण मर्मज्ञ थे, आपने भी संस्कृत में कई अवलोकनीय ग्रंथ-रत्न रचे हैं। आपने श्री कृष्ण और राधिका जी की भक्ति का उपदेश दिया है और इन्हीं को उपास्य देव माना है। आप भी दक्षिणात्य महात्मा थे, और शुष्क अद्वैतवाद तथा मायावाद के विरोधी थे। आपने वेदान्त पर जो टीका लिखी है उसके द्वारा आपने विशिष्टाद्वैतवाद का, जिसमें भक्ति की ही प्रधानता है तथा जिसमें सगुणोपासना एवं अवतारवाद की महत्ता प्रतिपादित की गई है, उपदेश दिया है। श्री रामानुजाचार्य ने नारायण के साथ ही साथ जिस प्रकार लक्ष्मी जी की भी उपासना का विधान किया था उसी प्रकार आपने श्री कृष्ण जी के साथ राधिका जी की भी भक्ति कही है। आप अपनी भक्ति-पद्धति का प्रचार बंगाल तथा विहार में करके वृन्दावन में आ बसे, क्योंकि यही प्रदेश श्रीकृष्ण तथा राधा का लीला-क्षेत्र था। आपके मत का बहुत गहरा प्रभाव उत्तर कालीन भक्तों पर पड़ा है और राधिका-भक्ति का समावेश कृष्ण-भक्ति में आपके ही प्रभाव का परिणाम जान पड़ता है।

श्री मध्वाचार्य जी भी दक्षिणात्य महात्मा थे और शङ्कर स्वामी के नीरस अद्वैतवाद तथा मायावाद के विरोधी तथा

विष्णु भगवान और लक्ष्मी जी के अनन्य उपासक तथा भक्त थे। वेदान्त के ही आधार आपने भी अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को स्थिर किया है। आप श्री **वल्लभाचार्य** जी के जिन्होंने सूरदास आदि हिन्दी-साहित्य के उज्ज्वल रत्नों को लेकर प्रसिद्ध अष्ट छाप की रचना की थी, सहपाठी थे। कुछ लोग इन दोनों महात्माओं को कृष्ण का अवतार सा मानते हैं। बंगाल-विहार के लोक-प्रिय तथा सिद्ध-प्रसिद्ध महात्मा **चैतन्य स्वामी** आप ही के सम्प्रदाय के थे। चैतन्य स्वामी श्रीकृष्ण जी के अनन्य भक्त थे और कृष्ण-लीला का गान करते करते ऐसे मुग्ध हो जाते थे कि उन्हें अपनी भी सुध न रह जाती थी, ऐसी ही दशा में ये एक बार दौड़कर समुद्र में कूद पड़े और उसी में निमग्न होकर स्वर्ग-धाम को चले गये। आपने माध्व सम्प्रदाय में कुछ विशेषता रख उसे कुछ रूपान्तरित करके **गौडीय मार्ग** बना दिया। यह मार्ग बंगाल में बहुत प्रचलित हुआ। चैतन्य स्वामी भी एक बार वृन्दावन तथा मथुरा आये थे। आपकी कृपा मिथिला-कोकिल श्री कविवर विद्यापति पर विशेष थी और आपके ही प्रभाव से विद्यापति ने गीत गोविन्द की छाया लेते हुए श्री कृष्ण-लीला के बड़े ही सरसपद लिखे थे। इनमें से कुछ को चैतन्य स्वामी बड़ी रुचि से गाते और प्रेम से मुग्ध हो जाते थे। आप के ही संप्रदाय में **रूप सनातन** जी अति प्रसिद्ध कवि तथा सिद्ध महात्मा (भक्त) हुए हैं। चैतन्य स्वामी नदिया के ब्राह्मण-वंश-भूषण थे।

श्री **विष्णु स्वामी** एक अत्यन्त प्रधान महात्मा तथा पंथ-प्रवर्तक हुए हैं। आप की जीवनी का विशेष पता नहीं चलता। आपने श्री कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया और शिवोपासना की ओर भी संकेत दिया है। श्री स्वामी वल्लभाचार्य जी आप ही के

दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुयायी थे, हाँ उपासना-क्षेत्र में वे श्री निम्बार्क स्वामी का विशेष अनुकरण करते थे।

ध्यान देने की बात है निम्बार्क-सम्प्रदाय में कृष्ण-भक्ति के साथ राधिका-भक्ति का विधान विशेष न था, किन्तु उसमें राधिका-भक्ति की महत्ता तथा सत्ता गौडीय सम्प्रदाय के महात्मा रूप सनातन के (जो श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे) प्रभाव से हो गई है। रूपसनातन ने वृन्दावन में बसकर गौड़ वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इसी गौड़ वैष्णव सम्प्रदाय की एक मुख्य शाखा **राधावल्लभी** सम्प्रदाय के रूप में चल निकली और इसी का बहुत बड़ा प्रभाव हिन्दी-भक्ति-काव्य पर सब से प्रथम और सब से अधिक पड़ा है। श्री **हितहरिवंश** जी इस सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्तक थे, इसीलिये इसे **"हित सम्प्रदाय"** भी कहते हैं। इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय के एक विशेष रूप को **टट्टी वाला** या **सखी** सम्प्रदाय कहते हैं, इसके प्रवर्तक महात्मा **हरि दास** जी थे। आगे हम इन सब सम्प्रदायों के प्रधान प्रधान भक्त कविवरों का आलोचनात्मक वृत्तान्त दे रहे हैं।

यहाँ पर हमें भक्ति-भाव की भी कुछ सूचना या विवेचना का दे देना उचित जान पड़ता है। भगवान की भक्ति मुख्यतया पाँच भावों से की जाती है, ये पाँचों भाव पाँच प्रकार के लौकिक प्रेम-भावों के समान ही से हैं और पाँच प्रकार के सम्बन्धों के आधारभूत तत्व हैं, इसीलिये इनमें इन्हीं लौकिक सम्बन्धों से सम्बन्ध रखने वाले विचारों तथा उनकी विशेष भावनाओं का ही पूर्ण प्राधान्य रहता है। मानव-जीवन की अवस्थाओं तथा उनसे प्रभावित होने वाले हार्दिक विचारों, भावों और उनकी अनुगामिनी मनोवृत्तियों का इनमें मार्मिक चित्रण रहता है

इसीलिये यह साधारण जनता को, जिसमें हृदयतत्व ही विशेष प्रधान रहता है, अधिक रुचिकर, सौख्यप्रद तथा अकृष्टकर होता है। सगुण और साकारवाद के कारण इस भक्ति का लीलाकारी ब्रह्मरूप से ही विशेष सम्बन्ध रहता है। लौकिक सम्बन्ध के मुख्यतया दो पटल होते हैं १—पारिवारिक तथा २—सामाजिक इसीलिये भक्ति के भी प्रथम दो रूप हो जाते हैं अ-**पारिवारिक** सम्बन्धात्मिका तथा ब-**सामाजिक** सम्बन्धात्मिका।

पारिवारिक सम्बन्धों में से मुख्य मुख्य सम्बन्ध होते हैं-१-पिता-पुत्र-सम्बन्ध या जन्य-जनक-सम्बन्ध २-पति-पत्नी या दाम्पत्य सम्बन्ध, ३—बंधुबांधव-सम्बन्ध। अतः इन्हीं के आधार पर भक्त और भगवान के बीच में भी १—जन्यजनक भाव २—दाम्पत्यभाव ३—तथा भ्रातृभाव के साथ सम्बन्ध ठहरता है और फिर इनके ही आधार पर भक्ति के भी मुख्यतया ३ रूप हो जाते हैः—१—जन्य-जनक या पिता-पुत्र-भाव के साथ भगवान को पुत्रवत् मानकर जो भक्ति की जाती है उसे १—वात्सल्य भक्ति २—दाम्पत्य भाव अर्थात् भगवान को अपना पति मानकर जो भक्ति की जाती है उसे शृङ्गार या माधुर्य भक्ति, ३—अपना सगा भाई जानकर जो भक्ति भगवान से की जाती है उसे समभक्ति कहते हैं।

नोटः—ईश्वर को पिता या परमपिता मानकर भी उसकी पुत्रवत् भक्ति की जाती है। यह सर्वसाधारण एवं व्यापक ही है। भक्तों ने इसे प्रधानता नहीं दी।

सामाजिक सम्बन्धों में से मुख्य सम्बन्ध मनुष्य के हुआ करते हैंः—१—पूज्यभाव सम्बन्ध, अर्थात् अपने से गुरुजनों के साथ श्रद्धा-सम्मान-पूर्ण पूज्य सम्बन्ध २—सेव्य-सेवक-सम्बन्ध अर्थात् स्वामी और सेवक या दास सम्बन्ध अथवा स्वामी और दासी सम्बन्ध (यह उक्त पारिवारिक दाम्यपत्य सम्बन्ध का

द्वितीय रूप है, दाम्पत्य सम्बन्ध में प्रेम के कारण प्रायः साम्य-भाव विशेष प्रधान रहता है, किन्तु इसमें श्रद्धा-भाव विशेष रहता है) ३—सखासम्बन्ध अर्थात् साम्य-सम्बन्ध, जैसा मित्रों में हुआ करता है। अस्तु, अब इन्हीं के आधार पर भक्त-भगवान के सम्बन्ध भी तीन ही प्रकार के हो जाते हैं, अर्थात् भक्त भगवान को अपना श्रद्धेय, पूज्य तथा मान्य गुरुजन मानता है और उसका सम्मान करता हुआ उसका अनुगामी बनता है। इस भाव वाली भक्ति को १-**शान्त भक्ति** कहते हैं। सेव्य-सेवक-भाव से भक्त अपने को दास या सेवक और भगवान को अपना स्वामी या मालिक मानता है, इस भाव से जो भक्ति की जाती है वह २-**दास्य-भक्ति** होती है। जहाँ दाम्पत्य भाव में इसे रख देते हैं वहाँ दास्य दाम्पत्य भक्ति हो जाती है। इसी प्रकार सखासम्बन्ध मानकर जहाँ भक्त अपने को भगवान का मित्र और सुहृद् मानकर उसकी भक्ति या उसके प्रति प्रेम करता है वहाँ ३-**सख्य भक्ति** रहती है। इन पाँचों प्रकार की भक्ति के मिश्रित रूप भी देखने में आते हैं। इनके आगे भी कुछ भक्तों ने कुछ नये रूपों में भक्ति का विकास किया है, जैसे, हरिदास, हित जी तथा चैतन्यादि ने अपने को श्री कृष्ण-प्रिया राधिका जी की सखी के रूप में मान कर सखी भाव के साथ भक्ति की है, इसे हम **सखी भक्ति** कह सकते हैं।

उक्त सभी प्रकार के भक्ति-भावों में से रामानन्दियों का दास्य भाव, वल्लभ-सम्प्रदाय वालों का वात्सल्य भाव तथा हित जी का सखीभाव ही प्रधान हैं। मीरा तथा कबीरदास में माधुर्य-भाव की कुछ विशेषता पाई जाती है। हम इन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार अपने साहित्यिक कविवरों की विवेचना आगे करेंगे, क्योंकि ऐसा करने से विचार-धाराओं के समझने में हमारे पाठकों को विशेष सुविधा होगी। कवियों की विवेचना के पूर्व

हम यहाँ भक्ति-काव्य के सूक्ष्म ऐतिहासिक विकास का दे देना भी समीचीन समझते हैं, क्योंकि इससे विषय बहुत कुछ स्पष्ट हो जावेगा और विचार-धाराओं की उत्पत्ति तथा प्रगति पर भी अच्छा प्रकाश पड़ जायेगा।

—:o:—

भक्ति-काव्य का ऐतिहासिक विकास

राम-काव्य

हमारे भक्ति-काव्य में मुख्यतया ईश्वर के दो अवतारों के आदर्शों को उठाकर भक्ति-भाव का सरस सुमनाकुलित कानन लगाया गया है। इन दो अवतारों में से प्रथम तो मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान श्री **रामचन्द्र** जी का है और द्वितीय योगेश्वर श्री **कृष्ण** जी का है। श्री राम-भक्ति का काव्य, जैसा हमारे देश में सर्वमान्य होकर प्रसिद्ध है, सर्व प्रथम श्री **महर्षि वाल्मीकि** जी के ही द्वारा रचा गया है। उनकी **रामायण** ही वह प्रथम ग्रंथ है जिसमें राम-काव्य के अलौकिक आनन्द का असीम सागर भरा हुआ है। यह ग्रंथ संस्कृत-साहित्य का मुकुट-मणि है और राम-काव्य के अन्य सभी ग्रन्थ-रत्नों का आधार है। श्री वाल्मीकि जी के पश्चात् जितने भी ऐसे कविवर हुए हैं जिन्होंने राम-काव्य लिखा है, उन सबों ने प्रायः इसी ग्रंथ से सहायता ली है। कहा गया है कि यही ग्रंथ पृथ्वी-मंडल का सबसे प्रथम महाकाव्य है और श्री वाल्मीकि जी ही सबसे प्रथम महाकवि हैं।

वाल्मीकीय रामायण के अतिरिक्त संस्कृत-भाषा में १—**अध्यात्म रामायण** २—**हनुमन्नाटक** ३—**रघुवंश महाकाव्य** ४—**भट्टिकाव्य** ५—**राघवपांडवीय**, आदि राम-काव्य

के मुख्य ग्रन्थ हैं। इन ग्रंथों के देखने से यह पता चलता है कि राम-भक्ति का उदय इन ग्रंथों के समय में ही हो चुका था, हाँ वाल्मीकीय रामायण के देखने से यह अवश्य भासित होता है कि उसके समय में राम-भक्ति का अंकुर भी कदाचित् न निकला था। हाँ उसका बीजारोपण सा अवश्यमेव हो गया था। वाल्मीकीय रामायण में राम के चरित्र का चित्रण मर्यादा पुरुषोत्तम आदर्श के रूप में ही विशेषतया वीर-पूजा के भाव से किया गया था, उसमें कोई भी विशेष ध्वनि ऐसी नहीं जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि रामचन्द्र जी को ईश्वरावतार माना गया है और उनकी उपासनादि का उपदेश किया गया है। अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक आदि अन्य ग्रंथों में अवश्य ही रामचन्द्र को ईश्वरावतार मानकर उनके आदर्श चरित्र का चित्रण किया गया है।

स्वामी रामानन्द जी ने राम-भक्ति का प्रचार मुख्यतया अध्यात्मादि ग्रन्थों के ही आधार पर किया था, इसीलिये उनके रामानन्दी सम्प्रदाय में अध्यात्म रामायण का विशेष पठन-पाठन पाया जाता है और उनकी शिष्य-परम्परा में उत्पन्न होने वाले महात्मा तथा हिन्दी-साहित्य-काव्य के विमलचंद्र श्री तुलसीदास जी ने इसीलिये अध्यात्म रामायण के ही आधार पर अपने अनुपम ग्रंथ-रत्न रामचरितमानस की अप्रतिम तथा सर्वथा स्तुत्य रचना की और उसके द्वारा रामावतार तथा राम-भक्ति के सरस सम्वाद या संदेश को समस्त हिन्दी-संसार में व्यापक कर दिया। रामानन्दी सम्प्रदाय के अन्य संतों ने, खेद है, श्री तुलसीदास जी का अनुकरण नहीं किया, इसी से राम-काव्य का पवित्र साहित्य विशेष पल्लवित और पुष्पित न हो सका। तुलसीदास जी के उपरान्त केवल कुछ ही भक्तों ने राम-काव्य की रचना करने का प्रयास किया। इसके मुख्यतया दो ही कारण जान पड़ते

हैं:— १—तुलसीदास के पश्चात् कोई भी ऐसा महात्मा महा-कवि इस सम्प्रदाय में न हुआ जिसमें इतनी क्षमता होती कि वह रामचरितमानस से उत्तम या उसी के समान राम-काव्य का दूसरा ग्रंथ लिख सकता। श्री तुलसीदास जी ने इतनी पुष्टता के साथ अपने राम-काव्य को लिखा था कि उसके आगे फिर कुछ शेष ही न रहा, जो दूसरे कवियों के लिये मौलिक रूप में लिखा जा सकता। रामचरितमानस सर्वथा सांगोपांग और पूर्ण माना गया और लोगों ने इसके आगे दूसरे ग्रंथों का लिखना व्यर्थ समझा। तुलसी-शशि के सामने अन्य कवि-नक्षत्रों की काव्य-कला के कलित होने की आशा ही न थी, अस्तु राम-काव्य पर बहुत कम कवि लिखने का सफल प्रयत्न कर सके। अतः तुलसी कृत रामचरितमानस अपने ढंग का अद्वितीय राम-काव्य-ग्रंथ होकर हिन्दी-संसार में सर्वत्र सदा के लिये सब प्रकार समान रूप से व्यापक हो गया।

श्री तुलसीदास जी के पश्चात् आचार्य केशवदास ने राम-काव्य पर अपनी "रामचंद्रिका" लिखी और इस ग्रंथ-रत्न का भी हिन्दी-संसार में अच्छा समादर हुआ। हाँ, इसे समाज तथा साहित्य में वह स्थान अवश्यमेव न प्राप्त हो सका जो तुलसी के रामचरितमानस को प्राप्त हुआ है। इसके मुख्य कारण ये ही जान पड़ते हैं कि रामचन्द्रिका, अपनी भाषा, शैली तथा काव्य-कला की उत्कृष्टता के कारण समाज में व्यापक न हो सका, उसकी क्लिष्टता तथा साहित्यिक प्रौढ़ता ने उसे संकीर्ण क्षेत्र में ही रहने दिया, इसके विपरीत मानस ने अपनी सरस, भावपूर्ण तथा सर्व साधारण भाषा, शैली और काव्य-माधुरी से जनता के हृदयों में अचल और उच्च स्थान प्राप्त कर लिया, वह इसी से सदा के लिये स्थायी होकर व्यापक हो गया।

केशव के पश्चात् रीवाँ-नरेश श्री महाराज रघुराजसिंह जी जैसे कुछ भक्त कविवरों ने राम-काव्य लिखा, किन्तु उनका भी रंग मानस के सामने फीका ही रहा। कुछ भक्त-प्रवर कवियों ने रामचन्द्र जी की लीलाओं पर मुक्तक-काव्य की रचनायें कीं, किन्तु किसी अच्छे महाकाव्य का निर्माण न कर पाया। अस्तु, राम-काव्य का साहित्य संकीर्ण रूप में ही रह गया।

२—दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि राम-भक्ति के आन्दोलन की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति का आन्दोलन विशेष वेग-बल के साथ उठा और चला। जनता उस ओर विशेष आकृष्ट हुई। अस्तु, कृष्ण-काव्य भी विशेष वेग-बल से विकसित और व्यापक हुआ। कृष्ण-भक्तों ने अपने आन्दोलन के प्रचार में अपनी बहुत बड़ी शक्ति लगा दी। भक्त कवियों ने संगीत से पूरी सहायता लेकर कृष्ण-काव्य को सरस और मधुर बना दिया, जिससे वह लोक-प्रिय और व्यापक हो गया। साथ ही ब्रजप्रान्त में कृष्ण-भक्ति के आन्दोलन तथा उसके काव्य का कोई भी प्रतिद्वंद्वी, विरोधी या प्रतिरोधी न था, किन्तु राम-भक्ति के आन्दोलन तथा उसके काव्य के इस अवध प्रान्त में कई प्रतिद्वंद्वी और विरोधी थे। जायस में जायसी के अनुयायी मुसलमान फ़क़ीर अपने प्रेमात्मक सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे तथा बनारस में हिन्दू-धर्म का प्रौढ़ दार्शनिक सनातन धर्म व शैवमत चल रहा था, प्रयाग तथा उसके आसपास कबीर साहब का कबीर पंथ तथा उनके शिष्यों के अन्य पंथ (जैसे दादू पंथादि) अपने अपने आन्दोलन उठा रहे थे। गोरखपुर के आसपास गोरखपंथ भी कुछ चल रहा था, मिथिला तथा बंगाल-बिहार में कृष्ण-भक्ति और शाक्त मत के कार्य बड़े बल-वेग से हो रहे थे। ऐसी दशाओं में वस्तुतः राम-भक्ति का आन्दोलन किस प्रकार बल-वेग

से चल सकता था, बस वह बहुत ही संकीर्ण रूप में चल सका। इसका कार्य रामानन्दी सम्प्रदाय वाले भक्त कुछ विशेष बल-वेग से कर भी न सके। राम-भक्त कवियों ने अपने काव्य में संगीत की विशेष पुट भी न लगाई थी, इससे उसमें उतनी मनोहारिता तथा मधुरता न आ सकी कि वह जनता के हृदयों को बलात् अपनी ओर खींच कर लगा रक्खे। राम-चरित्र का चित्रण सांगोपांग ही किया गया था तथा उनके चरित्र में ऐसे रस-पूर्ण तथा प्रेम-प्रधान प्रसंग न थे जिनसे मानव-मानस पर मर्मस्पर्शी प्रभाव पड़ सके और वह खिंच कर उसी में लीन-विलीन हो जावे। कृष्ण-चरित्र के चित्रण करने में कृष्ण-भक्त-कवियों ने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा कि श्रीकृष्ण जी के जीवन में से वे ही लीलायें या घटनायें लेकर चटकीले व गहरे रंगों में चित्रित की जावें, जिनमें भावों,भावनाओं (मनोवृत्तियों को उत्तेजित करने वाली बातों) तथा माधुर्यपूर्ण सरलता आदि का ही पूर्ण प्राधान्य हो और जिनसे प्रेम, सौन्दर्य तथा आनंद का सागर उमड़ता हो। अस्तु, उन्होंने वात्सल्य भाव-पूर्ण कृष्ण की बाल-लीलायें एवं प्रेम तथा सौंदर्यानन्द-पूर्ण उनकी योवन-लीलायें ही सरस तथा मधुर ब्रज भाषा में संगीत-सुधा की पुट के साथ बहुत विशेष रूप से गाईं और इस प्रकार जनता के हृदयों पर अपना एवं अपने काव्य का अधिकार सा जमा दिया। वस्तुतः रामचन्द्र जी की जीवनी में शान्त तथा वीर रसों का ही पूरा प्राधान्य है, उसमें चारित्रिक उच्चता तथा पवित्रता का दिव्य परिपाक पाया जाता है और उनके प्रेम-प्रधान यौवन-काल में विधि-वामता से वियोग-दुख तथा करुणा का ही तत्व विशेष आता है। कर्तव्य-पालन की चरमसीमा उसमें दीखती है, वह आदर्श-रूप में है। किन्तु कृष्ण की जीवनी में शृंगार, प्रेम,सौंदर्य तथा आनन्द का ही

विशेष प्राधान्य है, विशेषतया उनके बाल और युवा काल के जीवनों में। इसी से उसमें विशेष सरसता, मधुरता तथा वशीकरता है। यही विचार कर सरसता-प्रेमी भावुक कवियों का समुदाय भी कृष्ण की इन्हीं लीलाओं की ओर आकृष्ट हो गया, और उन्हीं का गान करने लगा। उनके नेताओं ने इसी विचार से कृष्ण की जीवनी के इन्हीं अंशों पर विशेष बल दिया और अपने शिष्यों से इन्हीं के कल गान करने को कहा था।

अस्तु, कृष्ण-काव्य तो ख़ूब उन्नत और विकसित होता चला और राम-काव्य उसके सामने कुछ दबता सा गया। धन्यवाद है श्री तुलसी की भव्यभारती को तथा धन्य है उनकी भक्ति को जिसकी प्रेरणा व सहायता से उन्होंने रामचरित मानस रचकर राम-काव्य का भव्य भाल हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में उन्नत कर दिया और उसे अमरत्व प्रदान कर व्यापक बना दिया। साथ ही राम-भक्ति को भी जनता के हृदयों में रक्षित कर रक्खा।

इस प्रकार राम-काव्य का परिचय सूक्ष्म रूप में दे कर अब हम उस कृष्ण-काव्य का परिचय दे रहे हैं जिससे हमारे हिन्दी-साहित्य का बहुत बड़ा भाग भरा-पूरा है।

कृष्ण-काव्य का विकास

संस्कृत का साहित्य एक ऐसा भरा हुआ भंडार है कि उसमें प्रायः प्रत्येक विषय के रत्न हमें खोजने से प्राप्त हो जाते हैं। हमारे हिन्दी-साहित्य का तो यह एक सुदृढ़ आधार ही है, उसी पर वह सब प्रकार समाधारित है, उसी से उसे अपने मंजुमंदिर के सुसज्जित करने की सारी सामग्री प्राप्त हुई है और अब भी प्राप्त होती है। अस्तु, हमें कृष्ण-काव्य के मूल तत्वों का अन्वेषण करने के लिये संस्कृत-साहित्य के ही

विस्तृत तथा रत्नगर्भ क्षेत्र की गवेषणा करनी चाहिये। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि हमारे प्राचीन सुकवियों को संस्कृत का प्रायः अच्छा ज्ञान रहता था और इसीलिये उनका काव्य, संस्कृत के काव्य-साहित्य पर सर्वथा समाधारित तथा उससे पूर्णतया प्रभावित रहता था और यह स्वाभाविक ही है। धार्मिक साहित्य के विषय पर तो यह बात सभी प्रकार घटित होती है, क्योंकि सभी प्रकार के धर्मों के केन्द्र तथा मूल तत्व संस्कृत में ही प्राप्त होते हैं। अस्तु, हम कृष्ण-भक्ति-काव्य के मूल तत्वों की खोज इसी संस्कृत-साहित्य में कर रहे हैं।

यद्यपि हमें वेद में भी कृष्ण का नाम प्राप्त होता है किन्तु उससे वहाँ सम्भवतः उन कृष्ण का तात्पर्य कदापि नहीं जिन्हें अवतार मान कर वैष्णव सम्प्रदाय के भक्त लोग अपना उपास्य देव मानते तथा जिनकी लीलायें बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति से गाते हैं। अब वेद को छोड़ कर जब हम आगे ब्राह्मण ग्रंथों की ओर आते हैं तब हमें एक ब्राह्मण ग्रन्थ में कृष्ण का नाम फिर प्राप्त होता है, किंतु वहाँ भी यह सर्वथा स्पष्ट नहीं है कि तत्रोल्लिखित कृष्ण वे ही हैं जिन्हें विष्णु का अवतार कहा गया है, अस्तु इन्हें भी छोड़ कर हम और आगे आते हैं और उपनिषदों में देखते हैं तो हमें उनमें भी कुछ विशेष सूत्र नहीं मिलता। अब इन सब के पश्चात् हमें पौराणिक काल में आना पड़ता है। इस काल के पुराण ग्रंथों में से दो में हमें अपनी अभीष्ट सामग्री कुछ विशेष रूप में प्राप्त होती है।

इन पुराणों से पूर्व जब हम उस महाभारत नामी सर्वमान्य इतिहास-ग्रंथ को उठाकर देखते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि उसमें उन्हीं कृष्ण का वर्णन किया गया है जो वैष्णवों के उपास्य देव हैं। यह बात अवश्य है कि महाभारत में उन कृष्ण को एक

योगीश्वर तथा प्रमुख राजनीतिज्ञ नेता के रूप में ही विशेषतः चित्रित किया गया है। यथाः—

"यत्र योगीश्वरो कृष्णः तत्र वै विजयोध्रुवम्"

—महा०

हाँ महाभारत के गीताध्याय (श्री मद्भगवद्गीता) में श्रीकृष्ण को ऐसा योगेश्वर दिखलाया गया है कि वे सर्वथा ब्रह्म या ईश्वर ही से प्रतिभात होते हैं और उसी में उनकी उपासना तथा भक्ति के करने का भी आदेश दिया गया है। श्रीप्रातस्मरणीय वेद व्यास जी ने श्री कृष्ण जी के ही शब्दों में यों लिखा हैः—"मन्मना भव मद्भक्तमद्याजी मामनमस्कुरु, मामेवेष्यसि कौन्तेय मद्भक्तोऽसि प्रियोऽसि मे"। कदाचित् इसका प्रभाव वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तों पर अच्छी तरह पड़ा है और उन्होंने कृष्ण को ईश्वर का रूप मान कर उनकी भक्ति या उपासना उठा ली है किन्तु इसी के साथ हम यह भी कह सकते हैं कि महाभारत के कृष्ण को वैष्णवों ने नहीं लिया, क्योंकि वे कृष्ण को योगेश्वर तथा राजनीति-विशारद नेता के रूप में नहीं लेते और इन रूपों को प्रधानता देकर उनकी उपासनादि भी नहीं करते।

हाँ वे लोग कृष्ण की उन लीलाओं और घटनाओं का उल्लेख अवश्यमेव करते हैं जिनका वर्णन महाभारत में किया गया है और जिनमें उनकी दिव्य ईश्वरीय तथा अलौकिक शक्ति का आभास मिलता है यथा द्रौपदी-चीर-रक्षणादि। अस्तु, हम अब आगे पुराणों में ही कृष्ण-काव्य तथा कृष्ण-भक्ति के तत्वों की खोज करते हैं।

दो प्रसिद्ध पुराणों में श्री कृष्ण जी को उसी रूप में चित्रित किया गया है जिस रूप में वैष्णव लोग उनकी उपासना तथा भक्ति करते हैं। प्रथम पुराण है—**हरिवंश**, इसमें श्री कृष्ण जी

को ईश्वरावतार माना गया है और उनकी विस्तृत जीवनी लिखी गई है। कहा जाता है कि यह महाभारत का एक अंश या भाग है और उसके बहुत समय पश्चात् लिखा गया है। बाल्यकाल से प्रारम्भ करके इसमें योग-द्वारा शरीर-त्याग पर्यन्त श्री कृष्ण का जीवन-वृत्तान्त दिया गया है और यह दिखलाया गया है कि श्री विष्णु भगवान ने राक्षसों के संहार धर्म का संस्थापन तथा साधु पुरुषों की रक्षा करने के लिये ही श्री कृष्ण के रूप में अवतार लिया था और अपनी अलौकिक लीलायें की थीं। ऐसा जान पड़ता है कि यह भाव श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों:—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवतिभारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्यतदात्मानंसृजाम्यहम्॥"
"परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥"

से लिया गया है। गीता सम्भवतः हरिवंश पुराण से पूर्व लिखा गया था। महाभारत में, जैसा हमने प्रथम ही लिखा है, श्री कृष्ण को विशेषरूप से ईश्वरावतार सा नहीं चित्रित किया गया, यह बात कदाचित् गीता के समय से ही प्रचलित हुई है और फिर इस प्रबलता के साथ इसका प्रचार हुआ कि लोगों ने श्री कृष्ण के अन्य रूपों जैसे "राजनीतिज्ञ", नेता और कर्मयोगी को सर्वथा छोड़ दिया और केवल उनके दो रूपों को ही विशेष प्राधान्य दिया। उत्तर कालीन समस्त साहित्य में श्री कृष्ण को **ईश्वरावतार** मानते हुए उनके **बाल** तथा **प्रेमी नायक** के रूपों को ही पूरी प्रधानता दी गई है और इन्हीं की लीलायें लिखी गई हैं। साथ ही इनमें अलौकिकता की भी पूरी पुट दे दी गई है।

द्वितीय पुराण है **भागवत**, जिसमें श्री कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है और उनके उक्त दो रूपों (बाल तथा प्रेमी

नायक के रूपों) का चारु चित्रण किया गया है। इन्हीं रूपों की ललित लीलायें भक्ति तथा प्रेम के भावों के साथ सरस माधुर्य-पूर्ण कविता में लिखी गई हैं। हमारे समस्त कृष्ण-काव्य का प्रासाद इसी भागवत पर विशेष रूप तथा पूर्णरूप से समाधारित है। भागवत ही वैष्णव सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्तों तथा कवियों का प्रधान ग्रंथ है। इसमें कृष्ण-भक्ति की ही पूरी प्रधानता है और साथ ही आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों या बातों का भी सुन्दर सामंजस्य है। ये बातें हरिवंश पुराण में नहीं हैं, उसमें कृष्ण को अवतार कहते हुए पूज्य तथा उपास्य तो कहा गया है किन्तु उन्हीं की एक मात्र भक्ति या उपासना पर वैसा बल नहीं दिया गया जैसा भागवत में। साथ ही हरिवंश पुराण में भागवत के समान कृष्ण के केवल बाल तथा प्रेमी नायक के रूपों का ही चित्रण नहीं है, यद्यपि ये दोनों रूप उसमें सुचित्रित अवश्य किये गये हैं।

इन दोनों पुराणों में से, जैसा विद्वानों का मत है हरिवंश पुराण भागवत से प्रथम लिखा गया है और भागवत की रचना बाद में हुई है। हरिवंश पुराण की साधारण, स्पष्ट तथा सरल भाषा और शैली यह सिद्ध करती है कि उसकी रचना उस काल में हुई थी जब संस्कृत भाषा में व्यापकता और सरलता थी, वह साधारण जनता में प्रचलित थी तथा इतनी प्रौढ़ न हुई थी कि केवल विद्वत्-समाज के ही संकीर्ण क्षेत्र में सीमित रहे, यह बात बहुत दिनों के उपरान्त लगभग ई० सन् ४०० या ५०० के निकट हुई है। भागवत की भाषा तथा शैली क्लिष्ट, उच्च कोटि की पांडित्य-पूर्ण तथा अत्यन्त प्रौढ़ है, वह केवल विद्वानों को ही सुबोध ठहरती है (कहा भी है "विद्यावताम् भागवते परीक्षा") अस्तु, अवश्य-मेव उसकी रचना संस्कृत के प्रौढ़ काल में हुई होगी। यही बात

हमें कृष्ण-भक्ति के उस विकसित रूप के देखने से ज्ञात होती है जो हमें भागवत में मिलता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व (जब महाभारत का उदय हुआ था) प्रारम्भ करके ईसवी सन् ५०० के लगभग तक (जब भागवत या महाभारत का अंतिम विकास हुआ था) कृष्ण-भक्ति-काव्य का यथाक्रम विकास होता आया। ५०० ई० के निकट तथा इसके पश्चात् ही कृष्ण-भक्ति को पूर्ण प्रौढ़ता, प्रबलता तथा प्रचार-प्रचुरता प्राप्त हो गई। पाठकों को स्मरण ही होगा कि दक्षिणीय भारत में इसी समय के अन्दर भक्ति की धारा उत्तरीय भारत से वृष्णी जाति के साथ जाकर विकसित हुई है और फिर इसी समय के पश्चात् से वह उत्तरीय भारत की ओर फिर आने लगी है। ज्ञात होता है कि महाभारत के एक अंशभूत गीता के उक्त श्लोकों के संकेत से उत्तरीय भारत में कृष्ण-भक्ति का अंकुर उगा, किन्तु बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रबल तथा प्रचुर प्रचार के कारण वह दब गया और उसके प्रचारक अनुकूल परिस्थितियाँ न पाकर अपना भक्ति-सिद्धान्त लेकर दक्षिण की ओर चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने इसका धीरे २ विकास-प्रकाश किया, फिर श्री शङ्करस्वामी के कारण अपने धर्म या मत पर कुछ आघात सा आता देख तथा उत्तरीय भारत में उन्हीं के द्वारा बौद्ध धर्म को निकाला गया जान कर इसे उत्तरीय भारत में प्रचलित करना चाहा और आकर सफल प्रयत्न के साथ किया भी उसका प्रबल प्रचार।

उत्तरीय भारत में सब से प्रथम निम्बार्क, माधवाचार्य, विष्णु स्वामी तथा रामानुज जी ने भक्ति का शङ्ख फूँका था। कृष्ण-भक्ति को निम्बार्क और विष्णु स्वामी ने ही विशेष प्रधानता दी, माधवाचार्य तो विष्णु और लक्ष्मी की उपासना के साथ

ही साथ कुछ कुछ शिव-भक्ति की ओर भी झुके हुए से जान पड़ते हैं।

इन लोगों के प्रयत्न से यों तो भक्ति-आन्दोलन समस्त भारत में व्याप्त हो गया, किन्तु उसके दो मुख्य रूप होकर पृथक् स्थानों में स्थिर हो गये। अवधप्रान्त में तो रामानुज के शिष्य-वर रामानन्द जी का रामोपासक रामानन्दी सम्प्रदाय चलता रहा और बंगाल तथा ब्रज प्रान्तों में निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्य आदि के प्रभावों से कृष्ण-भक्ति का प्रचार प्रबलता के साथ हुआ।

शाक्त मत से प्रभावित होकर बंगाल के कृष्ण-भक्तों ने राधोपासना का विधान शक्ति की उपासना (देवी, दुर्गा, काली आदि की भक्ति) के स्थान पर कल्पित कर दिया और गौड़ वैष्णवों ने इसे पूर्णतया व्यापक करके ब्रज के कृष्णोपासक भक्तों में भी इसका प्रचार कर दिया। अस्तु, ब्रज में भी राधा-कृष्ण की उपासना को व्यापकता तथा प्रबल प्रधानता प्राप्त हो गई। यह कृष्ण-भक्ति का विकास-काल था। राधा को रखकर कृष्ण भक्तों ने सांख्य शास्त्र के आध्यात्मिक तथा अन्य दार्शनिक तत्वों या सिद्धान्तों की ओर अच्छे भावपूर्ण संकेत किये हैं और उनकी लौकिक लीलाओं के आधार पर अलौकिकता की पूरी पुट देकर हृदयङ्गम करने का सफल प्रयत्न किया है। इसी प्रकार गोपी-कृष्ण-भक्ति को भी आध्यात्मिकता की ओर लौकिकता से अलौकिकता का आभास देते हुए ले गये हैं। यहाँ दार्शनिक तत्वों तथा रहस्यों का अच्छा आभास दिया गया है, अस्तु।

भागवत के पश्चात् संस्कृत में कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-काव्य का मुख्य सरस ग्रंथ हमें गीत-गोविन्द ही प्राप्त होता है। इसकी रचना लगभग १० वीं या ११ वीं शताब्दी में श्री जयदेव जी के

द्वारा हुई थी। यह ग्रंथ संस्कृत-काव्य-साहित्य (गीतकाव्य) का एक अनुपम रत्न है। इसमें श्री कृष्ण का चित्रण एक प्रेमी नायक के ही रूप में किया गया है और राधिका तथा गोपियों को उनकी प्रेमिकाओं तथा नायिकाओं के रूपों में दिखलाया गया है। समस्त प्रेम-लीलाओं का सरस, सुन्दर तथा मधुर वर्णन उच्च कोटि की काव्यकला-कुशलता तथा कवि-कल्पना के साथ किया गया है। यह शृङ्गार रस का अनोखा काव्य है। कहा भी है:—

"यदि हरि-स्मरणे सरसं मनः,
यदि विलास-कलासु कुतूहलम्।
सरस-कोमल-कान्त-पदावलीम्,
पठ तदा जयदेव-सरस्वतीम्॥"

वस्तुतः यह पूर्णतया गीत गोविन्द पर चरितार्थ हो जाता है। इस ग्रन्थ का इतना बड़ा प्रभाव बंगाल तथा ब्रज के कृष्ण-भक्त कवियों पर पड़ा कि कृष्ण-काव्य का रंग-ढंग ही और हो गया। गीत-काव्य की प्रधानता सी हो गई तथा कृष्ण के प्रेमी नायक का रूप व्यापक हो गया। कृष्ण-काव्य में शृङ्गार रस तथा माधुर्य भाव की पूर्ण प्रधानता, प्रबलता तथा प्रचुरता हो गई। इसी के अनुकरण तथा प्रभाव से काव्य में संगीत-तत्व की विशेषता आ गई, जिससे उसमें दूनी माधुरी विराजने लगी, अस्तु, यही ग्रंथ सर्व प्रधान अनुकरणीय-काव्य ग्रंथ हो गया।

अब हम यहाँ से कृष्ण-काव्य का क्रमिक विकास अपने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में दिखलावेंगे और साथ ही कृष्ण-भक्ति के भी विकास पर पर्याप्त प्रकाश डालते जायँगे। हाँ, प्रथम हम यह दिखला देंगे कि हमारे ब्रज-प्रान्त में कृष्ण-भक्ति का किस प्रकार प्रचार-प्रसार हुआ, उस पर किस २ प्रकार के प्रभाव

पड़े, उसमें क्या २ परिवर्तन या रूपान्तर हुए तथा उनका कैसा प्रभाव जनता पर पड़ा।

यह लिखा ही जा चुका है कि हमारे कृष्ण-भक्त-प्रवरों ने ब्रज-प्रान्त को अपने उपास्य या आराध्यदेव श्रीकृष्ण भगवान का लीला-धाम समझकर अपनी कृष्णोपासना के आन्दोलनादि का प्रधान केन्द्र बनाया था, तथा ब्रज-भाषा को कृष्ण-काव्य की रचना के लिये उचितोपयुक्त समझ कर अपनाया तथा उठाया था। यह भी हम दिखला चुके हैं कि कृष्ण-भक्ति के सर्वाग्रगण्य प्रचारक एवं प्रवर्तक श्रीनिम्बार्क स्वामी आकर वृन्दावन में ही बसे थे और अपनी राधाकृष्ण-भक्ति का प्रचार करने लगे थे। विष्णु स्वामी के अनुयायी श्री वल्लभाचार्य जी भी आकर वृन्दावन में ही रहे और अपनी वात्सल्यभावमयी कृष्णोपासना का प्रचार करने लगे। हमारे हिन्दी-साहित्य के कृष्ण-काव्य का निर्माण आपके ही उदार प्रोत्साहन से आपके ही शिष्यों के द्वारा विशेष रूप से हुआ है, आपकी ही शिष्य-परम्परा में हिन्दी-साहित्याकाश के सूर्य का उदय हुआ है। अस्तु, हम आपके ही सम्प्रदाय की विचार-धारा का विशेष विवेचन करेंगे।

श्री वल्लभाचार्य जी ने वैष्णव धर्म सम्बन्धी दार्शनिक (Philosophical) तत्व या सिद्धान्त तो श्री विष्णु स्वामी के मत से और राधाकृष्णोपासना सम्बन्धी तत्व श्री निम्बार्क स्वामी के मत से लेकर दोनों का सुन्दर सामंजस्य करते हुए अपना एक स्वतंत्र सम्प्रदाय चलाया, जो वल्लभीय सम्प्रदाय कहलाता है। आपके सम्प्रदाय वाले श्रीकृष्ण-भक्तों का वर्णन चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता नामी दो प्रधान गद्य-ग्रन्थों में मिलता है। वल्लभाचार्य जी ने श्रीकृष्ण के बाल-रूप को विशेषता दी है और उनके नायक-रूप की भी प्रर्याप्त प्रधानता

स्वीकार की है, अस्तु, आपकी भक्ति-पद्धति में वात्सल्य भाव का प्राधान्य है तथा शृंगार भाव की भी पर्याप्त पुट है। आपके शिष्यवरों ने आगे वात्सल्यभाव में सख्यभाव का भी समावेश कर दिया है। इस सम्प्रदाय में विरक्ति का कोई भी स्थान नहीं वरन् श्रीकृष्ण के वैभवी रूप की उपासना के होने से राजसी उपासना प्रधान है। वल्लभजी के पुत्र एवं शिष्यवर श्री विट्ठलनाथ जी ने चार शिष्य श्री वल्लभजी के और चार अपने लेकर "एक अष्टछाप" की रचना की, जिसमें सूरदास जी को सब से उच्च तथा प्रधान स्थान और नन्ददास जी को द्वितीय स्थान दिया गया। इस अष्ट छाप में निम्नांकित भक्त-कवियों के नाम आते हैं:—

१—श्री सूरदास जी
२—" कृष्णदास "
३—" परमानन्ददास"
४—" कुंभनदास जी
} श्रीवल्लभ-शिष्य

५—" चतुर्भुजदास "
६—" नन्ददास "
७—" गोविंद स्वामी"
८—" छीत स्वामी "
} श्री विट्ठल-शिष्य

हम आगे इनके काव्य एवं इनकी भक्ति की विशेष व्याख्या करेंगे। यहाँ हम वृन्दावन के अन्य सम्प्रदायों की भी थोड़ी २ चर्चा कर देना उचित समझते हैं।

हमने यह लिखा है कि माध्व सम्प्रदाय के भक्तवर चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में "गौड वैष्णव" सम्प्रदाय की स्थापना की और उसमें राधाकृष्ण-भक्ति को प्रधानता दी, राधिका को विशेषता आप ही के द्वारा प्राप्त हुई है। राधिका का भागवत में नाम भी नहीं है, हाँ हरिवंश पुराण में इनको गोपियों में विशेष स्थान

दिया गया है और कृष्ण की प्रधान प्रेमिका, या लक्ष्मी-रूप-प्रिया माना गया है। इसी आधार पर सम्भवतः शाक्त मतान्तर्गत शक्ति की प्रधानता के प्रभाव से चैतन्य आदि महात्माओं ने राधा को प्रधानता दे दी है। चैतन्य स्वामी एक बार वृन्दावन पधारे थे, उनके साथ उनके शिष्यवर रूपसनातन तथा अन्य गौडीय सम्प्रदाय वाले भक्त भी आये, जो यहीं बस गये। सम्भवतः इन्हीं लोगों से प्रभावित होकर वृन्दावन में राधिकोपासना की प्रधानता हो गई है। प्रेम-मूर्ति कृष्ण और राधा की उपासना को विशेषता देकर राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय चल निकला, जिसमें ललित किशोरी जी, ललित माधुरी जी तथा कुंदनलाल आदि प्रधान भक्त कवि हुए हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय में, जिसमें श्री घनानन्द नामी एक प्रधान भक्त तथा कवि हुए हैं, एक सिद्ध महात्मा हरिदास जी थे, इन्होंने चैतन्य-सम्प्रदाय से प्रभावित होकर अपना एक स्वतंत्र सम्प्रदाय "टट्टी सम्प्रदाय" के नाम से स्थापित किया, इसी को सखी सम्प्रदाय भी कहते हैं। इसमें सखी भाव की (न कि सख्य भाव की) प्रधानता है और इस सम्प्रदाय के भक्त लोग अपने को प्रिया जी या राधा जी की सखी मानते है और उसी भाव से राधा-कृष्ण की उपासना करते हैं। कदाचित् यह सूरदास आदि की सख्यभाव वाला भक्ति का द्वितीय रूप है। सख्यभाव में भक्त अपने को श्रीकृष्ण का सखा मानते तथा उसी भाव से उनकी उपासना करते हैं। सखी या टट्टी सम्प्रदाय में राजा नागरीदास तथा महन्त शीतलदास आदि प्रधान भक्त कवि हुए हैं।

चैतन्य की राधिकोपासना का प्रभाव यह भी जान पड़ता है कि गोस्वामी हित हरिवंश जी ने राधिका जी से स्वप्न में

मंत्र-दीक्षा प्राप्त करके उन्हीं के शिष्य हो एक स्वतंत्र सम्प्रदाय हित, अनन्य तथा राधावल्लभीय सम्प्रदाय के नाम से स्थापित किया। इसमें राधा जी को ही पूरी प्रधानता दी गई है। स्वयं हित हरि जी, हित ध्रुव जी और चाचा वृन्दावन जी इसके प्रमुख भक्तकवि हुए हैं। इसी सम्प्रदाय में वल्लभीय सम्प्रदाय के समान अधिक तथा उत्कृष्ट कवि हुए हैं। ये ही दोनों सम्प्रदाय काव्य-प्रौढ़ता तथा कवि-संख्या में प्रधान और समान से ठहरते हैं। टट्टी तथा अन्य सम्प्रदायों में भी बहुत पर्याप्त भक्तकवि हुए हैं किन्तु उतने उत्कृष्ट नहीं हुए। वृन्दावन में गौड़ सम्प्रदाय रहा तो अवश्य, परन्तु उसके बहुत कम भक्तों ने हिन्दी में काव्य-रचना की, यह सम्प्रदाय रहा प्रधान बंगाल में ही। अस्तु, हमारे व्रज-प्रान्त में निम्नांकित मुख्य सम्प्रदाय स्थापित होकर कृष्ण-काव्य की ओर कार्य करने लगे:—

१—**वल्लभीय सम्प्रदाय**—वात्सल्य-भाव प्रधान बाल-कृष्ण-भक्ति को विशेषता देता है। इसमें श्री सूरदास आदि ने सख्य भाव के साथ प्रेम-मूर्त्ति नायक कृष्ण की भक्ति के तत्व का भी समावेश कर दिया। साथ ही राधिका को भी श्रीकृष्ण-प्रिया के रूप में अच्छा स्थान दिया गया। इसके दार्शनिक रूप को शुद्धाद्वैतवाद कहा गया है, क्योंकि इसमें रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद की विशिष्टता को दूर कर फिर से उसे शुद्ध सा किया गया है। सत्, चित्, आनन्द स्वरूप ब्रह्म स्वेच्छानुसार अपने इन तीनों रूपों को कभी तो प्रगट करता है और कभी इनका तिरोभाव कर देता है। चैतन्य जगत इन्हीं तीनों के अंशतः आविर्भाव तथा शेष दो के पूर्ण तिरोभाव से सत्तात्मक होता है। मायामत जगत भी ब्रह्ममय है क्योंकि माया उसी ब्रह्म की इच्छा-नुगामिनी शक्ति है। जीव में जब इन तीनों रूपों का आविर्भाव रहता है और मायाकृत तिरोभाव दूर हो जाता है तब वह

अपने शुद्ध ब्रह्मरूप में आ जाता है, यह ईश्वर की कृपा से ही होता या हो सकता है, यही अनुग्रह "पोषण या पुष्टि" कहलाती है इस के प्राप्त करने के लिये भक्ति या उपासना की ही पूर्ण आवश्यकता है, अस्तु यह भक्ति पक्ष या मार्ग 'पुष्टि मार्ग' कहलाता है। यहाँ उपास्य ईश्वर कृष्णरूप में ही है।

२—**टट्टी या सखी सम्प्रदाय**—इसमें सखी-भाव प्रधान है, भक्त लोग अपने को स्त्री रूप में रख, कृष्ण जी को पुरुष (पति) रूप मानकर उनकी प्रिया जी की सखी मानते हैं। इसमें दार्शनिक तत्व का उतना प्राधान्य नहीं जितना भक्ति एवं प्रेम के तत्वों का है। यह चैतन्य जी के प्रभाव से प्रभावित होकर उक्त विशेषता रखता है। यह सूरदास जी के सख्य-भाव के समानान्तर होकर चलता जान पड़ता है।

३—**हित सम्प्रदाय**—इसमें राधा-भक्ति की ही पूरी प्रधानता है और यह राधावल्लभीय सम्प्रदाय का विशेष रूप ही सा जान पड़ता है।

४—**राधा-वल्लभ सम्प्रदाय**—इसमें राधा और कृष्ण दोनों की भक्ति का साम्यभाव के साथ विधान रक्खा गया है। दोनों को प्रेमी तथा प्रेमिका के रूपों में माना गया है। अतः इसके काव्य में प्रेम-भाव तथा श्रृङ्गार-भाव की विशेषता है।

गौड वैष्णवीय—इसमें राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का प्राधान्य है। राधा जी की उपासना को विशेषता दी गई है। इसी ने वृन्दावन के अन्य सम्प्रदायों को पूर्ण रूप से प्रभावित किया है। कदाचित् हरिवंश पुराण के आधार पर इसमें राधिका जी का समावेश किया गया है तथा यह शाक्तमत से प्रभावित सा हुआ है।

निम्बार्क सम्प्रदाय—यह प्रायः सभी उक्त प्रधान सम्प्रदायों का आधार है, इसमें कृष्णोपासना का ही पूरा प्राधान्य है। इसी से निकल निकल कर कई सम्प्रदाय जैसे टट्टी सम्प्रदाय, वल्लभीय सम्प्रदाय आदि, चल पड़े हैं।

विष्णु सम्प्रदाय—यह भी एक मूल सम्प्रदाय है। वल्लभीय सम्प्रदाय का दार्शनिक स्वरूप इसी पर समाधारित है।

अब यह स्पष्ट ही हो गया होगा कि वृन्दावन में कृष्ण-भक्ति का विकास-प्रकाश किस प्रकार तथा कैसा हुआ है। कितने सम्प्रदाय किन २ रूपान्तरों के साथ स्थापित होकर निकले हैं। अब हम उत्तरीय भारत के अन्य प्रान्तों में चलने वाले कृष्ण-भक्ति के आन्दोलनों एवं रूपों का सूक्ष्म हाल देते हुए कृष्ण-काव्य का विकास दिखलावेंगे। साथ ही व्रजभाषा के विकास-प्रकाश पर भी प्रकाश डालते जावेंगे। भक्ति-आन्दोलनों के उत्तरकालीन रूपान्तरों तथा प्रभावों का भी सूक्ष्म निदर्शन हम यहीं करा देना उचित समझते हैं।

बंगाल में कृष्ण-भक्ति और काव्य

बंगाल प्रान्त में विष्णुस्वामी तथा माधवाचार्य के सम्प्रदायों का उदय तथा विकास हुआ। इन पर शक्ति-उपासना का गहरा प्रभाव पड़ा और उसी के आधार पर कृष्ण के साथ राधा की उपासना का भी उदय हो गया तथा उसकी ही पूर्ण प्रधानता हो गई। श्री चैतन्य महा प्रभु ने, जो श्री वल्लभ स्वामी के सहपाठी व समकालीन थे, कृष्णभक्ति के साथ ही उसके एक विशेषरूप की सृष्टि रच दी और राधा भक्ति का स्रोत बड़े वेग के साथ प्रवाहित कर

दिया। उनके शिष्यों रूप सनातन आदि ने इसको पूरी प्रबलता और प्रचुरता प्रदान की। उन्होंने वृन्दावन में आकर इसका प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया और ऐसा प्रबल आन्दोलन किया कि वृन्दावन में राधा-भक्ति की प्रचुरता तथा प्रबलता हो चली। ब्रज की कृष्ण-भक्ति का जो रूपान्तर हमने ऊपर दिखलाया है वह इन्हीं के प्रभाव से हुआ है और उस पर इनकी गहरी छाप भी है।

उक्त दोनों महात्माओं ने संस्कृत में भक्ति के कई ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें सरस तथा मधुर सत्काव्य की अच्छी प्रतिभा प्रतिभात होती है।

चैतन्य स्वामी के ही समय में मैथिल-कोकिल **श्री विद्यापति जी** ने श्री जयदेव जी के गीत गोविन्द से प्रभावित होकर संगीतात्मक मुक्तक कृष्ण-काव्य लिखा। यह बिहारी या मैथिली हिन्दी भाषा में है और इसमें प्रेम-मूर्ति कृष्ण और उनकी प्रेमिका राधिका की सरस तथा ललित लीलाओं का अत्यन्त रोचक तथा भावपूर्ण चित्रण किया गया है। इन महाराज का प्रभाव कृष्ण-काव्य पर ऐसा पड़ा कि उसका रूप सदा के लिये संगीत-पूर्ण मुक्तक ही में परिवर्तित हो गया और उसमें कृष्ण तथा राधा की प्रेम-लीलाओं का सदा के लिये प्राधान्य हो गया। राम-काव्य के समान वह प्रबन्ध-काव्य न हो सका। उसमें कृष्णजी के जीवन का एकांगी चित्रण ही प्रधान रहा, उनका प्रेममय नायक-रूप ही विकसित किया गया और उनके शेष रूप, योगेश्वर रूप, नीति-विशारद, नेता रूप आदि चित्रित न किये जा सके, वरन् वे सर्वथा छोड़ ही दिये गये। हाँ उनकी प्रेममयी मूर्ति का चित्रण सर्वांग पूर्ण तथा अत्यन्त मनोरम किया गया, अनन्त सौंदर्य, प्रेम तथा हासविलास की मार्मिक मधुर व्यंजना ही उसमें पूर्णतया व्यापक रही। इसीलिये कृष्ण-काव्य में प्रेम-तत्व को

हृदयस्पर्शिनी तथा विस्तृत व्यंजना के अतिरिक्त सामाजिक तथा नैतिक विचार-धारा का नितांतमेव अभाव सा ही है। इसका परिणाम आगे चलकर विशेषतया यह हुआ कि जनता रसोन्मत्त होकर विषयवासनापूर्ण भावनाओं की ही विशेष प्रवृत्ति हो चली और उत्तरकालीन (अलंकृत काल के) कवियों ने राधा और कृष्ण को अपनी उन्मादकारिणी विषयवासनामयी हासविलास की भावनाओं तथा प्रवृत्तियों का आधार सा बना लिया और सब प्रकार के मनोगत श्रृङ्गार रस-संसिक्त विचारों को उन्हीं पर घटित करते हुए उन्हीं में केन्द्रीभूत सा कर दिया। कुछ कवियों ने अपनी अप्रौढ़ एवं अशिष्ट भावनाओं या भावावली को भी राधा-कृष्ण पर ढालने की उच्छृंखलता की, जिससे उनके कृष्ण-काव्य में अनीप्सित कलुषिता सी आ गई। हाँ, इस पद्धति से यह लाभ अवश्य हुआ कि जनता श्रीकृष्ण की मुक्तक काव्योपयुक्त बाल-लीला तथा योवन-लीला के वात्सल्य तथा श्रृंगार-भाव-प्रधान प्रेम व भक्ति-पूर्ण चित्रण से समाकृष्ट हो बहक न सकी। व्रज भाषा भी इस काव्य के प्रसाद तथा माधुर्य गुण से परिपूर्ण हो सरस, कोमल और भाव-पूर्ण बन गई। उसमें मनोमोहकता तथा मर्मस्पर्शिनी भावुकता का गांभीर्य भी आ गया, वह परिमार्जित तथा परिष्कृत होकर पूर्ण-तया उच्च साहित्यिक क्षमता से भरी-पूरी हो गई।

महाराष्ट्र और पश्चिमीय भारत

कृष्ण-भक्ति की धारा (दक्षिण की भक्ति-धारा से फूट कर) पूर्व से पश्चिम की ओर चलती हुई ज्ञात होती है। बंगाल तथा विहार से चलकर यह व्रज में फैलती हुई पश्चिमीय प्रान्तों में गई है। बीच में इसने अवध तथा पूर्वीय प्रान्त को छोड़ दिया है, क्योंकि वहाँ राम-भक्ति की धारा प्रवाहित हो रही थी। इसने अपना इतना प्रभाव अवश्यमेव राम-भक्ति पर डाला कि उसमें भी वात्सल्य

भाव तथा मुक्तक काव्य-शैली का संचार एवं प्रचार हो चला। पंजाब प्रान्त के भी भक्त कवियों तथा कुछ मुसलमान कवियों पर इसके व्रज भाषा-काव्य तथा श्रीकृष्ण-भक्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा था। रसखान तथा रहीम आदि मुसलमान कवि व्रज भाषा में कृष्ण विषयक कविता करते थे।

मारवाड़ (राजपूताना) में यह कृष्ण-भक्ति-धारा अपने एक विशेष रूप में प्रवाहित हुई और वहाँ से गुजरात आदि प्रान्तों की ओर बही। मीराबाई का नाम मारवाड़ के लिये बड़े ही गर्व का है। इस देवी ने कृष्ण भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश किया, और श्रीकृष्ण को अपना प्रियतम या पति माना। यह सखी भाव का विकसित रूप ही है और इसमें भी श्रीकृष्ण को एक प्रेमी नायक के रूप में चित्रित किया जाता है। हाँ, इसमें पवित्रता तथा पातिव्रत-पुनीतता का प्राधान्य रहता है। इस प्रकार की भक्ति में पति-पत्नी का प्रेम मय साम्य न रह कर दास्य-भावमय परिचारिका का भाव रहता है, जिससे इसमें विशेष गुरुता तथा नम्रता आदि की सुन्दर शुद्ध मनोवृत्तियाँ आ जाती हैं। यहाँ पहुँच कर कृष्ण-काव्य की भाषा शुद्ध व्रज भाषा न रह गई, वरन् वह बहुत कुछ मारवाड़ी या राजपूतानी भाषा से प्रभावित हो गई। राजपूताने के प्रान्त में और भी कुछ कवि हुए जिन्होंने कृष्ण-काव्य लिखा, किन्तु हम विस्तार-भय से उन्हें न दे सकेंगे, साथ ही वे कुछ बहुत उल्लेखनीय भी नहीं जँचते।

गुजरात प्रान्त में नरसिंह मेहता का नाम अमर है। आप एक बड़े भारी भक्त तथा कवि माने जाते हैं। आपने कृष्ण-भक्ति के काव्य में आध्यात्मिक भावों का समावेश बड़ी ही चारुता के साथ किया है और इस प्रकार उसे उन्नत कर उसमें रहस्यवाद की भी कुछ झलक दिखलाई है। कृष्ण को ब्रह्म और गोपियों को आत्माओं के रूप में रख कर आपने दार्शनिक तत्वों की भी पुट

लगा दी है। कृष्ण को लिया आपने भी एक प्रेमी नायक के रूप में है। गुजराज तथा महाराष्ट्र देशों में आप की विशेष प्रतिष्ठा है। आप की भाषा गुजराती तथा महाराष्ट्री मिश्रित है, हाँ भाव तथा कथा आप की वही है।

अब इस सूक्ष्म लेख से यह स्पष्ट है कि भक्ति काव्य का प्रचार बंगाल से लेकर राजपूताने तक के समस्त उत्तरीय भारत में (अवध प्रान्त तथा पश्चिमीय पंजाब को छोड़कर, जहाँ राम भक्ति तथा सिक्ख सम्प्रदाय प्रचलित थे) हो गया था और साथ ही व्रज भाषा तथा कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का मुक्तक काव्य भी निखर विखर कर विशद रूप में फैल चुका था।

व्रज भाषा का विकास

हम यहाँ व्रज भाषा की ऐतिहासिक उत्पत्ति नहीं दिख-लाना चाहते, क्योंकि यह भाषा-विज्ञान का विषय है और हमारे क्षेत्र से सर्वथा परे है। यहाँ इस विषय में सूक्ष्म तथा इतना ही कहना पर्याप्त है कि शौरसेनी प्राकृत विकसित होकर जिस साधारण बोली से निकली तथा परिष्कृत होकर साहित्यिक क्षमता को प्राप्त हुई थी, उसीसे अपभ्रंश-काल के उपरान्त व्रज भाषा की भी उत्पत्ति हुई है। कुछ लोगों का मत है कि इसकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत या उसके अपभ्रंश से हुई है। हम यह मानना ठीक नहीं समझते। जिस समय धार्मिक तथा अन्य विशेष कारणों से, जिनका सम्बन्ध साधारण जनता से ही होता है, कोई बोली विद्वानों के द्वारा आन्दोलन प्रचार के लिये उठाई तथा परिष्कृत की जाती है, उसी समय वह भाषा का रूप धारण कर लेती है और फिर शनैः शनैः परिमार्जित तथा संस्कृत होकर वह साहि-

त्यिक भाषा में रूपान्तरित हो जाती है। ठीक यही बात व्रज भाषा के विकास की भी है। समय, समाज तथा परिस्थितियों के प्रभाव से शौरसेन प्रान्त के एक व्रज नामी प्रान्त की बोली, जो आर्यावर्त का आदिम प्राकृत भाषा से स्वभावतः रूपान्तरित हुई, श्री वल्लभ स्वामी जैसे विद्वानों के द्वारा उठाई तथा प्रचलित की गई और वही सूरदास जैसे कला-कुशल कवियों के द्वारा परिष्कृत तथा परिमार्जित की जा कर साहित्यिक भाषा में रूपान्तरित हो गई। बस वही व्रज भाषा बन गई। चूँकि यह व्रज प्रान्त की बोली थी अतः इस की संज्ञा व्रज भाषा ही रक्खी गई।

भाषा का विकास-प्रकाश प्रायः तीन ही मुख्य कारणों से हुआ करता है—१—राष्ट्रीय या राजनैतिक कारणो २—धार्मिक आन्दोलन ३—कवियों या लेखकों के कारण। व्रज भाषा का भी विकास-प्रकाश इन्हीं के अंतिम दो कारणों से हुआ है, जिनमें से धार्मिक कारण ही सर्व-प्रधान है। भारत में इसी कारण से प्रायः सदैव भिन्न भिन्न (पाली, प्राकृत तथा व्रज और अवधी आदि) भाषाओं का विकास तथा प्रकाश हुआ है। अस्तु, व्रज भाषा, शौरसेनी, प्राकृत तथा अपभ्रंश की आधारभूता बोली से विकसित तथा उत्पन्न हुई है। कृष्ण-भक्ति के धार्मिक आन्दोलन ने इसे आगे बढ़ा कर प्रचलित तथा विस्तृत किया है और इसे साहित्यिक क्षमता देकर व्यापक बनाया है। यद्यपि व्रज भाषा (उसकी आधारभूता बोली) का उदय तथा प्रचार बहुत पहिले से हो चुका था और यह मारवाड़ तथा राजपूताने आदि दूर दूर के प्रान्तों में भी फैल गई थी, (राजपूताने में इस के राजस्थानी से प्रभावित एक रूप को पिंगल भाषा कहा जाता था) तथापि इसे पुष्टता और परिपक्वता १५०७ के ही लगभग प्राप्त हुई और इसी कृष्ण-भक्ति के धार्मिक आन्दोलन तथा कृष्ण-काव्य से। इस समय तक इसमें उपयुक्त प्रौढ़ता भी आ गई थी और वह इस

योग्य हो गई थी कि उसमें सत्काव्य की सुन्दर रचना सफलता के साथ की जा सके।

श्री वल्लभाचार्य ने "व्रन यात्रा" नामी ग्रंथ इसी भाषा में रचा था और अपने शिष्यवरों को इसके द्वारा साहित्य की रचना करने का मार्ग दिखलाया था। उन्होंने कृष्ण-काव्य के लिये इसे इसीलिये अनिवार्य समझा कि चूँकि यह उस ब्रज प्रान्त की भाषा थी जो उनके उपास्य देव श्री कृष्ण का ललित लीलाधाम था। इसी विचार से वे ब्रज प्रान्त के वृन्दावन नामी नगर में आकर रहने भी लगे थे।

ब्रज भाषा में कुछ स्वाभाविक गुण ऐसे हैं जिनसे वह काव्य-साहित्य के लिये अधिक उपयुक्त ठहरती है। ब्रज भाषा में प्राकृत तथा अपभ्रंश जैसी क्लिष्टता तथा नीरसता नहीं, वरन् उसमें सरलता, मृदुलता तथा मधुरता है। इसके प्रवर्तकों ने इसमें इन गुणों की और भी अधिक विशेषता कई उपयुक्त विधानों से कर दी है। मानव-मस्तिष्क सुन्दरता, सरलता तथा मधुरता की ओर अधिक रुचि के साथ झुक जाता है, अस्तु जिस भाषा में ये गुण होते हैं वही भाषा काव्य में विशेष रूप से प्रचलित तथा व्यवहृत हुआ करती है।

काव्य के लिये भाषा में इन गुणों का होना अतीवावश्यक क्या अनिवार्य ही सा है, अन्यथा काव्य का मुख्य गुण, जिसे रमणीयता कहते हैं, नहीं आ सकता। काव्य की भाषा इसीलिये साधारण साहित्यिक भाषा से सर्वथा पृथक् ही रहती है, क्योंकि उसमें रमणीय शब्दों तथा पदों का ही प्राचुर्य रहता है। कवि-कर्म-कुशल विद्वान इसीलिये काव्य की भाषा का ऐसा परिमार्जन तथा संस्कार करते हैं जिससे उसमें रमणीयता आ जाती है। रमणीयता के ही साथ उनमें अर्थ-शक्ति का संचार करके उसमें भाव गाम्भीर्य का उत्पन्न करना भी आवश्यक होता है। महात्मा

सूरदास आदि ने अथक श्रम करके ब्रज भाषा में काव्योचित लालित्य, मार्दव, माधुर्य तथा भाव गाम्भीर्यादि गुण भर दिये हैं। इस कार्य के लिये सारल्य-सिद्धान्त (Law of Simplification) का अच्छा उपयोग किया गया जान पड़ता है। हिन्दी भाषा में इस नियम का उपयोग बहुत हुआ है और संस्कृत भाषा का एक बहुत बड़ा शब्द-समुच्चय सरल हो कर हिन्दी (ब्रज) भाषा में आ गया है। इस नियम में स्वर-सारल्य का भी बहुत बड़ा भाग है, शब्द इस प्रकार सरल बनाये जाते हैं कि उनके बोलने में उच्चारण करने वाले नाद-यंत्रों को कठिनाई न होकर सरलता ही होती है।

इसके साथ ही शब्दों में लचीलेपन (Flexity) के लाने के लिये कवियों ने भावनाओं तथा मनोवृत्तियों के प्रकाशक शब्दों का सुसंस्कृत संग्रह किया है। इन उक्त गुणों के कारण भाषा में रमणीयता तथा मधुरता आपही आप आ गई है। इस प्रकार ब्रज भाषा को परिष्कृत करके उसे सूर आदि महाकवियों ने साहित्यिक रूप दे दिया ,फिर इसका विकास तथा संस्कार क्रमशः केशव और बिहारी आदि महाकवियों ने किया और उसे सब प्रकार एकरूपता के निश्चित विधान से परिमार्जित कर दिया। यही परिमार्जित की हुई ब्रज भाषा अन्य अलंकृत काल के कवियों के द्वारा न्यूनाधिक रूपान्तर के साथ प्रयुक्त होती चली आ रही है। *वर्तमान समय में, जो ब्रज भाषा कवियों के द्वारा लिखी जाती है वह प्रायः शुद्ध नहीं रहती, हाँ ब्रज प्रान्त के कवियों में अभी ब्रज भाषा का उक्त साहित्यिक रूप कुछ रूपान्तर या विकास के साथ प्रचलित है। ब्रज को शुद्ध साहित्यिक रूप, पूर्ण व्यवस्थात्मक-नियंत्रित तथा प्रौढ़ता के साथ श्री घनानन्द, बिहारी तथा

---

* ब्रज भाषा के विस्तृत ऐतिहासिक विवेचन के लिये देखिये हमारा "ब्रज भाषा-पीयूष" नामी ग्रंथ।

केशवदास की भाषा के आधार पर, देने में श्री महाकवि जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए० ने बहुत प्रयत्न किया है। आप के काव्य की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा ठहरती है। *

यहीं हम इसे समाप्त करके अपने गृहीत विषय की ओर चलते हैं क्योंकि इसे विस्तृत रूप देना उचित नहीं, यह हमारे विषय से परे है। अस्तु, अब हम हिन्दी में कृष्ण-काव्य की सूक्ष्म आलोचना दे देना अच्छा समझते हैं।

ब्रज में हिन्दी-कृष्ण-काव्य

ब्रज प्रान्त ही हिन्दी-कृष्ण-काव्य का एक मूल मात्र केन्द्र है। यहीं से इसकी सुधा-धारा निकल कर चारों ओर प्रवाहित हुई है। कृष्ण-काव्य-साहित्य यहीं पूर्णतया पल्लवित तथा पुष्पित हुआ है और इतने विशद रूप में कि उसकी समता राम-काव्य भी नहीं कर सकता। यह अवश्य है कि दोनों काव्य-साहित्य प्रायः समान उत्कृष्ट हैं और दोनों को दो महान पुरुषों ने समलंकृत किया है। यह होते हुए भी कृष्ण-काव्य की मात्रा राम-काव्य से कहीं अधिक है, यद्यपि विषय-विशदता में राम-काव्य ही अधिक है। राम-काव्य में जीवन के अनेक रूपों, उसकी, अनेक मार्मिक अवस्थाओं तथा अनेक घटनाओं (सामाजिक, धार्मिक, नैतिक) आदि का चारु चित्रण किया गया है,

* इस ग्रंथ के सुलेखक पूज्य भ्राता श्री "रसाल" जी ने भी ब्रज-भाषा के विकास तथा प्रचार का, अनेक बाधाओं के होते हुए भी बहुत सफल तथा श्लाघ्य प्रयास किया है। उनके "रसिक-मंडल" (तथा उनके सुकवियों) ने भी उनका पूरा साथ दिया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा अन्य ब्रज भाषा-प्रेमी भी अब इधर पर्याप्त ध्यान देने लगे हैं।

—सम्पादक

किन्तु कृष्ण-काव्य में जीवन की एकरूपता की ही ओर ध्यान दिया गया है और श्री कृष्ण की बाल लीलायें तथा यौवन की प्रेममयी सरस लीलायें ही चित्रित की गई हैं। यह अवश्य है कि इनको चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया है और बालक तथा प्रेमी युवक की सभी मनोवृत्तियों तथा अवस्थाओं का सर्वाङ्गपूर्ण अशेष वर्णन हो गया है, इसीलिये उसमें मुक्तक शैली का और राम-काव्य में कथात्मक या प्रबंधात्मक शैली का प्राधान्य है। साथ ही कृष्ण-काव्य में संगीत तत्व की विशेषता है जो राम-काव्य में नहीं। भक्ति-भाव का भी भेद दोनों को पृथक् करता है, कृष्ण-काव्य में वात्सल्य, शृङ्गार तथा साख्य (सखी व माधुर्य) भावों का किन्तु राम-काव्य में शान्त, दास्य तथा गुरु भावों की भक्ति का प्राधान्य है। कृष्ण-काव्य से राम-काव्य कुछ प्रभावित हुआ है, किन्तु कृष्ण-काव्य उससे नहीं प्रभावित हुआ। श्रीतुलसीदास ने अपने मूल आधार ग्रन्थों (वाल्मीकीय तथा अध्यात्म रामायणादि) के समान अपने मानस को दोहे-चौपाई जैसे छोटी छंदों में (कहीं २ ही कुछ बड़ी छंदों का उपयोग करके) लिखा है, सूरदास ने अपने आधारभूत ग्रंथ का कुछ भी अनुकरण नहीं किया और यदि किया भी है तो केवल इस बात में कि उन्होंने भी जयदेव व विद्यापति के समान गीत-काव्य को उठाया है। भागवत का अनुकरण उन्होंने कदापि नहीं किया, क्योंकि उन्होंने प्रबंध-रचना-शैली तथा साहित्यिक छंदों में अपने कृष्ण-काव्य की रचना नहीं की। तुलसीदास ने सूर की देखादेखी गीतावली तथा विनय-पत्रिका की रचना गीतों में का और वात्सल्य-भाव को उठाया है। हाँ आगे चल कर जिस प्रकार अलंकारों को प्रधानता देकर भिन्न भिन्न साहित्यिक छंदों में राम-काव्य अन्य कविवरों के द्वारा लिखा गया है वैसे ही कृष्ण-काव्य भी।

कृष्ण-काव्य में कहीं २ रहस्यवाद तथा दार्शनिक अध्यात्मवाद

की भी बड़ी मार्मिक व्यंजना है, यह बात राम-काव्य में नहीं और यदि है भी तो अस्पष्ट और नीरस रूप में तथा बहुत ही कम।

ब्रज में यों तो कृष्ण-काव्य के रचयिता अनेक कवि भिन्न २ सम्प्रदायों में हुए हैं किन्तु सब से प्रथम और अधिक महत्ता या श्रेय देना चाहिये हमें वल्लभ संप्रदाय के अष्ट छाप वाले कविवरों तथा हित या राधावल्लभीय सम्प्रदाय के भक्तों को। इन लोगों में से केवल सूरदास ने ही सब से अधिक प्रशंसनीय अमर कार्य किया है, उनके द्वारा न केवल हिन्दी-साहित्य का ही भंडार रत्नों से भरा गया है वरन् वल्लभीय भक्ति-पद्धति का भी रूपान्तर या विकास सख्यभाव तथा शृंगार भाव के समावेश से किया गया है। ऐसा किसी अन्य सम्प्रदाय के शिष्यों में से कदाचित् किसी ने भी नहीं किया।

अष्ट छाप या सूरदास कृत कृष्ण-काव्य का ही साहित्यिक क्षेत्र मे पूरा प्राधान्य रहा और अब भी है। जनता ने भी उसे ही पूर्ण रूप से अपनाया, सराहा और उठाया है। उसका प्रभाव मुसलमानों के भी हृदयों पर भली भाँति पड़ा है। यह काव्य इतना पूर्ण है कि इसके आगे कुछ मौलिक रूप से लिखना उत्तर-कालीन कवियों के लिये यदि असम्भव नहीं तो दुस्साध्य तो अवश्य ही हो गया है। अष्टछाप वालों की पद्धति ऐसी प्रचलित हुई कि उसमें बहुत ही कम रूपान्तर हुआ। उत्तरकालीन अलंकारवादी कवियों ने कृष्ण-काव्य को गौण करते हुए अलंकार-कौशल को प्रधान तो किया, किन्तु विषय में कुछ रूपान्तर या मौलिक परिवर्तन न कर सके। हाँ, उनके द्वारा इस कृष्ण-काव्य में यह रूपान्तर अवश्यमेव किया गया कि वह सूरदास-प्रचलित गीत-काव्य के स्थान पर साहित्यिक मुक्तक काव्य बना दिया गया और उसमें काव्य-कौशल (वाह्याडम्बर) तथा अलंकारादिक वाह्य

सौंदर्योपकरणों की विशेषता कर दी गई। अन्य सभी आन्तरिक बातों में तो वह चर्वित-चर्वण के ही रूप में रहा। इस कृष्ण-काव्य के कतिपय प्रभावों में से कुछ मुख्य तथा विशेष प्रभाव साहित्य तथा समाज पर ये पड़े किः—

प्रभाव—इस काव्य से हिन्दी-साहित्य लोकप्रिय, गौरवान्वित तथा व्यापक हो गया। इसके माधुर्य, प्रसाद, मार्दव, लालित्य तथा गाम्भीर्यादि गुणों को देखकर संस्कृतज्ञ विद्वानों तथा विजातीयों का भी ध्यान इधर समाकृष्ट हो चला और उनको भी हिन्दी के प्रति अनुराग होने लगा। कृष्ण-भक्ति के इस सत्काव्य को, जिसमें काव्य के सभी गुण विद्यमान हैं, देखकर अब कुछ आचार्यों को यह उत्साह भी होने लगा कि वे काव्य-शास्त्र के ग्रंथ लिखें और कवि-कौशल का प्रदर्शन करते हुए सहृदय जिज्ञासुओं को उसकी शिक्षा दें। अस्तु, इस कृष्ण-काव्य के उत्तर काल में उस के तत्वों पर समाधारित रहने वाले रीति-ग्रंथों की रचना बड़े ज़ोरों से हो चली और कवि लोगों के यह उमंग उठने लगी कि वे भी सत्काव्यों की रचनायें करें, अस्तु कवियों की संख्या भी बढ़ने लगी। प्रोत्साहन तो उन्हें अब पर्याप्त-रूप से प्राप्त होने लगा था, क्योंकि राजदरबारों में भी हिन्दी, तत्साहित्य तथा तत्कवियों का समादर होने लगा था।

कृष्ण-काव्य से साहित्यिक क्षेत्र में व्रजभाषा का निश्चल साम्राज्य हो गया और वह प्रौढ़, भावपूर्ण मधुर तथा मृदुल होते हुए परिमार्जित या परिष्कृत हो चली। उसमें काव्य-क्षमता तथा व्यापकता आ गई। धार्मिक जागृति तथा विकास के साथ ही साथ हिन्दी (व्रजभाषा) तथा हिन्दी-साहित्य का भी अभ्युत्थान हो चला।

इसी काव्य ने हिन्दू-हिन्दी तथा हिन्दुत्व की महत्ता और सत्ता की पूर्ण रक्षा भी धार्मिक अशान्ति के समय में की और

उसे सुदृढ़ तथा चिरस्थायी बना दिया। जनता में धार्मिक औदार्य तथा भगवत्-प्रेम का निश्चल बीजारोपण हो गया। अपने पतित तथा निम्न श्रेणी के लोगों या भाइयों के प्रति भी प्रेम तथा ममत्व के भाव समाज में गूँज उठे। हिन्दू और मुसलमानों के हृदय भी परस्पर एक स्नेह-सूत्र में बँधने लगे और प्रेम या भक्ति के क्षेत्र में उन्हें एक करने लगे। मुसलमान सहृदय कवि या लोग इसी काव्य के गुणों पर रीझ तथा इसके भक्ति-सुधारस से सीझ कर राधा-कृष्ण के भक्त हो हिन्दी-काव्य करने लगे। हिन्दू-जनता अपने पूर्व-जनों तथा उनके चरित्रों से परिचित हो अपनी आर्य-संस्कृति से भी भिज्ञ हो चली; उसे अपने धार्मिक, सामाजिक तथा चारित्रिक पद्धतियों का ज्ञान हो चला और वह संस्कृत के दूर हो जाने से जो अज्ञानान्धकार में पड़ गई थी उससे अब निकल कर प्रकाश में आने लगी। लोगों का प्रेम तथा ध्यान अपने प्राचीन पुराणों तथा संस्कृत-साहित्य के अन्य धार्मिक ग्रंथों की ओर जाने लगा और विद्वान कवि उनका अनुवाद हिन्दी भाषा में करके साहित्य की श्रीवृद्धि भी करने लगे। गद्य-पद्य दोनों की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा, किन्तु समय तथा परिस्थिति से प्रभावित होकर गद्य की अपेक्षा पद्य की ही अधिक उन्नति हुई। केवल थोड़ा सा ही गद्य-साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया। गद्य का बीजारोपण प्रथम श्री गोरखनाथ ने किया तो था किन्तु वह गद्य गद्य न था, केवल प्रान्तीय बोली के ही रूप में था। ८४ और २५२ वैष्णवों की वार्तायें, गंग कवि का गद्य-ग्रन्थ तथा ऐसी ही कुछ और पुस्तकें इस समय गद्य में लिखी गईं। प्रधानता तथा प्रचुरता रही बस ब्रजभाषा-काव्य की ही, उससे उतर कर अवधी-काव्य का स्थान रहा। संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य का प्रवाह तथा वेग अब बहुत शिथिल पड़ गया था, उसमें बहुत ही कम कार्य हो रहा था, वह भी केवल एक अति संकीर्ण विद्वत्

समाज में ही। अस्तु, इस काव्य से ये ही मुख्य २ प्रभाव हमारी भाषा, समाज तथा दशा पर पड़ सके। अब आगे आइये और देखिये कि इस भक्ति-काव्य के विरंचिवरों ने किन २ रत्नों की कैसी कैसी रचनायें की हैं।

भक्ति-काव्यालोचन

राम-काव्य-विवेचन

राम-काव्य के सब से प्रधान प्रवर्तक तथा महाकवि होने का गौरव यदि किसी को प्राप्त हुआ है और हो सकता है तो वह महात्मा श्री तुलसीदास जी हैं। राम-काव्य का एक प्रकार से हिन्दी में श्री गणेश तथा उसकी इति श्री दोनों ही महात्मा तुलसीदास ने ही की है, अस्तु, हम उन्हीं को प्रथम उठाते हैं।

श्री तुलसीदास—गोस्वामी जी के नाम से तो आज भारत का एक २ बच्चा भी सर्वथा परिचित है, तथापि आप की यथार्थ जीवनी का ज्ञान हमें दुर्लभ हो रहा है। यों तो उनकी कई जीवनियाँ देखने में आती हैं, परन्तु कोई भी सर्वतोभावेन विश्वसनीय नहीं कही जा सकती। गोस्वामी ने अपनी जीवनी की बहुत ही सूक्ष्म तथा न्यून झलक अपने ग्रंथों में दिखलाई है। इस समय तक उनकी दो जीवनियों का पता चला है, एक तो उनके शिष्य बाबा वेणीमाधवदास की लिखी हुई है, जिसका नाम गोसाईं-चरित्र है, यह पूरी नहीं, अस्तु, पूर्ण विवरण हमें इससे भी नहीं प्राप्त होता। दूसरी उनके दूसरे शिष्य श्री महात्मा रघुबर-दास कृत "तुलसी-चरित" नामी है। इन दोनों के वृत्तान्त एक दूसरे से बहुत कुछ पृथक् हैं। गोस्वामी जी की जोवनी के सम्बन्ध में कतिपय जन-श्रुतियाँ भी प्रसिद्ध हैं, किन्तु वे ऐसी अस्त व्यस्त

तथा ऊटपटांग (कपोलकल्पित) सी हैं कि उनको सत्य मानने में सन्देह ही बना रहता है।

हिन्दी-साहित्य के कई सुयोग्य मर्मज्ञों ने सब बातों पर विचार करके जो एक मत निश्चित किया है उसके अनुसार गोस्वामी जी की जीवनी का सूक्ष्म रूप हम यहाँ दे रहे हैं।

गोस्वामी जी का जन्म सं० १५८९ में सरयूपारीण ब्राह्मण वंशीय श्री आत्माराम जी दुबे के घर में राजापुर (बाँदा) ग्राम में हुआ था। आपकी माता का नाम हुलसी था। आपका विवाह दीनबंधु पाठक की सुकन्या रत्नावली से हुआ और उनके एक तारक नामक लड़का भी हुआ जो अल्पकाल में ही पंचत्व को प्राप्त हो गया। आपने अपनी स्त्री के उपदेश से वैराग्य ले लिया। महात्मा नरहरिदास से दीक्षा लेकर आप रामानन्द सम्प्रदाय में हो गये। गुरु जी ने ही आप का नाम तुलसीदास रक्खा था। उन्हीं से रामायण (राम-चरित्र) का ज्ञान प्राप्त कर रामचरित मानस की रचना की। आप ने अनेक तीर्थ-स्थानों की यात्रा की किन्तु आप विशेषतया काशी और चित्रकूट मे ही रहे। आपने काशी के असीघाट पर अपने इस भौतिक शरीर को छोड़कर राम-पुर का प्रस्थान सं० १६८० की श्रावण शुक्ल ७ को किया। *

---

* देखो मिश्र-बन्धु-विनोद प्रथम भाग (सं० १९८३) साथ ही देखो श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल की तुलसी ग्रन्थावली भाग १ और हिन्दी साहित्य का इतिहास (भूमिका शब्दकोष) पृ० १२।

दो दोहे आपकी मृत्यु पर हैं:—

१ "संवत सोरह सौ असी, असीगंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

२—बाबा वेणीमाधवदास की पुस्तक में द्वितीय पंक्ति यों है:—
'श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

कुछ लोग इसी द्वितीय पाठ को ठीक मानते हैं।

आपने बहुत से ग्रंथों की रचना की, उनमें से लगभग ३८ ग्रंथ अब तक प्राप्त हो सके हैं। इनमें रामायण (रामचरित मानस) गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, दोहावली, (राम सतसई) और बरवै रामायण बहुत सी प्रसिद्ध तथा उच्चकोटि के हैं।

गोस्वामी जी श्री रामचन्द्र जी तथा हनुमान जी के अटल भक्त थे। आपकी भक्ति में दास्यभाव प्रधान है। आप बहुज्ञ तथा बहुश्रुत थे, संस्कृत तथा भाषा के आप अच्छे विद्वान और कविकौशल में पूर्ण दक्ष थे। शिव तथा कृष्ण आदि देवताओं पर भी आपकी अच्छी अनुरक्ति थी। ज्ञान, वैराग्य, राम नाम, माया, ब्रह्म (सगुण और निर्गुण) भक्ति, सत्संग आदि विषयों की आपने बड़ी ही मार्मिक व्याख्या की है।

वास्तव में यदि देखा जावे तो प्रबन्ध-काव्य के अप्रतिम महाकवि आप ही हैं। आप ही से हिन्दी (अवधी) काव्य की प्रतिमा प्रस्फुटित होकर भारत में पूर्णरूप से निखरी-बिखरी है। आप ही से हिन्दी-काव्य पवित्रीकृत या विमलीकृत होकर सर्वोच्च आसनासीन हुआ। अवधी भाषा को साहित्यिक भाषा होने का सौभाग्य आप ही से प्राप्त हुआ, रामचरित्र के आप हिन्दी में वैसे ही महाकवि हैं जैसे संस्कृत में महर्षि वाल्मीकि जी हैं, आपको कुछ लोग उनका अवतार हो मानते हैं:—'वालमीकि तुलसी भयो"। प्रचलित काव्य-भाषा के साथ साधारण बोल चाल की चलती हुई भाषा को परिष्कृत करके रखते हुए आपने एक नवीन साहित्यिक भाषा का उदय किया, ऐसा ही महात्मा सूरदास जी ने भी प्राचीन काव्य भाषा के साथ ब्रज की प्रचलित बोली को रखते हुए ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप देकर किया था। दोनों ने भाषा को शिष्ट, सुन्दर तथा भावपूर्ण बनाया है।

सं० १६१६ में आप से मिलने के लिये महात्मा सूरदास जी

चित्रकूट आये, उन्हीं का यह प्रभाव है कि गोसाईं जी ने कृष्ण-गीतावली और रामायण गीतावली नामी ग्रंथ (विनय-पत्रिका भी) गीत काव्य में लिखे और कृष्ण-भक्ति का भी परिचय दिया। सं० १६३१ में आप ने अयोध्या में रामचरित मानस का लिखना प्रारम्भ और २ वर्ष ७ मास में उसे समाप्त किया। किष्किन्धा तथा कुछ और अंश आपने काशी में लिखे । आपको सभी देशवासी एक पूर्ण सिद्ध तथा प्रसिद्ध महात्मा या रामभक्त मानते थे। मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है:—

"आनन्द कानने कश्चिज्जंगमस्तुलसी तरुः ।
कविता-मंजरी यस्य रामभ्रमर भूषिता ॥"

रहीम ख़ानख़ाना, राजा मानसिंह और नाभादास जी से भी आप की मैत्री थी। कुछ लोग कविवर नन्ददास जी को आपका सगा भाई और कुछ गुरु-भाई मानते हैं, यह बात अभी विवाद-ग्रस्त है। यह अवश्य है कि आप का उनसे घनिष्ट सम्बन्ध था।

मीराबाई से भी आपकी लिखा-पढ़ी होती थी, आप ने उन्हें उचित परामर्श भी दिया था। आप का काशी के प्रसिद्ध ज़मींदार श्रीटोडर (भूमिहार) से बड़ा स्नेह था, वे इनके भक्त भी थे। उन्हीं के मरने पर उनकी रियासत का भाग-विभाजन आप के द्वारा सरपंच की हैसियत से किया गया था, वह ताम्रपत्र टोडर-वंश में अब तक सुरक्षित है।

अब आइये गोस्वामी जी के काव्य (भाषा, भाव, शैली आदि) की सूक्ष्म तथा मार्मिक आलोचना की ओर चलें। जिस अवधी भाषा को साधारण चलती हुई बोल चाल की बोली के रूप में उठाकर जायसी एवं प्रेमात्मक सूफ़ी फ़क़ीर कवियों ने साहित्य के क्षेत्र में ला रक्खा था उसी को संस्कृत या परिष्कृत करके गोस्वामी

जी ने ही साहित्यिक गौरव के साथ उच्चकोटि की काव्य-भाषा में रूपान्तरित कर दिया और उसे साहित्यिक भाषा बना कर प्रचलित तथा प्रतिष्ठित कर दिया। यद्यपि आपके समय में व्रज भाषा का प्रचार पूर्ण रूप से व्यापकता के साथ साहित्य (काव्य) क्षेत्र में हो रहा था। न केवल पद्य के लिये ही इसका उपयोग किया जाता था वरन् गद्य के लिये भी उसका प्रयोग होने लगा था। ऐसी दशा में भी गोस्वामी जी ने उसे न उठाकर अवधी भाषा को ही उठाया, क्योंकि अवधी उसी प्रान्त की भाषा थी जिस प्रान्त के अयोध्या नामी नगर में उनके उपास्य देव श्रीराम का जन्म हुआ था।

श्रीराम-कीर्त्ति के लिये अवधी भाषा ही उन्हें उपयुक्त जँची, उस भाषा से उनका परिचय भी विशेष था, अस्तु, उन्होंने इसी भाषा को अपने मानस के लिये उठाया। अवधी को उठाकर उन्होंने उसमें अन्य प्रान्तीय तथा भाषा सम्बन्धी विशेषताओं, शब्दों तथा भावद्योतक पदों का समावेश करके अपनी उदारता का परिचय दिया।

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में आपके समय में मुख्यतया ५ शैलियाँ प्रचलित थीं:—

(१) जय काव्य की वह शैली, जिसमें छप्पय, तोटक तथा अन्य ऐसी ही वीर रसोपयुक्त छंदों का प्राधान्य था और जो विशेषतया प्राचीन काव्य भाषा में, जिसमें अपभ्रंश, प्राकृत तथा पुरानी हिन्दी का अच्छा संयोग रहा था, लिखी जाती थी।

(२) विद्यापति और सूरदास की गीतात्मक शैली, जो जयदेव जी के अनुकरण में चली थी।

(३) कविगंग आदि दरबारी कवियों की कवित्त-सवैया वाली मुक्तक काव्य सम्बन्धी शैली जिसमें साहित्यिक पुट कुछ विशेष रहती थी। इसमें खड़ी बोली की भी कुछ पुट रहती थी।

(४) प्रेमात्मक सूफ़ी कवियों की दोहा-चौपाई वाली प्रबंध-काव्यात्मक शैली, जिसमें अवधी भाषा का ही प्राधान्य रहता था और जो प्रबंध-काव्य के लिये अधिक उपयुक्त मानी गई थी। सम्भवतः यह फ़ारसी-मसनवी तथा संस्कृत के वाल्मीकीय रामायण आदि की देखा देखी में उठाई गई थी।

(५) कबीरदास आदि की साखी आदि साधारण ग्रामीण भाषा एवं छंदों वाली शैली जिसमें नीति तथा उपदेश की विशेषता रहती थी।

गोस्वामी जी ने इनमें से प्रथम चार पद्धतियों का विशेष उपयोग किया और पाँचवीं का बहुत ही न्यून प्रयोग किया। ब्रज भाषा और अवधी दोनों भाषाओं में आपने सफलता पूर्वक उत्कृष्ट काव्य की रचना की। ब्रज भाषा को प्रधानता देकर अच्छी, मधुरता, सरसता तथा गंभीरता के साथ आपने गीतावली और कृष्ण गीतावली और अवधी को प्रधानता देकर अपना मानस, बरवे रामायण, जानकी मंगल और पार्वती मंगल आदि की रचना की। यही कारण है कि आपको साहित्य में अत्युच्च स्थान दिया जाता है। आपकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। आपकी रचना में यदि एक ओर देश-भाषा की स्वाभाविक माधुरी है तो दूसरी ओर संस्कृत तथा साहित्यिक भाषा का चारु चमत्कार तथा गांभीर्य भी है, यदि भाषा में संस्कृत की तत्सम पदावली का समावेश है तो साथ ही देशज तथा तद्भव शब्दावली का भी सुन्दर सामंजस्य है। विनय-पत्रिका में गीत गोविन्द का सा संस्कृत गर्भित पद-विन्यास, रसानुकूल, कार्कश्य और मार्दव मय वैषम्य के साथ भाव-सौष्टव पाया जाता है। जय-काव्य की शैली का प्रयोग यद्यपि आपने बहुत ही संकीर्ण रूप में किया है किन्तु किया बड़ी ही उत्कृष्टता के साथ है।

कवितावली इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि उन्होंने

मुक्तक काव्य की शैली में उच्चकोटि की सफलता प्राप्त की है। उनकी कवित्त-सवैया आदि छंदें, प्रौढ़, शिष्ट शुद्ध तथा स्वच्छ स्वाभाविक रूप में हैं। आपका मानस दोहा-चौपाई वाली प्रबंध-काव्य की शैली का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। नीति विषयक दोहात्मक शैली का अच्छा उदाहरण हमें उनकी दोहावली में मिलता है। अलंकृत काव्य का सुन्दर रूप हमें बरवै रामायण में मिलता है।

अब स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने धार्मिक विचार के साथ ही साहित्य-निर्माण का भी पूरा ध्यान रक्खा था और इसीलिये उन्होंने अपने समय की समस्त मुख्य साहित्यिक भाषाओं तथा काव्य-शैलियों में प्राचीन कवि-परिपाटी के अनुसार रचनायें की थीं।

गोस्वामी जी ने जिस प्रकार काव्य-पद्धतियों का ध्यान रक्खा है उसी प्रकार विषय-चयन तथा काव्योचित (कवि-पद्धति के अनुकूल) वर्ण-विषय के वर्णन-कौशल का भी बड़ी सफलता से निर्वाह किया है। सत्काव्य का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जिसे उठाकर गोस्वामी जी ने पूर्ण कौशल के साथ न दिखलाया हो। रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति (सूक्ति-वैचित्र्य) तथा व्यंजना आदि सभी का प्रकाशन बड़ी ही चतुरता तथा कुशलता से आपने किया है। मानव-जीवन की अनेक लोक-व्यापिनी दशाओं का चित्रण बड़ी ही मार्मिकता तथा कुशलता से आपकी प्रतिभामयी कल्पना ने किया है। कहना चाहिये कि आप हिन्दू-जनता तथा आर्य-संस्कृति के पूरे प्रतिनिधि तथा परिपोषक हैं। सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक तथा नैतिक सभी प्रकार की दशाओं को आपने चारुता से चित्रित किया है। लौकिक और पारलौकिक दोनों पक्षों का मार्मिक निरूपण बड़ी ही सरलता, सुन्दरता तथा चतुरता के साथ आप ने किया है। आपकी दृष्टि अन्तर्जगत और वहिर्जगत दोनों की ओर ख़ूब गई है और प्रकृति का उसने

अच्छा निरीक्षण किया है। भक्ति, ज्ञान, प्रेम तथा वैराग्य का बड़ा ही अच्छा स्पष्टीकरण आपकी लेखनी से हुआ है। चारित्रिक उज्ज्वलता तथा आदर्शोपासना का अच्छा उपदेश आप के काव्य से प्राप्त होता है। मानव-चरित्र के प्रायः सभी मुख्य आदर्शों का चित्रण आपने बड़ी ही प्रभावोत्पादिनी भाषा में किया है। धार्मिक उदारता तथा उच्चासनासीन करने वाली आत्म-दीनता की जैसी सुन्दर व्यंजना आपके काव्य में है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। वेद-विहित मार्गों तथा स्मृति-शास्त्रानुमोदित नियमों की प्रतिष्ठा, लोक तथा धर्म की मर्यादा का परिपालन बड़ी ही विदग्धता से आपने स्थापित किया है। धार्मिक तथा सामाजिक भेद-भाव को दूर करने का उपदेश आपने बड़ी ही चतुरता के साथ दिया है। शैव और वैष्णव भेद आपने दोनों को परस्पराश्रित पद्धति के द्वारा दूर करने का अच्छा प्रयत्न किया था। यदि शिव राम के उपासक हैं तो राम भी शिव जी की पूजा तथा प्रतिष्ठा करने वाले हैं, यह आप की ही कुशल कल्पना ने हिन्दी-संसार को दिखलाया है। कर्म, ज्ञान और भक्ति (उपासना) का सुन्दर सामंजस्य आपने कर दिखलाया है, साथ ही आपने लोक-पक्ष की भी महत्ता-सत्ता प्रतिपादित की है, जिससे एक सुन्दर सम्मेलन-सौंदर्यमयी दिव्य सृष्टि की सी रचना हो गई है। यह बात न तो सूफ़ी फ़क़ीरों, न कबीर जैसे निर्गुणोपासकों और न सूर जैसे कृष्ण-भक्तों ने ही की है और न शैवों न अन्य वैष्णवों अथवा शाक्तों ने ही की है। नाम और रूप ईश्वर के दोनों पक्षों का स्पष्टीकरण आपने बड़े चातुर्य से किया है। अध्यात्मवाद का भी भक्तिवाद के साथ सामंजस्य आपने कुशलता से किया है। बस यही कहना पर्याप्त है कि गोस्वामी जी ने सत्काव्य का एक प्रकार से अन्त ही कर दिया है। शृंगार रस का सबसे पवित्र वर्णन आप ही ने किया है। यदि उनके काव्य की वास्तविक विवेचना की जावे तो एक

बड़ा भारी ग्रंथ स्वतंत्ररूप में बन जावेगा। यहाँ सब से अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि गोस्वामी जी ही ने धार्मिक भक्ति-काव्य के साथ ही साथ सब से प्रथम अलङ्कारों तथा नायक नायिकादि का वर्णन उदाहरणों के रूप में किया, जिसका अनुकरण कदाचित् केशवदास तथा अलंकृतकाल के अन्य सभी कृष्ण-काव्य तथा अलंकृत काव्य करने वालों ने किया है। इस प्रकार आपने रीति-ग्रंथों तथा काव्य शास्त्र के उदाहरण-ग्रंथों की उस परंपरा को, जो जयकाव्य के पूर्व अनुवाद-रूप से उठाई जाकर चली थी, किन्तु जो जय-काव्य तथा तदनन्तर भक्ति-काव्यादि के प्रयत्न-प्रवेग या प्रवाह से दब गई थी, पुनर्जीवन प्रदान किया। इसके साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि आपने अलंकारादि (सब प्रकार के) का ऐसा सार्थक तथा उपयुक्त उपयोग किया है कि उनमें कहीं भी किसी प्रकार कुछ भी शिथिलता, अस्वाभाविकता तथा कृत्रिमता नही आने पाई। उनके अलंकार सर्वथा भावपोषक रसोत्कर्षक तथा तथ्यव्यंजक हैं, उनमें शाब्दिक तथा भावात्मक दोनों प्रकार का स्वाभाविक चमत्कार है। उनकी भाषा ही ऐसी है कि उसमें वाह्य सौंदर्य या सजावट के साथ भाव-गांभीर्य स्वाभाविक सारल्य, माधुर्य तथा मार्दव भरा पड़ा है। वह भावों के ही अनुकूल नचती हुई ललित लास्य के साथ चलती है। वाक्य-रचना, शब्द-विन्यास तथा वर्णन-शैली सभी पूर्णतया शुद्ध, शिष्ट, स्पष्ट, स्वच्छ और सुव्यवस्थित हैं। कहीं भी उनमे शैथिल्य, निरर्थकता तथा अरोचकता आदि के दुर्गुण नहीं पाये जाते। प्रेम और शृंगार दोनों को ऐसे पवित्र और मार्मिक ढंग से आपने दिखलाया है कि वह बिना किसी संकोच के सब के सामने रक्खा जा सकता है, यह बात अन्य कवियों में नहीं पाई जाती। अतः इसमें आप अद्वितीय ही हैं। सभी रस, भाव, भावनायें तथा विचार आपने व्यंजित किये हैं और सभी मर्यादो-

चित तथा सर्वथा संयत हैं। केवल आप से ही हिन्दी-साहित्य का भव्यभाल सदा संसार में सर्वोच्च रह सकता है।

आपके ग्रंथों और विशेषतया रामचरित मानस का यथेष्ट अध्ययन करने से ज्ञात हो जाता है कि तुलसीदास जी साहित्य मर्मज्ञ, (काव्य-शास्त्र तथा पिंगल के पूर्ण पंडित) भावुक भक्त तथा विद्वान महाकवि थे। हमें खेद है कि हम विस्तार-भय से आपकी रचनाओं के उदाहरण नहीं दे रहे और यदि दे भी दें तो कुछ थोड़े उदाहरणों से पाठकों को विशेष लाभ नहीं हो सकता। हम तो साग्रह कहते हैं कि वे गोस्वामी के समस्त ग्रंथों को एक बार अवश्य देखें, उनका देखना मानो साहित्य के समस्त सार और ज्ञान के तत्व का देख लेना है। *

अब आइये राम-भक्ति-काव्य के अन्य मुख्य कविवरों को देखें।

बाबा अग्रदास—आप गोस्वामी जी के समकालीन और भक्तवर नाभादास जी के गुरु थे। आपने वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्ट-छाप वाले श्री कृष्णदास जी से दीक्षा ली थी किन्तु कृष्णोपासक न होकर आप रामोपासक ही हुए। जयपुर राज्य के गलतान नामी ग्राम में आप का स्थान था। आप की ४ पुस्तकें प्राप्त हुई हैं:—हितोपदेश उपरवाणां बावनी २—ध्यान मंजरी, ३—रत्न ध्यान मंजरी ४—कुण्डलिया। आपकी कविता श्री नन्ददास जी की शैली की है और उसमें व्रजभाषा की ही पूरी प्रधानता है।

नाभादास—आप सं० १६५७ के लगभग वर्तमान थे। आप बड़े साधुसेवी और भक्त थे। 'भक्तमाल' नामी ग्रंथ आप ही का रचा हुआ है, इसी पर प्रियादास जी ने टीका लिखी है।

---

* "देखो श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल संपादित 'तुलसी ग्रन्थावली'।

इस ग्रंथ में २०० भक्तवरों (राम तथा कृष्ण दोनों के भक्तों) के चमत्कार पूर्ण सूक्ष्म जीवन-चरित्र ३१६ छप्पय छंदों में दिये गये हैं। इसके द्वारा आप का उद्देश्य जनता में भक्तों के प्रति पूज्य तथा आदर के भाव का उत्पन्न करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति भी इससे अच्छी हुई और वास्तव में जनता की श्रद्धा और भक्ति भक्तों के प्रति अधिक हो गई।

आप श्री गोस्वामी तुलसीदास से मिलने अयोध्या गये, किन्तु वे ध्यान में थे अस्तु न मिल सके, नाभादास वहाँ से वृन्दावन लौट आये, यह देख तुलसीदास स्वयमेव उनसे मिलने वहाँ गये। आपने तुलसीदास के उदार हृदय को देखकर अपने भक्तमाल में उनके विषय में लिखते हुए उन्हें वाल्मीकि का अवतार तक कह दिया है। नाभादास जी रामभक्त और ब्रजभाषा के अच्छे विद्वान् कवि थे। एक छोटा सा राम-काव्य-संग्रह अभी आप का प्राप्त हुआ है आपने दो अष्टयाम, (एक ब्रजभाषा गद्य में और दूसरा दोहा-चौपाई में) लिखे थे।

प्राणचन्द्र चौहान—आपने सं० १६६७ में रामायण महानाटक (चौपाइयों में) संवाद को प्रधानता देते हुए लिखा। काव्य कुछ बहुत उच्चकोटि का नहीं, भाषा भी साधारण ही है।

हृदय राम—पंजाब निवासी श्री कृष्णदास के आप सुपुत्र थे। आपने सं० १६८० में संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर हिन्दी भाषा में एक हनुमन्नाटक लिखा। कवित्तों और सवैयों में वार्तालाप को प्रधानता देकर सुन्दर और प्रौढ़ भाषा में यह नाटक लिखा है। भक्ति-काव्य के क्षेत्र में आप ही का नाटक हनुमन्नाटक के समान अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका। राम-काव्य को ही यह गौरव आपके कारण प्राप्त हो सका, अन्यथा कृष्ण-काव्य में कोई भी ऐसा उत्तम नाटक नहीं लिखा गया।

हम अन्य कविवरों का वर्णन यथा स्थान करना ही उचित

समझते हैं, ताकि पाठकों को ऐतिहासिक विकास के अध्ययन में सुविधा हो। प्रथम हमारा विचार एक ही स्थान पर एक धारावाले सब कवियों की विवेचना करने का था, किन्तु यह उपयुक्त नहीं जँचता।

हम दिखला चुके हैं कि राम-भक्ति की एक शाखा श्री हनुमान-भक्ति भी है, इसे विशेष रूप से गोस्वामी जी ने ही प्रचलित किया है। यह संकेत उन्हें स्वामी रामानन्द जी से ही प्राप्त हुआ था। उन्होंने एक स्तुति हनुमान जी की लिखी थी। गोस्वामी जी ने कई स्थानों पर श्री हनुमान जी की स्तुति की है, साथ ही "हनुमान बाहुक, हनुमान चालीसा और हनुमानाष्टक" कई छोटी २ पुस्तकें भी रची हैं। गोस्वामी जी ने यह दिखलाया है कि राम-भक्ति एक पहुँचे हुए सिद्ध-प्रसिद्ध राम-प्रिय भक्त के प्रसाद से ही प्राप्त होती है। गोस्वामो जी को श्री हनुमान जी से बड़ी सहायता इस राम-भक्ति में प्राप्त हुई है। अस्तु, उन्होंने उन्हें दृढ़ता से अपनाकर उनका यश-कीर्तन किया है। ऐसी कोई बात कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में नहीं मिलती। हनुमान-भक्ति पर भी कुछ साहित्य रचा गया है।

सं० १६६६ में रायमल्ल पांडे ने "हनुमानचरित नामी एक काव्य लिखा, किन्तु यह पद्धति (हनुमान जी के चरित्र लिखने की प्रणाली) विशेष रूप से न चल सकी। हाँ, यह मुक्तक में रूपान्तरित हो गई।

राम-काव्य के क्षेत्र में यद्यपि कई सुयोग्य भक्त कवियों ने अच्छा कार्य किया और कई ग्रंथ लिखे, किन्तु गोस्वामी जी के सर्वाङ्ग पूर्ण मानस के सामने वे सब फीके ही से पड़े रह गये। १६ वीं और २० वीं शताब्दियों में कई भक्त कविवरों ने राम-काव्य लिखा, जिनमें से महंत बाबा रामचरण दास, बाबा रघुनाथदास, रीवाँ-नरेश श्री रघुराजसिंह जी मुख्य और विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनायें लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध भी हैं।

रामभक्ति-काव्य ने प्रबन्ध काव्य से चलकर मुक्तक काव्य का रूप धारण कर लिया और कुछ अंश में वह गीत-काव्य की भी शैली में चला, किन्तु इन दोनों दशाओं में उसे सफलता न प्राप्त हो सकी। यह अवश्य है कि राम-काव्य के द्वारा कई प्रकार की रचना-प्रणालियों को प्रोत्साहन तथा विकास प्राप्त हुआ, ऐसा कृष्ण-काव्य के द्वारा नहीं हो सका।

कृष्ण-काव्य

सूरदास—जिस अष्टछाप की अमर स्थापना श्री विट्ठल नाथ जी ने की थी उसी अष्ट छाप के आप सर्वाग्रगण्य महाकवि थे। आप के पश्चात् यदि किसी और को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तो वे श्री नन्ददास जी थे। सूरदास जी को हिन्दी-काव्याकाश का सूर्य (सूर सूर तुलसी, शशी,......) कहा गया है और वास्तव में वे इसके पूर्ण अधिकारी भी ठहरते हैं।

आपका जन्म-काल सं० १५४० में माना गया है। आपकी भी पूर्ण तथा यथार्थ जीवनी हमें प्राप्त नहीं। ८४ वैष्णवों की वार्ता के अनुसार आप का जन्म-स्थान रुनकता (रेणुका क्षेत्र) है किन्तु कोई २ दिल्ली-निकटस्थ सोही ग्राम को भी आप का जन्म-स्थान कहते हैं। वार्ता में इन्हें सारस्वत ब्राह्मण श्री रामदास जी का पुत्र कहा गया है, भक्तमाल में इनका ब्राह्मण होना तथा ८ वर्ष में इनका उपवीत होना लिखा है।

आपकी दृष्टिकूटों वाली पुस्तक में आपको ब्रह्मभट्ट महाकवि चन्द्रवरदाई का वंशज और हरीचन्द्र का कनिष्ठ पुत्र लिखा गया है। यह आप ही का लिखा हुआ माना जाता है। यह भी उससे ज्ञात होता है कि आपके ६ भाई मुसलमानों के युद्ध में मारे गये थे, अतः आप इधर उधर घूमते फिरे। अंधे तो थे ही, एक कूप में आप जा गिरे, सातवें दिन उसमें से आपको भगवान

कृष्ण ने दर्शन देते हुए बाहर निकाला। आपके वरदानानुसार आपको कृष्ण ने फिर अंधा करके अपना अटल भक्त कर लिया। यह वृत्तान्त संदिग्ध ही माना जाता है।

वार्ता के अनुसार आपने गऊघाट (मथुरा) के पास श्री वल्लभ जी से दीक्षा ली और उन्हीं की आज्ञा से आपने श्री मद्-भागवत की कथा हिन्दी-पदों में गायी। इसे "सूरसागर" कहते हैं और इसमें सवा लक्ष पदों का होना सुना जाता है किन्तु, अब तक जितने भी संस्करण इसके प्राप्त होते हैं उनमें से किसी में भी ४००० पदों से अधिक पद नहीं मिलते। अब हमारे परम हितैषी महाकवि श्री बा० जगन्नाथदास जी "रत्नाकर" ने बड़ी खोज के साथ इस ओर कार्य करना आरम्भ किया है। वे सूरसागर का एक अच्छा संस्करण तैयार कर रहे हैं, उन्हें अब तक ६००० पदों से कुछ ऊपर पद प्राप्त हो सके हैं। यह संस्करण बहुत ही अच्छा होगा, क्योंकि यह व्रजभाषा-मर्मज्ञ महाकवि रत्नाकर जी के द्वारा निकाला जा रहा है।

कृष्ण-भक्तों ने इन्हें इनके सख्यभाव को देख कर कृष्ण-सखा ऊधव का अवतार मान लिया है। श्री विट्ठल जी के सामने आपका देहावसान सं० १६२० के लगभग पारसौली ग्राम में हुआ था।

आपकी कृष्ण-भक्ति में वात्सल्य भाव (जिसको श्री वल्लभ स्वामी ने अपने पुष्टि मार्ग के द्वारा कृष्णभक्ति में प्रधान स्थान दिया है) तथा सख्यभाव की प्रधानता है। आप बाल-रूप तथा प्रेमी नायकरूप श्री कृष्ण भगवान के उपासक हैं, इसीलिये आपके काव्य मे श्री कृष्ण की बाल-लीला तथा प्रेम-लीला का बहुत ही सुन्दर चित्रण पाया जाता है। उसमें विश्व-विमोहन, अनन्त सौंदर्य तथा मधुर मर्मस्पर्शी प्रेम की व्यापक व्यंजना लोक-पक्ष की प्रधानता के साथ भरी हुई है। उसमें सरस, शृङ्गारमयी ममता

की छटा लोकोत्तर आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना के साथ छहरी हुई हैं।

जयदेव और विद्यापति की संगीत-प्रधान मुक्तक-काव्य की मंजुल शैली को उठाकर आपने व्रज भाषा-साहित्य को अपने अप्रतिम काव्य से अमर कर दिया है। आपके ही आधार पर अग्रिम कला-काल के कवि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को लेकर चले हैं। जिस प्रकार प्रबंधात्मक राम-काव्य को श्री तुलसीदास ने अमर कर दिया है उसी प्रकार आपने मुक्तकात्मक कृष्ण-काव्य को साहित्य-क्षेत्र में सदा के लिये अचल कर दिया है। सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने मुक्तक शैली में ही प्रायः अपने प्रेमात्मक काव्य लिखे हैं, केवल व्रजवासी दास ने ही रामचरित मानस के समान कृष्ण-चरित का वर्णन दोहों और चौपाइयों में प्रबंध-काव्य की शैली से सं० १८०६ में एक साधारण कोटि का काव्य-ग्रन्थ लिखा है।

सूरदास जी ने श्रीकृष्ण जी की जीवनी के केवल वे ही अंश लिये हैं जिनमें उनके अभीष्ट रूपों की ही लीलाओं का सन्निवेश है, शेष सभी अंश आपने छोड़ दिये हैं। यही बात अन्य कृष्ण-काव्यकारों ने भी की है। ऐसा करने ही से उनके काव्य मधुर मुक्तक हो सका है। जीवन की अनेकरूपता को छोड़कर उन्होंने अपने सिद्धान्तानुसार केवल उसकी एकरूपता से ही बाल-लीलायें और यौवन सम्बन्धी प्रेम-लीलायें ही लिख गीतात्मक मुक्तक काव्य रचा है। साथ ही इनके कारण वात्सल्य और शृङ्गार की ही प्रधानता हो गई है।

* यह ज्ञात ही है कि भागवत के ही आधार पर श्रीसूर ने

---

* यद्यपि सूरसागर का आधार भागवत है किन्तु दोनों के कथा-प्रसंगों एवं दोनों की लीलाओं के वर्णनों में न्यूनाधिक मौलिक अन्तर भी है। सूर ने कई स्थानों में अपनी मौलिक विशेषताओं का सन्निवेश किया है।

अपना सागर लिखा है, क्योंकि भागवत ही कृष्ण-काव्य तथा कृष्ण-भक्ति का मूल आधार है। श्रीवल्लभ के पुष्टि-मार्ग वाले भक्त उसमें से भी दशमस्कंध को विशेष प्रधानता देते हैं, क्योंकि उसीमें वात्सल्य तथा सख्य भाव-पूर्ण सरस बाल-लीलायें तथा प्रेम-लीलायें प्राप्त होती हैं। श्रीसूर ने भी इसी स्कन्ध की कथाओं को विस्तृत रूप में और शेष सभी अन्य स्कन्धों की कथाओं को सूक्ष्म रूप में लिखा है। कृष्ण-जन्म से मथुरा-गमन तक का वर्णन तो सूर ने ऐसा किया है कि उसके आगे फिर कुछ शेष ही सा नहीं रक्खा। वात्सल्य तथा प्रेम-भाव-सम्बन्धी सभी भावनाओं और

यदि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जावे तो यह स्पष्ट हो जावेगा। विस्तार-भय से हम इसे नहीं दे रहे।

नोटः—सूर संगीतज्ञ कवि थे, वे धार्मिक भी थे किन्तु धार्मिक उपदेशक न थे। यद्यपि उनके पदों की धार्मिक बातों का प्रभाव देश पर ख़ूब पड़ा है। तुलसी के समान सूर ने सिवा कृष्णोपासना के और किसी देवता की उपासना नहीं की, तुलसी ने शिव, हनूमान आदि की भी उपासना की है जिसके प्रभाव से जनता में अन्य देवोपासना फैल चली और कवि लोग भी अन्य देवों की स्तुति आदि कर चले। सूर ने ऐसा नहीं किया।

सूर ने शृंगार (संयोग, वियोग या विप्रलंभ जिसमें करुण की भी पुट है) रस ख़ूब लिखा है, शान्ति आदि अन्य रस उनमें नहीं। मुक्तक-पद्धति (पद-शैली) के कारण और जीवन की कुछ ही थोड़ी सी घटनाओं के कथानक-रूप में सूक्ष्मता से कहने तथा एकांगी जीवन-चित्रण से उनमें चरित्र-चित्रण का भी अभाव है। अन्य रस तो आ ही नहीं सके। वर्णनात्मक शैली भी उनमें नहीं। भावनाओं (बाललीला तथा प्रेमी नायक की लीला सम्बन्धी) का ही मार्मिक तथा सांगोपांग चित्रण उन्होंने किया है।

हृदय की सभी मार्मिक दशाओं का बड़ा ही मधुर, मृदुल और भाव-पूर्ण सरस चित्रण किया है।

सूर ने यद्यपि सब से प्रथम चलती हुई साधारण बोल-चाल की ब्रज भाषा ही उठाई है किन्तु ऐसे ढङ्ग के साथ उसका उपयोग किया है कि वह सर्वथा सुन्दर, सरस, भाव-पूर्ण तथा मृदुल साहित्यिक भाषा सी ठहरती है। वह सुव्यवस्थित, प्रौढ़ और परिमार्जित सी हो गई। रचना आपकी ऐसी सर्वाङ्ग पूर्ण और विदग्ध है कि उसके आगे अन्य कवियों की रचनायें फीकी ही सी जान पड़ती हैं। हिन्दी-साहित्य की यही रचना सर्वाङ्ग पूर्ण, प्रौढ़, विस्तृत रूप में हुई है। इसके पूर्व और पश्चात् ऐसी रचना नहीं प्राप्त होती।

सूर ने केवल एक ही शैली का उपयोग किया है और गीतात्मक मुक्तक काव्य ही लिखा है। अन्य साहित्यिक काव्य की शैलियों को आपने नहीं उठाया आपके पश्चात् कुछ दिनों तक इसी शैली का कृष्ण-काव्य में प्राधान्य रहा है। तुलसी के समान आपने अपनी प्रतिभा को कई ओर नहीं जाने दिया वरन् उसे एक ही ओर लगा रहने दिया है। यह अवश्य है कि आपके काव्य में इस एकाभिमुखी प्रतिभा की पूर्ण पराकाष्ठा अवश्य पाई जाती है। हाँ एक बात यह विशेष अवलोकनीय है कि आपका शृङ्गार उतना पवित्र तथा शान्त नहीं जितना श्री तुलसीदास जी का है। यही कारण है कि आपके अनुयायी अन्य कृष्ण-काव्यकारों का भी शृङ्गार पूर्ण रूप से (पवित्र विषय-वासना तथा विलासादि से परे) स्वच्छ नहीं रह सका, किन्तु तुलसी के बाद अन्य राम-काव्यकारों का शृङ्गार न्यूनाधिक रूप से उसी प्रकार नियंत्रित तथा पवित्र बन रहा है (देखो रघुराजसिंह आदि का राम-काव्य)।

हम दिखला चुके हैं कि तुलसीदास जी पर आपका अच्छा

प्रभाव पड़ा था और इसीलिये तुलसीदासजी ने का है। वह अत्यंत
काव्य की रचना वात्सल्य —— प्रेम के भावों से पूर्ण है, प्रसिद्ध
दृष्यतः, प्रकृति-निरू
त्सल्य और शृङ्गार के ह्रौ "
उतना तुलसी या अन्य कि और भ्रमर
माना जाता है। आप सूक्ष्म से सूक्ष्म दशाओं तकल तथा
भक्तमाल से ज्ञात अपने हृल्लोचनों के पथ पर सूर्‍ा पूरा
इनके देहावसान की अनन्त सौंदर्य-पूर्ण सुखमा-सभ के
जी ने २५२ वैष्ण वात्सल्य भाव का स्वाभाविक एवं लोकोत्व
रामभक्तवर श
उन्हीं के म कवि-परंपरा की सभो बातों का समावेश सूर ने
गोस्वामी ता के साथ अपने काव्य-सागर में किया है। काव्य
परिवि, रस, भाव, विचार, भाषा, अलंकार, ध्वनि, व्यंजना
कि ता (वक्रोक्ति) उक्ति-वैचित्र्य आदि आपके काव्य में
ते हैं।

ृष्ण-लीला (प्रेमात्मक संयोग और वियोग पक्ष की लीलाओं)
न्दर आपने अपने वल्लभीय संप्रदाय के आध्यात्मिक (दार्श-
क) सिद्धान्तों को भी बड़ी ही चतुरता के साथ प्रतिविंबित
किया है। ज्ञान, योग तथा भक्ति, उपासना की तुलनात्मक
आलोचना अपने भ्रमर गीत में काव्य-कौशल के साथ करके
आपने अन्त में भक्ति और उपासना (साथ ही अचल अनुराग या
प्रेम) को श्रेष्ठतर सिद्ध किया है। विस्तार-भय से हम विस्तृत
आलोचना न देकर केवल इसी सूक्ष्म किन्तु सभी मुख्य तत्वों
वाली विवेचना से संतोष करते हैं।

नन्ददास—आप अष्टछाप के द्वितीय स्थान-प्राप्त प्रधान
कवि तथा भक्त माने जाते हैं। आप हैं तो सूरदास के समकालीन
किन्तु आपका कविता-काल १६२५ या उसके कुछ आगे पीछे से

हृदय की सभी मार्मिकी जीवनी का ठीक ठीक पता नहीं लगता।
भाव-पूर्ण सरस होता है कि इनके भाई का नाम चन्द्रहास था।

सूर ने यद्यपि के बहुत दिन बाद विट्ठल-तनय श्री गोकुलनाथ की ब्रज भाषाओं की वार्ता में इनके विषय में लिखा है कि ये योग किया गो० तुलसीदास जी के भाई थे,* आप का भी विचार साहित्यिकमानस के समान एक कृष्ण-चरित्र के लिखने का था। परिमार्जित जी का इनके साथ वृन्दावन जाना तथा वहाँ राम-रूप में विद्यमान श्री कृष्ण-मूर्ति को मस्तक नवाना इसी वार्ता में है। सीतु अब यह सिद्ध हुआ है कि ये तुलसीदास के भाई न थे।

वार्ता के अनुसार ये द्वारका जाते हुए सिंधनद ग्राम की एक खत्रानी पर आसक्त हो गये और उसके घर के पास घूमने लगे, इस पर उसके घर वाले गोकुल चले आये, तब ये भी गोकुल पहुँचे, वहीं इनको श्री विट्ठलनाथ ने दीक्षा दी और इन्हें अपने भक्तों में रख लिया। फिर इन्हें उन्होंने सूरदास के बाद द्वितीय स्थान देकर अपने अष्ट छाप में भी रख लिया।

---

* बाबा वेणीमाधव दास कृत गोसांई चरित के अनुसार आप गो० तुलसीदास के गुरु-भाई थे। आपके गुरु शेष सनातन थे। नन्ददास को यहीं कान्यकुब्ज ब्राह्मण लिखा गया है:—

"नँददास कनौजिया प्रेम-मढ़े।
जिन शेष सनातन तीर पढ़े॥
शिक्षा गुरु-बन्धु भये तेहिते।
अति प्रेम सों आइ मिले एहिते॥

भक्तमाल से ज्ञात होता है कि नन्ददास सुकुल वंशीय थे:—"सकल सुकुल-संवलित भक्त-पदरेणु उपासक" भक्त नामावली में ध्रुवदास ने इन्हें हित हरिवन्श का शिष्य लिखा है किन्तु यह स्पष्ट है ये नंददास दूसरे ही हैं। कोई २ इन्हें सनाढ्य भी कहता है।

आपका काव्य वस्तुतः बहुत ही उच्चकोटि का है। वह अत्यंत मधुर, मंजुल, सरस तथा कोमल कान्त पदावली से पूर्ण है, प्रसिद्ध भी है :—

" और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया "

आपकी सब से प्रसिद्ध पुस्तक रास पंचाध्यायी और भ्रमर गीत है। * दोनों ही में उत्कृष्ट काव्य है। भाषा मधुर, मृदुल तथा सानुप्रासिक है, उसमें सरसता तथा शिष्ट सुन्दरता का पूरा समावेश है, उसका रूप प्रौढ़ और परिमार्जित व्रज भाषा के साहित्यिक रूप का सा ही है। ज्ञात होता है कि आपके ही प्रभाव से व्रज भाषा के साहित्यिक रूप का झुकाव अलंकृत काव्य-भाषा की ओर हो गया।

आपने लगभग १४ ग्रंथों की रचना की जिनमें से रास पंचाध्यायी, भ्रमर गीत, अनेकार्थनाम माला और अनेकार्थ मंजरी उत्तम और प्रसिद्ध है। नन्ददास के विषय में जिन लोगों ने लिखा है उन सब की बातों के देखने से ज्ञात होता है कि इन्होंने लगभग २६ ग्रंथ रचे थे। ऐसा ज्ञात होता है कि एक दूसरे नन्द-

---

* नन्ददास की देखादेखी कई कवियों ने रास पंचाध्यायी और भ्रमर गीत की रचनायें कीं, किन्तु किसी को भी वैसी सफलता न मिल सकी। भ्रमर गीत में छंद-रचना की जो नवीन शैली नन्ददास ने उठाई उसका भी कई कवियों ने अनुकरण किया, किन्तु सफल न हुए। भ्रमर गीत की यह शैली स्वतंत्र रूप से रूढता के साथ चल पडी। इसे हम संगीतात्मक छंद-रचना शैली कह सकते हैं, इसमें ४ पद रोला के और फिर अन्त में १० मात्राओं की एक पंक्ति और रहती है जो प्रथम पंक्ति को सहायता देती हुई उसे सुगेय बना देती है।

भ्रमर गीत की रचना नन्ददास ने कदाचित् सूर के ही प्रभाव से प्रभावित होकर की है।

दास भी व्रज में थे और उन्होंने भी कई ग्रन्थ लिखे थे, उनको भी हमारे अष्ट छाप वाले नन्ददास के साथ ले लिया गया है। आपने "विज्ञानार्थ प्रकाशिका" नामी एक संस्कृत पुस्तक की व्रज भाषा के गद्य में टीका भी लिखी थी। आपने, कहा जाता है, पूर्ण भागवत का सुन्दर अनुवाद भी किया था, किन्तु उसे फिर यमुना जी में डुबो दिया, अस्तु वह नष्ट हो कर अप्राप्य हो गया। किसी २ ने केवल भागवत दशम स्कंध को ही लिखा है। अस्तु, यह विषय अभी अनिश्चित सा ही पड़ा हुआ है।

नन्ददास पर उनके समय, देश तथा उनकी अन्य प्रकार की परिस्थितियों का अच्छा प्रभाव पड़ा था। आप प्रथम ही से बड़े भावुक और सरस प्रेमी थे अतएव आप से काव्य-कला की ललित लतिका ख़ूब कलित हो सकी। प्रेमी हृदय ही कृष्ण-भक्ति का अच्छा अधिकारी ठहरता है। अस्तु आप एक अच्छे भक्त भी हो गये। व्रज-मंडल में व्रज भाषा-कवियों के साथ रहते हुए आप का व्रज भाषा में कृष्ण-काव्य लिखना अनिवार्य ही था। आप स्वभावतः ही प्रेम, सौंदर्य और कला के उपासक थे। अस्तु, आप के काव्य में इन तीनों के प्रभाव का होना आवश्यक ही है। कहना चाहिये कि आप कवि प्रथम हैं और भक्त बाद को। भक्ति के व्रज-व्यापी वल्लभीय रूप को उसमें श्रृङ्गार को प्रधानता देकर आपने उठाया है। भ्रमर गीत में अपने योग और ज्ञान को भक्ति और भावना के आगे फीका सा चित्रित किया है। यह भक्तों की परम्परा ही थी।

आपकी भाषा अत्यंत मधुर, कोमल और प्रसाद गुण पूर्ण है, शब्द और अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले सभी सुन्दर अलंकारों से वह सजी हुई है, सरसता भी उसमें कूट कूट कर भरी हुई है। आपने वे ही छंदें विशेष रूप से चुनी हैं जिनमें संगीत-माधुरी विशेष रहती है। आपका काव्य कला-पूर्ण, श्रुतिसुखद, प्रौढ़

तथा मौलिक है। उसमें भावनाओं तथा मानसिक प्रेम-दशाओं का पूरा चित्रण है। आप अनुप्रासों के विशेष प्रेमी जान पड़ते हैं क्योंकि आपके काव्य में अनुप्रासों की बड़ी सुन्दर मालिका सी रहती है। वर्ण तथा वाक्य-विन्यास, उपनागरिका तथा कोमला वृत्तियों और वैदर्भी तथा पांचाली रीतियों से सदा सर्वथा संयत रहता है। प्रसाद और माधुर्य दोनों प्रधान गुणों का सुन्दर साम्राज्य आपके समस्त काव्य में फैला है। मानव प्रकृति का जितना सुन्दर तथा पूर्ण चित्रण आपके द्वारा किया गया है उतना प्रकृति का नही। केवल कुछ ही स्थलों पर सूक्ष्म तथा मार्मिक ढङ्ग से आपने प्रकृति का चारु चित्रण किया है, इस चित्रण में कवि-परंपरा के ही प्रभाव की प्रधानता है, मनुष्य और प्रकृति की पारस्परिक सहानुभूति के भाव को आपने विशेष प्रधानता दी है।

आपकी प्रतिभा बहुन्मुखी थी, अन्य भक्त-कवियों की भाँति आपने उसे केवल कृष्ण-काव्य के ही कानन में नहीं फूलने दिया वरन् उसे साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी मुखरित किया है। आपने अमरकोष के समान दो कोष भी लिखे और दो ग्रंथ ब्रज भाषा गद्य में भी रचे। अतः हम आपको गद्य-लेखक भी कह सकते हैं। साथ ही आपने राजनीति और अन्य विषयों का भी परिचय अपनी रचनाओं में दिया है। रोला और दोहा तो छंदों में और उत्प्रेक्षा, रूपक तथा उदाहरण अलंकारों में आपको विशेष प्रिय थे। अष्ट छाप के येही दो कवि हमारे साहित्य के मौलिमणि हैं, शेष छः तथा उनके अनुयायी लोग इनके समान नहीं, हाँ हैं वैसे वे भी सुकवि भक्तवर। अस्तु हम उनका यहाँ केवल सूक्ष्म और मार्मिक विवेचन ही करेंगे यही उचित तथा उपयुक्त भी है।

कृष्णदास—आप थे तो शूद्र, किन्तु अपनी श्रद्धा, भक्ति तथा सेवा से आचार्य वल्लभ जी के कृपापात्र शिष्य हो गये। एक

बार आपने कुछ रुष्ट होकर आचार्य जी की ड्योढ़ी छोड़ दी, इस पर वीरवल ने इन्हे क़ैद कर दिया। किन्तु आचार्य जी ने इन्हें उससे मुक्त करा अपने मंदिर का प्रधान बना दिया। अन्य कृष्ण-भक्तों के समान आपने भी राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं के पद रचे। काव्य आपका साधारण श्रेणी का ही है। जुगुल मान चरित्र (प्राप्त) भ्रमर गीत और प्रेम सत्वनिरूपण नामी पुस्तकें आपकी ही रचित कही जाती हैं। सं० १६०० के आस पास ही आपका काव्य-काल कहा जाता है। * आप की व्रज भाषा शुद्ध, निर्दोष तथा ललित है। काव्य भी भाव पूर्ण, सरल तथा अनूठा है।

"माँ मन गिरधर-छवि पै अटक्यो।"

ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गड़ि ठठक्यो॥
सजल स्याम घन-वरन-लीन ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यो।
"कृष्णदास" किये प्रात निछावर, यह जन जग-सिर पटक्यो॥

इसी पद को गाकर आपने अपना पार्थिव शरीर छोड़ा।

कुंभनदास—आचार्यवल्लभ जी के शिष्य और अष्ट छाप के एक सुकवि थे। आप पूर्ण रूप से विरक्त थे। एक बार आप अकबर बादशाह के बुलाने पर सीकरी गये, वहाँ आपका बड़ा मान-सम्मान हुआ, किन्तु उससे आपको खेद हुआ—जैसा इस पद से प्रगट होता है:—

---

१०४ पद श्रद्धेय मिश्रबन्धुओं के यहाँ हैं।

* खोज में आपका "वैष्णव वंदन" नामी एक ग्रन्थ और मिला है। "बानी" नामी एक ग्रन्थ इनका और सुना जाता है तथा "सरोज" में "प्रेम रस रास" नामी इनके एक दूसरे ग्रंथ का भी उल्लेख है।

ध्यान रखना चाहिये कि इस नाम के कई भक्त कवि हुए हैं अतः यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि उक्त ग्रंथ आपके ही रचे हुए हैं।

भक्तवर श्रीकृष्णदास पयहारी एक दूसरे महात्मा थे।

संतन को कहा सीकरी सों काम।
आवत-जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरि-नाम॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
"कुंभनदास" लाल गिरधर बिनु और सबै बेकाम॥

इनका कोई भी ग्रंथ अब तक प्राप्त नहीं हुआ, कुछ स्फुट पद श्रीकृष्ण की बाल तथा प्रेम-सम्बन्धी लीलाओं पर अवश्य यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। इनके पुत्र श्रीचतुर्भुजदास अष्ट छाप के भक्त कवि और पौत्र राघवदास सुकवि थे।

परमानन्ददास—आप कुम्भनदास जी के समकालीन थे। आप भी श्री वल्लभाचार्य के शिष्य और अष्ट छाप में तृतीय श्रेणी के कवि थे। सम्भवतः आप कान्यकुब्ज ब्राह्मण और कन्नौज के रहने वाले थे। कहा जाता है कि आपने भी सूरदास जी के समान एक "परमानन्द सागर" नामी वृहद् ग्रन्थ रचा था।*

आप का काव्य अत्यन्त सरस, मधुर तथा भक्ति-भाव से भरा-पूरा है। उसमें तल्लीनता का पूरा आभास है। अस्तु, आचार्य जी आप के पदों पर विशेष अनुराग रखते थे। कृष्ण-भक्तों के मुख से आप के पद प्रायः सुने जाते हैं, किन्तु खेद है कि न तो उनका कोई संग्रह ही उपलब्ध है और न आप के किसी ग्रंथ का ही पता लगा है।

चतुर्भुजदास—आप श्री कुम्भनदास के सुपुत्र और श्रीगोसाईं विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। आप को भी गोसाईं ने

---

* यह ग्रन्थ हमारे मित्रवर पं० जवाहिरलाल जी चौबे को प्राप्त हो गया है, वे इसे प्रकाशित कराने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त खोज में आपका "ध्रुव चरित्र" नामी एक ग्रंथ और मिला है। परमानन्ददास जी के पद तथा "दानलीला" नामी दो पुस्तकें १९०२ की खोज में मिली थीं।

अष्ट छाप में स्थान दिया है। आप का काव्य साधारण श्रेणी का ही है, हाँ आपकी भाषा सुव्यवस्थित तथा प्रसाद गुण पूर्ण है, है वह साधारण बोल-चाल की ही भाषा के रूप में। आपकी चार पुस्तकें प्राप्त हुई हैं:—

१—भक्ति-प्रताप २—हितजू को मंगल ३—द्वादश यश ४—मधुमालती की कथा।

कृष्ण-भक्तों के द्वारा आप के कुछ स्फुट पद भी यत्र तत्र सुरक्षित किये गये हैं।*

गोविन्द स्वामी—आप सनाढ्य ब्राह्मण और अन्तरी के निवासी थे, विरक्त होकर महावन में आये और गो० विट्ठल-नाथजी के शिष्य हो गये। गो० जी ने इनके पदों पर प्रसन्न होकर इन्हें भी अष्ट छाप में स्थान दे दिया। आप का काव्य-काल सं० १६०० और १६२५ के ही अन्दर कहा जाता है। आप न केवल कवि ही थे वरन् एक अच्छे गायक भी थे। लोक-प्रसिद्ध गायक तानसेन भी आप का गाना सुनने आया करते थे। गोवर्धन पर्वत के पास आपका लगाया हुआ कदंब-वन अब तक "गोविन्द स्वामी की कदंब-खंडी के नाम से विद्यमान है। आप की कविता साहित्यिक दृष्टि से कुछ विशेष उच्चकोटि की नहीं है।

यहाँ तक तो हमने अष्ट छाप के कवियों का सूक्ष्म परिचय दिया, अब हम ब्रज वाले संप्रदायों के कुछ अन्य प्रधान कवियों का सूक्ष्म परिचय देना उचित समझते हैं:—उक्त वल्लभीय सम्प्रदाय के पश्चात् श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय आता है, इस सम्प्रदाय में भी बड़े २ सिद्ध तथा प्रसिद्ध भक्त कवि हुए हैं।†

---

* आपके ४१ पद और "सवैया के पद" नामी १६ पृष्ठों की पुस्तक का उल्लेख मि० व० विनोद में है।

† छीतस्वामी—आप कान्यकुब्ज कुलभूषण राजा वीरबलजी के पंडा और सुसम्पन्न आदमी थे। प्रथम ये बड़े ही गुंडेबाज़ थे, किन्तु फिर

हितहरि वंश—आप राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक हैं। आपका जन्म सम्वत् १५५६ में मथुरा से ४ मील दक्षिण के बादगाँव में हुआ था। ओरछा नरेश श्री मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास ने सम्वत् १६२२ के निकट आप से दीक्षा ली थी। हित जी गौड़ ब्राह्मण श्री केशवदास मिश्र के पुत्र थे, आप की माता का नाम तारावती था। कहा जाता है कि आप को राधा जी ने स्वप्न में गुरु मन्त्र दिया था तभी से आप राधा जी के भक्त हुए और अपना एक सम्प्रदाय पृथक् चलाया। प्रथम ये माधवाचार्य जी के अनुयायी श्री गोपाल भट्ट के शिष्य हुए थे। आपके ४ पुत्र और एक कन्या थी। सं० १५८२ में आपने वृन्दावन में श्रीराधावल्लभ जी की मूर्ति स्थापित की और विरक्त भाव से वहीं रहने लगे।*

आप संस्कृतज्ञ काव्यमर्मज्ञ थे, आपकी रची हुई १७० श्लोकों की "राधा-सुधा-निधि" नामी पुस्तक प्रसिद्ध है। व्रजभाषा में

गो० विट्ठलनाथ से दीक्षा लेकर सुधर गये और भक्त कवि होकर अष्ट छाप में भी हो गये। आपका काव्य-काल सं० १६१३ के आस पास ही कहा जाता है। कृष्ण-भक्त तो आप थे ही, साथ ही आप व्रज-भक्त भी बहुत बड़े थे। आपकी कविता भक्ति रस पूर्ण किन्तु साधारण ही होती थी।

* आपका जन्म सं० १५३० (वैसाख बदी) तथा मूर्ति-स्थापना का सं० १५६१ (कार्तिक सुदी १३) में श्री मिश्रबन्धुओं ने लिखी है। साथ ही आपने आप की कविता का गौरव ख़ूब दिखलाया है। आप की भाषा मृदुल और गंभीर है, यद्यपि वह अलंकारों से बहुत विभूषित नहीं है। एक ही एक पद में आपने नख-शिख वर्णन बड़े वैचित्र्य से किया है, रास-वर्णन भी बहुत विशद एवं सुन्दर है। पद-विन्यास उत्तम, भाव पूर्ण और ललित है। भक्ति-भाव से ही प्रेरित होकर आपने हिन्दी में कविता की है।

रचना आपकी बड़ी ही भाव-पूर्ण और सरस होती थी। आपके ८४ पदों का संग्रह "हित चौरासी" नाम से विख्यात है। इसकी टीका लोकनाथ कवि ने लिखी है।

आपके प्रोत्साहन से आपके कई शिष्य व्रज भाषा के अच्छे कवि हुए। हित जी की रचना का माधुर्य देख कर लोग आप को कृष्ण-मुरली का अवतार कहा करते थे। आपके काव्य में वर्णन-प्राचुर्य, भाषा-माधुर्य तथा काव्य-कला-चातुर्य आदि गुण अच्छे रूप में मिलते हैं अतः आपकी गणना सत्कवियों में की जाती है। आपके गुणों पर मुग्ध होकर कितने ही कवियों तथा भक्तों ने आपका गुणानुवाद बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया है। यहाँ तक कि वल्लभाचार्य के अनुयायी (गो० विट्ठलनाथ जी के शिष्य) चतुर्भुज स्वामी ने भी "हित जू को मंगल" नामी एक पुस्तक आपके लिये लिखी।

आपके शिष्यों में से जो उल्लेखनीय कवि हुए वे ये हैं:—

१—**हरीराम व्यास**—इन्होंने हित जी के देहावसान पर करुणा पूर्ण पद लिखे हैं।*

---

* आप ओरछा निवासी सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण और ओरछा-नरेश श्रीमधुकरशाह के राजगुरु थे। आप संस्कृत के प्रकांड विद्वान तथा शास्त्रार्थ-प्रेमी थे। गो० हितहरि वंशजी को आपने जाकर शास्त्रार्थ का निमन्त्रण दिया किन्तु उनके एक पद को सुनकर आप उनके शिष्य हो गये। मधुकरशाह इन्हें लेने आये किन्तु आपने वृन्दावन को छोड़ना नापसंद किया और सदा वहीं रहे। श्रीकृष्ण की बाललीला तथा प्रेमलीला के साथ ही साथ आपने अपने काव्य में लौकिक बातों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य पर आपने पदों तथा चित्रों के द्वारा अच्छा आलोक फेंका है। आपने एक "रासपंचाध्यायी" लिखी थी किन्तु उसे लोगों ने सूरदास की रचना के साथ रख दिया है। आप की रचना बहुत ही सुन्दर, सरस तथा काव्य गुण-सम्पन्न होती थी।

२—वृन्दावनदास—"हित की सहस्र नामावली" नाम की पुस्तक आपने हित जी की वन्दना में रची। इनके अतिरिक्त श्री हित परमानन्द तथा व्रजजीवनदास ने हितजी की जन्म-बधाइयों पर सुन्दर पद लिखे। सेवकजी और ध्रुवदास आदि और कई शिष्य अच्छे भक्त तथा कवि हुए हैं।

गौड़ वैष्णवीय

हम यह दिखला चुके हैं कि वृन्दावन में बंगाल से आकर चैतन्य के शिष्य लोग रहे थे और उन्होंने अपने गौड़ वैष्णवीय सम्प्रदाय की स्थापना यहाँ की थी। इनमें से रूप सनातन जी बड़े ही सिद्ध तथा प्रसिद्ध भक्त कवि हुए हैं किन्तु उन्होंने संस्कृत में ही रचना की है।

इस वृन्दावन वाले गौड़ वैष्णवीय सम्प्रदाय में श्री गदाधर भट्ट जी का स्थान हमारे लिये बहुत ही ऊँचा ठहरता है। अस्तु आपका सूक्ष्म वृत्तान्त हम यहाँ दे रहे हैं।

गदाधरभट्ट

आप दक्षिणीय ब्राह्मण थे। आपकी जीवनी का अच्छा रूप हमें प्राप्त नहीं। भक्तमाल से यह अवश्य ज्ञात होता है कि आप श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे और उन्हें भागवत सुनाया करते थे। आप संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे।

आप व्रजभाषा में भी बड़ी ही सुन्दर, सरस तथा भाव-पूर्ण उत्कृष्ट कविता किया करते थे। आपके एक पद पर मुग्ध होकर श्री चैतन्य जी के शिष्य श्री जीव गोस्वामी ने आपको एक श्लोक लिख भेजा जिसे पढ़कर भट्ट जी मूर्छित हो गये और वृन्दावन में आकर श्री चैतन्य जी के शिष्य हो गये। आपका हृदय परम

भावुक, सरस तथा भक्ति-पूर्ण था। तृ० त्रै० खोज में इनका ध्यान-लीला नामी एक ग्रंथ मिला है।

इस वृत्तान्त से आपका रचना-काल सं० १५८० और अंतकाल सं० १६०० के आसपास रहता है। शब्दों, पदों अथवा भाषा पर आपका पूरा अधिकार था, आपका वाक्य-विन्यास अत्यंत प्रौढ़, भाव-पूर्ण और सुन्दर है। भाषा संस्कृत से पूर्ण तथा प्रभावित और उत्कृष्ट है, हाँ उसमें लालित्य तथा माधुर्य पूर्ण रूप में पाया जाता है। सामासिक पदों तथा मंजुल वर्णों के साथ ही साथ संस्कृत गर्भित भाषा की भी पुट आपकी रचना में है। शैली आपकी उत्कृष्ट तथा अलंकृत सी है। काव्य आपका उच्च कोटि का और प्रशंसनीय है।

सूरदास मदनमोहन—आप अकबर बादशाह के समय में संडीले के अमीन थे, फिर दीक्षा लेकर गौड़ वैष्णवीय संप्रदाय में आ गये। आप जाति के ब्राह्मण और बड़े भक्त साधुसेवी थे। एक बार आपने संडीले तहसील की मालगुज़ारी के १३ लाख रुपये साधुओं को खिला-पिला दिये और शाही ख़ज़ाने में कंकड़ पत्थरों से भरे हुए संदूक़ रखवा यह लिखकर विरक्त हो गये :—

"तेरह लाख संडीले आये, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन त्यों, आधी रात में सटके॥"

अकबर ने इनके अपराध को क्षमाकर इन्हें फिर बुलाया किन्तु ये नहीं गये और वृन्दावन में रहते रहे।

आपकी रचना बड़ी ही रसीली और मधुर है। आपके पद सूरदास जी के पदों में मिल गये हैं। आपका रचना-काल १५६० तथा १६०० के बीच में माना जाता है। आपका कोई ग्रंथ नहीं प्राप्त होता, यत्र तत्र कुछ पद अवश्य मिलते

हैं।* इनके अतिरिक्त इस संप्रदाय में और भी कई भक्त कवि हुए हैं किन्तु वे विशेष उल्लेखनीय नहीं।

सखी संप्रदाय

हरिदास—आपने निम्बार्क स्वामी के सम्प्रदाय को एक विशेष रूप में रख कर सखी या टट्टी सम्प्रदाय की स्थापना की। आपका कविता-काल सं० १६०० से १६१७ तक माना गया है। आप एक सिद्ध भक्त और प्रसिद्ध कवि तथा संगीतज्ञ थे। लोक-प्रख्यात गायक तानसेन आपको अपने गुरु के समान मानते थे। अकबर बादशाह ने तानसेन से एक गान को अशुद्ध गवाकर इनके द्वारा शुद्ध किये गये उसी गान को सुना था। अकबर ने इनकी बहुत कुछ पूजा करनी चाही किन्तु इन्होंने स्वीकार न की।

आप सनाढ्य ब्राह्मण थे, किन्तु कहाँ के थे, किसके सुपुत्र थे, कब और कहाँ उत्पन्न हुए थे इन बातों का ठीक पता नहीं चलता, भक्ति-सिंधु में आपका जन्म-स्थान हरिदासपुर लिखा है।

आपका काव्य संगीत के नियमों से अत्यधिक प्रभावित है, यहाँ तक कि उसके कारण इनके काव्य की छन्दवत्ता को भी कुछ

---

* बानी, साधारण सिद्धान्त, रस के पद, भरथरी-वैराग्य (सं० १६१७ में) पद आदि कई ग्रंथ आप ने रचे। हरिदास जी के ये ग्रंथ सन् १६००, १६०२, १६०५ की खोज में मिले हैं। "लोकोक्तिमाला" नामी ग्रंथ इनका खोज (तृतीय त्रै०) में मिला है। आप के पदों में संस्कृत के शब्द और पद बहुत मिलते हैं।

इनके शिष्यों में विट्ठल विपुल (इनके मामा) महाराज नागरीदास नरहरिदास, ललितकिशोरी और बिहारिनिदास मुख्य और प्रधान कवि हुए हैं। ये संगीत के भी अच्छे आचार्य थे। आप के वंशज आपको सारस्वत ब्राह्मण और मुलतान के निकटवर्ती उच्चगाँव का बताते हैं। तानसेन को भी कहते हैं, इन्होंने संगीत की शिक्षा दी थी।

दब जाना पड़ा है। यह अवश्य है कि आपके पद भिन्न भिन्न राग-रागनियों में एक चतुर संगीत-कलाविद् के द्वारा ख़ूबी से गाये जा सकते हैं इसीलिये आपका पद-विन्यास सर्वथा काव्योचित नहीं। आपकी रचना में सर्वत्र एकसा माधुर्य तथा मार्दव नहीं पाया जाता। हाँ आपके भाव अवश्यमेव उत्कृष्ट रूप में हैं।

आपके कई संग्रह-ग्रन्थ शब्द और बानी आदि के नामों से पाये जाते हैं। आपकी रचना में सखी भाव की भक्ति मिलती है, थे भी तो आप उसके प्रवर्तक।

इस सम्प्रदाय के अन्य कवि विशेष उल्लेखनीय नहीं, यद्यपि कई भक्तों ने रचनायें की हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय

श्री भट्ट—आप काश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् केशव जी के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५६५ में कहा जाता है अतः आपका रचना-काल सं० १६२५ के आस-पास माना जा सकता है।

आपके रचे हुए "युगुल-शतक" नामी १०० मुक्तक पदों का ग्रन्थ भक्तों की समाज में बहुत समादृत है। "आदि बाणी" नामक एक दूसरी पुस्तक भी आपकी रची हुई कही जाती है।

आपकी कविता सरल और साधारण है, उसकी भाषा भी साधारण बोल-चाल की ब्रजभाषा है, पद आपके छोटे छोटे ही हैं। हाँ आपके काव्य से यह अवश्य आभासित होता है कि आप भक्ति-भाव में तन्मय हो जाते थे और उसी तल्लीनता में, कहते हैं, आपको कृष्णजी की मूर्ति भी दिखलाई पड़ती थी।

ध्रुवदास—आप वास्तव में तो नहीं किन्तु स्वप्न में श्रीहित हरिवंशजी के शिष्य हुए थे और अधिकतर वृन्दावन में ही रहा करते थे। इनकी जीवनी का और अधिक परिचय हमें प्राप्त नहीं हो रहा।

आपकी कविता भक्ति और प्रेम के तत्वों से भरी-पूरी है।

न केवल आपने अन्य भक्त कवियों के समान पद ही लिखे हैं वरन् दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये, आदि अन्य प्रकार की साहित्यिक छन्दें भी लिखी हैं। छोटे बड़े सब मिलाकर आपकी ४० पुस्तकें मिलती हैं अतः आप एक विस्तृत रचना करने वाले थे। श्रीनाभाजी के अनुकरण में आपने एक "भक्त नामावली" नामक पुस्तक लिखी है और उसमें अपने समय तक के सभी मुख्य भक्तवरों का वर्णन किया है। आपने "वामन वृहत् पुराण" नाम से वामन पुराण का भाषानुवाद भी किया है।

आपकी पुस्तकों में जो संवत् दिये हुए हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आपका कविता-काल सं०१६६७ से १७०० तक गया है।

रसखान—आप दिल्ली के एक पठान सरदार थे फिर अच्छे कृष्णभक्त होकर गो० विट्ठलनाथ जी के शिष्य हो गये। २५२ वैष्णवों की वार्ता में इनका कुछ सूक्ष्म हाल मिलता है। ये एक स्त्री पर आसक्त थे, वह यद्यपि इनका अनादर भी किया करती थी। एक दिन इनके मन में श्री भागवत के फ़ारसी अनुवाद को पढ़ते पढ़ते यह बात आई कि उस कृष्ण से ही क्यों न प्रेम किया जावे जिसपर अनेकों गोपियाँ मन्त्र-मुग्ध थीं :—

प्रेम-वाटिका का यह दोहा इसका संकेत देता है :—

"तोरि मानिनी तें हियो, फेरि मोहिनी मान।
प्रेमदेव की छविहिं लखि, भये मियाँ रसखान॥

इससे यह तो स्पष्ट ही है कि आप एक बड़े प्रेमी व्यक्ति थे, इसी से ये एक अच्छे कृष्ण-भक्त भी हो सके और प्रेम-भरी ऐसी सुन्दर कविता भी लिख सके। आपका रचना-काल सं० १६४० के ही निकट माना जाता है क्योंकि गो० विट्ठलनाथ जी का देहावसान सं० १६४३ में हुआ था। दीक्षा लेने के उपरान्त ही आप भक्ति विषयक काव्य की रचना करने में समर्थ हो सके होंगे।

इनका जन्म-काल सं० १६१५ में माना गया है और मरण-काल सं० १६८५ में। आपकी सब से विशेष बात जो देखने योग्य है, यह है कि आपने कृष्ण-भक्तों की परम्परागत गीत-काव्य को मुक्तक शैली का अनुसरण न करके साहित्यिक छंद रचना की शैली का अनुसरण किया है। हाँ, रक्खा मुक्तक के ही रूप में आपने अपना काव्य है।

भाषा आपकी साधारण व्रजभाषा ही है, हाँ वह साफ़, सादी, सीधी तथा मधुर अवश्य है। इनकी भाषा श्री घनानन्द जी की भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती सी है। घनानन्द जी की भाषा में साहित्यिक पुट विशेष है और वह शुद्ध व्रजभाषा भी है।

रसखान जी को पदावली प्रसाद तथा माधुर्य गुणयुक्त, सरस तथा स्वाभाविकता लिये हुए रहती है, उसमें अलंकारों की सुन्दर बाह्य सौन्दर्योत्कर्षक सजावट नहीं, अतः उसमें व्यर्थ का शब्दाडम्बर भी नहीं है। प्रेम-पूर्ण रचना होने से आपकी छंदें मर्मस्पर्शिनी तथा सुखद होती हैं।

आपकी अब तक केवल दो ही छोटी छोटी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं—१—**प्रेम वाटिका**, जो (सं० १६७१ में) दोहों में है

रसखान—

नोट:—प्रेम वाटिका में केवल ५२ दोहे एवं सोरठे हैं जिनमें शुद्ध प्रेम का निरूपण किया गया है। सुजान रसखान में १२६ छन्द हैं जिनमें से १० तो दोहे और सोरठे हैं, शेष सवैया और कवित्त हैं, सभी प्रेम और भक्ति से ख़ूब भरे हुए हैं। इनकी कविता में संयुक्त वर्ण बहुत ही कम आये हैं इसीसे उसमें विशेष मार्दव और माधुर्य आया है। प्रसाद गुण तो सर्वत्र ही पाया जाता है। शब्दालंकारों तथा कठिन अर्थालंकारों का भी बहुत कम प्रयोग इनमें मिलता है। भाषा इनकी सरल, स्पष्ट, भाव पूर्ण, मधुर और मृदुल है। उसमें सादगी और सफ़ाई अच्छी है, है वह शुद्ध व्रजभाषा नहीं।

२-**सुजान रसखान** जो कवित्त-सवैयों में है। कृष्ण-भक्ति तथा ब्रजभूमि में सच्ची अनुरक्ति इनकी छंदों में ख़ूब पाई जाती है। हावों और भावों की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना इनमें मिलती है, भावों के उपयुक्त अलंकार भी अपने अच्छे रूपों में मिलते हैं। भाषा में तो बोल-चाल का स्वाभाविक सौन्दर्य, स्वच्छता तथा सुव्यवस्थित-पद-विन्यास पाया ही जाता है।

मीराबाई

जिस प्रकार पुरुष कृष्ण-भक्तों में श्रीसूरदासजी सर्वप्रधान माने जाते हैं वैसे ही स्त्री-समाज में कृष्ण-भक्ति के कारण आपको प्रधान स्थान प्राप्त है। आप मेडितिया के राठौर रत्नसिंह की कन्या थीं, आपका जन्म सं० १५७३ में हुआ था। आपके बाबा राव ईदाजी तथा प्रपितामह जोधपुर नगर के बसानेवाले श्री जोधा जी थे। आपका विवाह उदयपुर के महाराज-कुम...सा भोजराज के साथ हुआ था। ... तक

नोटः—मीराबाई से पूर्व किसी भी महिला ने हिन्दी में ऐ... य है, वे
काव्य-रचना नहीं की। कदाचित् मीराबाई ही कविता करने—
देवियों में सब से अग्रगण्य हैं। संस्कृत-साहित्य ... । आपने राज-
पूर्व कई विदुषी देवियों ने मनोहर रचनायें तथा ...ना की है, हाँ कभी
हिन्दी-साहित्य के शैशवकाल में जब वीर-गाथा य... ोग किया है।
था और जब देश, काल तथा परिस्थितियों की ...नरसी जी का मायरा,
(ऐसी थी कि शान्ति-सुख के साथ साहित्य का ...द, ४-राग सोरठ के
ही न सकता था और उसका विवर्धित विकास ह... में भजन-संग्रह मिश्र-
ही उस क्षेत्र में महिलायें कार्य भी न कर सकती थीं ...ता है कि आपको
महिला ने साहित्यिक कार्य नहीं किया, उस समय स्त्रिया ...विन्द की टीका
उन्नति हो भी न सकती थी, क्योंकि इसके लिये देश, काल तथा
जिक परिस्थितियाँ उपयुक्त साधन ही न रखती थीं। भक्ति-काल

बाल्यावस्था से ही आपका चित्त श्रीकृष्णजी की भक्ति में लीन रहता था। थोड़े ही समय में इनके पति का देहान्त हो गया, तब से तो आप नितान्तमेव विरक्त होकर कृष्ण-भक्ति में मग्न हो गईं। इन्होंने अपना आचार-व्यवहार सर्वथा विरक्त साधुओं का सा बना लिया और कृष्ण-भक्ति में लीन होकर तीर्थ-यात्रा करने लगीं। भक्तों का ये बड़ा सत्कार करतीं तथा उनसे बहुत सत्कृत भी होती थीं। मंदिरों में जाकर ये श्रीकृष्णजी की मूर्ति के सामने भक्ति-रसानन्द से उन्मत्त सी होकर नाचने लगती थीं। इनके घरवाले इनके इन कार्यों से लोक-लज्जा का भय मान कर इनसे रुष्ट हो गये और इन्हें कष्ट देने लगे। इसका हाल आपने श्रीतुलसीदास को लिखा और उनसे यह उत्तर पाया:—

स्त्रियों में साहित्यिक कार्य करने की क्षमता एवं प्रवृत्ति का उदय होता के। इसी काल से कुछ महिलायें भी इस क्षेत्र में कार्य करना प्रारम्भ का शुरू।

छंदें मारे देश में इधर लगभग १५०० वर्षों से स्त्री-शिक्षा का कार्य अति आको प्राप्त हो गया है। राजपूत-काल से मुग़ल-काल तक तो हुई हैं—१—और विरोध ही सा किया जाता था, अस्तु यह एक प्रकार से

अत्यन्त दुस्साध्य था कि स्त्रियाँ सुशिक्षा प्राप्त कर

रसखान—

नोट:—प्रेम वाटिक कार्य कर सकतीं। मीराबाई को इसीलिये उन प्रेम का निरूपण कियाय मानते हैं जिन्होंने साहित्य-रचना और कृष्ण-जिनमें से १० तो दोहेय सफलता के साथ किया।

प्रेम और भक्ति से खूब कई महिलाओं ने साहित्यिक कार्य किया है, ही कम आये हैं इसीसे वियों की हम यथा स्थान चर्चा करेंगे, किन्तु हम गुण तो सर्वत्र ही हिला-काव्य-साहित्य के ऐतिहासिक विवेचन के विषय का भी अपने पाठकों से अपने मित्र श्रीयुत पं० ज्योतिप्रसादजी भाव प' सम्पादित तथा हमारी लिखी हुई उसी ग्रंथ की भूमिका के देखने है वहमह करते हैं।

"जिनके प्रिय न राम वैदेही।

तजिये तिन्हैं कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।—इत्यादि

किन्तु दोनों के समयों को देखने से यह बात ठीक नहीं जँचती। कहते हैं इन्हें कई बार विष दिया गया पर इनको कुछ भी हानि न पहुँची।

आप द्वारिका तथा वृन्दावन आदि स्थानों में घूम घूम कर वहाँ के मन्दिरों में अपने भजन सुनाया करती थीं, सर्वत्र इनका देवी के समान आदर-सत्कार होता था। आपके पदों को देख कर ज्ञात होता है कि आप में सहृदयता, तल्लीनता तथा भक्ति का सागर उमड़ा करता था। आपका प्रभाव स्त्री-समाज तथा भक्त-समाज पर इतना गहरा पड़ा है कि अन्य किसी भी स्त्री-रत्न का उतना प्रभाव नहीं पड़ा।

भक्तवर नाभादास, ध्रुवदास आदि सभी ने इनकी प्रशंसा के साथ जीवनी लिखी है। मारवाड़ में तो इनकी पूजा तक होती है।

बाईजी की भक्ति में माधुर्य भाव का ही पूरा प्राधान्य है, वे श्रीकृष्ण जी को इष्टदेव तथा पति मानती थीं। आपने राज-पूतानी-मिश्रित भाषा में ही विशेष रूप से रचना की है, हाँ कभी कभी आपने शुद्ध व्रजभाषा का भी अच्छा प्रयोग किया है।

आपके रचे हुए ४ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, १-नरसी जी का मायरा, २-गीत गोविन्द की टीका, ३-राग गोविन्द, ४-राग सोरठ के पद।"भजन मीराबाई" नामी एक ३१ पृष्ठों में भजन-संग्रह मिश्र-बंधु-विनोद में और दिया गया है। जान पड़ता है कि आपको संस्कृत का भी ज्ञान था, तभी तो आपने गीत गोविन्द की टीका की थी।

भक्ति-काल की अन्य रचनायें

कुछ अन्य भक्त कवि

यद्यपि भक्ति-काव्य की रचना बड़ी व्यापकता तथा विशदता के साथ हुई है और अनेक भक्त कवियों ने साधारण तथा अच्छी रचनायें करके भक्ति के सुधारस से हिन्दी-संसार तथा साहित्य को परिप्लावित किया है किन्तु वे आगे चलकर ऐसे वेग एवं अविरल रूप से नहीं हुए जैसे उक्त भक्ति-काल में हुए हैं। इनके बीच में समयान्तर होता गया है, इसी विचार से हम उन्हें भक्ति-काल में न रखकर उन्हीं कालों में रक्खेंगे जिनमें वे हुए हैं और अपने समय की व्यापक विचार-धारा का विचार न रखते हुए, अपनी परंपरागत विचार-धारा का अनुसरण कर भक्ति काव्य की रचनायें करते रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी ही व्यवस्था से उनका उल्लेख करना उचित ठहरता है। यहाँ हम अब केवल कुछ उन कवियों का ही उल्लेख करेंगे जो इस समय में हुए हैं। इस भक्ति काल के भक्त-कवियों की परंपरा यहाँ समाप्त सी हो जाती हैं क्योंकि समय, समाज और परिस्थितियों के प्रभाव से जनता की विचार-धारा में रूपान्तर हो चलता है। यह अवश्य है कि इस भक्ति-काव्य की परम्परा का नितान्त लोप नहीं हो पाता। यह दबी हुई दशा में पड़ी रहती है और मन्द गति से अप्रधानता के साथ चलती रहती है और आगे दूसरे कालों में भी चली जाती है। इस परंपरा ने आगे श्रीनागरीदास, चाचा हित वृन्दावनदास, अलबेली अलि, भागवत रसिक जैसे अच्छे २ भक्त कवियों से नवीन शक्ति पाई है किन्तु भिन्न २ समयों में ही, इसी से इसमें जितनी शक्ति आनी चाहिये उतनी न आ सकी और यह अन्य नवोदित काव्य-परम्परा तथा विचार-धारा के सामने फीकी या दबी सी पड़ी रही। हाँ इसके प्रभाव से

हिन्दी-संसार तथा साहित्य में सरसता, मदुता, मंजुलता तथा मनोरंजक आनन्दोमंग की उत्फुल्लता बनी रही, उसमें दुःख-वाद की नीरस, उदासीनताकारिणी तथा कारुणिक छाया पूर्ण रूप से न छा सकी।

कृष्ण-भक्ति की सुधा-सरिता ऐसी उमड़ी कि उससे मुसलमान कवि भी बिना प्रभावित हुए न बच सके। उन्हें भी इसने अपनी ओर खींच लिया क्योंकि उनमें प्रेमात्मक काव्य-परम्परा, प्रथम ही से उपस्थित थी, हाँ थी वह लौकिकता की प्रधानता के साथ। अतः उसे प्रेम-पूर्ण भक्ति की ओर मोड़ना कुछ भी असाध्य बात न थी। इधर तो भक्ति-काव्य की मानव-मानस व्यापिनी लोक-विस्तृत भावनाओं ने उन्हें आकृष्ट किया और इधर उन पर ब्रज भाषा की मार्दव-माधुर्यमयी मनोरंजक भाव-साम्यता ने अपने प्रभाव से प्रभावित किया। बस मुसलमान-कवि इस भक्ति-काव्य के क्षेत्र में उदारता के साथ आ उतरे और अपनी सुन्दर रचनाओं से हिन्दी की सेवा कर चले। इसका फल यह हुआ कि हिन्दू और मुसलमानों दोनों के बीच एक संयोजक सुन्दर पुल बन गया और दोनों के हृदयों, तद्गत विचारों, भावनाओं तथा सभ्यता-साहित्यों का पारस्परिक संपर्क हो चला। दोनों में सामंजस्य का भाव उठ चला और दोनों एक दूसरे से मिलने लगे।

ध्यान रखना चाहिये कि इस उक्त भक्ति काव्य का प्रवाह वास्तव में जनता तथा इसके धर्म-शिक्षकों के हृदयों की प्रवृत्ति का प्रवाह था और उसका उत्पादक तथा विकासक धर्म-रक्षा का भाव तथा सामाजिक और राष्ट्रीय स्वतंत्र सत्ता का व्यापक विचार था, समय इसका संचालक तथा सहायक था। "श्रेयः स्वधर्मो विगुणः परधर्मो भयावहः" ही इसको बल और वेग दे रहा था। इसे उत्तम उत्तेजना तथा उत्कर्ष अपनी धार्मिक सत्ता

को स्वतंत्ररूप से रक्षित रखने के भाव से प्राप्त हुआ था। इसी-लिये इसे अन्य किसी भी प्रकार के प्रोत्साहनों की आवश्यकता न हुई और न इसे किसी विशेष प्रकार के प्रोत्साहन ही प्राप्त हुए। न तो इसे राजाओं एवं शासकों ने ही किसी रूप में प्रोत्सा-हन प्रदान किया और न इसे किसी प्रकार के यश व पुरस्कार आदि के लोभ ने ही उत्कंठित करके प्रवाहित किया। इसे भगवद्-भक्ति के आनन्द-सुधा-रस ने ही उमड़ाया और भावुक तथा सरस हृदय की मंजुल भावनाओं ने ही पुष्ट करके प्रेम-प्रवेग के साथ प्रवा-हित किया। जनता की रुचि ने इसे सहायता दी, धर्मोपदेशकों से इसे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ तथा आत्मानन्द ने इसे उत्तेजित किया। मुसलमानों के धार्मिक आन्दोलनों को देख कर इसमें जागृति आई और उनके विरोध ने इसे ख़ूब पनपने तथा पुष्ट होकर पल्लवित और पुष्पित होने दिया। अकबर जैसे सम्राट के दीन इलाही तथा सूफ़ी फ़क़ीरों के धार्मिक प्रचार के कार्य ने इसके प्रचार-प्रस्तार को अनिवार्य रूप से आवश्यक बना दिया और यही देख कर हमारे विद्वान धर्माचार्यों ने इसमें तन, मन, धन से लगकर इसे ख़ूब बल-वेग से प्रचलित तथा प्रसारित किया।

निदान जनता की ऐसी रुचि तथा इसके प्रवल-प्रवाह को देख कर राजाओं तथा अन्य धर्मोपदेशकों ने भी अपनी २ सहानुभूति इसकी ओर झुकाई और कुछ सुयोग्य गुणग्राही मुसलमान अधि-कारी तथा भावुक कवि इसकी ओर समाकृष्ट हुए किन्तु ज्योंही ऐसा हो चला त्योंही इसकी परम्परा में रूपान्तर तथा कुछ शैथिल्य सा आने लगा। राज-दरबारों के कला-प्रेम तथा रुचि-वैचित्र्य ने इस पर विचित्र प्रभाव डाला और इसे एक ओर हटाकर एक दूसरे प्रकार के अलंकृत काव्य की परम्परा का उदय तथा विकास किया। अकबर सम्राट के शान्ति-सुख-पूर्ण शासन ने यह अवश्य किया कि जो रचना-पद्धतियाँ या शैलियाँ पठानों के

अशान्ति-क्रान्ति-पूर्ण शासन-काल में देश, काल तथा परिस्थति के प्रभाव से बलात् उठकर दब गई थीं (यथा संस्कृत-साहित्य के आधार पर उठाई जाने वाली अनुवादपूर्ण काव्य-शास्त्र-रचना की पद्धति आदि) उन्हें उसने उठा दिया और उनको लोप हो जाने से बचा लिया। अकबर ने अपनी नीति-कुशलता तथा उदारता से देश की परम्परागत संस्कृति तथा कलाओं को अपनाया और इस प्रकार हिन्दू-जनता को अपनी ओर, सहयोग-साहाय्य के लिये समाकृष्ट किया, क्योंकि सुखशान्तिपूर्ण सुदृढ़ शासन के लिये यही सर्वथोचित तथा उपयोगी था, इसे शेरशाह ने दिखला ही दिया था। अस्तु, देश के कला-क्षेत्र में नव जीवन का संचार हो गया और कला-प्रेमी कुशल कलावंत नवीन उत्साह से बाहर आकर कला पूर्ण कौशल दिखाने में प्रवृत्त हो चले। कवियों ने इस सुसमय को देखकर अपने साहित्य को भी सब प्रकार कला-सम्पन्न बनाने का कार्य उठा लिया और साहित्य के भिन्न २ अंगों की कमी को पूर्ण करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। अस्तु अब कला को प्रधानता प्राप्त हो चली और वह विकसित होकर व्यापक तथा विशद रूप में आ चली।

सम्राट अकबर के प्रोत्साहन प्रदान करने पर हिन्दू राजा भी अब कलाकारों, कवियों तथा विद्वानों को पुरस्कृत करते हुए प्रोत्साहित करने लगे। ऐसी अनुकूल परिस्थिति में हिन्दी-साहित्य की श्री वृद्धि का होना अवश्यम्भावी हो गया। अब विद्वानों, कवियों तथा कला-कुशल साहित्य-मर्मज्ञों ने अपनी २ बहुन्मुखी प्रतिभाओं को साहित्य-क्षेत्र की भिन्न २ दिशाओं की ओर अग्रसर करना प्रारम्भ कर दिया। साहित्य की संकीर्णता अब विशद विस्तृतता में रूपान्तरित हो चली। इस समय में एक ओर तो प्राचीन पद्धतियों का पुनरुद्धार होने लगा और दूसरी ओर विस्मृति-क्षेत्र में पड़ी हुई अन्य पद्धतियों का नवीन रूप से

पुनरुत्थान हो चला, साथ ही कुछ नवीन पद्धतियों का भी उदय और विकास प्रारम्भ हो गया। गद्य-रचना की शैली जो अब तक दबी सी ही पड़ी हुई थी, अब कुछ प्रबुद्ध सी होने लगी, किन्तु उसमें अभी अभीष्ट शक्ति न आ सकी।क्योंकि उसे दबाने के लिये काव्य की नवीन एवं प्राचीन पद्धतियों की परम्परा अपने पर्याप्त प्रवेग-प्रवाह के साथ उपस्थित थी। यह अवश्य हुआ कि गद्य-रचना की ओर भी कुछ लेखकों की प्रवृत्ति जाने लगी और कुछ थोड़े से गद्य-ग्रंथ भी साहित्य के क्षेत्र में आ उपस्थित हुए, किन्तु उनकी महत्ता तथा सत्ता, काव्य-ग्रंथों के सामने कुछ विशेष न ठहर सकी।

व्रजभाषा के भक्ति-काव्य ने काव्य-रचना को ऐसी व्यापकता तथा मनोरंजक शक्ति दे दी कि अब उसकी ओर बड़े २ राजाओं, बादशाहों और विद्वान दरबारी पंडितों का भी ध्यान आकृष्ट हो चला मुसलमान लोग भी इसकी ओर आने लगे, फलतः सम्राट् अकबर, उनके दरबारी राजा बीरबल, कवि गंग, रहीम ख़ान-ख़ाना आदि सरदारों ने भी अपनी अपनी लेखनियाँ उठाईं और हिन्दी-साहित्य की सेवा की।

इस काल में देखने की बात यह है कि यह एक प्रकार से परिवर्तन-काल का पूर्व रूप था और इसीलिये इसमें हमें एक विचित्रता दिखलाई पड़ती है। एक ओर जनता में भक्ति-काव्य की प्रचलित परम्परा का प्रवाह-प्रचार हो रहा था और दूसरी ओर राज-दर्बारों में प्राचीन काव्य-परम्परा की विकसित पद्धति को प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा था तथा वहाँ वह अपने कुछ नव-रूपान्तर के साथ आगे बढ़ रही थी। एक ओर भक्त कवि प्रेम-पूर्ण भक्ति-काव्य की सुधारसधार के स्रोत को उमड़ा रहे थे और दूसरी ओर राज-दरबार के भावुक तथा काव्य-कला-कुशल कवि कला-पूर्ण कविता की कान्ति को कौमुदीवत् कलित करने में प्रयत्नशील हो रहे थे।

इन दोनों पद्धतियों का प्रवाह बहुत समय तक स्वतंत्र रूप से पृथक् पृथक् पथों पर न रह सका, शीघ्र ही दोनों का सम्पर्क-सम्बन्ध एवं सामंजस्य होने लगा, दोनों का एक मिश्रित रूप बन चला। हाँ, यह बात अवश्यमेव व्यापक तथा सर्वमान्य सी बनी रही कि साहित्यिक काव्य के क्षेत्र में व्रजभाषा के विकसित रूप का प्राधान्य-प्रावल्य बना रहा,वही काव्योचित भाषा मानी जाकर व्यवहृत होती रही। काव्य-क्षेत्र में उसका पूरा और अचल अधिकार पूर्ण आतंक के साथ रम जम गया। अवधी भाषा,जिसे श्री गो० तुलसीदास ने विकसित कर साहित्यिक क्षमता देते हुए साहित्यिक भाषा बना दिया था और जिसे साहित्य के क्षेत्र में अच्छा स्थान भी प्राप्त हो गया था, व्रजभाषा तथा उसके भक्ति-काव्य के व्यापक प्रभाव के सामने दब सी गई और स्वतंत्ररूप से अपनी महत्ता एवं सत्ता न रख सकी। हाँ वह कुछ कवियों को—विशेषतया अपने प्रान्त में रहने वाले कवियों की भाषा (व्रज-भाषा) को प्रभावित अवश्यमेव करती रही।

भक्ति-काव्य से भाषा में सुन्दरता, सरसता, मधुरता तथा भावगम्यता आ गई और वह सुव्यवस्थित तथा संस्कृत या संयत होकर बहुत कुछ अलंकृत हो गई। अस्तु, वह अब इस योग्य हो गई कि उसमें अलंकृत काव्य पर्याप्त सफलता के साथ किया जा सके। इतना होते हुए भी अभी उसमें यह क्षमता न आ सकी कि उसमें गद्य-की भी रचना सफलता के साथ की जा सके, उसके योग्य अभी उसका सुव्यवस्थित एवं गद्योपयुक्त नियम-नियंत्रित रूप निश्चित न हो सका था। इस ओर लेखकों ने न तो विशेष ध्यान ही दिया था और न इसे गद्योपयुक्त बनाने का प्रयत्न ही किया था। हाँ इस कार्य का श्रीगणेश तो कुछ लेखकों के द्वारा किया गया था, किन्तु इसके विकास की ओर वे न बढ़ सके थे। इस समय में तो पद्य की ही प्रधानता और प्रचु-

रता थी, जनता की भी रुचि गद्य की ओर विशेष न थी। गद्य-रचना उस समय पद्य-रचना की अपेक्षा देश, काल तथा परिस्थिति के कारण विशेष सुविधापूर्ण भी न थी। भाषा के गद्योपयुक्त रूप के निश्चित न होने से साहित्य के अन्य विषय जिनमें गद्य की ही सर्वतो भावेन प्रधानता एवं प्रचुरता रहती है, यों ही पड़े रहे।

भक्ति के आन्दोलन ने धार्मिक जागृति तो देश में कर ही दी थी और भिन्न २ प्रकार के मतों एवं सम्प्रदायों का उदय हो ही चुका था, ये सब अपने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। कृष्ण-भक्तों ने कृष्ण-भक्ति के व्यापक प्रचारार्थ काव्य और संगीत से सहायता ली थी और ऐसा करने से ही इन्हें सफलता प्राप्त हुई थी। यद्यपि कबीर ने भी यही किया था, किन्तु उसने वैसी सफलता न प्राप्त की जैसी सूरदास आदि ने, क्योंकि कबीर ने काव्य और संगीत से ऐसी सहायता न ली थी और इनका ऐसा सामंजस्य-पूर्ण उपयोग न किया था जैसा कृष्ण-भक्तों ने। कबीर में साहित्यिक ज्ञान के न होने से तथा अपठित देहाती तथा निम्न श्रेणी के लोगों की प्रवृत्ति से वह बात न थी जो सूर आदि में। सूफ़ी कवियों ने तो संगीत को अपने काव्य में कोई भी स्थान न दिया था। तुलसीदास जी ने प्रथम तो प्रबंध-काव्य की संतात्मक-पद्धति का अनुकरण किया, किन्तु फिर कृष्ण-भक्तवर सूर का मुक्तक शैली का भी उपयोग किया, जिससे उनकी राम-भक्ति को भी कुछ विशेष व्यापकता तथा प्रबलता प्राप्त हो सकी।

इस भक्ति-आन्दोलन का एक प्रभाव यह भी हुआ कि कृष्ण और राम की भक्ति के साथ ही साथ कुछ अन्य देवताओं तथा वीर पुरुषों की भी भक्ति का प्रचार हो चला। भक्तों ने अपने २ इष्ट देवों के प्रधान पराक्रमी भक्त-वरों की पूजा का भी प्रचार प्रारम्भ कर दिया। राधिका जी की भक्ति की देखा-देखी कुछ अन्य देवियों की भी भक्ति उठा दी गई। कबीर आदि ने गुरु-

भक्ति की भी प्रथा फिर चला दी, नहीं तो इसका लोप बौद्ध-धर्म के अंतिम समय में ही हो चुका था। अस्तु, अन्य मतों एवं सम्प्रदायों ने भी अपने अपने उपास्य देवों की भक्ति उठाकर भक्ति-काव्य को कतिपय शाखाओं में विकसित कर दिया। राम-भक्तों ने तुलसीदास जी की उठाई हुई श्री महावीर जी की भक्ति को भी आगे बढ़ाया और उन्हें अपना एक उपास्य तथा ध्येय राम-भक्त मान लिया, ऐसा कृष्ण-भक्तों ने नहीं किया। कृष्ण-भक्तों ने शक्ति-उपासना के आधार पर राधिका-भक्ति को प्रधानता दी और उसका प्रचार भी ख़ूब किया, इसका प्रभाव राम-भक्त-वरों पर कुछ विशेष न पड़ा। वे सीता जी को राधिका के समान न पूजते थे, हाँ उन्हें जगत्-जननी तथा अपनी पूज्या अवश्य मानते थे, किन्तु राधिका के समान नहीं। हाँ राम-भक्त श्रीविष्णु और लक्ष्मी को, जिनके राम और सीता अवतार थे, अवश्यमेव पूजते तथा अपना सेव्य मानते थे। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदाय वाले भी अपने २ उपास्य देवों की भक्ति का प्रचार कर चले, शैव और शाक्त लोग शिव और देवी की भक्ति से भरा हुआ काव्य रचने लगे। इसे देख कर अन्य भक्त अपनी २ रुचि के अनुसार अपने अपने इष्ट देवों या देवियों की भक्ति का प्रचार करने के लिये विशेष प्रकार के भक्ति-काव्य की रचना कर चले। गौरी, गंगा, सरस्वती, चंडी, दुर्गा और काली आदि की प्रशंसा में उनके भक्तवरों के द्वारा अच्छे २ मुक्तक काव्य-रत्न रचे गये। इसी प्रकार अन्य देव-भक्तों ने भी विशेष प्रकार की भक्ति से भरे हुए मुक्तक-काव्य लिखे। गणेश, भैरव एवं अन्य देवताओं के भक्तों ने अपनी २ रुचि-वैचित्र्य या वैलक्षण्य के आधार पर अपने २ इष्ट देवों की प्रशसा-पूर्ण भक्ति-काव्य की मुक्तक लड़ियाँ रची हैं, किन्तु इनका यह प्रयास उतना सफल तथा व्यापक न हो सका जितना कृष्ण-भक्तों का। इनके इष्ट देवों

की भक्ति का प्रचार-प्रस्तार भी अच्छा न हो सका, बल्कि वह व्यक्तिगत होती हुई विशेषतया संकीर्ण रूप में ही रह गई। इन काव्यों का रूप संस्कृत के स्तोत्र-काव्यों के ही समान रहा।

राम-भक्तों और कृष्ण-भक्तों ने एक प्रणाली और चलाई और वह यह है कि इन भक्त कवियों ने अपने २ उपास्य देवों के जन्म-स्थलों (जो तीर्थ माने जाते हैं) तथा उनके लीला-धामों की प्रशंसा या स्तुति करते हुए एक प्रकार के **लीला-क्षेत्र-स्तवन** सम्बन्धी मुक्तक काव्य की परिपाटी चला दी। कृष्ण-भक्तों ने वृन्दावन-सम्बन्धी और राम-भक्तों ने अयोध्या या चित्रकूटादि सम्बन्धी मुक्तक काव्य की रचना की। ऐसा काव्य कृष्ण-भक्तों का ही अच्छा और प्रधान हो सका। इसी के साथ ही कुछ कवियों ने भक्ति-भाव से प्रेरित हो कर कुछ ऐसे मुक्तक काव्य की भी रचना की जिसमें प्रबंध काव्य का भी कुछ रंग रहता है और उनके उपास्यदेव की किसी विशेष घटना का चारु चित्रण भी किया जाता है, इसी शैली में लिखे गये सुदामा-चरित तथा गजेन्द्र-मोक्षादि मुक्तक-काव्य हमें मिलते हैं। इस प्रकार की काव्य-पद्धतियाँ विशेषतया कृष्ण-काव्य की शाखाओं के रूप में निकल कर उसी के क्षेत्र में विशेष रूप तथा संख्या में पाई जाती हैं। गो० तुलसीदास जी ने राम-काव्य को कई पद्धतियों एवं शैलियों के साँचे में ढालने का अच्छा प्रयत्न किया और कई शैलियों में राम-भक्ति की धारा प्रवाहित की।

गीत तथा मुक्तक काव्य का तो उल्लेख हम प्रथम कर ही चुके हैं, यहाँ हम यह और बतला देना चाहते हैं कि कदाचित् गो० जी ने ही सब से प्रथम उच्च कोटि की काव्य-गुणोपयुक्त साहित्यिक "**सतसई**" की प्रणाली संस्कृत की देखा-देखी उठाई है। तुलसी ने सतसई को दो रूपों में रक्खा है **१—राम-सम्बन्धी**, **२—नीति-सम्बन्धी**, दोनों ही दोहों में हैं।

इसी के आधार पर फिर सतसई-प्रणाली आगे चली और श्री विहारी-लाल,* वृन्द तथा अन्य कवियों के द्वारा वह विकसित की गई। सम्भवतः दोहा-सतसई की शैली संस्कृत की आर्या सप्तशती जैसे ग्रंथों की शैली के ही आधार पर उठाई और चलाई गई है। कहना चाहिये कि हिन्दी-काव्य की प्रायः सभी शैलियाँ तथा परिपाटियाँ संस्कृत-काव्य की ही शैलियों एवं पद्धतियों पर समाधारित सी हैं। कदाचित् गो० जी ने ही सब से प्रथम बरवा छंद में उच्च कोटि का साहित्यिक मुक्तक काव्य लिखा है और **अवधी की उस बरवा-काव्य शैली** का उदय किया है, जिसका विकास रहीम जैसे अन्य कवियों ने किया है।

इतिहास यह सूचित करता है कि शेरशाह ने हिन्दुओं को राज-कार्य में स्थान देना प्रारम्भ कर दिया था, इसी का अनुकरण सम्राट् अकबर ने भी किया, क्योंकि इन दोनों ने यह समझ लिया था कि भारत में सुदृढ़ राज्य-स्थापन के लिये हिन्दुओं का सहयोग अनिवार्य है। हिन्दुओं को इसीलिये राज-नीति तथा अन्य प्रकार की नीति का जानना आवश्यक हो गया, नीति का ज्ञान न होने ही से वे बहुत कुछ पीछे पड़े हुए थे। अस्तु, अब कुछ कवियों का ध्यान इस कमी की पूर्ति करने की ओर भी गया और कुछ कवियों ने **नीति-विषयक काव्य** की एक प्रणाली और चला दी। इस प्रणाली को सतसई के ही साँचे में ढालने का प्रयत्न किया गया, इस प्रणाली का भी प्रारम्भ श्री तुलसीदास जी ने ही किया है, हाँ इसका विकास श्रीवृन्द, रहीम तथा कुछ अन्य कविवरों के द्वारा किया गया है। इस नीत्यात्मक काव्य-शैली को श्री गिरधरदास ने रूपान्तरित किया और फिर

---

* विहारी ने दोहात्मक सतसई शैली से शृंगार-काव्य लिखा है, नीति-काव्य नहीं। यह विशेषता इस शैली में इनसे और हुई।—सम्पादक

इसे दीनदयाल जैसे कविवरों ने अन्योक्त्यादि की सहायता से अलंकृत किया है। हम इसे **नीति-काव्य-पद्धति** कह सकते हैं। यह दोहा-शैली से प्रारम्भ होकर (संस्कृत की विदुर एवं चाणक्य कृत अनुष्टुप शैलीवाली नीति-रचना के आधार पर) **कुंडलिया शैली** में रूपान्तरित होती हुई विकसित हुई है।

इसी के साथ ही साथ कुछ भक्त कवियों ने अपने अपने इष्ट देवों की प्रशंसा या स्तुति सम्बन्धी मुक्तक काव्य की रचनायें कीं और साथ ही जनता की चारित्रिक उन्नति के लिये आदर्श पुरुषों के उदाहरणों को लेते हुए **चारित्रिक** काव्य भी लिखा।

एक बात और विचारणीय यह है कि सूरदास आदि भक्तवरों ने पदों या मुक्तक गीत-काव्य को जो शैली उठाई थी और कृष्ण-भक्ति-काव्य को इसी रूप में समुदित तथा विकसित किया था, वही शैली उत्तर कालीन अन्य भक्त कवियों के द्वारा भी न्यूनाधिक रूप में चलाई जाती रही, किन्तु उसका प्राधान्य, प्रचार तथा प्राबल्य उतना न रह सका, क्योंकि काव्य-कला-कौशल-प्रेमी अन्य भक्त-कवि (जो भक्ति के व्याज से काव्य लिखते तथा उसे कला-पूर्ण बनाने के पक्ष में थे और जिन्होंने राधाकृष्ण को अपने काव्य का एक सहायक या आधार मात्र रक्खा था) साहित्यिक छंदों का प्रचार-प्रस्तार कर रहे थे और भक्ति-काव्य से संगीत के तत्व को अलग करके उसे पृथक् ही रखना चाहते थे। ये लोग प्रायः संस्कृतज्ञ विद्वान् होते थे और इसीलिये इनका ध्यान काव्य-कला-कौशल तथा साहित्यिक-शैली के सौंदर्य की ओर विशेष रहता था। इस प्रकार के कविवरों में **आचार्य केशवदास** सर्वाग्रगण्य हैं। इनके पश्चात् तो प्रायः जितने भी कवि हुए हैं वे सब काव्य-कला तथा कौशल की ही ओर प्रयत्नशील होते रहे हैं। इसी

प्रकार के कवियों या काव्य-कलाचार्यों ने हिन्दी-काव्य-शास्त्र या अलंकार-शास्त्र की रचना का प्रारंभ एवं विकास किया है और हमारे अग्रिम कला-काल का अर्थात् १६५० से १८५० तक के अलंकृत काल का श्रीगणेश किया है। इन कविवरों के द्वारा काव्य-भाषा भी बहुत कुछ नये रूप से परिष्कृत की गई, क्योंकि ये लोग दरबारी भाषा से पूर्णतया प्रभावित थे, इनका सम्पर्क-सम्बन्ध प्रायः उन राज-दरबारों से रहता भी था जहाँ फ़ारसी भाषा का प्राधान्य रहता था, अतः इनकी भाषा में फ़ारसी भाषा के शब्द एवं पद तथा इनके काव्य में फ़ारसी-साहित्य के भावादि आ गये हैं और इस प्रकार इनकी भाषा तथा काव्य-शैली दोनों में रूपान्तर हो गया है। सम्राट् अकबर ने हिन्दी भाषा,उसके काव्य तथा उस के कवियों को, सहानुभूति दिखलाते हुए अपनाया और अपने दरबार में बुला २ कर सम्मानित किया, इसका फल यह भी हुआ कि हिन्दी और फ़ारसी का सम्पर्क-सम्बन्ध बढ़ गया, जिससे दोनों में पारस्परिक प्रभावों से बहुत कुछ रूपान्तर आ गया। यद्यपि मुसलमानों और हिन्दुओं (उनकी भाषाओं, हिन्दी तथा फ़ारसी और उनके साहित्यों आदि) का सम्पर्क बहुत पहिले से हो चला था, किन्तु उसका उतना प्रभाव उस समय न पड़ा जितना अकबर के समय में इस नव दरबारी सम्बन्ध का पड़ा। अब तक तो प्रायः हिन्दू लोग फ़ारसी भाषा का बहिष्कार ही सा किया करते थे और मुसलमान लोग हिन्दी के साथ कोई भी सहानुभूति न रखते थे। कृष्ण-भक्त कवि प्रायः शुद्ध व्रज भाषा के प्रयोग का पूर्ण ध्यान रखते थे और फ़ारसी के शब्दों, पदों तथा भावों को बचाया करते थे।

अकबर के समय से उसके प्रभाव के कारण अब यह बात दूर हो चली और हिन्दी तथा फ़ारसी का सामंजस्य हो चला, जिसके

दो मुख्य परिणाम हुए १—हिन्दी फ़ारसी से कुछ प्रभावित होकर हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली में रूपान्तरित हो चली तथा २—हिन्दी और फ़ारसी दोनों के सामंजस्य से उर्दू नामी एक नई भाषा का उदय तथा विकास हो चला। इस उर्दू भाषा का आधार तो रहा हिन्दी भाषा पर ही, पर इसका शरीर बना बहुत कुछ फ़ारसी के ही ढङ्ग का।

इन मुख्य मुख्य बातों को दिखला कर अब हम भक्ति-काल के कुछ स्फुट भक्त कवियों की चर्चा संक्षेप से यहाँ करके भक्ति-काल के अवसान पर सूक्ष्म प्रकाश डालेंगे और फिर कला-काल की विवेचना करेंगे।

स्फुट भक्त-कवि या अन्य कवि

भक्ति-काल के इन स्फुट कवियों की विवेचना करने से पूर्व हम इतना और कह देना चाहते हैं कि ये लोग भक्ति-काल के उस अवसान-समय में हुए हैं, जब देश, काल, परिस्थिति तथा साहित्यादि में रूपान्तर सा होने लगा था, लोगों की रुचि बदलने लगी थी और उसी के प्रभाव से भाषा तथा साहित्य की शैली, प्रगति एवं परम्परादि भी नये पथ की ओर चलने लगी थी। अस्तु इन कवियों की रचनाओं पर इस नवीन रूपान्तर का अच्छा प्रतिविम्ब आभासित हुआ है। यद्यपि इनकी रचनायें भक्ति को लिये हुए हैं तथापि उतनी प्रधानता, प्रबलता तथा प्रचुरता के साथ नहीं जितनी सूर आदि भक्त कवियों की रचनायें लिये हुए हैं।

यदि वास्तविक बात देखी जाय तो कहना पड़ेगा कि ये लोग वास्तव में वैसे भक्त कवि न थे जैसे अष्टछापादि के सूरदास आदि थे। इनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से न था और न ये लोग किसी

सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा में ही थे। यथार्थ में ये लोग कला-प्रेमी तथा साहित्य-सेवी आनन्दी कवि ही थे, भक्त तो ये बाद को थे। हाँ उस समय की प्रगति के अनुसार चलने वाले अवश्य थे, इसीलिये इन्होंने भक्ति-काव्य की परम्परा को लेते हुए रचनायें की हैं। भक्ति का इन पर उतना अधिक प्रभाव न पड़ा था जितना कला तथा साहित्य का पड़ा था। अस्तु, हम इनका यहाँ सूक्ष्म विवेचन करना ही समीचीन समझते हैं और यह भी इसीलिये चूँकि ये लोग भक्ति-काल में हुए हैं। यह अवश्य ध्यान में रख लेना चाहिये कि भक्ति-काव्य की दो मुख्य भाव-धारायें निरंतर ही समानता तथा व्यापकता के साथ चलती हुई मिलती हैं १—ईश्वर के उस (आंशिक या कलात्मक) रूप की भक्ति या उपासना करना, जिसमें दीन-बंधुता, करुणा, कृपा तथा भक्त-रक्षा का भाव पूर्ण रूप से प्रधान हो, २—ईश्वर के उस रूप का प्रेम के साथ ध्यान करना जिसमें प्रेम, सौंदर्य और आनन्द की परम सीमा हो तथा जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम की महत्ता तथा सत्ता हो और जो लौकिक रूप में आविर्भूत होकर मानव लीलायें करके अपने भक्तों को आनन्द देने वाला हो। इन दोनों भावों के प्राबल्य से ज्ञान, धर्म तथा उनके उपांग रूप दार्शनिक, निर्गुण या निराकार-वाद, आध्यात्मिक तथा योग सम्बन्धी उपासना-सिद्धान्त तथा लोकोत्तर सच्चिदानन्द के ध्यान से प्रभावित आत्मवाद (जिसमें सर्वंखल्विदम् ब्रह्म तथा तत्वमसि या सोऽहं का प्राधान्य और इसी शरीर में समस्त ब्रह्मांड तथा इसी आत्मा में परमात्मा की सत्ता का प्रत्यक्षाभास रहता है) आदि को दब जाना पड़ा, ये सब विद्वन्मंडली में ही संकीर्णरूप से सीमित रह गये। इसी प्रकार सगुण-भक्ति के सम्मुख तथा उससे शाखा रूप में फूट निकलने वाली अन्य धाराओं के प्रभाव से सूफ़ी सिद्धान्तात्मक प्रेम-पूर्ण रहस्यवाद भी फीका पड़ गया। कृष्ण-भक्ति के

लौकिक प्रेम-लीलात्मक काव्य-पद्धति के विकसित रूप का प्राधान्य ही कृष्ण-भक्ति-काव्य के पश्चात् ठहर सका, क्योंकि उसमें कलापूर्ण काव्य उच्च कोटि के साहित्यिक सौंदर्य के प्राचुर्य तथा प्राधान्य से ख़ूब हो सकता था और यही जनता की व्यापक रुचि भी थी। अस्तु भक्ति-काव्य की परम्परा में रूपान्तर हो चला और अलंकृत काव्य का उदय तथा विकास क्रमशः बढ़ने लगा।

भक्ति-काल के स्फुट कवियों में से प्रधान प्रधान कवियों का ही लेना यहाँ ठीक है और अन्यों का यथा समय या यथाक्रम उठाना ही उचित है। इनका संक्षिप्त विवेचन हम यहाँ इसीलिये करते हैं चूँकि इनकी रचनायें साहित्य की दृष्टि से विस्तृत विवेचन के योग्य नहीं हैं।

१—लालदास—ये रायबरेली के एक हलवाई थे, सं० १५८० में इन्होंने "हरिचरित्र" और सं० १५८७ में "भागवत दशमस्कंध भाषा" नामी दो पुस्तकों की रचना की। इन्होंने दोनों ही पुस्तकों में अवधी भाषा का प्रयोग किया है, क्योंकि इसी भाषा से ये स्वभावतः परिचित थे, यही इनकी मातृ भाषा भी थी। अवधी के प्रबन्ध-काव्य की दोहे-चौपाई वाली शैली में ये दोनों रचनायें लिखी गई हैं। कृष्ण-काव्य की रचना-पद्धति के लिये यह एक नई बात सी है। काव्य की दृष्टि से दोनों ही पुस्तकें निम्न श्रेणी की हैं। कह सकते हैं कि भाषा और शैली में तो आपने गो० तुलसीदास के और काव्य में कृष्ण-भक्तों के अनुकरण करने का प्रयत्न किया है।

नोटः—छीहल—आपने राजपूतानी मिली हुई भाषा में रचना की है। आपकी लिखी हुई सं० १५७५ की एक "पंच सहेली" नामी पुस्तक मिलती है, जिसमें पाँच सखियों की विरह-वेदना का चित्रण है। काव्य बहुत अच्छा नहीं है।

२—कृपाराम—आपके विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो सका। हाँ इतना अवश्य ज्ञात है कि आपने सं० १५६८ में "हिततरंगिणी" नामी एक पुस्तक लिखी, जिसमें रस-रीति का निरूपण दोहों में किया गया है। यही ग्रंथ काव्य-शास्त्र के उपलब्ध ग्रंथों में सबसे प्राचीन माना जाता है। दोहों में इसे लिख कर आपने संस्कृत के रीति-ग्रंथों की अनुष्टुप शैली का अनुकरण किया है। आपने लिखा है कि अन्य कवियों ने बड़ी २ छंदों में ऐसे ग्रंथ लिखे हैं किन्तु मैंने 'सुघरता' के विचार से इसे दोहों में लिखा है, इससे स्पष्ट है कि आपसे पूर्व कई कवियों ने रीति-ग्रंथ लिखे थे जो अब हमें अप्राप्त हैं। एक बात और विचारणीय है और वह यह है कि आपके कई दोहे श्री बिहारी जी के दोहों से पूर्णतया मिल जाते हैं, अब दोनों कवियों के समयों को देखने से यह विचार उठता है कि या तो बिहारी ने, जो पीछे हुए हैं उन दोहों को जान बूझ कर ले लिया है या किसी ने बाद को बिहारी से उन्हें लेकर हिततरंगिनी में जोड़ दिया है। दोहे इस पुस्तक के बड़े ही सरस, सुन्दर और भावपूर्ण हैं, भाषा भी इनकी बड़ी ही परिमार्जित और रुचिर है।

नरहरि वंदीजन—आपका जन्म सं० १५६२ में और आपकी मृत्यु सं० १६६७ में बताई जाती है। आपका निवास-स्थान असनी, ज़िला फ़तेहपुर था। आपका अकबर के यहाँ बड़ा मान-सम्मान था। आपके एक छप्पय पर प्रसन्न होकर अकबर ने गो-बध बंद करवा दिया था। आपको दरबार में महापात्र की उपाधि भी दी गई थी। आपने कवित्तों और छप्पय छंदों में ही रचना की है। आपके दो ग्रंथ १—"रुक्मिणी मंगल २—छप्पय नीति" प्रसिद्ध हैं। खोज से आपका "कवित्त-संग्रह" नामी एक ग्रन्थ और मिला है।

आपकी रचना सरस, सरल और भाव-पूर्ण है, भाषा भी सीधी-सादी व्रजभाषा है, वर्णन-शैली चारु चोखी है।

नरोत्तमदास—आपकी जीवनी के विषय में बहुत ही कम बातें ज्ञात हो सकी हैं। आप ग्राम बाड़ी ज़िला सीतापुर के रहने वाले थे। आपकी जाति आदि का पता नहीं चलता। हाँ शिवसिंह-सरोज में आपका सं० १६०२ में रहना लिखा है। आपने "सुदामा-चरित्र" नामी एक सुन्दर और रोचक पुस्तक लिखी थी, यह अब तक बहुत प्रसिद्ध है। सुदामा की दीनता, श्री कृष्ण की करुणा तथा कृपा के साथ उनसे सच्ची मित्रता का अच्छा चित्रण इसमें किया गया है। ब्रजभाषा का यह एक सुन्दर तथा सरस खंड काव्य है। कहते हैं कि आपने इसी प्रकार का एक "ध्रुवचरित्र" नामी दूसरा खंडकाव्य और लिखा था किन्तु वह अब तक प्राप्त नहीं हो सका।*

आपकी रचना-शैली परम हृदयग्राहिणी, सरस और भाव-पूर्ण है, उसमें चित्रोपमता भी बड़ी ही रुचिर है, भाषा रोचक ढंग में मिलती है, हृदय के मार्मिक भावों एवं भावनाओं का अच्छा समावेश इसमें किया गया है। यद्यपि शैली आपकी मुक्तक काव्य-सम्बन्धिनी ही है तथापि काव्य आपका एक खंडकाव्य के ही रूप में है। सवैया छंद में आप बड़े ही सिद्ध-हस्त जान पड़ते हैं। रचना बहुत ही संयत और स्वाभाविक है। भाषा सुव्यवस्थित, सरल और कोमल है, साथ ही वह पर्याप्त रूप से परिष्कृत और प्रौढ़ भी है। आपकी इस रचना में सख्यभाव की भक्ति का प्राधान्य जान पड़ता है।

भक्ति-युग के उत्तरकाल या अवसान-समय में भक्ति-काव्य-पद्धति में शिथिलता हुई तथा रूपान्तर आ गया, यह हम प्रथम ही दिखला चुके हैं। इसी समय में कृपाराम आदि कवियों ने रीति-

---

* चरित्र-काव्य का यह सर्वोत्तम प्रथम ग्रंथ ठहरता है। सुन्दर चरित्र-काव्य शैली, जो आगे सुचारु रूप से विकसित न हो सकी, इसी से प्रारम्भ हुई है। —सम्पादक

ग्रंथ तथा रीति-काव्य के अंकुर का बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया, जो आगे चलकर अपनी विशेष महत्ता और सत्ता के साथ एक सुन्दर सुदृढ़ प्रौढ़ पादप के रूप में तैयार होकर चारों ओर अपनी शाखाओं-प्रतिशाखाओं फैलाता हुआ पल्लवित और पुष्पित हुआ है। इस रीति-काव्य का प्रासाद राधा-कृष्ण-प्रेम तथा शृङ्गार रस से बना हुआ है और कला-कुशल कविराजों से वह ख़ूब सुसज्जित भी किया गया है।

इसी समय में ईश्वरेच्छा से कुछ ऐसी परिस्थिति हो गई थी तथा भक्ति-काल के समान कुछ ऐसी कलापरिपोषिणी वायु बही कि उससे प्रभावित हो कर समस्त कविसमुदाय उसी के अनुकूल काव्य-तरु लगाने लगा। कलापूर्ण अलंकृत काव्य की प्रधानता तथा प्रचुरता इतनी हुई और विद्वान कविवरों ने इसे इतना अपनाया तथा बढ़ाया कि इसके सामने भक्ति-काव्य तथा संत-काव्य की पद्धतियों को भी दब जाना पड़ा। प्रेम-गाथा-काव्य की परम्परा को भक्ति-काव्य ने ही शिथिल कर दबा दिया था, अब इस अलंकृत काव्य ने तो उसका एक प्रकार से अंत ही सा कर दिया। कला-काव्य की शैली मुक्तक काव्य के ही रूप में रही, प्रबंध-काव्य की पद्धति जायसी और गो० तुलसीदास के पश्चात् एक प्रकार से लुप्त-प्राय सी ही हो गई। वीर जय काव्य भी दब गया।

अकबरी दरबार ने अपना अच्छा प्रभाव हिन्दी साहित्य पर डाला उस दरबार में कई एक अच्छे तथा प्रौढ़ कवि कला-पूर्ण काव्य की रचना में दत्तचित रहे और उसे बढ़ाते हुए भाषा को भी परिमार्जित सा करते रहे। अकबर के प्रभाव से अन्य राज-दरबारों में भी हिन्दी-भाषा तथा हिन्दी-साहित्य का कार्य अच्छे रूप में होने लगा। अब साहित्य जनता के हाथों में ही न रहा। वरन् वह दरबारियों तथा बड़े लोगों के भी हाथों में पहुँच गया,

अब साहित्य-रचना का कार्य केवल भक्त-कवि, संत तथा ऐसे ही आदमी न करते थे, वरन् बड़े २ विद्वान, पंडित तथा राजदरबारी लोग भी कर चले। अस्तु, हिन्दी और हिन्दी-साहित्य में रूपान्तर का होना अनिवार्य या आवश्यक ही हो गया। यहाँ हम अब अकबरी दरबार तथा संत-काव्य का सूक्ष्म विवेचन कर के अलंकृत-काव्य का संक्षिप्त परिचय दे देना उचित समझते हैं और तब आगे कला-काव्य की विवेचना करना ठीक समझते हैं।

अकबरी दरबार

सम्राट अकबर ने अपने शासन को सुदृढ़ बनाने के लिये जहाँ और बातें की थीं वहाँ उसने एक यह बात भी की थी कि हिन्दी भाषा, हिन्दी-साहित्य तथा देशी कला आदि को भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। उसने इनके प्रति अपना अनुराग प्रगट किया और इन्हें बहुत कुछ अंशों में प्रोत्साहन देना भी प्रारम्भ कर दिया, यद्यपि राज-भाषा का स्थान उसने हिन्दी को न देकर फ़ारसी भाषा ही को दिया था। यह अवश्य था कि उसने हिन्दी भाषा सीखी थी और उसके अनुकरण-रूप में उसके अन्य मुसल-

---

नोट—सम्राट अकबर के ही समय से वैष्णव सम्प्रदाय के प्रभाव से रास-लीला तथा रामलीला का प्रारम्भ हुआ, जिसे हम नाटक के अभिनय या नाटक-कला का एक विशेष प्राचीन रूप कह सकते हैं। इतना होते हुए भी उस समय नाटकों का विकास न हो सका क्योंकि मुसलमान लोग इसे अपने धर्म के विरुद्ध समझते तथा इसका निषेध करते थे। आगे इनके आधार पर कई नाटक बने और नाट्य-कला तथा नाटक-रचना विकसित हुई।

अकबर के समय में हिन्दी-गद्य की भी जागृति हुई और गंग कवि ने गद्य में अच्छी रचना की। उर्दू भाषा का भी विकास अकबर के ही

मान दरबारी भी हिन्दी से प्रेम करते हुए उसे सीखने या अपनाने लगे थे। यह बात होते हुए भी हमें संदेह है कि अकबर तथा उसके मुसलमान दरबारी इतने थोड़े ही समय में इतनी योग्यता हिन्दी भाषा तथा हिन्दी-साहित्य या उसकी परम्परागत काव्य-पद्धति में इतनी प्रौढ़ता या पटुता के साथ प्राप्त कर सके थे कि वे हिन्दी में अच्छी रचनायें करने के योग्य हो सकते। हम समझते हैं कि कदाचित् हिन्दी के अन्य कवियों ने उनके नाम से रचनायें की थीं और उनके लिये पुरस्कार पाये थे किन्तु हमारा यह विचार अभी अनुमान ही मात्रा है और हम इस विषय पर अभी खोज कर रहे हैं, अस्तु इसे निश्चयपूर्वक नहीं कहते हाँ इस विषय को विचारणीय अवश्यमेव समझते हैं।

अकबर के प्रोत्साहन तथा हिन्दी-काव्य-प्रेम से आकृष्ट होकर उसके दरबार में हिन्दी के कुछ अच्छे कवि और लेखक रहने लगे और उनके प्रभाव से शिष्ट दरबारी लोग (स्त्रियाँ) भी हिन्दी में रचनायें करने लगे। संस्कृत-काव्य और कवियों या विद्वानों का भी अकबर बहुत आदर करता था, अतः उन संस्कृतज्ञ विद्वानों ने भी, जो उसके सम्मानपात्र थे, अकबर के हिन्दी-प्रेम को देखकर हिन्दी

समय से हो चला, क्योंकि दरबार में हिन्दू-मुसलमानों तथा हिन्दी और फ़ारसी का सम्पर्क प्रगाढ़ रूप से हो चला और फलतः उर्दू भाषा विकसित हो चली। आगे चलकर यही भाषा फ़ारसी-लिपि में लिखी गई तथा इसमें फ़ारसी शब्दों, पदों तथा लेखन-शैली आदि की प्रधानता एवं प्रचुरता के होने से यह हिन्दी से पूर्णतया पृथक् हो गई। साथ ही इसी संबंध या सम्पर्क के प्रभाव से हिन्दी में भी फ़ारसी के शब्दों तथा भावों आदि का समावेश बहुतायत से हो गया और हिन्दी में एक नवीन विशेषता आ गई, साथ ही हिन्दी का ऐसा ही प्रभाव उर्दू या फ़ारसी पर भी पड़ा।

में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। राजाओं ने भी हिन्दी को अपना कर उसके काव्य-रचना एवं काव्य-कवियों को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया। अकबर के कला-प्रेम ने भी अच्छा प्रभाव डाला और उसके दरबार में कला का आदर हो चला, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-काव्य में भी कला को स्थान दिया जाने लगा और हिन्दी-काव्य कला पूर्ण हो चला। इस प्रभाव से हिन्दी में काव्य-कला के ग्रंथों की भी रचना हो चली और रीति-काल के लक्षण-ग्रंथों का श्री गणेश हो चला।

पूर्ण परिष्कृत और परिमार्जित फ़ारसी भाषा के सम्पर्क से हिन्दी भी प्रभावित होती हुई उसी की शैली में कुछ चलने लगी। फ़ारसी की शब्दावली, उसकी शैली तथा उसके मुहाविरों की एक अच्छी संख्या हिन्दी-भाषा में प्रविष्ट होने लगी, इसका फल यह हुआ कि हिन्दी-भाषा का एक नया रूप बन गया जिसे उर्दू का नाम दे दिया गया। इसके साथ ही हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य के प्रवाह में भी कुछ अनिवार्य प्रभाव पड़ा और उसमें एक कलापूर्ण शालिमा का संचार हो चला।

अकबरी दरबार को देखकर अन्य राजाओं तथा नव्वाबों ने भी अपने २ दरबारों में हिन्दी-काव्य तथा साहित्य को स्थान प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया, जिससे हिन्दी-भाषा तथा उसके साहित्य की विकास-वृद्धि होने लगी। भक्त-कविवरों ने तल्लीनता को उठाकर शृंगार-संपुटित कृष्ण-लीला सम्बन्धी काव्य की ओर कवि-प्रतिभा को लगा ही दिया था और एक विस्तृत क्षेत्र तैयार कर दिया था, कवि लोग शृङ्गारात्मक काव्य-रचना में ही दत्त-चित्त हो रहे थे और इसीलिये भाषा-काव्य-क्षेत्र शृङ्गार रस से सर्वथा संसिक्त हो रहा था, शृङ्गार का ही पूर्ण प्राधान्य हो गया था, किन्तु इस शृङ्गार में भक्ति की मात्रा पर्याप्त रूप में थी। इधर जब काव्य और कवियों का सम्पर्क राजाओं, नव्वाबों तथा

उनके दरबारों से हो चला तब उसमें एक नवीन विकार आ चला। भक्ति-पूर्ण पवित्र या शुद्ध शृङ्गार के स्थान पर लौकिक वासनापूर्ण साधारण कोटि का शृङ्गार (नायक-नायिका-भेद * तथा सांसारिक विषय-वासना मय भावों से भरा हुआ शृङ्गार) प्रबल तथा प्रधान होता गया।

भक्त महात्मा तो भक्ति-भजनानंद में तल्लीन होकर अपने २ इष्ट देवों की लीलाओं को गाकर अपने धर्म का प्रचार-प्रस्तार तथा अपने चित्त को प्रफुल्लित करने के लिये ही काव्य-रचना किया करते थे। उन्हें न तो यश की ही लालसा विशेष थी और न वे उससे धन ही प्राप्त करना चाहते थे। वे किसी राजा या बड़े धनी-मानी को ही प्रसन्न करने के इच्छुक न रहते थे, उन्हें अपने काव्य से अपनी विद्वता के भी प्रगट करने की अभिलाषा न रहती थी। इसीलिये वे प्रायः काव्य-शास्त्र और छंद-शास्त्र के ही सर्वथा अनुकूल न चलते थे। कला और काव्य के लिये वे काव्य न करते थे, वरन् भजनानंद के लिये ही वे काव्य रचते थे।

अब वह समय और वह परिस्थिति-समूह ही न रहा, वरन् सब ओर एक नवीन परिवर्तन हो गया। भाषा भी ख़ूब प्रौढ़ परिमार्जित तथा सुन्दर हो गई, उसमें अब साहित्यिक क्षमता, कला-कौशल-पटुता तथा नियंत्रित व्यवस्था आ गई। अब लोग हिन्दी भाषा के साहित्यिक रूप और उसके साहित्य के अध्ययन की ओर चाव-भाव के साथ बढ़ने लगे। धार्मिक काल तथा उसके भक्ति-काव्य ने हिन्दुओं की हिन्दी भाषा की महत्ता-सत्ता को भी सुदृढ़ तथा सुरक्षित कर दिया और जनता को उसकी ओर समाकृष्ट कर दिया, वह उसके गुणों को देखकर उससे उदा-

---

* यह कामशास्त्र पर आधारित है और संस्कृत के काव्य-शास्त्र से हिन्दी में आया है।
—सम्पादक

लीन तथा विमुख न हो सकी। यद्यपि फ़ारसी, जो राज-भाषा थी और जिसका मान-सम्मान राज-दरबार तथा समस्त सभ्य समाज में विशेष था, ख़ूब प्रचलित हो चली थी और अपनी ओर हिन्दुओं को खींच रही थी, फिर भी धार्मिक भावों तथा राष्ट्रीय या जातीय-विचारों से प्रेरित होकर लोग हिन्दी और संस्कृत की ओर से उदासीनता और वैमुखीवृत्ति न धारण कर सके थे। अब तो उसकी साहित्यिक शालिमा ने उन्हें और मुग्ध करके अपनी ओर समाकृष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था।

इस समय तक हिन्दी ने विकसित तथा संस्कृत होते हुए पूर्ण साहित्यिक क्षमता प्राप्त कर ली थी और काव्य की कई प्रधान पद्धतियों का विकास-प्रकाश कर दिया था, पर्याप्त साहित्य तैयार हो गया था। काव्य-कला भी पर्याप्त रूप से निखर-बिखर चुकी थी, काव्य-वाहुल्य और साहित्य सौंदर्य दोनों को ख़ूब प्रौढ़ता, प्रवलता तथा प्रचुरता प्राप्त हो गई थी। देश में कई महा-कवि जो संसार की श्रेष्ठ कवि-श्रेणी में अग्रगण्य हैं, उत्पन्न होकर अपने काव्य-कल-कानन के कुसुमों से समस्त ककुभ-कुल को सौरभित कर चुके थे। उनकी सरसता, सौंदर्य-शालिमा, मधुरता और मृदुल मनोरंजकता से प्रत्येक सरस या सहृदय व्यक्ति का मानस उमंगोत्साह की तरल तरंगों के हिलोरों से लहरा उठता है, इन्हीं गुणों के कारण इस साहित्य की ओर लोग आकृष्ट हो रहे थे और इसीसे कवित्व-शक्ति या कवि-प्रतिभा को भी स्फूर्ति प्राप्त हो रही थी। राज-दरबार तथा जनता दोनों से प्रोत्साहित और पुरस्कृत होने से लोग अब काव्य-कला सीख कर कवि-कर्म करने में प्रवृत्त हो चले थे। ऐसी दशा में यह अनिवार्य और आवश्यक ठहरता है कि काव्य-कला तथा कवि-शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों एवं नियमों की विवेचना एवं व्याख्या विषयक रीति-ग्रंथ प्रस्तुत किये जाते। यही वह आवश्यकता थी जिसके प्रभाव से

अग्रिम काल में आचार्यों तथा काव्य-शास्त्र के लेखकों का प्राधान्य हो गया और रीति-ग्रंथों की रचना का बाहुल्य तथा प्रावल्य हो चला। कलात्मक और शास्त्रीय साहित्य का निर्माण हो चला और वह युग अलंकृत या कला-काल के रूप में प्रवर्तित हो गया।

हिन्दी-काव्य-साहित्य के इस काल तक में सूर के द्वारा भक्ति-रसात्मक मुक्तक काव्य की पद-पद्धति, तुलसी के द्वारा दोहा चौपाई वाली प्रबंधात्मक कथा-पद्धति, जायसी आदि के द्वारा सूफ़ी मत सम्बंधिनी प्रेमात्मक काल्पनिक कथा-प्रणाली, दोहावली सतसई और अवधी की वरवा परिपाटियाँ विकसित हो चुकी थीं। रहीम आदि के द्वारा काव्य-कला-सम्बन्धी सूक्ति-चमत्कारमयी नीति-काव्य की प्रणाली भी प्रचलित हो चली थी। अब समय की प्रगति के परिवर्तन से साहित्य में भी परिवर्तन हो चला और आवश्यकता को देखकर विद्वानों ने काव्य-कला और रीति-रचना सम्बन्धी ग्रंथ रचने की प्रणाली उठा ली। काव्य शास्त्र (अलंकार-शास्त्र) और छंद शास्त्र की रचना, हिन्दी भाषा में संस्कृत के रीति-ग्रंथों की सहायता लेते हुए, करना प्रारम्भ कर दिया। आचार्य केशव-दास सब से आगे चले। अस्तु इस शैली का प्रचार-प्रस्तार बड़े वेग से हो चला और बहुत समय तक जारी रहा। इस काल में जितने भी कवि हुए हैं प्रायः प्रत्येक ने रीति ग्रंथ ही रचे हैं चाहे वे मौलिक हों, अनुवाद हों या छायानुवाद हों।

हम अभी यह लिख चुके हैं कि अकबर के समय में गंग भाट ने हिन्दी-गद्य में भी रचना करने की प्रणाली का पुनरुद्धार तथा विकास किया। महात्मा गोरखनाथ तथा विट्ठलनाथ के पथ को देख कर इन्होंने गद्य-रचना का प्रचार-प्रस्तार करना चाहा। आपने गद्य को बहुत कुछ सुधारा और उठाया किन्तु यह समय अभी ऐसा न था कि गद्य-रचना की पद्धति का पौदा पनप सकता,

वरन् समय और समाज की दशा यह थी कि यह यौंही पड़ा रहता। इस समय में तो तूती बोलती थी काव्य की, गद्य को तो कोई पूछता ही न था, अस्तु गद्य का विकास इस युग में न हो सका, वह अंकुरित होकर ही पूर्व की भाँति पड़ा रह गया। इस धार्मिक-काव्य-काल के पूर्वार्ध में भक्ति-काव्य (कृष्ण-भक्ति-काव्य का विशेष रूप से और राम-भक्ति काव्य का साधारण रूप से) का ही प्रावल्य-प्राचुर्य रहा और उत्तर काल के अन्तिम समय में विविध विषयक शृंगारात्मक काव्य के साथ ही साथ काव्य-शास्त्र के रीति ग्रंथों की रचना हो चली। पूर्वार्ध के अष्टछाप का प्रभाव इतना गहरा कवि-मंडल पर पड़ा कि सन् १५६१ से १६३० तक अनेकानेक भक्ति कवियों ने उसी पद्धति से उसी शैली का अनुकरण करते हुए कृष्ण-भक्ति संबंधिनो मंजुल तथा मधुर रचनायें कीं, जो भक्तकल्पद्रुम, रागसागरोद्भव, आदि ग्रंथों में संग्रहीत हैं। विस्तार-भय से हम उन सब कवियों तथा उनकी रचनाओं की विवेचना यहाँ नहीं दे रहे। यह बात भी है कि इन समस्त कवियों ने एक प्रकार से भावों का पिष्टपेषण ही सा किया है, मौलिकता का बहुत कम अंश उनमें पाया जाता है। सभी कवियों ने अष्टछाप के कवियों का सफल अनुकरण किया है और समय २ पर कृष्ण-भक्ति का सुधा रस बरसाया है, अस्तु।

अब हम अकबरी दरबार के कुछ प्रधान प्रधान कवियों का सूक्ष्म वर्णन करके कला-काल की पद्धतियों पर प्रकाश डालेंगे। हाँ यह और कह देना उचित समझते हैं कि अकबर के ही समय से भारत में कलाओं का अच्छा विकास-प्रकाश हुआ है और शाहजहाँ के समय तक उसकी वृद्धि एवं समृद्धि पूर्ण दशा में रही है। औरंग-ज़ेब के समय में परिस्थिति-परिवर्तन के प्रभाव से कला तथा साहित्यादि में भी रूपान्तर हुआ है और फिर एक प्रकार से यह

परिवर्तन काल, देश एवं समाज की अशान्त तथा अस्थिर दशाओं में स्थिर सा बना रहा और लगभग १८५० ई० में इसने अपना रूप एवं प्रवाह दूसरी ओर दूसरे ढंग से बदला है।

अकबरी दरबार के प्रधान कवि

सम्राट अकबर यद्यपि कुछ विशेष पढ़े लिखे न थे, तथापि वे बड़े ही गुणग्राही और भावुक थे। उन्होंने विद्वानों को अपने दरबार में रखकर उनके सत्संग से बहुत कुछ सुना और सीखा था। उनकी सहृदयता ने उन्हें काव्य और कला का प्रेमी बना रक्खा था, इसीलिये वे कवियों का पर्याप्त आदर किया करते थे। उनके दरबार में हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी आदि के कला-कुशल कवि एवं विद्वान रहते तथा आया करते थे। अकबर को भी उनके सत्संग से इन विषयों में शौक़ हो गया था और वे भी कुछ थोड़ी सी शायरी तथा कविता किया करते थे। यद्यपि अकबर ने हिन्दी में बहुत ही थोड़ी और साधारण श्रेणी की कविता की है तौ भी वह सराहनीय है। यह उनके तथा हमारे लिये गर्व की बात है। उस अल्पकाल में ही, जो अकबर को कठिनाइयों के पश्चात् प्राप्त हो सका था, उसका इतना कर लेना वास्तव में श्लाघ्य है। उसने काव्य-रचना जो की वह तो की ही, सब से अधिक सराहनीय बात उसने यह की कि हिन्दी-काव्य-कला तथा साहित्य को अपना कर ख़ूब प्रोत्साहित किया जिससे हिन्दी-काव्य-कला एवं साहित्य को बहुत लाभ पहुँचा।

अकबर के दरबारी कवियों में से अधोवर्णित कवि विशेष उल्लेखनीय माने जाते हैं:—

१—**रहीम ख़ानख़ाना**—आप प्रसिद्ध बैरम ख़ाँ ख़ान-ख़ाना के पुत्र और रिश्ते में अकबर के भाई थे। आपका जन्म सं० १६१० में हुआ था। आप अरबी और फ़ारसी के, जो आपकी

मातृ भाषायें ही सी थीं, अच्छे विद्वान थे और संस्कृत और हिन्दी का भी ज्ञान रखते थे। हमारा विचार तो यह है कि आपको हिन्दी और संस्कृत का इतना प्रौढ़ या पर्याप्त ज्ञान तथा अभ्यास न था कि वे उन दोनों भाषाओं में वैसी अच्छी रचनायें कर सकते जैसी अच्छी रचनायें आपके द्वारा की गई हुई कही जाती या प्राप्त होती हैं। सन् १५५६ में हुमायूँ ने अफ़ग़ानिस्तान से लौट अंतिम सूर बादशाह को हरा कर अपना राज्य फिर से स्थापित किया, किन्तु वह शीघ्र ही मर गया। उसके बाद बैरम ख़ाँ ने पाँच वर्ष तक राज्य का काम किया और अकबर १८ वर्ष का होकर जब बालिग़ हो गया तब उसे उसका राज्य सौंप दिया। अस्तु, रहीम ख़ाँ को दिल्ली में रह कर हिन्दी और संस्कृत के सीखने का अवकाश बहुत ही थोड़ा प्राप्त हुआ था, इतने १० या १२ वर्ष के भीतर उनको इतना प्रौढ़ ज्ञान उक्त दो भाषाओं, उनके काव्य-साहित्यों तथा उनकी रचना-पद्धतियों (छंद, शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि) का न हो सकता था कि वे उक्त दोनों भाषाओं में इतनी सुचारु सफलता के साथ ऐसी सुन्दर और प्रौढ़ रचनायें कर सकते। हमारा अनुमान है कि उनके नाम से दूसरे विद्वान कवियों ने ये रचनायें की थीं और रहीम ने उन्हें ख़ूब पुरस्कृत करके अपने नाम को अमर करने का प्रयत्न किया था। हाँ यह हो सकता है और यही हुआ भी होगा कि उन्होंने उक्त दोनों भाषायें इतनी सीख ली रही हों कि उनको समझ सकते रहे हों।

रहीम ख़ाँ बड़े ही दानी और परोपकारी या उदार थे। उनमें साहित्योचित भावुकता, सरसता या सहृदयता ख़ूब थी। सत्संग-प्रेमी होने से इनकी सभा विद्वानों तथा कवियों से सदा भरी-पूरी रहती थी। इनकी गुणग्राहकता से आकृष्ट होकर इनके यहाँ सदैव कवि-कोविद् आया करते और आदर-सम्मान के साथ इनके आश्रय में रहा करते थे। गंग कवि को एक बार इन्होंने ३६०००००

रुपये दिये थे। अकबर के समय में ये प्रधान सेनानायक और मंत्री थे, किन्तु जहाँगीर के समय में लड़ाई में धोखा देने के अप-राध से क़ैद कर लिये गये और उनकी सारी जागीर ज़ब्त कर ली गई। क़ैद से छूटने पर इनकी आर्थिक दशा बहुत ही ख़राब हो गई और ये इसी से बहुत दुखी रहने लगे।

इन्हें उस समय और भी अधिक दुःख होता था जिस समय इनके पास कोई याचक आ जाता था और ये अपनी दीनता के कारण उसे कुछ दे न सकते थे। एक बार इन्होंने एक याचक को यह दोहा देकर रीवाँ-नरेश के पास भेजाः—

"चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेश।
जापर बिपदा परत है, सो आवत यहि देश॥"

इस पर रीवाँ-नरेश ने उसे एक लाख रुपये दिये।

गो० तुलसीदास से भी इनका बड़ा स्नेह था और ये उन्हें बहुत मानते थे। गो० जी की लिख भेजी हुई एक पंक्ति के लिये इन्होंने उसकी पूर्ति करके बहुत सा द्रव्य उस ब्राह्मण को दिया जो अपनी कन्या के विवाहार्थ गो० जी के पास आया था और धन के स्थान पर उस एक पंक्ति को लेकर रहीम के पास गया था।

"सुरतिय, नरतिय, नागतिय, यह चाहत सब कोय।
गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

इसी प्रकार की कतिपय कथायें या जनश्रुतियाँ रहीम के विषय में प्रचलित हैं। इनका काव्य, जो हमें प्राप्त होता है, एक अच्छी श्रेणी का काव्य है। हमें तो संदेह है, जैसा हमने ऊपर लिखा भी है कि यह काव्य रहीम कृत ही है या नहीं। कुछ हो, काव्य है अच्छा। उसमें संसार का अच्छा अनुभव और नीति-विषयक ज्ञान पाया जाता है। भावों में बड़ी ही मार्मिक व्यंजना है और उक्तियाँ चारु और चोखी हैं। भाषा सुव्यवस्थित तथा सरल है, उसमें मार्दव और माधुर्य भी है। प्रसाद गुण तो ख़ूब

ही अच्छे ढंग से भरा गया है। पदावली सुसंगठित और साफ़ है। बहुत से दोहे आपके लोकोक्तियों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। रहीम की रचना में जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव स्वाभाविकता के साथ पाया जाता है। यह अवश्य है कि उसमें कल्पना की कोरी उठान नहीं है। इनके दोहों में कोरी नीति ही नहीं जैसी वृन्द कवि आदि के दोहों में है, वरन् उनमें मार्मिकता, सहृदयता तथा चमत्कृत चातुर्यमयी चारुता भी है। इनका बरवा-नायिका भेद अपने ढंग का एक सुन्दर साहित्यांश है। उसमें स्वाभाविक या सच्चे सरस चित्र चित्रित किये गये हैं उसमें भारतीय प्रेम तथा व्यवहारादि का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

रहीम ब्रजभाषा और अवधी दोनों में समान पटुता के साथ रचना कर सकते थे। बरवा लिखने में तो अवधी (क्योंकि ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप में बरवा सफलतापूर्वक नहीं लिखा जा सकता) और शेष रचना में आपने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। रहीम ने न केवल दोहा और बरवा की पद्धतियों के ही अनुकूल रचना की है, वरन् कवित्त, सवैया एवं पद आदि की भी शैलियों में अच्छी कवितायें लिखी हैं।

रहीम की निम्नांकित रचनाओं का अब तक पता चल सका है:—

१—रहीम सतसई (दोहावली)।

२—बरवै नायिका-भेद (अवधी में) और कुछ स्फुट बरवे।

३—शृङ्गार-सोरठ (इससे ज्ञात होता है कि कदाचित् दोहावली शैली के समान सोरठावली शैली भी उस समय पाई जाती थी, इसका प्रचार फिर विशेष न हो सका)।

४—मदनाष्टक।

५—नगर-शोभा।

६—कुछ स्फुट कवित्त-सवैये, आदि।

रहीम की इन सब रचनाओं का एक संग्रह "रहीम रत्नावली के नाम से प्रकाशित हो गया है। इनके अतिरिक्त रहीम की अरबी और फ़ारसी आदि में भी कई रचनायें कही जाती हैं:—

१—एक दीवान(फ़ारसी मे)।

२—वाक़यात बाबरी (तुर्की से फ़ारसी भाषा में अनुवाद)।

३—खेट कातुकम् (संस्कृत में ज्योतिष ग्रंथ, इसमें फ़ारसी भाषा भी है)।

४—कुछ स्फुट संस्कृत-श्लोक।

रहीम की मृत्यु सं० १६८२ में हुई।

२—राजा टोडरमल—इनका जन्म सं० १५८० में हुआ था और मृत्यु सं० १६४६ में हुई थी। ये खत्री जाति में उत्पन्न हुए थे, कहा जाता है कि इन्हींने महाजनी या मुड़िया लिपि का आविष्कार किया है। प्रथम ये शेरशाह के यहाँ और फिर अकबर के यहाँ भूमि-कर (मालगुज़ारी) विभाग के मंत्री रहे। कुछ समय के लिये अकबर ने इन्हें बंगाल का सूबेदार या गवर्नर भी बना दिया था। इन्हीं के प्रभाव से शाही दफ़्तरों में हिन्दी के स्थान पर फ़ारसी का प्रचार हुआ और फ़ारसी जानने वाले हिन्दुओं को भी दफ़्तरों में नौकरियाँ मिलने लगी। फ़ारसी का प्रचार इस प्रकार ख़ूब बढ़ गया। *

---

* इसका फल यह और हुआ कि हिन्दी भाषा का महत्व घट गया, वह राजभाषा न रह गई, जिससे उसके प्रचार, प्रस्तार तथा विकासोत्थान को गहरा धक्का पहुँचा। हाँ यह अवश्य हुआ है कि फ़ारसी के भाव तथा शब्दादि हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में आ गये और इससे हिन्दी-साहित्य का क्षेत्र कुछ विस्तृत हो गया और कुछ नव विषय-स्फुरण उसमें हो चला। फ़ारसी को राज या दफ़्तर की भाषा इन्होंने इसीलिये किया था जिससे हिन्दू लोग भी फ़ारसी पढ़कर बड़े २ सरकारी ओहदे पा सकें।

इनकी रची हुई कोई पुस्तक तो अब तक नहीं प्राप्त हुई हाँ कुछ स्फुट रचनायें अवश्य मिली हैं जिनमें नीति-सम्बन्धी बातों की ही प्रधानता है। रचनायें साधारण हैं और केवल हिन्दी के प्रति इनके अनुराग ही को प्रगट करती हैं।

३—**महाराज बीरबल**—कुछ लोग इन्हें नारनौल निवासी गंगादास का पुत्र कहते हैं और कुछ इनका असली नाम महेशदास बतलाते हैं, किन्तु श्री भूषण महाकवि के लेखानुसार * तथा अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ है कि ये महाराज कान्यकुब्ज-भूषण और तिकवाँपुर (त्रिविक्रमपुर) के रहने वाले थे, प्रयाग के क़िले में जो अशोक-सम्राट का विजय-स्तंभ है उस पर इनकी प्रयाग-यात्रा का हाल लिखा हुआ है। " संवत् १६३२ शाके १४९३ मार्गवद १५ सोमगर गंगादास-सुत महाराज बीरबल श्री तीर्थराज प्रयाग की यात्रा सुफल लिखितं " अर्थात् आपने १६३२ सं० में प्रयाग-राज की यात्रा की थी।

आप अकबर सम्राट के अत्यंत प्रीति-भाजन, समादृत और घनिष्ट मित्र, मंत्री और सेनापति थे और बड़ी ही विलक्षण बुद्धि और प्रत्युत्पन्न मति के आदमी थे। आप की वाक्चातुरी लोक-प्रसिद्ध है। अकबर और इनके बीच में होने वाले विनोदों की कतिपय दंतकथायें गाँव-गाँव में प्रचलित हैं महाराज बीरबल व्रज भाषा के बड़े ही अच्छे कवि, विद्वान और मर्मज्ञ थे। आप सत्कवियों का भी बडा आदर-सम्मान किया करते थे। जैसे आप का हृदय भावुक और सरस था वैसा ही उदार और दयावान

---

* ' द्विजकन्नौज कुल कश्यपी, रतनाकर-सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनि तनूजातीर॥
वीर वीरबल से जहाँ, उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ, विश्वेश्वर तद्रूप॥'

भी था। कहते हैं कि आचार्य एवं महाकवि केशवदास को इन्होंने ६ लाख रुपये केवल एक ही छंद पर दिये थे और उनकी शिफ़ारिस करके उनके आश्रयदाता श्री ओरछा-नरेश पर किये गये एक करोड़ के जुरमाने को मुआफ़ करवा दिया था।

इनकी कोई पुस्तक नहीं पाई जाती, हाँ इनके कई सौ कवित्तों का एक संग्रह भरतपुर में रक्खा है। आपने अपना उपनाम "ब्रह्म" रक्खा था। आप की कविता बड़ी ही सरस, प्रौढ़ और काव्यांगों से युक्त होती थी, उसमें अलंकारों का अच्छा चातुर्यचमत्कार रहता था।

आप की मृत्यु से अकबर को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने एक सोरठा लिखाः—

" दीन देखि सब दीन, एक न दीन्हो दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन, कुछ नहिं राख्यो बीरबल ॥

४—**गंगकवि**—इनके जन्म-काल, कुल आदि का ठीक ठीक पता नहीं लग सका। यह अवश्य प्रसिद्ध है कि ये ब्रह्म भट्ट थे और अकबर के दरबार में सम्मान-प्राप्त कवि थे। रहीम इन्हें बहुत मानते थे। कहते हैं कि इन्हें किसी राना या नव्वाब की आज्ञा से हाथी के द्वारा मरवा डाला गया था। इसका उल्लेख देव आदि कई कवियों ने किया है इनका भी एक दोहा इसी सम्बन्ध में हैः—

" कबहुँ न भँडुवा रन चढ़े, कबहुँ न बाजी बंग।
सकल सभाहि प्रनाम करि, विदा होत कवि गंग ॥

और भी लिखा हैः—"गंग ऐसे गुनी को गयंद सो चिराइये।" बाबा बेनीमाधवदास ने भी अपने गोसाईं-चरित में इस घटना का उल्लेख किया है।

गंगकवि अपने समय के एक बड़े ही प्रसिद्ध कवि थे, नर-

काव्य में ये सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते थे। बात करने में ये बड़े ही निर्भीक थे। दास ने तो लिखा है:—

"तुलसी गंग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
जिनकी कविता में मिली, भाषा विविध प्रकार॥"

इससे यह ज्ञात होता है कि इनका स्थान कवियों में तुलसी के ही समान बहुत ऊँचा था। इनकी कविता में विविध प्रकार की भाषा प्राप्त होती है। इन्हीं को रहीम ने एक छप्पय पर ३६ लाख रुपये दिये थे।

इनकी रचना बहुत ही सरस और व्यंग्यवलित है, वाग्वैचित्र्य उसमें अच्छा पाया जाता है। वीर और श्रृङ्गार रस इनके काव्य में ख़ूब पाया जाता है। आप की अन्योक्तियों में अच्छी भाव पूर्णता और मार्मिकता है। कहीं कहीं हास्य रस की भी बड़ी रोचक पुट पाई जाती है। विप्रलम्भ श्रृङ्गार का अत्यंत ऊहात्मक अतिशयोक्ति-पूर्ण वस्तुव्यंग्य-पद्धति के अनुसार विशद वर्णन भी इनके काव्य में मिलता है। प्रायः सभी सामयिक पद्धतियों को लेते हुए इन्होंने कविता की है। इनका कविता-काल सत्रहवीं शताब्दी का मध्यकाल ही माना जाता है। *

५—मनोहर कवि—इनका कविता-काल सं० १६२० के

---

* गंग जी की कवितायें बहुत ही अल्प संख्या में मिलती हैं। तृ० त्रै० खोज में इनका रचा हुआ "ख़ानाख़ाना कवित्त" नामी एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। प्रधानता इनकी रचना में ब्रज भाषा की है। यद्यपि इन्होंने गद्य लिख कर कुछ खड़ी बोली (या तत्कालीन उर्दू) भी उठाई है। अतिशयोक्ति और हास्य रस युक्त व्यंग्य काव्य का अच्छा प्रयोग इनके काव्य में मिलता है। रहीम के समान इन्होंने भी फ़ारसी मिश्रित भाषा लिखी है। गंग का समय लगभग सं० १५६० से १६७० तक कहा गया है। मि० बं० वि० में इनके प्रायः ३० या ३५ छंद ही मिलते हैं।

लगभग माना जाता है। ये कछवाहा (क्षत्रिय) सरदार और अकबर के दरबारी भी थे। आप फ़ारसी और संस्कृत भी अच्छी जानते थे। फ़ारसी में कविता करते हुए आप अपना तख़ल्लुस (उपनाम) तौसनी रक्खा करते थे। इन्होंने "शत प्रश्नोत्तरी" नाम की एक पुस्तक रची और नीति तथा शृङ्गार रस के बहुत से दोहे भी लिखे। फ़ारसी-साहित्य के परिचय ने इनके हिन्दी-काव्य पर अपना प्रभाव डालते हुए उसे कुछ अपनी शैली की ओर ढाल सा दिया था। इसी कारण आपकी भाषा सुव्यवस्थित, मृदुल और साफ़ है, फ़ारसी की उपमायें तथा अन्य बातें भी आपके काव्य में पाई जाती हैं।

६—**महाराज पृथ्वीराज** (बीकानेर)—आपका कविता-काल सं० १६१७ के आस पास कहा जाता है। आप अकबर के दरबार में रहते थे, किन्तु थे बड़े ही राष्ट्रीयता-प्रेमी। राणा प्रताप को आपने अकबरी आधीनता मानने से अपने कुछ दोहे लिखकर रोका था। काव्य-रसिकता और देश-जाति-भक्ति आपमें ख़ूब भरी-पूरी थी। आपकी रची हुई ३ पुस्तकें—१—श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-चरित्र २—श्रीकृष्ण-रुक्मिणी बेलि ३—प्रेम दीपिका—सन् १६०० की खोज में मिली है।

इन प्रधान कवियों के अतिरिक्त अकबर के दरबार में निम्नांकित कविगण और भी रहते और आते जाते थे, १—गंग ब्रह्मभट्ट, २—गंगाप्रसाद ब्राह्मण (ज़िला इटावा), ३—जगदीश (जं० सं० १५८८, रचना-काल १६२०) ४—प्रसिद्ध (जं० सं० १५६०, रचना सं० १६२०, रहीम के दरबार में थे) ५—जैत राम (जं० सं० १६०१, रचना सं० १६३०, अकबर के यहाँ थे) ६—करनेस बंदीजन (जं० सं० १६११, रचना सं० १६३७) ७—हेलाराय ब्रह्मभट्ट (जं० सं० १६४०, हरिवंशराय के यहाँ थे, अकबर से कुछ जमीन पाकर हेलापुर गाँव बसाया, गो० तुलसीदास से इनकी भेंट हुई थी)।

८—जगभंग (सं० १६३२) ६—अमृतराय (कविता का० सं० १६४१) महाभारत भाषा लिखा।

रहीम साहब की देखादेखी मुसलमानों ने भी हिन्दी में कविता करना प्रारम्भ किया और उनमें से कुछ अच्छे कवि हुए, जिनका वर्णन हम आगे करेंगे। जैसा हमने लिखा है, अकबर का अनुकरण करते हुए अन्य हिन्दू राजा भी कवियों को आश्रय और आदर-सम्मान देने लगे थे और हिन्दी-काव्य तथा साहित्य को अपनाने लगे थे। कुछ राजा तो हिन्दी में सुन्दर रचनायें भी करते थे इस प्रकार अब हिन्दी भाषा, साहित्य तथा हिन्दी-कवियों को राज-दरबारों में भी अच्छा स्थान प्राप्त होने लगा था और उसे विद्वान लोग भी अपनाने लगे थे, जिससे हिन्दी भाषा तथा हिन्दी-साहित्य की विकास-वृद्धि हो चली थी। उन राज-दरबारों में से, जिनमें हिन्दी-भाषा, साहित्य तथा हिन्दी-कवियों को सम्मान प्राप्त हो रहा था, निम्नांकित राजा तथा दरबार प्रधान और प्रसिद्ध हैं :—*

१—**ओरछा**—यहाँ के राजा साहब ने कवियों को ख़ूब आश्रय दिया और सम्मान प्रदान किया। यहीं आचार्य तथा

---

* राज दरबारों में कवियों के सम्मेलनों से एक विशेषता और पैदा हो चली, जिसकी ओर भी ध्यान देना तथा विचार करना उचित जान पड़ता है। भिन्न भिन्न प्रान्तों के कवियों के दरबारों में परस्पर सम्मिलन से भिन्न भिन्न प्रान्तीय भाषाओं का भी सम्मिश्रण हो चला और एक साहित्यिक भाषा इसीसे प्रभावित हो चली, जिससे भाषा में विशदता, उदारता, अन्य भाषाओं की शब्दावली एवं पदावली को अपना कर उनके पचाने की शक्ति और विकास-पूर्ण वृद्धि हो चली। यह सब होते हुए भी ब्रज भाषा की ही प्रधानता तथा प्रबल प्रचुरता रही। हाँ वह अन्य भाषाओं से बहुत कुछ प्रभावित अवश्य हो चली।

महाकवि केशवदास, प्रवीण राय वैश्या तथा गोप आदि रहते तथा हिन्दी-साहित्य का भंडार भरते थे। अस्तु यह राज्य तथा यहाँ के महाराज विशेष स्तुत्य तथा प्रशंसनीय हैं।

२—ग्वालियर—यहीं के महाराज के आश्रय में लोक-प्रसिद्ध गायक तानसेन रहते थे। **तानसेन जी** ने हिन्दी में कुछ रचनायें भी की हैं। संगीत-शास्त्र-सम्बन्धी रागरागनी की कुछ पुस्तकें भी रची हैं। ये ग्वालियर के ब्राह्मण तथा स्वामी हरिदास के शिष्य थे, फिर बैजू बावरे से गान विद्या सीखो और फिर शेख़ मुहम्मद गौस के यहाँ संगीत की कुछ और बातें सीखीं, वहीं ये मुसलमान भी हो गये, क्योंकि इन्होंने शाही घराने की किसी सुन्दरी से विवाह कर लिया था। यह कथा कि गौस ने अपनी जिह्वा इनकी जिह्वा में लगा दी थी और इसी से ये अच्छे गायक हुए, नितान्त अशुद्ध और मनगढ़न्त ही है। सूरदास की इन्होंने :—

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत शरीर ॥"

इस प्रकार और सूर ने इनकी :—

"विधिना यह जिय जानिकै, ऐसहिं दिये न कान।
धरा भेद सब डोलते, तानसेन की तान ॥"

इस प्रकार प्रशंसा की है।

३—रीवाँ—यहाँ भी कवियों का अच्छा आदर होता था, आगे तो रीवाँ के महाराज राजा रघुराजसिंह एक अच्छे कवि हुए। यहाँ अब भी काव्य और कवियों का अच्छा सम्मान किया जाता है। अजबेस आदि प्राचीन भाट तथा कवि यहीं आश्रय पाकर रहते थे।

४—नरवर गढ़—यद्यपि यह एक छोटी ही सी रियासत थी तथापि यहाँ काव्य और कवियों का अच्छा सम्मान होता था।

इसी प्रकार और भी कई रियासतों में काव्य और कवियों की अच्छा आदर होता था। राजाओं तथा महाराजाओं के अतिरिक्त अन्य धनीमानी सज्जन भी काव्य और कवियों का यथेष्ट आदर-सत्कार किया करते थे। राजा कुशलसिंह, राजा बरजोरसिंह, (महाराज मारवाड़) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उदयसिंह महाराज तो स्वतः भी काव्य किया करते थे, इसी प्रकार अन्य राजा भी हिन्दी में रचनायें करने लगे थे। अब वे कायस्थ लोग भी, जो फ़ारसी के प्रेमी थे, समय तथा लोक के प्रभाव से हिन्दी-काव्य तथा कवियों का सत्कार करने लगे थे,इन में फ़तेहचंद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अकबर के प्रभाव से इधर राजदरबारों में हिन्दी का इस प्रकार विकास-विवर्धन हो रहा था और उधर भक्त-संसार में वल्लभीय, राधावल्लभीय कृष्ण-भक्ति की अन्य शाखाओं तथा भक्तों के अन्य सम्प्रदायों में शिष्य लोग अपने कृष्ण-काव्य को, जो अब उतने प्रबल,प्रधान तथा प्रचुर रूप में न था, पुरानी शैली या पद्धति के अनुसार (पद-रचना-पद्धति) कुछ न कुछ रचते हुए जीवित बनाये रखने का प्रयत्न करते जा रहे थे, अस्तु इनका भी संक्षिप्त वर्णन कर देना हमें यहाँ समुचित जान पड़ता है। इसके पश्चात् हम मुसलमान कवियों का वर्णन करते हुए इस काल के अवसान में विविध विषयों के उदय तथा नव या अग्रिम अलंकृत काल के प्रस्फुटन पर प्रकाश डालेंगे। साथ ही गद्य-रचना के भी प्रारंभिक रूप का चित्रण करेंगे। *

---

* इस काल के उत्तरार्ध में रासो रचना का भी कार्य कुछ कुछ हो रहा था, यद्यपि वह बड़े ही हीन, दीन तथा शिथिल रूप में होता था। इस काल में रचे गये रासो ग्रन्थों में से मुख्य हैं १—श्रीपाल रासो—इसे

कृष्ण-काव्य का रूप

यह समय कृष्ण-काव्य एवं राम-काव्य (भक्ति-काव्य) के पल्लवित तथा पुष्पित होने का न था, इसके पूर्व ही भक्ति-काव्य का कल्पतरु फूल-फल चुका था, उसके वसंत का विकास भी पूर्ण रूप से हो चुका था, अब तो उसके अवसान का समय आ गया था। अब उसमें वह विकास, वह नव सौंदर्यमयी सरसता का मनोरंजक अभ्युदय न रह गया था। अब उसमें शिथिलता आदि बातें आ चली थीं। परिस्थितियों के प्रभाव से उसमें रूपान्तर भी हो गया था, उसका प्राधान्यलोक अब साहित्य-कानन में न रह गया था। हाँ फिर भी वह प्राचीन प्रेमी भक्तवरों के अनुयायियों के द्वारा सींचा जाकर कुछ न कुछ जीवित रूप में चला ही जाता था। व्रज के भक्त लोग उसमें अपनी रचनाओं के रसायनों से जीवन डालने का प्रयत्न करते जा रहे थे। प्रायः सभी सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्त कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में कुछ न कुछ कार्य करते ही जा रहे थे, हाँ वह कार्य इतना प्रधान, प्रचुर तथा प्रबल रूप में न होता था कि देश तथा समय उससे समाकृष्ट हो सकता। नवीन परिवर्तन से प्रभावित होकर देश तथा साहित्य (भाषा भी) दूसरे रूप में प्रभावित हो रहा था। अब काव्य-कला तथा गद्य में विकास आ चला था, क्योंकि राज-दरबारों और विद्वानों ने साहित्य-क्षेत्र में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। अस्तु, स्वाभाविक ही था कि

ब्रह्मराय मल जैन ने सं० १६३० में रचा था इसके पूर्व वे "हनुमत मोक्ष कथा" (सं० १६१६ में) लिख चुके थे। यह रासो १९०० ई० की खोज में प्राप्त हुआ है। २—सील रासो—इसे जैतराज ने लगभग सं० १६३० में रचा, ये अकबर के दरबार में रहते थे। इन्होंने गीता की टीका भी लिखी थी।

इतने समय में इतने प्रचुर तथा प्रौढ़ काव्य के तैयार हो जाने पर काव्य-शास्त्र तथा काव्य-कला के कौशल पर प्रकाश डाला जाता। लक्ष्य ग्रंथों के पश्चात् ही प्रायः लक्षण-ग्रन्थों की रचना का समय आता है। भाषा तथा साहित्य के प्रौढ़, परिमार्जित तथा पूर्णतया परिष्कृत हो चुकने पर उनमें शास्त्रीय (Scientific) कार्य हुआ करता है और विद्वन्मंडली में उनका प्रवेश होता है। विद्वानों के हाथों में भाषा और साहित्य के पड़ने से उनमें कला-कौशल पूर्ण सौंदर्य और शास्त्रीय सुव्यवस्था के गुण आते हैं, अस्तु अब कला-प्रधान युग का उदय होना अवश्यंभावी या अनिवार्य ही था। यह होने पर भी प्राचीन परिपाटी के कार्य का अत्यंताभाव या नितांत लोप न हुआ और ऐसा हुआ भी नहीं करता। हाँ उसका तिरोभाव अभावप्राय सा अवश्य हो जाता है। बस ठीक यही बात साहित्य के क्षेत्र में भी हुई, परिवर्तन और रूपान्तर प्रधानता, प्रचुरता और प्रबलता के साथ भाषा तथा साहित्य की प्रगतियों में हो चले किन्तु साथ ही वे प्रगतियाँ लुप्त या नष्ट हो सकी। उनकी क्षीण धारायें थोड़े बहुत वेग या प्रवाह के साथ स्वल्प नीर से बराबर ही बहती रहीं। अस्तु, कृष्ण-काव्य की धारा भी किसी न किसी दशा में प्रवाहित ही रही। हाँ उसमें शिथिलता तथा क्षीणता विशेष रूप से आ गई। राम-भक्ति सम्बन्धी काव्य की

नोट—कुछ कवियों ने राम-काव्य के क्षेत्र में अच्छी रचनाओं के करने का प्रयास किया अवश्य, किन्तु उन्हें सफलता न प्राप्त हो सकी। गोसाईं जी की रामायण के सामने सभी फीकी और निस्सार ही सी सिद्ध हुईं। अस्तु, कवियों ने यह समझ कर कि अब इस क्षेत्र में प्रयत्न करना व्यर्थ है, अपना ध्यान अलंकृत काव्य की ही ओर पूर्ण रूप से लगा दिया, क्योंकि यह क्षेत्र अभी नया था और इसमें सफलता एवं ख्याति प्राप्त करने की अच्छी आशा जान पड़ती थी।

धारा का अवश्यमेव एक प्रकार से लोप ही सा हो गया*। गो० तुलसीदास की रामायण का प्रचार कुछ हो रहा था, किन्तु राम-काव्य की रचना का कार्य कवि लोग न किया करते थे। अस्तु, हम यहाँ कृष्ण-काव्य की परम्परा का ही सूक्ष्म विवेचन प्रथम करते हैं और राम-काव्य को छोड़ते हुए साहित्य-क्षेत्र की अन्यान्य परम्पराओं तथा नवोदित अभिरुचियों के प्रभाव से प्रचलित होने वाली परिपाटियों या पद्धतियों पर स्वल्प प्रकाश डालते हैं।

वल्लभीय सम्प्रदाय ने प्रथम ही अष्टछाप के रूप में कविरत्नों व महाकवियों से अपना आतंकालोक चारों ओर फैला दिया था, उससे फिर अधिक प्रतिभा-प्रभाव पूर्ण आलोक और सम्प्रदायों का न हो सका। अष्टछाप के पश्चात् वल्लभीय सम्प्रदाय का साहित्यिक गौरव वैसा न रह पाया, उसमें क्षीणता आ गई, हाँ उसका प्रभाव अवश्यमेव बहुत दिनों तक जनता के हृदयों में उपस्थित रहा और अब तक भी थोड़ा-बहुत उपस्थित ही है।

श्री वल्लभाचार्य के पश्चात् श्री विट्ठलनाथ तथा उनके बाद श्री गोकुलनाथ ने कृष्ण-साहित्य तथा कृष्ण-काव्यकारों को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया अवश्य, किन्तु उससे कुछ विशेष लाभप्रद या संतोषप्रद कार्य न हो सका। श्री विट्ठलनाथ ने (जो श्री वल्लभस्वामी के शिष्य और पुत्र थे) ही अष्टछाप की स्थापना की थी और अपने पिता के चार शिष्यकवि तथा चार अपने शिष्यकवि लेकर एक प्रसिद्ध तथा उच्चकोटि की साहित्यिक कवि-मंडली सी बना दी। इन्होंने जिस प्रकार व्रजभाषा-पद्य को प्रोत्साहन प्रदान किया उसी प्रकार अपना उदाहरण सम्मुख उपस्थित कर व्रजभाषा के गद्य को भी उठाया और उसके भी बढ़ाने का प्रयत्न किया।

---

*तृतीय त्रैवार्षिक खोज में विट्ठल जी के दो ग्रन्थों का और पता लगा है—१—यमुनाष्टक २—नवरत्न सटीक।

श्री विट्ठलनाथ जी का जन्म चुनार में सं० १५७२ में हुआ था। इनमें अच्छी प्रतिभा और योग्यता थी। इन्होंने ब्रजभाषा-गद्य में "शृङ्गार-रस-मंडन" नामी एक ग्रंथ, जिसमें ५२ पृष्ठ हैं, राधा-कृष्ण-विहार के विषय पर लिखा है। इनके रचे हुए कुछ कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी पद भी मिलते हैं, कुछ लोगों का कहना है कि इन्हीं के नाम के किसी दूसरे कवि ने वास्तव में उनकी रचना की थी। कुछ हो, यह तो सर्वमान्य ही है कि इनके काल में इन्हीं के प्रोत्साहन तथा उद्योग से हिन्दी-संसार-प्रख्यात अष्टछाप की स्थापना हुई और ब्रजभाषा में जीवन और बल आ गया। ब्रज-भाषा के गद्य का भी उदय हुआ तथा कृष्ण-काव्य को प्रौढ़ता प्राप्त हुई, उसमें नवीन शैलियों (नन्ददास आदि के द्वारा पद्धति के अतिरिक्त अन्य छंदों में कृष्णकाव्य के लिखने की शैली) का भी प्रस्फुटन हुआ। साथ ही उसमें कला-कौशल पूर्ण काव्योत्कर्ष की प्रतिभा आने लगी।

विट्ठलनाथ जी की ब्रजभाषा-गद्य में रचना करने की शैली का अनुसरण उनके सुपुत्र तथा शिष्य श्री गोकुलनाथ जी ने किया।

श्री गोकुलनाथ जी—श्री विट्ठलनाथ जी के चौथे लड़के थे। इन्होंने भी ब्रजभाषा-गद्य के बढ़ाने का अच्छा उद्योग किया। स्वयमेव इन्होंने ब्रजभाषा-गद्य में दो प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। प्रथम का तो नाम ८४ वैष्णवों की वार्ता और द्वितीय का २५२ वैष्णवों की वार्ता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि ये महाराज श्री गोरखनाथ के पश्चात् दूसरे महात्मा हैं जिन्होंने गद्य-रचना-शैली को उठाया और दो गद्य-ग्रंथ लिखे। यद्यपि इनके पिता जी ने भी गद्य-रचना की शैली को प्रोत्साहन दिया था और उसी का यह प्रभाव था कि गोकुलनाथ जी ने दो गद्य-ग्रंथों की रचना की, तथापि कार्य को देखते हुए हम श्री गोकुलनाथ जी को

ही विशेष श्रेय देते हैं। इनका रचना-काल सं० १६२५ से माना जाता है।

इनके गद्य से हमें यह ज्ञात होता है कि इनके पूर्व बहुत दिनों पहिले से व्रजभाषा-गद्य का उदय होकर कुछ प्रचार हो रहा था, उसका लोप या अत्यंताभाव न हो गया था। हाँ उसमें पर्याप्त शिथिलता तथा क्षीणता अवश्यमेव आ गई थी। गद्य का रूप ऐसा है जिससे यह प्रतीत होता है कि उसका संस्कार पूर्णरूप से न हुआ था, इसी से उसका रूप न तो निश्चित ही था और न उसमें स्थिरता ही आई थी। वह सुव्यवस्थित तथा नियम-नियंत्रित भी न था। उसमें वार्तालाप-सम्बन्धी व्यावहारिकता की विशेषता थी (there was more of calloqualism) तथा कुछ कुछ ग्रामीणता की भी पुट थी।

इनके दोनों ग्रन्थों के सम्बन्ध में हम केवल यही कहना चाहते हैं कि इनके कारण वैष्णव-भक्तों के समयों तथा उनकी जीवनियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जीवनियों के लिखने तथा उनके संग्रह करने की परिपाटी का भी उदय इन ग्रन्थोंके कारण हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हुआ है और इन्हीं के अनुकरण-रूप में इसी प्रकार के अन्य ऐतिहासिक शैली के संग्रहों की रचना का संकेत प्राप्त होता है, किन्तु यह बहुत समय के बाद हुआ है कि इन्हीं के समान साहित्यिक कवियों, लेखकों तथा महापुरुषों की जीवनियों का संग्रह किया गया है।

इन दोनों महानुभावों के पश्चात् जो थोड़े से कृष्ण-काव्यकार भक्त शिष्य हुए हैं, वे ऐसे नहीं हुए कि हम उनकी यहाँ विशद-विवेचना करें, अतः हम केवल संक्षेप में ही उनका परिचय अपने पाठकों को दे देते हैं।

व्रज में कृष्ण-भक्ति-प्रचारक कई सम्प्रदाय थे, जिनका उल्लेख हम प्रथम कर चुके हैं। इन सभी सम्प्रदायों के भक्त कवियों ने

कृष्ण-काव्य की थोड़ी-बहुत उत्तम और साधारण रचनायें की हैं। यह तो सभी को ज्ञात है कि इस क्षेत्र में वल्लभीय सम्प्रदाय ही सदा प्रधान और नेता रहा है। इसी सम्प्रदाय ने हिन्दी-कृष्ण-काव्य का मार्ग भी दिखलाया और उस पर सब से प्रथम पूर्ण सफलता के साथ पैर भी बढ़ाया। इसी सम्प्रदाय में हिन्दी-काव्य-साहित्य को आलोकित करने वाले आठ रत्न अष्टछाप के नाम से हुए। इन रत्नों के पश्चात् देश, काल तथा परिस्थिति के परिवर्तित प्रभाव के कारण फिर ऐसे रत्न न उत्पन्न हो सके। इसी सम्प्रदाय की देखा-देखी अन्य सम्प्रदायों के भी भक्त कवियों ने अपना ध्यान इस ओर दिया और अपनी अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि की। इन अन्य सम्प्रदायों में हुए तो अनेक भक्त-कवि, किन्तु उनमें से बहुत ही कम ऐसे हुए जिनकी कविता इतिहास-लेखकों तथा आलोचकों के हृदयों को आकर्षित कर उन पर कुछ लिखने के लिये बाध्य कर सके। हम भी जिन प्रधान प्रधान भक्त-कवियों को उल्लेखनीय समझते हैं, उनका सूक्ष्म परिचय यहाँ दे देते हैं।

जिस प्रकार वल्लभाचार्य जी के प्रोत्साहन से उनके अनुयायी कई अच्छे भक्त कवि हुए हैं, जिनका उल्लेख प्रथम किया जा चुका है, उसी प्रकार राधावल्लभीय या अन्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हितहरिवंश और हरिदास जी (टट्टी या सखीसंप्रदाय के प्रवर्तक) के प्रोत्साहन से इनके कई भक्त-शिष्यों ने भक्ति-काव्य की रचना की। इन महात्माओं की शिष्य-परम्परा में से कुछ भक्त शिष्यों का हम यहाँ परिचय देते है। साथ ही कुछ अन्य महात्माओं का भी उल्लेख करते हैं, जिनकी भक्ति-सम्बन्धिनी रचनायें रोचक हैं।

स्वामी निपट निरंजन—खोज से इनका समय १५६५ सं० के निकट ज्ञात हुआ है। ये अच्छे कवि और सिद्ध व प्रसिद्ध

महात्मा थे। आपकी कविता प्रभाव-पूर्ण और वास्तविकता से भरी-पूरी होती थी, साधारण बातों के द्वारा इन्होंने कबीर की भाँति ज्ञान की अच्छी अच्छी बातें कही हैं। अन्योक्तियाँ आप की अनोखी और चोखी हैं। "संत सरसी" और "निरंजन-संग्रह" नामी दो ग्रंथ आपके प्राप्त हुए हैं। भाषा आपकी मँजी हुई और प्रौढ़ है। खड़ी बोली का भी रूप उसमें पाया जाता है, अस्तु कह सकते हैं कि खड़ी बोली में भी आपने कुछ रचना की है।

श्री सेवक जी—इनका जन्म-काल तो सं० १५७० में और कविता-काल सं० १६१० में कहा गया है। ये श्री हितहरिवंश जी के शिष्य थे। अपने गुरु के यशोगान में आपने 'बानी' नामी एक ग्रन्थ रचा है। कविता आप की साधारण श्रेणी की है, भाषा भी साधारण व्रज भाषा है।

श्रीविट्ठल विपुल—इनका रचना-काल सं० १६१५ के लगभग जान पड़ता है। इनका जन्म-संवत् १५८० कहा जाता है। इन्होंने एक ग्रंथ ४० पदों का 'बानी' नामी लिखा, इसकी सं० १८७४ की लिखी प्रति छत्रपुर में है (मि० बं० वि० पृ० २६६) कविता तथा भाषा आपकी साधारण श्रेणी की ही है, अपने भानजे तथा गुरु श्रीहरिदास जी के मरने पर इन्होंने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली, जिसे, कहते हैं, श्रीकृष्ण जी ने स्वयं खोला था। एक बार रास के खेल में नाचते नाचते ये भक्ति से उन्मत्त हो पंचत्व को प्राप्त हुए।

विहारिनिदास—इनका कविता-समय सं० १६३० के समीप माना गया है, इन्होंने कबीर के समान 'साखी' नामी एक ग्रंथ बनाया जिसकी टीका किसी बाबा जी ने की। साखी एक प्रकार से दोहा छंद से पूर्णतया मिलती है। इस ग्रन्थ में कुछ तो छंद हैं, शेष दोहे हैं। कुल ६५० छंद हैं। इनका दूसरा ग्रंथ भी छत्रपुर में है जिसमें ११६ पद हैं। द्वि० त्रै० खोज में इनका 'समय-प्रबंध' नामी एक ग्रन्थ और प्राप्त हुआ है। ये श्रीहरिदास

जी के शिष्य थे, कविता इनकी साधारण ही है। विट्ठल विपुल के बाद श्रीहरिदास जी की गद्दी इन्हीं को मिली थी।

नोट—उक्त महात्माओं की रचनाओं के देखने से यह ज्ञात होता है कि संतों की रचना-शैली से कृष्ण-भक्त (उत्तरकालीन) भी प्रभावित हुए हैं, इन्होंने भी संत कवियों के समान साखी और बानी नामी शैलियों को उठाया या अपनाया है। कृष्ण-काव्य की पद-शैली का प्रभाव इन पर कम रह गया था। साखी एक प्रकार से दोहा छंद ही है, किन्तु उसे संत कवियों ने ख़ूब अपनाया और साखी की संज्ञा दी है, अस्तु यह उनकी ही शैली कही जाती है।

नागरीदास—आप हितवनचन्द्र के शिष्य थे, इनका रचना-काल सं० १६३० में माना गया है। इनके समय-प्रबंध नामी दो ग्रंथ मिलते हैं, प्रथम में सात-समय की सेवा (a time-table of Krishna-worship) श्री हितहरिवंश तथा कुछ अन्य महात्माओं के पदों का संग्रह है। दूसरे में इनके कुल ३३१ पद हैं। इन्होंने ६३५ दोहे भी लिखे हैं जो गंभीर भाव-पूर्ण और अच्छे हैं। काव्य, भाषा तथा भाव आदि आपके अच्छे और सराहनीय हैं। इनमें हित-संप्रदाय की भक्ति का प्राधान्य है।

भगवान-हित—आप श्री हित-संप्रदाय के अच्छे भक्त और कवि हुए हैं। इनके ग्रंथों का पता नहीं लगता, हाँ, इनके १० भजन सूर सागर (N K P) में मिलते हैं। कभी तो ये अपना नाम भजनों में "जन भगवान्" लिखते हैं और कभी हित भगवान, इस प्रकार इन्होंने कदाचित् सूरदास का अनुकरण किया है। ये श्री विट्ठलनाथ को अपना पूज्य मानते थे। इनकी कविता से भक्ति-रस का अच्छा आनंद मिलता है। कविता में माधुरी और सरसता ख़ूब है। इन्होंने नख-सिख का भी वर्णन किया है, वह भी बड़ा ही रोचक है। ये ब्रज भाषा की पद-शैली में ही रचना किया करते थे।

रसिक—ये श्री विट्ठलनाथ के शिष्य थे, इनका रचना-काल सं० १६३१ के समीप कहा गया है। कुछ स्फुट पद इनके श्रीमिश्र-बंधुओं के पास हैं, उनके लेखानुसार ये पद श्रीकृष्ण-लीला (बाल-लीला और शृङ्गार-पूर्ण लीला) के हैं। कविता साधारण श्रेणी की है।

हित रूपलाल गोस्वामी—आप चाचा हित वृन्दावन-दास के गुरु और राधावल्लभीय संप्रदाय के आचार्य थे, इनका रचना-काल खोज से सं० १६४० में जान पड़ता है। इनके कुल ८ ग्रन्थों का पता लगा है, जो अभी प्रकाशित नहीं हुए, हाँ छत्र-पुर में अब तक मौजूद हैं (मि० वं० वि० पृ० ३२७) कविता इनकी साधारण श्रेणी की ही मानी गई है।

नागरीदास—आप विहारिनिदास के शिष्य थे, रचना-काल इनका सं० १६५० में माना गया है। इन्होंने अपने पदों के साथ, हितहरिवंश, हित ध्रुव, व्यास, कृष्णदास आदि महा-त्माओं के भी पदों का संग्रह किया है, जो ६०५ पृष्ठों का है और छत्रपुर में है। कविता इनकी साधारण ही है।

लालनदास—सं० १६५० के लगभग में ये डलमऊ में रहते थे। शान्त रस तथा स्फुट विषयों पर इन्होंने अच्छे सानुप्रासिक तथा गंभीर छंद लिखे हैं। भाषा आपकी प्रौढ़ और भाव-पूर्ण होती थी। हाँ उस पर फ़ारसी भाषा की भी पुट रहती थी। आपने घनाक्षरी आदि बड़ी छंदें विशेष लिखी हैं। शृङ्गार रस की भी रचनायें आपकी अच्छी हैं।

नाभादास—आप एक प्रसिद्ध भक्त और सिद्ध महात्मा हो गये हैं। इन्होंने "भक्तमाल" नामी एक बृहद्ग्रन्थ रचा, जिसमें २०० भक्तों का वर्णन है। इसका रचना-काल सं० १६४२ और १६८० के बीच में माना गया है। इस ग्रन्थ से ही कदाचित् कवियों के वर्णनों को संग्रहीत करने की प्रणाली चली। महात्मा अग्रदास

इनके गुरु थे। इनकी जाति के विषय में बहुत मत-भेद है। इन्हें हनुमान वंशीय डोम कहा गया है।

भक्तमाल में कुल ३१६ छंद हैं, जिनमें छप्पय, घनाक्षरी का विशेष प्राधान्य है। इसमें सभी वैष्णव भक्तों का, जो ३०० या ४०० वर्षों के भीतर हुए हैं, वर्णन सूक्ष्म रूप में किया गया है। भाषा इसकी ब्रज भाषा है, भक्तों के संवतों का उल्लेख नहीं किया गया।

नाभादास की ही आज्ञा से उनके शिष्य **प्रियादास** ने सं० १७६६ में भक्तमाल पर एक विस्तृत टीका लिखी, यह टीका भी छंद-बद्ध है और इसमें कुल ६२४ छंद हैं। टीका में मूल छंदों का अर्थ गद्य में नहीं लिखा गया, वरन् मूल ग्रंथ की छंदों में जिन भक्तों का वर्णन किया गया है, उनकी जीवनियों पर टीका के द्वारा अधिक प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार प्रियादास ने भक्तों की बहुत सी नई बातों का भी उल्लेख किया है, जो मूल ग्रंथ में नही हैं। इस सटीक ग्रंथ की प्रकाशित प्रतियों में यत्र-तत्र अनेक अशुद्धियाँ और छंदोभंगादि की त्रुटियाँ हैं।

नाभादास ने दो अष्टयाम भी लिखे थे जो छत्रपुर में हैं। एक तो गद्य (ब्रज भाषा) में है और दूसरा पद्य में, इनमें क्रम से ५६ और ५० पृष्ठ हैं। "राम-चरित के पद" नामी एक और ग्रन्थ इनका द्वि० त्रैवार्षिक-खोज में प्राप्त हुआ है। अस्तु इन्हें हम **ब्रज भाषा के गद्य का भी लेखक** कह सकते हैं।

बनारसीदास—इनका जन्म-संवत् १६४३ है, इन्होंने 'अर्धकथानक' नामी एक ६७३ दोहे-चौपाइयों का ग्रन्थ अपने जीवन के सम्बन्ध में लिखा है। ये खरगसेन जैन जौहरी के सुपुत्र थे और जौनपुर तथा आगरे में रहा करते थे। अपने बुरे आचरण को इन्होंने आगे चल कर ख़ूब सुधारा और अपना एक श्रृङ्गार-रस का ग्रन्थ गोमती नदी में फेंक दिया। इन्होंने कई ग्रन्थों की

रचना की, जिनमें से बनारसी-विलास नाटक, समयसागर, नाम-माला, अर्धकथानक, बनारसी पद्धति, मोक्षपदी, ध्रुववंदना (च० त्रै० खो०) कल्याण-मंदिर (च० त्रै० खो०) वेद, निर्णय-पंचाशिका, मार्गणविद्या (खो० १६०० ई०) मुख्य हैं।

बनारसी-विलास २५२ पृष्ठों का एक संग्रह-ग्रन्थ है, जिसमें इनके घनाक्षरी, सवैया, छप्पय, दोहे, चौपाई आदि अनेक छंदों तथा ब्रज भाषा के गद्य-लेख हैं। नाटक समयसार एक उपदेशप्रद ग्रंथ है, नाटक-ग्रन्थ नहीं। महात्मा कुंदकंदाचार्य कृत इसी नाम के ग्रन्थ पर यह समाधारित है, इसमें १८० पृष्ठ हैं, नाममाला एक कोष है।

धर्मोपदेश पूर्ण आपकी रचनायें प्रशंसनीय हैं। आपके भजन या पद भी अच्छे बन पड़े हैं।

बाबा वेणीमाधवदास—आप उस्का ज़िला गोंडा के रहने वाले थे। आपके जन्म और मरण-सम्वत् १६२५, १६६६ हैं। सं० १६५२ में आपका रचना-काल माना गया है। आप गो० तुलसीदास जी के शिष्य थे। आपने गोस्वामी जी का एक जीवन-चरित्र भी "गोसाईं-चरित्र" के नाम से लिखा है, जो अभी प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ ने गोसाईं जी की जीवनी पर अच्छा प्रकाश डाला है। वैसे तो ग्रन्थ साधारण कोटि का ही है। इनकी और रचनाओं के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका।

सुन्दरदास—ये दादू पंथी एक अच्छे साधु हो गये हैं। ये दूसर (बनिया) थे और जयपुर के निकट दौसा में उत्पन्न हुए थे। इनका कविता-काल १६४६ से सं० १६७७ तक माना गया है। ये अच्छे भक्त और कवि थे। इनके छंद जहाँ तहाँ पाये जाते हैं। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से, हरिबोल चितावणी, साखी, सवैया, सुन्दर-सांख्य, तर्क-चिंतामणि, विवेक-चिंतामणि, बानी, ज्ञान समुद्र (सं० १७१०) ज्ञान-विलास, सुन्दर विलास, सुन्दर काव्य, सुन्दराष्टक (१३ अष्टक) सर्वाङ्ग योग,

सुख समाधि,स्वप्नबोध,वेद-विचार, सहजानंद गृहवैराग-बोध, त्रिविध अंतःकरण भेद, आदि मुख्य हैं। खोज में (प्र० तथा द्वि० त्रै०) रुक्मांगद की एकादशी कथा, ज्ञान सागर, विवेक चेतावनी, सुन्दर गीता और विचारमाला भी मिले हैं।

भाषा आपकी साधारण ब्रजभाषा और शैली भी साहित्यिक रूप में है। इन्होंने कवित्त, दोहे आदि सभी शैलियों में रचना की है। इन्हें फ़ारसी और संस्कृत का भी ज्ञान था। वेदान्त तथा योग से ये परिचित थे। कहीं कहीं, इनकी भाषा में पंजाबी और खड़ी बोली की भी पुट पाई जाती है। पं० चंद्रिकाप्रसाद तिवारी ने (दादू पंथी साधुओं के विषय में खोज करते हुए) सं० १६५३ में इनका जन्म और १७४६ में मृत्यु-काल दिया है।

तिवारी जी ने उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके और भी कई ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका उल्लेख मिश्र बन्धुओं ने भी विनोद में ३७३ पृ० पर किया है।

इन भक्त-कवियों के अतिरिक्त और भी बहुत से भक्तों ने कविता की है, किन्तु वे सब साधारण श्रेणी के भी नहीं हैं। इसी से हम उन सब कवियों को यहाँ नहीं दे रहे। मिश्र-बन्धु-विनोद में जो सूचियाँ दी हुई हैं उनके देखने से इन छोटे भक्त-कवियों का कुछ सूक्ष्म परिचय प्राप्त हो सकता है। *

अब हम यहाँ **मुसलमान कवियों** के भी विषय में कुछ

---

* हरिराय वल्लभीय—इनका रचना-काल सं० १६७७ के समीप माना गया है। इन्होंने ११ ग्रंथ रचे, जिसमें से ४ तो वार्ता ग्रन्थ हैं, ५—भागवती के लक्षण, ६—द्विदलात्मक स्वरूप विचार ७—गद्यार्थ भाषा ८—गो० के स्वरूप के चिन्तन का भाव ९—कृष्णावतार स्वरूप-निर्णय १०—सातों स्वरूप की भावना, ११—वल्लभाचार्य के स्वरूप का चिंतन-भाव, बरसोत्सव, यमुना जी के नाम प्रधान हैं।

सूक्ष्म परिचय दे देना उचित समझते हैं। भक्त-कवियों तथा उनकी रचनाओं का ही यह प्रभाव है कि इस काल में मुसलमानों ने भी कविता प्रारम्भ कर दी। अकबर तथा अन्य मुग़ल एवं हिन्दू राजा-महाराजाओं ने जब हिन्दी-साहित्य, हिन्दी-भाषा तथा काव्य को अपना कर उसे प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया तब मुसलमानों का भी ध्यान उनकी ओर खिंच आया। इस बात का पता लगाना बहुत कठिन या असाध्य ही सा है कि ये मुसलमान कवि वास्तव में मुसलमान थे या बनाये हुए मुसलमान थे। हम जहाँ तक विचार करते हैं हमें ये ऐसे मुसलमान जान पड़ते हैं जो वास्तव में मुसलमान न थे, वरन् कारण-वशात् हिन्दू से मुसलमान हो गये थे। यही कारण है कि इनको हिन्दी-काव्य तथा भाषा आदि से इतना अच्छा परिचय प्राप्त था तथा साहित्य की रचना-शैलियों का मार्मिक ज्ञान था। मुसलमान कवियों के ही प्रभाव से हिन्दी में फ़ारसी के शब्द एवं पद तथा हिन्दी-साहित्य में फ़ारसी साहित्य की शैलियों या भावावलियों का समावेश हो चला।

जिस प्रकार मुसलमानों ने हिन्दी-काव्य का प्रारम्भ कर दिया था, उसी प्रकार इसी काल से हिन्दुओं ने भी उर्दू और फ़ारसी में शायरी करना प्रारम्भ कर दिया था। राजा टोडरमल के विधान से फ़ारसी भाषा का राष्ट्र-भाषा होना और उसे अधिक प्रतिष्ठा पाना ही इसका मुख्य कारण ज्ञात होता है।

यों तो बहुत से मुसलमान कवियों ने हिन्दी-काव्य की रचनायें की हैं किन्तु उनमें से कुछ थोड़े ही ऐसे हुए हैं जिनकी रचनायें साहित्यिक श्रेणी में आ सकें और जो उल्लेखनीय हों। हम संक्षेप में उनकी विवेचना करके आगे चलेंगे। इन कवियों में से बहुतों ने तो केवल ब्रजभाषा ही में रचनायें की हैं, हाँ उसमें उन्होंने फ़ारसी भाषा के शब्दों, पदों तथा उसकी शैली आदि का अवश्य-

मेव समावेश किया है। कुछ ने हिन्दी भाषा को एक दूसरा रूप देने का प्रयत्न किया है और खड़ी बोली के रूप में भी एक भाषा का रूप रखकर कविता लिखी है, इन्हीं के समान कुछ अन्य कवियों ने हिन्दी को उर्दू में रूपान्तरित कर दिया है और उसे फ़ारसी से परिष्कृत करके एक स्वतंत्र तथा पृथक् उर्दू भाषा के रूप में प्रचलित कर दिया है।

मुसलमान कवि

मुसलमान कवियों में से परम प्रसिद्ध जायसी, अमीर ख़ुसरो, रहीम ख़ानख़ाना और रसखान का वर्णन हम प्रथम ही कर चुके हैं और इनकी रचनाओं का पर्याप्त विवेचन एवं विवरण भी हम प्रथम ही दे चुके हैं। अब हम यहाँ इनके अतिरिक्त दूसरे कुछ प्रधान मुसलमान कवियों का वर्णन सूक्ष्म रूप में करेंगे, क्योंकि ये लोग उक्त कवियों के समान अच्छे कवि नहीं ठहरते ।

क़ादिर बख़्श—ये हरदोई प्रान्त के पिहानी ग्राम में सं० १६३५ में उत्पन्न हुए। सैयद इब्राहीम इनके गुरु थे । इनका कविता-काल सं० १६६० के समीप माना गया है। इनकी बनाई हुई कोई पुस्तक तो नहीं मिलती किन्तु इनके कुछ स्फुट छंद अवश्य देखने में आते हैं। भाषा इनकी बोल-चाल की (उर्दू साँचे में ढली हुई) साधारण हिन्दी, जिस पर ब्रजभाषा की पूरी छाप है, ही जान पड़ती है, वह सरल और स्पष्ट है। उसमें सफ़ाई भी ख़ूब है। शैली भी इनकी साधारण ही है। कविता भी कुछ बहुत उच्च कोटि की नहीं कही जा सकती, ये वल्लभीय सम्प्रदाय के भक्त थे और भक्ति-काव्य लिखते थे।

मुबारक—इनका जन्म सं० १६४० में बिलग्राम ग्राम में हुआ। ये अरबी और फ़ारसी के विद्वान और कुछ कुछ संस्कृत से भी परिचित थे। हिन्दी में ये अच्छी रचना किया करते थे। इनके

"तिलक शतक" और "अलक शतक" प्रकाशित हो चुके हैं। नायिका के दस अंगों पर सौ दोहे आपने बड़े ही रोचक लिखे हैं। इनके बहुत से स्फुट कवित्त और सवैये संग्रह-ग्रंथों में मिलते हैं। इनकी कविता में कला-कौशल की भी कुछ पुट है, उत्प्रेक्षा इनकी बढ़ी चढ़ी जान पड़ती है। पदावली सुव्यवस्थित, सरस और रोचक होती है। अत्युक्ति में ये फ़ारसी या उर्दू शैली की ओर झुकते हुए जान पड़ते हैं। वर्णन-शैली आपकी चित्रोपम और उत्कृष्ट है। रूपक का आप अच्छा प्रयोग करते हैं। आपकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि आप अलंकृत काव्य को विशेष पसन्द करते थे, लिखा भी आपने ऐसा ही काव्य है।

ऐसे ही कवियों से अलंकृत-काव्य का प्रचार-प्राचुर्य हुआ है और उसको उदय तथा विकास पाप्त हो सका है। आपने दोहावली सतसई या शतक शैली को विशेष अपनाया है। कवित्त-सवैया की रचना-पद्धति का भी आप पर अच्छा प्रभाव पड़ा था और इसी से आपने इसके अनुसार भी कुछ रचना की है।

उसमान—ये ग़ाज़ीपुर-निवासी शेख़ हसन के पुत्र थे। जहाँगीर बादशाह के समय में इन्होंने सं० १६७० में "चित्रावली" नामी एक प्रेमात्मक कथा लिखी। इसकी रचना-शैली जायसी के ही समान है। कथा दोहों और चौपाइयों में लिखी गई है। काव्य साधारण श्रेणी का ही है। भाषा अवध प्रान्त में बोली जाने वाली ठेठ अवधी ही है। प्रेमात्मक प्रबन्ध या कथा-काव्य के प्रसंग में हमने इन पर तथा इनके काव्य पर प्रथम ही प्रकाश डाला है। उसी प्रसंग में हमने १—क़ुतबन शेख़ (सं० १५५८) उनकी "मृगावती" नामी पुस्तक, २—मंझन और उनकी "मधुमालती" नामी पुस्तक ३—शेख़नबी (सं० १६७६) तथा उनके "ज्ञानदीप" नामी सूफ़ी सम्बन्धी काव्य, ४—क़ासिमशाह (सं० १७८८) उनकी "हंस जवाहिर" नामी रचना ५—नूरमुहम्मद और उनकी

"इंद्रावती" नामी (सं० १८०६) प्रेम-कहानी तथा फ़ाज़िलशाह और उनकी "प्रेमरतन" नामी कहानी के विषय में भी पर्याप्त कथन कर दिया है।

यहाँ हम यह और कह देना चाहते हैं कि इन सब के अतिरिक्त भी कई मुसलमान कवियों ने साधारण कोटि की रचनायें की हैं। इन साधारण श्रेणी के कवियों में **१—फ़हीम** (रचनाकाल १६०७) जो शेख़ अबुल-फ़ज़ल के छोटे भाई थे और कुछ दोहे लिखते थे, बीजापुर-नरेश **२—इब्राहीम आदिल-शाह** (रचनाकाल १६०८ सं०) जिन्होंने रसों और रागों पर "नौरस" नामी एक अच्छी पुस्तक लिखी, ३—जलालुद्दीन (जन्म सं० १६१५) ४—जमालुद्दीन (पिहानी वाले जन्म सं० १६२५) ५—सै० इब्राहीम (पिहानी-रचनाकाल सं० १६५१) जो क़ादिर कवि के गुरु थे, ६—नज़ीर (आगरे वाले, रचना-काल सं० १६५७) जो उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे, ७—ताहिर (आगरा-निवासी) जिन्होंने, खोज से ज्ञात हुआ है, सं० १६७८ में "कोकसार" नामी एक पुस्तक लिखी थी, मुख्य हैं। शेख़नबी का वर्णन हम प्रथम ही लिख चुके हैं।

अब हम यहाँ कुछ उन स्त्रियों का भी सूक्ष्म परिचय दे देना उचित समझते हैं,जिन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में कुछ कार्य किया है। यद्यपि इन देवियों की रचनायें प्राप्त नहीं और जो प्राप्त भी हैं वे केवल साधारण श्रेणी की हैं, तथापि हम इनको यहाँ देना ठीक समझते हैं क्योंकि ये देवियाँ ही नेत्री थीं और इन्होंने अपने उदाहरण अन्य देवियों के सम्मुख रक्खे हैं।

स्त्री लेखिकायें

जैसा हमने प्रथम लिखा है कि हिन्दी-संसार में मीराबाई ही कदाचित् सब से प्रथम महिला-रत्न हैं, जिन्होंने हिन्दी में सुकाव्य-

रचना की है और स्त्री-संसार के सम्मुख अपना अनुकरणीय उदाहरण या आदर्श उपस्थित किया है। उनका प्रभाव यह पड़ा कि स्त्रियों ने भी हिन्दी-काव्य की रचना करना प्रारम्भ कर दिया। वीर-गाथा या जय-काव्य-काल में देशादि की परिस्थितियों तथा साहित्य की प्रचलित पद्धति के ऐसी होने से जिनमें केवल पुरुष ही भली भाँति कार्य कर सकते हैं, स्त्रियों ने साहित्यिक-रचना का स्तुत्य कार्य न कर पाया था, इस भक्ति-काल में उन्हें काव्य-रचना के लिये अच्छा प्रोत्साहन तथा सुअवसर प्राप्त हुआ।

स्त्रियों में धार्मिक विश्वासादि की जितनी अधिक मात्रा तथा धर्म के प्रति जितनी प्रीति-प्रतीति तथा श्रद्धा रहती है उतनी कदाचित् पुरुषों में नहीं होती। भक्ति और प्रेम का प्रभाव भी इन पर बहुत विशेष पड़ता है। सरसता, कोमलता और सहृदयता भी स्त्रियों में कम नहीं होती, ये ही सब बातें काव्य विशेषतया कृष्ण-काव्य के लिये विशेष आवश्यक या अनिवार्य हैं। ये ही सब कारण हैं कि धार्मिक काल में बहुत सी देवियों ने हिन्दी में काव्य-रचना की है।

इस काल में हिन्दू राजाओं तथा मुग़ल बादशाहों ने हिन्दी भाषा तथा हिन्दी-साहित्य को अपनाकर उसकी श्री-वृद्धि में सहयोग तथा उसके कवियों एवं उनकी रचनाओं को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया था। दरबारों में कवि लोग सदैव रहते तथा आया-जाया करते थे, उनके कारण वहाँ कवि-सम्मेलनादि भी हुआ करते थे, अस्तु इनके प्रभाव से राजघरों तथा बड़े २ आदमियों के घरों की स्त्रियाँ भी प्रभावित होती थीं और उनकी प्रवृत्ति काव्य-रचना की ओर आकृष्ट हो जाती थी। महात्माओं एवं भक्त-कवियों का भी उन पर पूर्ण प्रभाव पड़ता था, तीर्थ-यात्रादि में वे मथुरा-वृन्दावन आकर कृष्ण-भक्तों के भक्ति-काव्य का सुधारस प्राप्त करती थीं जिससे उनकी भी भावुकता एवं प्रतिभा उसी

पथ पर अग्रसर होने लगती थी। कृष्ण-भक्तों के पदों से सारा पश्चिमीय प्रान्त इतना गूँज उठा था कि प्रत्येक घर में वे पैठ-बैठ या रम-जम गये थे। स्त्रियाँ उन्हें बड़ी प्रसन्नता के साथ गाया करती थीं अतः उनसे प्रभावित होकर उनकी भी कवि-प्रतिभा या कल्पना भक्ति-काव्य की ओर प्रवृत्त हो जाती थी। यही कारण है कि स्त्रियों के द्वारा कृष्ण-काव्य ही विशेष रूप से लिखा गया है, राम-काव्य या अन्य विषयक काव्य प्रथम तो लिखा ही नहीं गया और यदि लिखा भी गया है तो बहुत ही कम।

यदि तनिक ध्यान से देखा जावे तो ज्ञात हो जायगा कि स्त्रियों के लिये भक्ति-काव्य ही विशेष उपयुक्त है, शान्त रस ही उनकी लेखनी के लिये समीचीन है। शृङ्गार उनकी स्वाभाविक तथा आदरणीय लज्जा के लिये उपयुक्त नहीं। वीर, वीभत्स, भयानक, रौद्र रस भी इसी प्रकार उनकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल नहीं ठहरते। हास्य और करुणा में वे कुछ कार्य कर सकती हैं, किन्तु उतना अच्छा नहीं जितना शान्त रस में कर सकती हैं। भक्ति-काव्य का प्राण शान्त रस ही है, अस्तु स्त्रियाँ इसी की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त हुई हैं और होती हैं।

हम यह दिखला ही चुके हैं कि समस्त पश्चिमीय प्रान्त के स्त्री-समाज पर कृष्ण-काव्य का पूर्ण प्रभाव पड़ा था, क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक और सर्व साधारण हो गया था, अतएव स्त्री-समाज पर ब्रज भाषा का भी पूर्ण प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी या अनिवार्य हो गया। यही कारण है कि प्रायः सभी देवियों ने ब्रज भाषा में ही विशेष रूप से रचनायें की हैं। ब्रज भाषा, मृदुल और मधुर होकर स्त्री-समाज या प्रकृति के अति अनुकूल पड़ती है, अतः स्त्रियों का उससे प्रभावित होना साधारण बात ही है।

यह भी एक स्पष्ट बात है कि स्त्रियों पर संगीत का प्रभाव पुरुषों की अपेक्षा विशेष पड़ता है और संगीत उनकी

प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है * इसीलिये स्त्रियों ने कृष्ण-काव्य की पद-शैली को विशेष अपनाया है और प्रायः सभी महिलाओं ने इसी शैली में रचनायें की हैं। पिंगल या छंद शास्त्र की छंदें उनके लिये सरल नहीं पड़तीं, केवल कुछ ही सरल एवं छोटी छंदें उनके लिये उचित या उपयोगी ठहरती हैं। विशेषतया ऐसी छंदें उनके लिये बहुत उपयुक्त जँचती हैं जिनकी रचना करना सरल, सीधा और अल्प प्रयासाभ्यास-साध्य हो और जिनमें संगीत को भी पुट हो। यही कारण जान पड़ता है कि स्त्रियों ने काव्य-रचना बड़ी और कठिन छंदों में नहीं की, वरन् छोटी, सुगेय या संगीतात्मक तथा सरल छंदों में की है। स्त्रियों में शिक्षा के अभाव से काव्य एवं छंद-शास्त्र का अच्छा ज्ञान भी न था।

अस्तु, इन बातों को ध्यान में रखकर हम पाठकों को स्त्री-साहित्य के अवलोकन की राय देते हैं। यहाँ हम केवल कुछ उन प्रधान महिलाओं का परिचय दे देते हैं, जिनकी रचनायें अवलोकनीय हैं।

श्री हितहरिवंश जी की दो चेलियाँ **"यमुना"** और **"गंगा"** थीं। इनका रचना-काल सं० १६७० के आस-पास माना गया है। इन्होंने पद-शैली में रचना की है, इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, हाँ कुछ स्फुट पद अवश्य मिलते हैं। इनका उल्लेख श्रीध्रुव कृत 'भक्त नामावली' में है।

सोनकुँवरि—इनका जन्म-सं० १६०१ और रचना-काल सं० १६३० के समीप माना गया है। यह महाराज जयपुर के वंश

---

* कृष्ण-काव्य को घरों घरों में रमाने-जमाने तथा व्यापक करने के लिये ही भक्त कविवरों ने संगीतात्मक पद शैली में कृष्ण-काव्य की रचना की है और पद-शैली को इस काव्य में प्रधानता एवं प्रबल प्रचुरता दी है।

—सम्पादक

की थीं और वल्लभीय संप्रदाय से भक्ति रखती थीं। प्रथम त्रै-वार्षिक खोज रिपोर्ट में इनकी एक रचना का उल्लेख मिलता है।

प्रवीणराय—ओरछा-नरेश श्रीइंद्रजीतसिंह के यहाँ यह वेश्या थी। यह बहुत ही सुयोग्या, सहृदया और काव्य-रसिका थी। इसी के लिये महाकवि एवं आचार्य केशवदास ने "कवि-प्रिया" नामी काव्य-शास्त्र का एक उत्तम ग्रंथ बनाया था। इसका चरित्र बड़ा ही पवित्र था। यह कविता भी किया करती थी, कुछ स्फुट छंदें इसकी मिलती हैं।

कशवदास जी ने इसकी बड़ी सराहना की है। रचना इसकी साधारण श्रेणी ही की है, किन्तु इसके स्त्री होने से वह सराहनीय है।

रानी रारधरी जी—यह राठौर-वंश की रानी थीं और सिरोही नामी स्थान में रहा करती थीं। इनका रचना-काल १६५१ सं० के आस-पास माना गया है। इनकी रचना प्राप्त नहीं होती।

पद्मचारिणी—यह बीकानेर के मलाजी संदू की सुपुत्री थीं, इनका रचना-काल १६५५ सं० में माना गया है। इनकी भी रचना प्राप्त नहीं होती।

ताज—एक मुसलमानिन थी, कृष्ण-भक्ति इसमें ख़ूब थी, रचना इस की साधारण है। यह भाषा खड़ी बोली से प्रभावित है।

केशव-पुत्रवधू—इनका नाम ज्ञात नहीं, यही ज्ञात हुआ है कि केशवदास जी की यह पुत्र-बधू थीं। इनका रचना-काल सं०१६६० के पूर्व माना गया है। इनकी कुछ कविता "सार-संग्रह" नामी ग्रन्थ में है।

कल्याणीदेवी—इनका उल्लेख "ध्रुव-भक्त-नामावली में है। इनका रचना-काल सं० १६६६ के आस-पास कहा जाता है, भक्ति-पूर्ण कुछ स्फुट भजन ही इनके मिलते हैं।

नवलादेवी—ध्रुव-भक्त-नामावली में इसका उल्लेख पाया जाता है। १६३६ के आस-पास ही इनका रचना-काल माना गया है। इनके भी कुछ स्फुट भजन पाये जाते हैं।

* इनके अतिरिक्त भी कई महिलाओं ने भक्ति-काव्य की रचना की है। उनमें से प्रधान देवियों का परिचय हम यथास्थान देंगे। अब हम इस काल की अन्य प्रकार की रचनाओं का सूक्ष्म विवरण देना ठीक समझते हैं।

भक्ति-काल में रासो आदि अन्य विषयक रचनायें

हिन्दी-साहित्य के प्रथम काल में रासो-ग्रंथों की रचना विशेष रूप से हुई है। उस पद्धति का इस भक्ति-काल में नितान्त लोप न हो गया था। यह अवश्य था कि इस पद्धति को तिरोभाव

---

* इस सम्बन्ध में देखिये प्रियवर ज्योतिप्रसाद मिश्र "निर्मल" सम्पादित तथा श्रीरसाल जी संनिरीक्षित "स्त्री कवि कौमुदी" नामी ग्रन्थ एक विशेष बात यह और है कि स्त्रियों ने कृष्ण-भक्ति-काव्य की रचना विशेष की है, प्रायः सभी देवियों ने कृष्ण-काव्य ही लिखा है। राम-काव्य नहीं लिखा और यदि कहीं किसी ने लिखा भी है तो वह नहीं के ही बराबर है। कारण इसका यह जान पड़ता है कि मानसिक भावनायें, वात्सल्य तथा प्रेम सम्बन्धी कल्पित लीलायें कृष्ण-काव्य में ही पाई जाती हैं, राम-काव्य में नहीं और स्त्री-समाज इन्हीं से विशेष आकृष्ट होता है यह स्वाभाविक ही सा है। माधुर्य भक्ति, जो स्त्रियों के सर्वथा उपयुक्त और अनुकूल होती है, कृष्ण-भक्ति में ही पाई जाती है। राम-काव्य-परम्परा तब प्रबल और प्रधान भी न थी।

सम्पादक—

या शैथिल्य अवश्यमेव प्राप्त हो गया था। पूर्व भक्ति-काल में तो केवल भक्ति-काव्य का ही प्राधान्य-प्राबल्य रहा, उत्तर काल में ही कुछ अन्य विषयक रचनायें हुई हैं।

इस काल में निम्नांकित रासो ग्रंथों की रचना का पता चलता है—१—**श्रीपाल रासो**—ब्रह्मराय मल जैन ने इसकी रचना सं० १६३० में की, यह १९०० ई० की खोज में प्राप्त हुआ है।

२—**कर सम्वाद रासो**—इसकी रचना सं० १५७५ में लावण्य समयमणि ने की थी। यह कथोपकथनात्मक जान पड़ता है।

३—**शील रासो**—जैत राम (जन्म-सं० १६०१, रचना काल १६३० सं०) ने इसकी रचना की थी।

४—**गुणराम रासो**—माधवदास चारण ने इसकी रचना-की। खोज सन् १९०१ में इसका पता चला है।

५—**राणारासो**—दयालदास ने इसकी रचना की। सन् १९०० की खोज में इसका पता चला, साथ ही "रासो को अंग (कदाचित् रासो का लक्षण ग्रन्थ) नामी दूसरे ग्रंथ का भी पता चला।

६—श्री शीलरासो (II) विजय देव सूरि (र०-का० १६५७) कृत। कदाचित् और भी रासो-ग्रंथ इस काल में लिखे गये हों, जिनका पता अभी नहीं लग सका। इन रासो-ग्रन्थों के आधार पर हमारा उक्त मत (कि रासो प्रणाली का शिथिल रूप अब भी था) पुष्ट हो जाता है।

यहाँ यह भी कह देना असंगत न होगा कि अब रासो-काल का ऐसा हाल न था। साहित्य की बहुत कुछ उन्नति हो चुकी थी और राजा-महाराजा भी उसका कार्य सुचारुता से करने लगे थे। ऐसे राजाओं में से मुख्य २ राजाओं के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१—**महाराज पृथ्वीराज, बीकानेर**—ये महाराज बड़े

ही देश-समाज-भक्त तथा काव्य-रसिक थे। इन्होंने ३ अच्छे ग्रंथ रचे—१—श्री कृष्णदेव रुक्मिणी वेलिखोज (१९०० की खोज में) २—श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-चरित्र ३—प्रेम-दीपिका।

२—**उदयसिंह**—मारवाड़ के महाराज थे, इनका कविता-काल सं० १६४२ में माना गया है। इनके एक ख़्याल का भी पता चला है।

३—**इन्द्रजीतसिंह**—(जन्म-सं० १६३७) यह ओरछा के महाराज थे, इन्हीं के यहाँ आचार्य केशवदास थे और प्रवीणराय वेश्या रहती थी। यह भी साधारणतया अच्छी रचना किया करते थे, किन्तु इनकी कोई पुस्तक मिलती नहीं। रचना-काल इनका सं० १६५५ में माना गया है।

४—**मुकुन्दसिंह हाड़ा**—(जन्म-सं० १६३५) कोटा के यह नरेश थे। इनका रचना-काल सं० १६६७ में माना गया है।

५—**मानसिंह**—यह जयपुर के नरेश और अकबर के सेनापति थे। इनका जन्म और रचना-काल सं० १५९२ और १६७५ में माने गये हैं।

भक्ति-काल में गद्य-रचना

यह हम प्रथम ही लिख चुके हैं कि महात्मा गोरखनाथ ने ही सबसे प्रथम गद्य-रचना का प्रारम्भ किया था। उनका गद्य क्या और कैसा था, यह भी दिखला ही चुके हैं। यह भी कहा जा चुका है कि उनके पश्चात् व्रज में वल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री स्वामी वल्लभाचार्य ने व्रजभाषा में गद्य-रचना का श्रीगणेश किया और उनका अनुकरण करते हुए उनके सुपुत्रों तथा शिष्यों ने भी गद्य-रचना की। इन रचनाओं में से निम्नांकित रचनायें मुख्य हैं:—

१—**श्रृंगार रस-मंडन**—श्री विट्ठलनाथ जी कृत राधाकृष्ण-विहार-वर्णन ५२ पृष्ठों में।

२—**नासिकेत पुराण**—श्री नन्ददासकृत, संस्कृत से ब्रज-भाषा-गद्य में अनुवादित-ग्रन्थ।

३—**२५२ वैष्णवों की वार्ता**—श्री विट्ठलनाथात्मज श्री गोकुलनाथ कृत, वैष्णव भक्तों की चरितावली है।

४—**८४ वैष्णवों की वार्ता**—श्री गोकुलनाथ कृत।

नोट—जान पड़ता है कि वार्ता लिखने की शैली सी कुछ चल पड़ी थी, क्योंकि इसी प्रकार की वार्तायें श्री हितहरि जी ने भी लिखी हैं। उक्त ग्रन्थ ब्रजभाषा के गद्य में हैं। मुग़ल-दरबार के प्रभाव से खड़ी बोली (उसके पूर्व प्रारम्भिक रूप में, जिससे यह खड़ी बोली और उर्दू निकली है) में भी गद्य-रचना हो चली।

५—**चंद छंद बरनन की महिमा** नामी पुस्तक ब्रह्म भट्ट गंग ने सं० १६२७ में खड़ी बोली में लिखी। यह पुस्तक केवल १६ पृष्ठों की है और विष्णुदास के द्वारा सं० १६२६ में लिखी गई थी। भाषा इसकी आधुनिक खडी बोली नहीं किन्तु तत्कालीन वह भाषा है, जिसमें क्रियाओं के कुछ रूप वर्तमान खड़ी बोली या उर्दू के रूपों से पूर्णतया मिलते हैं। अस्तु **गंग** को ही खड़ी बोली के गद्य का प्रथम लेखक माना गया है।

६—**उपदेशमाला बालबोध**—धर्मदास मणि (सं० १५८५ रचना-काल) ने गद्य में लिखा।

७—**गोरा-बादल की कथा**—खड़ी बोली को प्राधान्य देते हुए सं० १६८० में जटमल कवि ने इसे गद्य में लिखा। गंग के बाद इसी कवि को खड़ी बोली-गद्य का **द्वितीय प्रधान** लेखक कहा गया है। इसकी भाषा बहुत कुछ ब्रज भाषा से प्रभावित है। कारकादि के रूप तो खड़ी बोली के रूपों से मिलते हैं किन्तु क्रियाओं के रूप ब्रज भाषा की ओर विशेष झुकते हैं।

अब हम इस काल की अन्य प्रगतियों के उदय का सूक्ष्म विवरण देना उचित समझते हैं।

अलंकार—इसी काल में पिंगल (छंद) शास्त्र तथा काव्य (अलंकार और रस शास्त्र) पर भी कुछ कवियों ने लेखनियाँ उठाईं और दो चार पुस्तकें उक्त विषयों पर लिखीं, जिनका अब पता नहीं चलता। इन पुस्तकों में से निम्नांकित पुस्तकें उल्लेखनीय हैं :—

१—**नौरस**—बीजापुर-नरेश इब्राहीम आदिलशाह कृत रसों और रागिनियों की पुस्तक है।

२—**रामालंकार**—गोप (जन्म-सं० १५९०, रचना-काल १६१५) कृत अलंकार-ग्रन्थ।

३—**शृंगार सागर**—चरखारी वासी मोहनलाल मिश्र (चूड़ामणि के पुत्र) ने लिखा। रीति-ग्रंथ है।

४—**राम-भूषण**—
५—**अलंकार-चंद्रिका**— } गोपा (ज०-सं० १५९०, रचना-काल १६२०) कृत, अलंकार-ग्रंथ।

६—**समस्या चमन**—गोपाल (रचना-काल सं० १६२१) कृत समस्या-ग्रन्थ।

* यद्यपि इतने अलंकार ग्रन्थ बन चुके हैं तथापि वास्तव में अलंकार या काव्य शास्त्र का सर्वाङ्ग पूर्ण प्रथम ग्रन्थ कविप्रिया और प्रथम आचार्य श्री केशवदास जी को ही कहना चाहिये।

रीति-ग्रंथ—
* १—करण भरण
२—श्रुतिभूषण
३—भूपभूषण } करनेस वंदीजन (ज०-सं० १६११ रचना-सं० १६३७) कृत अलंकार ग्रंथ। अकबर के दरबार में यह आते जाते थे। इन्होंने खड़ी बोली में भी कविता की है, किन्तु वह साधारण श्रेणी की है।

काव्य या अलंकार-शास्त्र के ऐतिहासिक विकास के लिये हमारा "अलंकार पीयूष" नामी ग्रंथ का पूर्वार्ध देखना चाहिये।

यह तो स्पष्ट ही है कि इस काल में पद-शैली, दोहा-चौपाई तथा कुछ कुछ कवित्त-सवैया शैली का प्राबल्य था और दूसरी प्रकार की छंदें कवि लोग बहुत ही कम लिखा करते थे। प्रधान कारण यही था कि भाषा मे छंद-रचना-ज्ञान के लिये कोई उत्तम पिंगल था ही नहीं।

यदि कोई पिंगल लिखा भी गया हो तो उसका पता नहीं। केवल **"रसचन्द्रिका"** नामी एक पुस्तक श्री बाल कृष्ण त्रिपाठी-विरचित (जन्म-सं० १६३२ रचना-सं० १६५७) उल्लेखनीय मानी गई है, जो पिंगल या छन्द-शास्त्र के आधार पर है।

नाटक—इस काल मे कवियों तथा लेखकों ने अपना अपना ध्यान अन्य विषयों की रचना करने की ओर भी लगाया, अतः इस काल में रचना-प्रगति कई मार्गोन्मुखी हो गई। कई कवियों ने नाटक और महा नाटक भी लिखे जो अब प्राप्त नहीं। इनमें से निम्नांकित ही उल्लेखनीय हैं:—

१—जानकी-रामचरित्र नाटक—लल्लूलाल के वंशज हरीराम (रचना-काल १६५१ सं०) कृत।

२—करुणाभरण नाटक—कृष्ण-जीवन (पिता-नाम लच्छिराम, रचना-सं० १६५७) कृत (खोज १९०० ई०)

३—रामायण महानाटक—या महानाटक भाषा (खोज सन् १९०३ ई० में प्राप्त) प्राणचन्द्र (रचना-सं० १६६७) कृत।

अनुवाद—भक्ति के उत्तरार्ध में संस्कृत-ग्रंथों का भाषानुवाद करने पर भी लोगों ने बहुत ध्यान दिया है। कई सुप्रसिद्ध ग्रंथों के अनुवाद इस समय में हो गये। इनमें से गीत गोविन्द, हितोपदेश, एवं भोज-प्रबंध मुख्य हैं। अनुवाद के साथ ही साथ **टीका** करने की भी प्रणाली उठाई और बढ़ाई गई, गीता, हनुमन्ना-

टक, आदि प्रधान ग्रंथों की टीकाएँ उल्लेखनीय हैं। चूँकि इनका हमारे साहित्य से विशेष सीधा सम्बन्ध नहीं, इसलिये हम इनका विशेष वर्णन नहीं करना चाहते।

अन्यविषयक रचनायें—हिन्दी-भाषा का भंडार इस समय तक बहुत ही संकीर्ण तथा दीन दशा में रहा है। भक्ति-काल में भक्त कवियों के सराहनीय प्रयत्न से काव्यांग की तो अच्छी पूर्ति हुई, किन्तु अन्य विषयों या अंगों की श्री-वृद्धि न हो सकी। यह अवश्य है कि इस ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट होने लगा और लोगों ने अन्य विषयों की भी रचनायें प्रारम्भ कर दीं। इस प्रकार की उल्लेखनीय रचनायें बहुत ही अल्प संख्या में हैं।

राजनीति, शालिहोत्र, कोक, स्वरोदय, ध्रुवचरित्र, भरतरी चरित्र, उपदेश-सम्बन्धी बातों पर कई ग्रंथ रचे गये। खेद है कि इनमें से बहुतों का अब कुछ भी पता नहीं।

इसी समय से संग्रह-ग्रंथों की भी रचना का प्रारम्भ हुआ है, जिनमें से कतिपय संग्रह ग्रंथ अब तक विद्यमान हैं और जिनसे हिन्दी-संसार का बहुत उपकार हो रहा है।

समाचार पत्र—इतिहास से पता चलता है कि इसी समय से समाचार-पत्रों या अख़बारों का भी सूत्रपात हुआ, जिनमें मुसलमान बादशाहों या उनके अफ़सरों आदि की ख़बरें रहती थीं, उन्हीं को अख़बार कहते थे। ऐसे समाचार सूक्ष्मरूप में लिखे जाकर मुख्य मुख्य मनुष्यों में बाँट दिये जाते थे, वे उन्हें पढ़कर मुख्य मुख्य स्थानों में खड़े होकर लोगों को सुना दिया करते थे।

इस प्रकार हम इस काल की सूक्ष्म आलोचना करके, अब तृतीय काल में प्रवेश करते हैं।

नोट—यहाँ यह कह देना और भी आवश्यक जान पड़ता है कि इसी काल में **नीति-विषयक-काव्य की दोहा**

शतसई वाली शैली का भी उदय और विकास हुआ। श्री गो० तुलसीदास और रहीम इसके प्रमुख प्रवर्तक तथा प्रचारक कहे जा सकते हैं। इस नीति-काव्य में व्यावहारिक लोक-नीति तथा कुछ कुछ राजनीति के उपयोगी तथा उपयुक्त सिद्धान्तों को चारुता से देकर उनको पुष्ट करने के लिये उदाहरणों या दृष्टान्तों का भी प्रयोग करते हैं। इसी शैली को श्रीगिरधरदास ने **कुंडलिया-पद्धति में** ढाल दिया है।

संस्कृत—यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि इस समय के अवसान तक संस्कृत भाषा तथा उसका साहित्य जनता की पहुँच से बहुत दूर हो गया। उसकी रक्षा बड़े प्रयत्न और परिश्रम से केवल काशी जैसे केन्द्रों में विद्वान ब्राह्मणों के ही द्वारा होती रही। शाहजहाँ के समय तक विद्वान पंडित संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में कुछ कार्य भी करते रहे, यद्यपि वह कार्य सर्वथा मौलिक और साहित्य-श्री-वर्धक नहीं कहा जा सकता। प्राकृति तथा अपभ्रंश भाषा में केवल कुछ जैन लोगों को छोड़कर शेष सभी लोगों ने कार्य करना सर्वथा बंद ही सा कर दिया। ब्रजभाषा तथा हिन्दी के अन्य रूपों के प्रबल प्रचुर प्रयोग-प्रचार से ये सब भाषायें दब गईं।

उर्दू—शाहजहाँ बादशाह के समय से उर्दू भाषा, जो हिन्दी का ही एक रूपान्तर है और जिसे हम फ़ारसी-प्रधान हिन्दी या खड़ी बोली कह सकते हैं, प्रबलता से विकसित होकर निखरने विखरने लगी। इसका स्तुत्य विकास-प्रकाश प्रारम्भ तो दिल्ली और आगरे से हुआ (जहाँ के समीपवर्ती प्रदेश की बोली से इसका उदय हुआ है) किन्तु इसकी उन्नति दक्षिणीय हैदराबाद से हुई और फिर वहीं से इसकी साहित्य-रचना का विकास-प्रकाश उत्तर की ओर आकर दिल्ली तथा लखनऊ के केन्द्रों में विशेष रूप से हुआ।

काव्य-कला-काल

(समय—सं० १७०० से १९०० तक)

राजनैतिक दशा—हमारा यह काल शाहजहाँ के शासन के अंतिम काल से प्रारम्भ होकर मुग़ल-साम्राज्य के अवसान तथा मरहठों के उत्कर्षारम्भ-काल तक जाता है। इसका उत्तरार्ध-काल इसके आगे आता है और मरहठों के पतन तथा अंग्रेज़ों के उत्कर्षारम्भ-काल के पूर्व तक चलता है।

अलंकृत या रीति-काल के पूर्वार्ध समय में देश की राजनैतिक दशाओं या अवस्थाओं में कुछ परिवर्तन हुआ है। पश्चिमीय देशों के निवासियों का पदार्पण भारत में हो चला था, उन्हें यहाँ व्यौपार करने की आज्ञा प्राप्त हो चुकी थी। अंग्रेज़ लोग भी अपनी व्यौपारिक कम्पनी बनाकर (ईस्ट इंडिया कम्पनी, जिसके ही हाथ में शनैः शनैः भारत देश आकर इंगलैण्ड के राजा के हाथ में सन् १८५७ के पश्चात् आ गया है) यहाँ व्यौपार करने लगे थे, किन्तु इन लोगों के व्यौपारिक केन्द्र हमारी हिन्दी भाषा के क्षेत्र से बहुत दूर बंगाल के कलकत्ते, मद्रास तथा बम्बई में थे और इनका हमारे देश से बहुत ही कम सम्बन्ध था। जनता तो इनके सम्पर्क से बहुत ही परे थी अतएव इन लोगों (इनकी भाषा, सभ्यता, इनके साहित्यादि) का प्रभाव हिन्दी-क्षेत्र की जनता पर लगभग २ शताब्दियों तक अच्छी तरह न पड़ सका।

विदेशियों के कारण देश में लड़ाई-झगड़े हुए और कुछ अशान्ति भी उत्पन्न हुई, किन्तु सौभाग्य से वह हिन्दी के क्षेत्र से बहुत दूर दक्षिणीय भारत के दूरस्थ प्रान्तों में ही अपना प्रभाव डाल सकी। यहाँ उसका असर कुछ भी न पड़ा। अस्तु, उसकी चर्चा यहाँ व्यर्थ ही है।

शाहजहाँ के काल तक तो उत्तरीय भारत में सुख-शान्ति क

समय रहा, किन्तु उसके पश्चात् औरंगज़ेब तथा उसके भाइयों में युद्ध छिड़ गये, जिससे राजनैतिक क्षेत्र में अशान्ति उपस्थित हुई, किन्तु इस राज-गृह-कलह का प्रभाव देश की साधारण जनता पर पूर्णरूप से न पड़ा, क्योंकि जनता राजनैतिक बातों से सर्वथा परे ही रहती थी। हाँ कुछ राजपूत राजाओं तथा जागीरदारों के ऊपर इसका कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा, किन्तु उस प्रभाव से देश तथा समाज का कोई विशेष सम्बन्ध न था।

औरंगज़ेब के बादशाह होने तथा गद्दी पर बैठ जाने के बाद उसकी नीति से उत्तरीय भारत की जनता बहुत कुछ प्रभावित हुई। उसकी धार्मिक कट्टरता तथा उससे प्रेरित होकर उसके द्वारा निर्मित किये गये नवीन नियमों से देश तथा समाज में गड़-बड़ी आने लगी। फलतः देश की हिन्दू-जनता में असंतोष, आदि की भावनायें फैल गईं और हिन्दू लोग सशंकित हो गये।

औरंगज़ेब के दरबार में अब हिन्दुओं और हिन्दी आदि का वह स्थान न रहने लगा, जो प्रथम अकबर के समय में रहता था। अब तो हिन्दु-राजाओं के दरबारों में ही हिन्दी भाषा तथा हिन्दी-साहित्य का आदर-सत्कार होता था।

औरंगज़ेब की नीति से तंग होकर पंजाब प्रान्त में सिक्खों ने अपना सामाजिक संगठन इतना प्रबल किया कि उसके द्वारा वे अपनी स्वतंत्र सत्ता की बड़ी शान से रक्षा कर सके और उन्होंने अपने प्रान्त में अपना स्वराज्य सा भी स्थापित कर लिया।

सौभाग्य से औरंगज़ेब ने जितनी भी लड़ाइयाँ लड़ीं वे सब दक्षिण के ही मुसलमान-राज्यों के विरुद्ध लड़ीं, इस से भी हमारा हिन्दी-प्रान्त शान्त रह सका। हाँ उन लड़ाइयों तथा औरंगज़ेब की कुटिल नीति के कारण मरहठे लोगों में नवीन जाग्रति उत्पन्न हो चली और उन्होंने अपना सुदृढ़ संगठन कर

छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया।

औरंगज़ेब की भी शक्ति लड़ाइयों तथा उक्त नवीन राष्ट्रों की उत्पत्ति से घट चली और मरहठों की उठती हुई शक्ति के सम्मुख उसे नतमस्तक हो जाना पड़ा। अस्तु, मुग़ल-साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। इसी के साथ ही महाराष्ट्र साम्राज्य का उद्योत्कर्ष भी बढ़ चला। राजपूतों की दशा भी बहुत कुछ सुधर चली और पंजाब में सिक्खों की भी उन्नति होने लगी।

मुग़ल-साम्राज्य का पतन देख कर उसके आधीन रहने वाले नव्वाब लोग भी अपने अपने सूबों में स्वतंत्र हो चले। यह सब तो हुआ किन्तु इन सब राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव हिन्दी-प्रान्त की जनता पर विशेष रूप से न पड़ सका। अस्तु, इस प्रान्त में साहित्य-निर्माण का कार्य बराबर उन्नति के साथ होता ही गया।

धार्मिक दशा—धार्मिक आन्दोलन तथा धार्मिक भक्ति-काव्य से उत्तरीय भारत की धार्मिक सत्ता एवं महत्ता सुदृढ़ रूप से चिरकाल के लिये ऐसी स्थापित हो गई थी कि उसे औरंगज़ेब की धार्मिक कट्टरता तथा कुटिल नीति किसी प्रकार से भी हानि न पहुँचा सकी।

मुसलमानों ने, यद्यपि वे ऐकेश्वरोपासना के प्रेमी एवं नेमी थे, अब भारतीय आदर्श-वीरोपासना तथा ईश्वरोपासना के प्रभाव से, अपने पैग़म्बरवाद (पैग़म्बरोपासना) को विकसित एवं रूपान्तरित कर पीर, ग़ाज़ी आदि की पूजा का विधान चला दिया था और हिन्दुओं को भी छलबलादि से जैसे भी होता था, इनकी पूजा के लिये बाध्य करने लगे थे। गो० तुलसीदास ने प्रथम ही शिव तथा हनूमान की उपासना का विधान प्रारम्भ कर दिया था, अब लोगों ने इस ओर विशेष ध्यान

देना प्रारम्भ कर दिया। कदाचित् इसी समय में कई प्रकार के देवताओं की उपासनायें चल निकली हैं।

अब उत्तरीय भारत की धार्मिक दशा में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था। कई प्रकार के संप्रदाय, पंथ तथा मत चल पड़े थे। कबीरदास के शिष्यों तथा उनके शिष्यों के शिष्यों ने अपने २ स्वतंत्र मत या पंथ निकाल लिये थे, जिनका प्रभाव निम्न श्रेणी के लोगों में ही कुछ पड़ता था। भक्ति (राम तथा कृष्ण-सम्बन्धी) के आन्दोलन का प्रभाव बहुत ही प्रगाढ़ तथा प्रबल रूप में पड़ा था। विद्वानों में अब तक बहुत कुछ ज्ञानात्मक धर्म ही प्रधान रूप से प्रचलित था, यद्यपि विद्वान लोग भी अब भक्ति-सम्प्रदाय से प्रभावित हो रहे थे।

काव्य-रचना अब केवल भक्त-कवियों के ही समाज में संकीर्ण होकर न रही, वरन् अब उसकी ओर अन्य विद्वान् या सुपठित लोग भी आकृष्ट होने लगे थे।

केन्द्र—इसी से अब साहित्य-रचना का कोई केन्द्र-विशेष न रह गया था, वरन् भिन्न भिन्न स्थानों में जहाँ कवि लोग रहते थे, रचना-केन्द्र प्रगट हो गये थे तथापि हम कह सकते हैं कि इस काल में, जो प्रथम काल का ही उत्तर भाग कहा जा सकता है, पश्चिमीय प्रान्तों में ही साहित्य-रचना का कार्य विशेष रूप से हुआ है। पूर्वीय प्रान्तों में उसकी अपेक्षा साहित्य-रचना का कार्य बहुत ही न्यून हुआ है। पश्चिमीय प्रान्तों में ही हिन्दू-राजाओं के छोटे छोटे राज्य थे और उन्हीं में कवि लोग रह कर रचनायें किया करते थे। पूरब में लखनऊ आदि के नवाब थे, जहाँ उर्दू-साहित्य विकसित हो रहा था। अब कवि गण एक राज्य से दूसरे राज्य में भी जाने लगे थे, इससे भी हिन्दी-भाषा तथा साहित्य का विस्तार हो चला था, उसकी व्यापकता बढ़ने लगी थी और उसमें भिन्न २ प्रान्तों की भाषाओं तथा संस्कृतियों का प्रभाव पड़ने लगा था,

साथ ही हिन्दी तथा उसके साहित्य का भी प्रभाव अन्य भाषाओं पर पड़ रहा था। बुन्देलखंड तथा अन्य दक्षिणीय प्रान्तों में भी साहित्य-रचना का कार्य होने लगा था। इस प्रकार अब एक बहुत विस्तृत क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य की रचना का कार्य फैल चला था। साधारणतया हम कह सकते हैं कि इस समय में साहित्य-रचना के केन्द्र प्रायः राज-दरबारों में ही थे।

विचार-धारा—इस काल की विचार-धारा में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ था। इससे पूर्ववर्ती भक्ति-काल की सभी भावनायें इस काल में भी प्रगतिशील रही हैं। उनका कुछ साधारण रूप में ही थोड़ा सा विकास हुआ था। यह अवश्य हुआ कि समाज की रुचि, शृङ्गार रसात्मक भक्ति-काव्य के कारण कुछ शृङ्गार रस की ओर विशेष झुक गई थी और इसी कारण साहित्य की भी प्रगति शृङ्गार रस की ओर विशेष रूप से हो चली थी और इसी से इसे प्रौढ़ता भी प्राप्त हो गई काव्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले नायक-नायिका-भेद, शृङ्गार रस के आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव सम्बन्धी षट्ऋतु वर्णन आदि से। मुग़ल-दरबार की विलास-प्रियता तथा फ़ारसी भाषा के शृङ्गार प्रधान साहित्य से प्रभावित होकर राज-दरबारी तथा धनी मानी लोगों की, जो कवियों के आश्रयदाता होने लगे थे, विलासिता की रुचि भी अपना प्रभाव पूर्ण रूप से साहित्य पर डाल रही थी।

अतएव साहित्य में शृङ्गार रस की प्रधानता एवं प्रचुरता होने लगी। इससे चारित्रिक पवित्रता को कुछ धक्का भी पहुँचा, चारित्रिक ह्रास से इस रुचि को और भी प्रौढ़ता प्राप्त हुई और शुद्ध शृङ्गार के स्थान पर अश्लील शृङ्गार की बढ़ती सी होने लगी। शृंगार में भी विप्रलंभ का ही प्रचार विशेष हुआ।

अब चूँकि राज-दरबारों में कवियों का मान-सम्मान होने लगा था, उन्हें पुरस्कार प्राप्त होने लगे थे और कहीं कहीं जागीरें

या मुआफ़ियाँ भी मिलने लगी थीं, अतः हिन्दी-काव्य-रचना की ओर सभी पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान आकृष्ट होने लगा और बहुत से आदमी काव्य-रचना का प्रयास करने लगे। ऐसी दशा में काव्य-कला के रीति या लक्षण-ग्रंथों की महती आवश्यकता हुई, यही एक प्रधान कारण जान पड़ता है कि विद्वानों ने संस्कृत भाषा के रीति-ग्रंथों के आधार पर हिन्दी में भी सूक्ष्म रूप से प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले रीति-ग्रंथों का लिखना प्रारम्भ कर दिया। संस्कृत में ही सांगोपांग काव्य-शास्त्र भी था।

कुछ लोगों ने तो संस्कृत-ग्रंथों के मूल काव्य-नियमों का केवल अनुवाद ही किया और कुछ ने उनके आधार पर अपने स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे।

यद्यपि रीति-ग्रंथों की रचना का कार्य बहुत समय पूर्व (जय काव्य-काल) से प्रारम्भ हो चुका था किन्तु उसका विकास-प्रकाश तथा प्रबल प्राधान्य इस काल से पूर्व न हो सका, क्योंकि देश, काल एवं परिस्थतियों के प्रभाव से साहित्य को प्रगति इस ओर न होकर जय-काव्य तथा भक्ति-काव्य की ही ओर तब पूर्ण रूप से क्रमशः अग्रसर हुई। चूँकि अब धार्मिक सत्ता एवं महत्ता को एक प्रकार से (औरंगज़ेब के मर जाने तथा मुग़ल साम्राज्य के शिथिल हो जाने से) स्थैर्य सा प्राप्त हो गया था और भक्ति-काव्य से उसे पर्याप्त शक्ति एवं सुदृढ़ता प्राप्त हो चुकी थी इसलिये अब उसकी (धार्मिक या भक्ति काव्य की) उतनी प्रबल आवश्यकता न रह गई थी, हाँ उसमें यदा कदा नवीन शक्ति देने की ही थोड़ी बहुत आवश्यकता रह गई थी, जिससे उसका जीवन बराबर चलता जावे। अब तो आवश्यकता केवल नवीन कवियों तथा लेखकों के उत्पन्न करने तथा साहित्य को प्रौढ़ और कला-पूर्ण बनाने की ही थी, ताकि हिन्दू-जनता कलापूर्ण फ़ारसी-साहित्य की ही ओर, जिसका प्रचार-प्रस्तार ख़ूब बढ़ रहा था, न झुक जावे और अपनी

भाषा तथा अपने साहित्य को न खो बैठे। संस्कृत-साहित्य को हिन्दी और फ़ारसी की बढ़ती हुई प्रगतियों ने मृतप्राय कर शैथिल्य के गढ़े में गिरा ही दिया था, औरंगज़ेब के समय से तो उसकी रही-सही शक्ति या जीवन-लीला और भी अधिक क्षीण-हीन दशा को प्राप्त हो गई थी। ऐसी अवस्था में इस मृतप्राय, दिव्य तथा सर्वाङ्ग पूर्ण ज्ञानानुभवागार संस्कृत-साहित्य से जो कुछ भी मिल सके, उसे लेकर रख लेना ही अच्छा समझा गया। यही कारण जान पड़ता है कि विद्वान संस्कृत-साहित्यागार से रत्न ले लेकर उन्हें हिन्दी-साहित्य-सद्म में सजाने लगे। ऐसा करने से एक तो लोगों को यह ज्ञात हो गया कि हमारे संस्कृत-साहित्य में अनूठे रत्न भरे पड़े हैं, अतः ऐसे प्राचीन तथा प्रशस्त साहित्य की संरक्षा करनी चाहिये, दूसरे नवीन हिन्दी-साहित्य का भंडार इन रत्नों से भरा-पूरा हो चला और इनकी प्रतिभा का प्रकाश हो गया। साथ ही हिन्दी के लिये संस्कृत पर समाधारित रहना अनिवार्य भी था।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने के योग्य जान पड़ती है कि इसी समय से काव्य-रचना के सीखने की भी एक व्यवस्थित पद्धति सी चली। भक्ति-काल में ऐसी पद्धति न चल सकी थी। इसी समय से कदाचित् किसी विद्वान् कवि या काव्याचार्य के निकट रहकर लोगों ने काव्य-रचना की शिक्षा-दीक्षा लेना भी प्रारंभ कर दिया और इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परा की भी नीवँ पड़ी जो बहुत पल्लवित एवं पुष्पित न हो सकी। यह कदाचित् फ़ारसी तथा उर्दू के शायरों की गुरु-शिष्य (उस्ताद और शागिर्द) परम्परा की देखादेखी ही हुआ। पता चलता है कि केशव तथा मतिराम जैसे काव्याचार्यों के पास उनके शिष्य-गण काव्य-रचना सीखा करते थे। यही कारण है कि इस काल में काव्य-शास्त्र के रीति-ग्रंथों की तो प्रचुर रचनायें हुईं, किन्तु छंद-शास्त्र के रीति-

ग्रंथ बहुत ही अल्प संख्या में लिखे गये। हाँ यह अवश्यमेव हुआ कि प्रधान आचार्यों ने कतिपय नवीन छंदों का विकास किया। प्राचीन प्रचलित छंदों का नवसंस्कार, रूपान्तर तथा विकास करके कुछ ने कुछ नवीन छंदों की भी कल्पना की। यह होते हुए भी छंद-शास्त्र पर उतना प्रकाश न डाला गया जितना अलंकार-शास्त्र पर डाला गया। कवित्तादि कुछ वार्णिक छंदों को छोड़ कर हिन्दी में प्रायः मात्रिक छंदों का ही प्रचुर प्रचार हुआ।

यह हम दिखला ही चुके हैं कि राम-काव्य की रचना का कार्य गो० तुलसीदास के पश्चात् बहुत ही शिथिल हो गया था। रामायण का इतना आदर और प्रचार हुआ कि वह सारे देश में व्याप्त हो गई। वह इतनी सर्वाङ्गपूर्ण और उत्तम बनी कि किसी दूसरे कवि को फिर राम-काव्य के लिखने का साहस ही न हुआ। इसका प्राधान्य इतना बढ़ा कि सूर आदि की भी रचनायें इसके सामने दब सी गईं।

कृष्ण-काव्य के प्रभाव से शृङ्गार रस की प्रधानता तो हो ही गई थी, इधर उसमें कुछ विलासिता भी आ चली, जिसके प्रभाव से देश की चारित्रिक अवस्था को धक्का पहुँचने लगा, कदाचित् यह देखकर महाकवि एवं आचार्य केशवदास ने "रामचन्द्रिका" की रचना करके राम-काव्य की पवित्र रचना तथा काव्य-कला की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। द्वितीय ही में वे सफल हुए।

यद्यपि इस कला-काल में लोगों का ध्यान काव्य-कला-निरूपण और लक्षण-ग्रंथों की ही रचना की ओर विशेष रूप से अग्रसर होता रहा तथापि उनकी विचार-धारा बहुत कुछ भक्ति-काल में प्रवाहित की गई शृङ्गार-धारा के ही मार्ग से प्रवाहित होती रही। हाँ यह अन्तर अवश्यमेव हो गया कि भक्ति-पूर्ण शृङ्गार के स्थान पर अब लौकिक प्रेमी-प्रेमिका से सम्बन्ध रखने वाले वैषयिक शृङ्गार की प्रधानता हो गई। शृङ्गार-काव्य के लिखने के दो मुख्य मार्ग हो

गये, प्रथम तो वह हुआ जिसका आधार राधा-कृष्ण में रहता है। इन्हें नायिका-नायक मानकर कवि लोग अपने हृद्गत प्रेमोद्वेग-जन्य भावों का स्वतंत्रतापूर्वक प्रकाशन करने लगते हैं और इस से लौकिक विषय-वासना-पूर्ण शृङ्गार का उसमें प्राधान्य हो जाता है। राधा-कृष्ण तो शृङ्गार के आलम्बन हो जाते हैं और वह भी केवल गौण रूप से, प्रधान रूप से तो कवि और उसकी नायिका ही आलम्बन रहते हैं। केवल राधा-कृष्ण की ओट में कवि अपनी नायिका के साथ प्रेम-लीलायें करता हुआ कल्पना-कौतुक के साथ शृङ्गार-काव्य की रचना करता है। दूसरा मार्ग यह हुआ कि कवि एक कल्पित नायक और नायिका को लेकर उन्हें आलम्बन बनाता हुआ प्रेम-लीला सम्बन्धी शृङ्गार रसात्मक लौकिक विषय-वासनोत्पादक भाव-भावनाओं तथा बातों को प्रगट करता है। यहीं वैषयिक विलासिता की अश्लील झलक दिखलाई पड़ने लगती है। इन दोनों के साथ ही एक मध्यगत तीसरा मार्ग भी दिखलाई पड़ता है। इसमें कवि आलम्बन को न उठाकर उद्दीपन विभाव को ही अपनी काव्य-रचना का आधार बनाता है। शृङ्गार-रसोद्दीपक पदार्थों, समयों एवं दशाओं आदि का सांगोपांग वर्णन करना ही कवि को अभीष्ट रहता है। इसी के अनुसार इस काल में षटऋतु वर्णन आदि का प्राचुर्य मिलता है। सर्वत्र इस बात का अवश्यमेव ध्यान रहता है कि यह मुक्तक-काव्य सर्वथा ऐसा हो कि काव्य या अलंकार शास्त्र के रीति ग्रन्थों में उदाहरण के समान रक्खा जा सके।

इस प्रकार सूक्ष्म रूप से हम विचार-धारा, लोक-रुचि तथा उससे प्रभावित होने वाले साहित्य की प्रगति की ओर संकेत करके भाषा और रचना-शैलियों की ओर आते हैं, क्योंकि इनका परिचय भी प्राप्त करना आवश्यक है।

भाषा और रचना-शैलियाँ

यह तो स्पष्ट ही हो चुका होगा कि भक्ति-काल में हिन्दी की तीन बोलियाँ उठी और विकसित या परिमार्जित होकर साहित्यिक रूप में रूपान्तरित हो चलीं। एक ओर ब्रज में ब्रज की बोली उठकर सूर, नंद आदि जैसे महाकवियों की प्रतिभा और कुशलता से साहित्यिक ब्रजभाषा बन गई और इतनी प्रौढ़, परिष्कृत और सम्पन्न हो गई कि उसे साहित्यिक क्षेत्र में काव्य-भाषा के रूप से सर्वमान्य, व्यापक तथा सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया। दूसरी ओर अवध प्रान्त में वहाँ की अवधी भाषा उठी और जायसी के द्वारा साहित्यिक क्षेत्र में लाई जाकर गो० तुलसीदास जैसे महाकवि की प्रतिभा तथा कला-कुशलता से पूर्णतया संस्कृत और परिमार्जित होकर ब्रजभाषा के समान एक प्रौढ़ और सम्पन्न साहित्यिक भाषा सी हो गई। ब्रजभाषा के विशेष गुणों (जैसे माधुर्य, मार्दव, सारल्य तथा लालित्यादि) से समाकृष्ट होकर प्रायः सभी प्रान्तों के सभी मुख्य कवियों ने उसे ही अपनाया, उसमें रचनायें करके उसे सब प्रकार समृद्धि-श्री-सम्पन्न और उच्चकोटि की व्यापक और प्रधान काव्य-भाषा या साहित्य-भाषा बना दिया। इसके सामने अवधी भाषा का उत्थान न हो सका, क्योंकि अवधी भाषा में ब्रजभाषा के समान समाकर्षक तथा मनोरंजक गुणों की गरिमा-महिमा प्राचुर्य तथा प्राबल्य के साथ न थी। इन दोनों भाषाओं के साथ हिन्दी की एक और शाखा, जो दिल्ली के आसपास के प्रान्तों में बोली जाती थी, उठी और विशेषतया मुसलमानों के द्वारा अपनाई तथा फैलाई गई। इसी को खड़ी बोली की संज्ञा दी गई। आगे चल कर यही दो रूपों में प्रवर्तित होकर दो स्वतंत्र एवं पृथक् भाषाओं को उत्पन्न कर देती है। फ़ारसी से प्रभावित होकर एक ओर तो खड़ी बोली मुसलमानों की उर्दू

भाषा में रूपान्तरित हो जाती है और दूसरी ओर संस्कृत तथा उसके तद्भव एवं देशज शब्दादि से प्रभावित होकर नागरी खड़ी बोली के जिसे हिन्दुस्तानी भी कहते हैं, रूप में प्रचलित हो जाती है, यही संस्कृत एवं परिमार्जित होकर साहित्यिक हिन्दी के रूप में प्रवर्तित होती है, अस्तु।

हमारे कला-काल में इन्हीं बोलियों का प्रचार न्यूनाधिक रूप में रहा। मुसलमान लोग तो उर्दू को विकसित तथा परिमार्जित करने के प्रयास में दत्तचित्त होकर लगे रहे। हाँ कुछ मुसलमान ब्रजभाषा को ही अपना कर उसी में काव्य-रचना करते रहे। शेष सभी प्रान्तों के लेखक एवं कवि ब्रजभाषा को ही विशेष रूप से अपनाते रहे। पूर्वीय प्रान्तों के कविगण ब्रजभाषा को प्रधानता देते हुए अवधी तथा अपनी प्रान्तीय भाषा की भी पुट अपनी भाषा में देते रहे। इस प्रकार उनके द्वारा भाषा का विकास-प्रकाश भी होता रहा। कुछ हिन्दू लोग फ़ारसी और उर्दू में भी रचनायें करते हुए उनको विकसित तथा परिष्कृत करते रहे।

यह सब होते हुए भी, खेद से लिखना पड़ता है कि भाषा का व्याकरणानुसार सुसंस्कार न हो सका। बहुत ही कम लोगों ने इस ओर ध्यान दिया। जहाँ तक पता चलता है किसी भी आचार्य ने भाषा को विशेषतया साहित्यिक या काव्य-भाषा को व्याकरणानुसार सुव्यवस्थित तथा नियम-नियंत्रित करके स्थैर्य के साथ एक सर्वमान्य एवं व्यापक रूप देने की चेष्टा नहीं की। किसी ने भी व्याकरण लिखकर भाषा का रूप (शब्दों तथा वाक्यों के रूप) निश्चित न किया। विहारी, घनानंद जैसे केवल कुछ ही कविवरों ने एकरूपता के साथ अपनी काव्य-भाषा (ब्रजभाषा) को स्वनिश्चित विधान-व्यवस्था के आधार पर स्थिरता से चलाने और निवाह ले जाने का प्रयत्न किया है।

यह समय ऐसा था कि भाषा को स्थैर्य एवं निश्चित् रूप से एक-

रूपता का देना यदि असम्भव नहीं तो कष्ट-साध्य अवश्य था। इस समय लोगों की रुचि तथा देश-काल एवं परिस्थितियों के प्रभाव से कवि लोगों का ध्यान इस कार्य की ओर जा ही न सका। इस समय आवश्यकता इस बात की ही प्रधान रूप से प्रतिभात हुई कि हिन्दी में अनियंत्रित तथा सदोष काव्य-रचना (जैसी कबीर तथा उनके शिष्यादिक सन्त कवियों के द्वारा की जा रही थी और जिससे हिन्दी-काव्य-साहित्य को धक्का पहुँच रहा था, वह सदोष होकर जनता तथा विद्वत्समाज की दृष्टि से पतित होती हुई हिन्दी-साहित्य तथा उसमें रचना करने वालों को भी विगर्हित करा रही थी) को दूर किया जावे तथा उससे साहित्य के कलुषितादिक दोषों का निराकरण करने के लिये प्रथम काव्य-शास्त्र तथा छंद-शास्त्र की रचना करके नवोदित कवियों तथा अग्रिम कवियों को शुद्ध तथा अदोष काव्य-रचना की प्रक्रिया या व्यवस्था सिखाई जाय। बस इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये विद्वान् कविवरों ने अलंकार तथा पिंगल सम्बन्धी छोटे-बड़े ग्रंथों का लिखना प्रारम्भ कर दिया और सुविधा तथा सरलता को ध्यान में रखकर उक्त शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से ग्रन्थ (अनुवादित और रूपान्तरित रूपों से) नवोदित एवं भावी कवियों के लिये प्रस्तुत कर दिये। भाषा के व्याकरणानुसार सुव्यवस्थित तथा नियम-नियंत्रण से निश्चित करने का कार्य उन्होंने आगे के लिये छोड़ रक्खा इसीलिये हम देखते हैं कि इस काल में जब अनेक कवियों की लेखनियाँ काव्य रचनाओं से भाषा को प्रौढ़, परिपक्व तथा परिमार्जित कर रही थीं, तब भाषा की व्याकरणानुसार निश्चित सर्वमान्य व्यवस्था उसके च्युत संस्कृति-दोषों को दूर करने के लिये तथा उसे व्यापक और स्थिर बनाने के हेतु न हो सकी और भाषा में बहुत कुछ व्यैयक्तिक स्वातंत्र्य से अस्थिरता एवं अनिश्चितताजन्य अनेक-

रूपता, व्यवस्थादि में विभिन्नता, रूपान्तरता आदि की गड़बड़ी बनी ही रही।

यद्यपि बिहारी जैसे कविवरों ने अपनी पद्धतियों में भाषा को अपनी एक निश्चित व्यवस्था से एकरूपता देने की पूरी चेष्टा सफलता के साथ की तथापि उनकी उस व्यवस्था को सूचित करने वाले एक निश्चित व्याकरण के न होने से उनके पश्चात् अन्य कविगण उनके अनुसार भाषा को वैसी सुव्यवस्थित तथा निश्चित शैली से चलाने में असमर्थ ही रहे।

यद्यपि व्रज भाषा को विकसित तथा परिष्कृत करते हुए कुछ अच्छे आचार्यों ने कुछ निश्चित नियमों के द्वारा संस्कृत भाषा से शब्दों को लेकर उनके तत्सम रूपों के स्थान पर तद्भव तथा देशज रूपों के कल्पना करने की व्यवस्था की थी किन्तु उससे परिचय प्राप्त कराने की कोई भी पुस्तक उन्होंने न लिखी, अस्तु दूसरे कवि उसके ज्ञान से परे ही रहे और अंध-अनुकरण करते हुए शब्दों को अनियमित रूप से गढ़ते तथा तोड़-मरोड़ कर विकृत रूपों में प्रयुक्त करने लगे। इससे शब्दों के रूप भी स्थिर न हो सके, जिससे भाषा की गड़बड़ी और भी जटिल हो गई। उसमें अस्पष्टता तथा अनिश्चितता के भी दोष आ चले। इसी प्रकार वाक्य-विन्यास भी सुव्यवस्थित न किया जा सका और उसमें भी कवियों के स्वातंत्र्य तथा सुविनिश्चित व्याकरणाभाव से कतिपय दोष रह गये, जिनके कारण भाषा में स्वच्छता, धारावाहिकता तथा निश्चित सुव्यवस्थाजन्य सुबोधता पर्याप्त रूप में न आ सकी।

इन कारणों के साथ ही साथ मुसलमानों तथा उनकी फ़ारसी आदि का प्रभाव भी एक कारण भाषा की अनिश्चित शैली का कहा जा सकता है। इससे हिन्दी भाषा में दरबारी-कवि लोग फ़ारसी के शब्दों एवं पदों का अनियमित रूप से प्रयोग

करने लगे। इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी किया और साथ ही अवधी तथा ब्रज भाषा का सम्मिश्रण भी प्रारम्भ कर दिया। यह भाषा को विस्तृत तथा व्यापक बना कर सामान्य साहित्यिक रूप देने के लिये अच्छा और उचित तो है, तथापि ऐसा एक निश्चित स्थिर विधान के ही आधार पर होना सर्वतोभद्र और उपयुक्त है। ऐसा न होने से भाषा में गड़बड़ी आ जाती है। यह ठीक है कि भाषा किसी प्रान्त की बोली से परिष्कृत तथा परिमार्जित होकर साहित्यिक रूप धारण करती हुई प्रौढ़ होती है और जब वह सर्व-सामान्य एवं व्यापक रूप में आती हुई एक विशद साहित्यिक भाषा बनने लगती है तब अपने उद्गम या मूल प्रदेश की प्रचलित प्रयोग-परिपाटी की सीमा से बढ़ कर अपनी एक ऐसी विशेष विशद सीमा बनाने लगती है, जिसके अन्दर अन्य प्रान्तों की भी प्रचलित प्रयोग-परिपाटियाँ सामान्य रूप से आ जाती हैं। इस प्रकार वह साहित्यिक भाषा विशद, व्यापक और सर्व-सामान्य रूप में प्रवर्तित हो जाती है। इसके लिये यह आवश्यक ठहरता है कि भाषा में अन्य प्रान्तों की प्रचलित प्रयोग-परिपाटियों के आधार पर शब्दावली, एवं वाक्यावली तथा उनकी विधान-व्यवस्थादि की परिमार्जित तथा भाषा की साहित्यिक विशेषता के साँचे में ढली हुई पदावली का समावेश किया जावे, किन्तु ऐसा एक सुनिश्चित तथा स्थिर नियम-नियंत्रण के ही साथ किया जावे। ऐसा करते हुए भी इन सब बातों से परिचय देने के लिये एक सुन्दर तथा सर्वाङ्ग पूर्ण व्याकरण भी तैयार किया जावे, जिसके ही आधार पर कवि तथा लेखक भाषा का प्रयोग कर सकें। इसके साथ ही यह भी एक सुदृढ़ नियम रखा जाना चाहिये कि लेखक एवं कवि पूरी कट्टरता से भाषा का प्रयोग उसी निश्चित एवं स्थिर रूप से किया करें। ऐसा इस समय में न हो सका, इसी से भाषा में बहुत कुछ अनभीष्ट गड़बड़ी तथा जटिलता रह गई।

यह कहा जा सकता है कि यह काल साहित्य का निर्माण-काल था, न कि भाषा के परिमार्जन या संस्कार का काल था, किन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि साहित्य-निर्माण के पूर्व ही (या उसके साथ ही) भाषा को एकरूपता देना तथा उसका सुसंस्कार करना आवश्यक तथा अनिवार्य है, ऐसा किये बिना साहित्य का एक व्यवस्थित तथा स्थिर निर्माण नहीं हो सकता। यह बात हमारे कवि एवं लेखक बिलकुल ही न सोच सके। हमारे देश में संस्कृत भाषा के निर्माण के पश्चात् समय एवं परिस्थितियों के प्रभाव से विद्वानों को भाषाविज्ञान तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले व्याकरणादिक विषयों या उनके सिद्धान्तों के आधार पर भाषा के एक विनिश्चित साहित्यिक रूप के निरूपण करने का अवकाश एवं ध्यान ही न हुआ, इसी से ये कार्य ज्यों के त्यों ही पड़े रहे।

साहित्यिक भाषा को स्थिरता के साथ सुव्यवस्था, व्याकरणानुसार नियमों से नियंत्रित करके एकरूपता तथा सर्वमान्य (सामान्य) व्यापकता देना अनिवार्य ही है, ऐसा न होने से भाषा, न केवल विदेशियों के ही लिये, वरन् देश-वासियों के भी लिये परिवर्तन-प्रभावित रूपान्तरों एवं अनिश्चित व्यवस्था-विधानों की दुरूह जटिलता के कारण सुबोध तथा स्पष्ट नहीं रह जाती। जिससे साहित्य की स्थिरता तथा समाज को उससे लाभ उठाने की प्रगति को बाधा पहुँचती है। यही बात इस काल में देखी जाती है। कवि लोगों ने भाषा की निश्चित प्रगति या शैली की अविद्यमानता तथा उसके व्याकरण की अनुपस्थिति में अन्य बोलियों एवं भाषाओं का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। कारक-चिह्नों और क्रियाओं के रूपों का भी, जिनका स्थिर एवं निश्चित रखना भाषा, साहित्य तथा समाज के लिये अनिवार्य एवं अतीवावश्यक है, मनमाना, यथायत्र प्राप्त प्रयोग करना अपनी

कवि-प्रतिभा का स्वतंत्राधिकार सा समझ लिया। परिणाम यह हुआ कि देना क्रिया के सामान्य भूत काल में, दीन्हा, दीन्ह्यो, दीन, दियो, आदि अनेक या कई रूप-रूपान्तर हो गये और इनके प्रयोगों के विषय में कुछ भी निश्चित व्यवस्था या एक नियम न रहा। अस्तु भाषा में अस्थिरता बनी रही।

भक्ति-काल में ही काव्य-भाषा को विशदता देने तथा उसे बहुत दूर तक सर्वमान्य एवं व्यापक बनाने के लिये, कतिपय कविवरों ने उसमें अन्य बोलियों एवं भाषाओं के शब्दों तथा पदों का समावेश करना प्रारम्भ कर दिया था, वास्तव में उनका ऐसा करना उपयुक्त एवं उपादेय भी था, क्योंकि जब तक काव्य-भाषा औदार्य के साथ विशद हो विस्तृत नहीं हो जाती तब तक उसका साहित्य संकीर्ण सीमा से निकल कर विस्तृत होता हुआ दूर तक सुबोध और सराहनीय हो नहीं फैल सकता, उसमें सर्वसामान्य व्यापकता नहीं आ पाती, जिसके कारण कवियों एवं लेखकों को श्रम का पुरस्कार रूप सुयश भी प्राप्त नहीं होता। अतः काव्य-भाषा को विशद एवं व्यापक बनाना सर्वतोभावेन ठीक है, किन्तु ऐसा करने के लिये उसमें अन्य भाषाओं तथा बोलियों के भावपूर्ण सुन्दर शब्दों एवं पदों का ही समावेश करना ठीक होता है न कि उन भाषाओं या बोलियों की कारक-विभक्तियों तथा क्रियाओं की रूपान्तरकारी प्रत्ययों आदि का समावेश करना क्योंकि इनके समावेश से भाषा का रूप ही बदल जाता है और वह परिवर्तित होती हुई अनिश्चित तथा दुर्बोध सी हो जाती है। इससे उन लोगों या विद्यार्थियों को भी बड़ी कठिनाई पड़ती है जो या तो आप्तकवियों की रचनाओं का अध्ययन तथा उससे भाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं या भाषा-विज्ञान के आधार पर भाषा की विकास सम्बन्धी बातों या नियमों की खोज करते हुए उनका सांगोपांग अध्ययन करना चाहते हैं।

कविवर दास ने अपने काव्य-निर्णय में काव्य-भाषा पर कुछ प्रकाश डाला है किन्तु वह इतना प्रारम्भिक (Primary or elementary) है कि उससे पर्याप्त ज्ञान उस विषय का नहीं हो सकता, यही कारण है कि कवियों को उससे कुछ भी सहायता न मिल सकी और वे मनमाने ढंग से भाषाओं का सम्मिश्रण करने लगे। काव्य-भाषा को विशदता देने के ही लिये दास ने भी उसमें अन्य भाषाओं के शब्दों के समावेश की राय दी है और यह भी लिखा है कि ऐसा करते हुए भी भाषा की स्पष्टता को वाधा न पहुँचे। तात्पर्य यह है कि अन्य भाषाओं के चिर प्रचलित तथा परिचित शब्दों का ही समावेश होना चाहिये। ऐसा होने पर भाषा को अन्य भाषाओं के प्रभावानुसार भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभक्त कर देना तथा आवश्यकता या प्रयोगानुसार उनका प्रयोग करना चाहिये। दास जी ने इसकी भी सूचना दी है। सदा इस वात का ध्यान रहना चाहिये कि अन्य भाषाओं की पदावली के समावेश से अपनी भाषा की स्वतंत्र सत्ता, महत्ता तथा चिर प्रचलित या परिचित संस्कृति को आघात न पहुँचने पाये। भाषा की स्वतंत्र सत्ता तथा महत्ता का रक्षित रखना भी एक राष्ट्रीयता-प्रेमी आत्माभिमानी कवि या लेखक के लिये अनिवार्य रूप से परमावश्यक है। इसके लिये यह करना समीचीन सिद्ध होता है कि अन्य भाषाओं के भावपूर्ण तथा सुन्दर शब्दों को, जिनका अपनी भाषा में रखना आवश्यक प्रतीत हो, अपनी भाषा की शब्द-रचना-पद्धति के आधार पर देशज या तद्भव रूप दे दिया जावे और तब उनका समावेश किया जावे। हमारे तुलसीदास जैसे विद्वान महाकवियों ने ठीक इसी प्रकार किया है, ग़रीब (फ़ारसी) के स्थान पर गरीब, निवाज़ (फ़ा०) के स्थान पर नेवाज शब्द देशज रूप में ही रक्खे हैं। इस वात का भी ध्यान रखना चाहिये कि अन्य भाषा के देशज रूप में ढाले गये नवीन

किन्तु चिर परिचित या प्रचलित शब्दों का प्रयोग उचित स्थानों पर ही किया जावे, बेमौक़े और बेढंगे तौर पर उनका उपयोग न करना चाहिये, नहीं तो अभीष्ट फल न प्राप्त हो सकेगा। कला-काल में भाषा तथा साहित्य की परम्परागत व्यवस्थाओं एवं पद्धतियों का पूर्ण परिचयाभ्यास न रखने वाले बहुत से निम्न श्रेणी के कवियों ने ऐसा ही किया है, जिससे उनकी भाषा बिगड़ गई है।

विदेशी शिष्टता, सभ्यता तथा साहित्य पद्धति आदि से प्रभावित होना प्रत्येक कवि के लिये सहज बात है किन्तु उनके प्रभाव से उत्पन्न होने वाले भावों आदि को अपने यहाँ की पद्धतियों आदि के साँचे में ढाल कर ही अपनी रचनाओं में रखना कुशल कवि का कर्तव्य कहा जाता है। ऐसा न करने से अपनी स्वतंत्र तथा चिर-प्रचलित संस्कृति को गहरा धक्का पहुँचता है और इसका प्रभाव या फल अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्र सत्ता तथा सम्मान पूर्ण समय-सम्मानित महत्ता पर भी बुरा पड़ता है। रीति-काल में निम्नकोटि के कवियों ने फ़ारसी साहित्य तथा संस्कृति से प्रभावित होकर उनके कितने ही भाव ज्यों के त्यों रख दिये हैं, जिससे साहित्य की संस्कृति को हानि पहुँची है।

अब निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इस कला-काल में भाषा के क्षेत्र में रहा प्राधान्य तो व्रजभाषा का ही, किन्तु भाषाओं के संमिश्रण से उसके कई रूप-रूपान्तर हो गये, जिससे काव्य-भाषा की स्थिरता, एकरूपता और उनसे उत्पन्न होने वाली सुव्यवस्था, स्पष्टता तथा सुबोधता को धक्का पहुँचा। लक्षण-ग्रंथों की रचना प्रायः अवध प्रान्त में विशेष रूप से हुई, अतएव उनकी व्रजभाषा में अवधी भाषा की बहुत अधिक अंश में पुट आ गई है। साथ ही राज-दरबारों के कवियों ने वहाँ व्यवहृत होने वाली फ़ारसी या उर्दू के प्रभाव से प्रभावित होकर अपनी

भाषा में फ़ारसी शब्दों एवं भावों की भी पुट लगा दी है। एक ओर तो यह हुआ दूसरी ओर फ़ारसी से परिष्कृत करके मुसलमानों ने हिन्दी की एक शाखा खड़ी बोली को उर्दू में रूपान्तरित कर दिया और उस उर्दू और उसके साहित्य को स्वतंत्र स्थान दे दिया।

संस्कृत—यहाँ पर यह भी लिख देना ठीक जान पड़ता है कि इस काल में संस्कृत का पठन-पाठन तो कुछ बढ़ गया और कवि लोग संस्कृत का अध्ययन करके उसके अलंकार-ग्रन्थों का अनुवाद करने लगे और उसके साहित्य से सुन्दर सामग्री लेकर उसका अपनी रचनाओं में उपयोग करने लगे, किन्तु संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य में अधिक शिथिलता या क्षीणता आ गई। उसके क्षेत्र में मौलिक कार्य का नितान्तमेव अभाव हो चला। केवल कुछ ही स्थानों की विद्वत्समाज में इसका प्रचार रह गया। हिन्दी के विशद प्रचार से इसके प्रचार-प्रस्तार की सीमा परम संकीर्णता को प्राप्त हो गई। हाँ इसके रत्नागार से रत्नों के लेने के लिये इसका पठन-पाठन अवश्य बना रहा। फ़ारसी के प्रचार से, चूँकि वह राजभाषा हो गई थी, इसे धक्का पहुँचा, किन्तु उसके आघात को हिन्दी के उत्थान एवं प्रचार ने बहुत ही कम कर दिया।

फ़ारसी और उर्दू—फ़ारसी के पठन-पाठन का प्रचार राजा टोडरमल के समय से ही देश में, उसके राजभाषा किये जाने पर, बढ़ चला था, वह भक्ति-काल में बढ़ता ही गया, क्योंकि मुग़ल-साम्राज्य उस समय अच्छी दशा में बढ़ता रहा। कला-काल में यद्यपि मुग़लसाम्राज्य का ह्रास या पतन हो चला, तो भी फैल चुकी हुई फ़ारसी भाषा का पठन-पाठन बंद न हुआ। सभ्य समाज में फ़ारसी का प्रचार प्रायः वैसा ही बना रहा। यह अवश्य हुआ कि भक्ति-काव्य तथा कला-काव्य के

प्रबल प्रभाव से सर्व साधारण जनता में फ़ारसी का प्रचार-प्रस्तार न हो सका। भक्ति-काल के अवसान तथा कला-काल में फ़ारसी को यदि विशेष आघात पहुँचा तो वह उसी के साँचे में ढाली गई उर्दू नामी खड़ी बोली के विशेष रूप वाली भाषा के प्रचार-प्रस्तार से ही पहुँचा है। उर्दू ही ने मुसलमानों तथा सभ्य हिन्दुओं की समाज में फ़ारसी का स्थान प्राप्त कर लिया। इसके काव्य ने फ़ारसी-काव्य को लुप्तप्राय कर दिया। उर्दू का विकास-प्रकाश धीरे धीरे फ़ारसी को क्षीण करता हुआ बढ़ चला।

हिन्दी काव्य की रचना-शैली—यों तो इस कला-काल में प्रायः उन सभी शैलियों में काव्य-रचनायें की गई हैं जो इसके पूर्ववर्ती भक्ति-काल में कवियों एवं महाकवियों के द्वारा उठाई और विकसित की गई थीं तथापि इस काल में मुक्तक काव्योचित कवित्त-सवैया वाली रचना-शैली का विशेष प्राधान्य-प्राचुर्य रहा। कवित्त (घनाक्षरी) एवं सवैया नामी छंद ही कवियों की सर्वाधिक प्रिय छंदें रहीं। इसका कारण मुख्यतया यही जान पड़ता है कि इस काल में शृङ्गार एवं वीर रसों के मुक्तक काव्य का ही विशेष प्राधान्य रहा और इसके लिये ये छंदें विशेष उपयुक्त तथा उपादेय ठहरती हैं। कवित्त शृङ्गार के उपयुक्त तो है ही, वीर रस के लिये भी वह तनिक स्वरान्तर (नादान्तर) से उपयुक्त हो जाता है। सवैया शृङ्गार और करुण (जो विप्रलम्भ या वियोग शृङ्गार में कुछ न्यूनाधिक अंश से आ ही जाता है) रसों के लिये सर्वथा समीचीन ठहरती है।

इस काल में प्रबंध-काव्य की रचनायें बहुत ही कम हुई हैं, इसीलिये तदुपयुक्त दोहा-चौपाई वाली शैली का बहुत ही कम व्यवहार किया गया है। केवल व्रजवासीदास जैसे कुछ इने गिने प्रबंध काव्यकार कवियों ने ही इस शैली का प्रयोग किया है। आचार्य केशवदास ने प्रबंध-काव्य की रचना-शैली में विविध

छंदात्मक शैली के प्रयोग से रूपान्तर उपस्थित किया, किन्तु उनका अनुकरण अन्य कवियों ने न किया। हाँ उनकी "रामचंद्रिका" अपनी शैली की एक अप्रतिम रचना होकर अमर हो गई। मुक्तक काव्य-रचना के प्रावल्य-प्राचुर्य ने प्रबंध-काव्य की रचना को आगे उठकर बढ़ने ही नहीं दिया और केशव की इस विविध-छंदात्मक प्रबंध-काव्य-शैली का उपयोग भी न हो सका।

नीति-काव्य-रचना के क्षेत्र में दोहात्मक शतसई शैली ज्यों की त्यों ही चलती रही, हाँ आगे चल कर उसमें श्रीगिरधर कविराय के द्वारा कुण्डलिया-शैली से रूपान्तर किया गया।

कृष्ण-भक्ति की काव्य-रचना में भी कवित्त-सवैयात्मक शैली का प्रयोग बढ़ गया जिससे उसकी पद-रचना शैली को दब जाना पड़ा। बहुत से सुकवियों ने पदों का प्रयोग कृष्ण-काव्य में किया है। जिन्होंने इसका प्रयोग किया है वे प्रायः भक्त (साधु) कवि ही हैं। राम-काव्य की रचना में भी कवित्त-सवैया वाली शैली का उपयोग किया गया है, इसका सूत्रपात या श्रीगणेश गो० तुलसीदास ने ही अपनी कवित्तावली में कर दिया था। इसी का अनुकरण राजा रघुराजसिंह आदि ने आगे किया है। केशव की विविध छंदात्मक शैली का अनुकरण नहीं हुआ, क्योंकि यह शैली साधारण कवियों के लिये जो पिंगल या छंद-शास्त्र में पूर्ण पटुता नहीं रखते और विविध प्रकार की छंदों के रचने में अभ्यस्त नहीं होते थे, वरन् केवल कुछ ही अति प्रचलित छंदों की रचना में अभ्यास कर लेते थे, अति कष्टसाध्य या असाध्य सी ही ठहरती है।

लक्षण-ग्रन्थों के लिखने वाले कवियों में से कुछ ने तो कुवलयानंद और चंद्रालोक के अनुकरण में दोहा-शैली का उपयोग किया है और लक्षण (परिभाषा) तथा उदाहरण दोनों दोहों में दिये हैं और कुछ ने दोहात्मक तथा कवित्त-सवैयात्मक दोनों शैलियों का

प्रयोग किया है, लक्षणों को दोहों में लिखकर उनके उदाहरण कवित्तों या सवैयों में दिये हैं। प्रथम प्रकार के कविवरों में राजा जसवन्तसिंह आदि और द्वितीय प्रकार के कवियों में दास आदि आते हैं। साथ ही कुछ ने विविध छंदात्मक शैली का भी उपयोग किया है, किन्तु ऐसे बहुत ही कम कवि हुए हैं। दूलह कवि ने अपने लक्षण-ग्रंथ (कंठाभरण) में केवल कवित्त-सवैयात्मक शैली का ही उपयोग किया है। * अस्तु अब हम रीति-ग्रंथों तथा उनके लेखकों की सूक्ष्म आलोचना करना उचित समझते हैं।

लक्षण-ग्रन्थ और कवि (ऐतिहासिक)

यह किसी से भी छिपा नहीं कि संस्कृत-साहित्य में काव्य-शास्त्र की रचना तर्कात्मक व्याख्या तथा विवेचना से बड़े ही सांगोपांग रूप में प्रथम ही की जा चुकी थी, हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य के बहुत समय पूर्व से ही विद्वानों संस्कृत में काव्य-शास्त्र के सभी अंगों का विशद निरूपण कर चुके थे। यद्यपि देश-कालादि की परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से संस्कृत-साहित्य के निर्माण का कार्य क्रमशः शिथिल होता आ रहा था, तो भी यत्र तत्र विद्वान संस्कृतज्ञ साहित्यसेवी निस्वार्थ भाव से (साहित्य-निर्माण में जिसकी अतीवावश्यकता है) उसकी कुछ कुछ श्री-वृद्धि करते ही जाते थे, यहाँ तक कि इस गई-बीती दशा में भी, जब संस्कृत भाषा तथा साहित्य को एक प्रकार से पूर्ण शैथिल्य प्राप्त हो चुका था और हिन्दी भाषा तथा साहित्य का प्रति दिन अभ्युत्थान होता आ रहा था, विद्वान इसका कार्य करते हुए इसकी मर्यादा के सुरक्षित रखने का उद्योग करते जा रहे थे।

---

* इसका विस्तृत विवरण देखिये "रसाल जी के अलंकार पीयूष" नामी ग्रंथ के पूर्वार्ध में। सम्पादक—

हिन्दी भाषा का यह सौभाग्य था कि उसके साहित्य-प्रासाद के लिये संस्कृत-साहित्य का सुदृढ़ और सच्चा आधार तथा उसकी सामग्री प्रथम ही से तैयार थी, हिन्दी के कला-कुशल कविराजों को उस सामग्री से अपनी इच्छानुसार साहित्य-प्रासाद को रूपान्तर के साथ बस खड़ा करना ही शेष था। इस कार्य को हिन्दी-सेवियों ने प्रथम ही से प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु समय-समाज की परिस्थितियों के प्रभाव से उसे स्थगित ही करना पड़ा। कहा जाता है कि सब से प्रथम पुष्प या पुंडू कवि ने अलंकार-शास्त्र पर संस्कृत के एक ग्रंथ का हिन्दी के दोहा-छंद में अनुवाद करते हुए एक ग्रन्थ लिखा था, जिसका अब कहीं पता भी नहीं।

बहुत समय या ३ या ४ शताब्दियों के पश्चात् जब भक्ति-काल के अवसान में इस प्रकार के साहित्य की रचना करने का सुअवसर आया तब फिर यह कार्य हिन्दी एवं संस्कृत के मर्मज्ञ आचार्यों ने उठाया। गोप, गोपा तथा करनेस बन्दीजन ने काव्य या अलंकार शास्त्र के रीति-ग्रंथ लिखे, जिनका वर्णन हम प्रथम ही कर चुके हैं। इन कविवरों के ये ग्रन्थ-रत्न अब अप्राप्त हैं, अस्तु, उनके विषय में हम कुछ विशेष विवरण या विवेचन निश्चित रूप से नहीं दे सकते। कृपाराम ने " हिततरंगिनी " नामी एक पुस्तक रसों तथा नायक-नायिका-भेद पर लिखी, जो अब तक प्राप्त है और प्रथम प्राप्त रीति-ग्रंथ कहा या माना जा सकता है। इसी समय में चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने "शृङ्गार सागर" नामी एक ग्रन्थ शृङ्गार के सम्बन्ध में लिखा था।

वास्तविक रूप से रीति-ग्रन्थों की रचना का प्रारम्भ आचार्य केशवदास से ही होता है, क्योंकि उन्हीं ने काव्य-शास्त्र पर एक सर्वाङ्ग पूर्ण पुस्तक "कवि प्रिया" तथा दूसरी "रसिक प्रिया" नाम से लिखी, जो अब तक उपलब्ध है। इसी से हम आचार्य

केशवदास को ही सर्वाङ्ग पूर्ण काव्य-शास्त्र का सर्वाग्रगण्य लेखक कह सकते हैं। इन्हीं ने काव्य-शास्त्र के सब अंगों पर शास्त्रीय शैली या परिपाटी से प्रकाश डाला है और काव्य-रीति का सम्यक् प्रकार से निरूपण और प्रतिपादन किया है। कहा जाता है कि इन्होंने केशव मिश्र के अलंकारशेषर पर ही अपने ग्रंथ को समाधारित किया है किन्तु हमारा यह अनुमान है कि वे केशव मिश्र हमारे महाकवि केशवदास ही थे और दोनों ग्रन्थ (हिन्दी और संस्कृत में) इन्हीं के रचे हुए हैं, क्योंकि दोनों का समय एक ही है, शैली एक ही है और दूसरी बातें भी (भाषा को छोड़ कर) एक ही हैं। केशव हिन्दी और संस्कृत दोनों ही के पूर्ण मर्मज्ञ भी माने गये हैं।

केशवदास के लगभग ५० वर्षों के पश्चात् ही से रीति-ग्रन्थों की परम्परा का प्रवाह, जिसका विवेचन हम आगे करेंगे, अविरल रूप से चला है। यही कारण है कि केशव के द्वारा उठाई गई काव्य-शास्त्र की रचना-पद्धति से पश्चात् काल के रीति-ग्रन्थकारों की पद्धति पृथक् है। इतने समय में बहुत कुछ परिवर्तन हो गये थे। हिन्दी और संस्कृत दोनों के साहित्यों, काव्य-शास्त्रों की पद्धतियों या परम्पराओं तथा उनकी रचना-शैलियों में अन्तर हो गये थे। केशव ने जिस लक्ष्य एवं शैली को लेकर जिस वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय पद्धति से मौलिकता रख काव्य-शास्त्र के विषयों पर प्रकाश डाला है उस प्रकार फिर आगे वाले कवियों ने नहीं डाला, इसी दृष्टि से कुछ लोग केशव से रीति ग्रंथों की परम्परा का प्रारम्भ न मान कर चिन्तामणि त्रिपाठी से मानने लगे हैं किन्तु हमारा तो मत यही है कि रीति ग्रंथों की रचना का वास्तविक उदय तथा प्रारम्भ केशव के ही समय से हुआ है। केवल थोड़े काल के व्यवधान से ही केशव को पृथक् कर देना उचित नहीं। परम्परा की प्रगति सदैव एक ही तथा अविरल

रूप से नहीं हुआ करती। नदी की धारा के समान साहित्य-रचना की परम्परा की भी प्रगति हुआ करती है, कहीं तो धारा संकीर्ण रूप से मंदता के साथ प्रवाहित होती है और कहीं वह फैल कर प्रखरता के साथ प्रवाहित हुआ करती है, इसी प्रकार साहित्य-रचना की परम्परा का प्रवाह भी कभी एवं कहीं संकीर्ण होता हुआ मंद गति से चलता है और कहीं तथा कभी विस्तृत रूप से फैल कर द्रुतगति से प्रगतिशील होता है। शैली आदि के पार्थक्य से भी केशव को पृथक् करना, जैसा कुछ लोगों ने किया है, समीचीन नहीं जान पड़ता क्योंकि विषय एक ही होता है, उसकी विवेचना तथा रचना-शैली में अंतर हो जाता है। विषय की एकता ही क्रम या परम्परा को बनाने में मुख्य है।

एक बात जो यहाँ विशेष रूप से देखने योग्य है यह है कि संस्कृत की भाँति हिन्दी-काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में कवि और आचार्य दो श्रेणियाँ पृथक् पृथक् नहीं रहीं, वरन् एक ही साथ रहीं, अर्थात् यहाँ (हिन्दी-काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में) कवि ही आचार्य और आचार्य ही कवि होकर काव्य-शास्त्र के ग्रंथों की रचनायें करते रहे है। दोनों के भेद का यहाँ अभाव या लोप ही सा हो गया। इसके कारण कुछ हानि अवश्य हुई और हिन्दी में काव्य-शास्त्र की शास्त्रीय सूक्ष्म तथा तर्कात्मक विवेचना और पर्यालोचना न हो सकी, जो आचार्यों के द्वारा संस्कृत में की गई है। हिन्दी-कवियों में आचार्यत्व सम्बन्धी गुणों का अभाव ही रहा। वे कवि होकर केवल अलंकारों आदि की सूक्ष्म परिभाषायें (संस्कृत ग्रंथों के आधार पर) दोहे की एक या दो पंक्तियों में देकर उनके उदाहरणों की रचना अपनी प्रतिभा के द्वारा करने और अपने कवित्व का प्रकाशन करने लगते थे, यही उनका मुख्य उद्देश्य सा रहता था। यही कारण है कि काव्य के अंगों-प्रत्यंगों का मार्मिक एवं विस्तृत विवेचन, मौलिक रूप से नवीन सिद्धान्तों का आवि-

कारण या प्रतिपादन तथा तर्क की सहायता से खंडन-मंडन के साथ भिन्न भिन्न मतों का आलोचन हिन्दी-काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में न हो सका। यह भी इसका एक कारण कहा जा सकता है कि रीति-काल तक में हिन्दी के गद्य का कोई स्थिर रूप, जिसमें सुव्यवस्थित व्यापकता या एकरूपता हो, निश्चित न हो सका था, अतः इसके अभाव में विवेचन-कार्य उचित रूप से हो भी न सकता था। लेखक मजबूर थे कि सम्यक् मीमांसा न करते।

हिन्दी-काव्य-शास्त्र की रचना आचार्यों के द्वारा न हो कर कवियों के ही द्वारा बहुत ही सूक्ष्मता से हुई है, इसी से उनके ग्रंथों से काव्य-शास्त्र का यथोचित बोध नहीं होता। बहुत से रीति-ग्रंथों में तो, चूँकि उनके लेखक विद्वान् आचार्य न होकर साधारण कवि ही थे, बहुत सी त्रुटियाँ या भूलें ऐसी रह गई हैं जिनसे उनके पाठकों को भ्रमात्मक ज्ञान हो जाता है। किसी में लक्षण अशुद्ध हैं, तो किसी में उनके उदाहरण, बहुत ही कम ग्रंथ ऐसे हैं जो सर्वाङ्ग पूर्ण तथा सांगोपांग शुद्ध कहे जा सकते हैं।

लक्षण-ग्रन्थकारों का श्रेणी-विभाग

प्रसंगवश हम यहाँ रीति-ग्रंथकारों का श्रेणी-विभाग भी किये देते हैं:—

१—आचार्य श्रेणी—इस श्रेणी में वे लेखक आते हैं जिन्होंने शास्त्रीय शैली से मौलिकता के साथ रीति-ग्रंथ रचे हैं, इस श्रेणी में केशवदास, भिखारीदास, लछिराम आदि आते हैं।

२—अनुवादक श्रेणी—इसमें वे कवि आते हैं जो चन्द्रालोक या कुवलयानन्द या अन्य किसी संस्कृत-ग्रन्थ की परिभाषाओं का साधारण सूक्ष्म अनुवाद करके अपने उदाहरण देते हैं। मतिराम, देव, जसवन्तसिंह, भूषण, पद्माकार आदि इसी श्रेणी के कवि हैं।

३—साधारण श्रेणी—जो लोग किसी संस्कृत-ग्रन्थ के आधार पर स्वतंत्ररूप से अपने रीति-ग्रन्थ लिखते हैं और उन्हें केवल बालोपयोगी बनाने की ही चेष्टा करते हैं, ऐसे ही कवि इस श्रेणी में आते हैं, यथा, रामसिंह, दूलह, गोविन्द आदि।

यदि हम काव्यांग-विवेचन पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात हो जाता है कि उसके आधार पर भी लेखकों का श्रेणी-विभाग किया जा सकता है। पाठकों की सुविधा के लिये हम यहाँ उसे भी दे देते हैं:—

अ—सम्यक् काव्य शास्त्रकार—जो लोग काव्य-शास्त्र के सभी अंगों का विवेचन करते हैं—यथा दास, चिंतामणि त्रिपाठी, लछिराम आदि।

ब—केवल अलंकार-लेखक—जो लोग केवल अलंकारों का ही सूक्ष्म विवेचन करते हैं—यथा राजा जसवन्तसिंह, दूलह, मतिराम, भूषण आदि।

स—रस तथा नायिकाभेद-लेखक—जो केवल रसों तथा नायक-नायिका-भेद आदि अन्य अंगों पर प्रकाश डालते हैं—यथा देव, पद्माकर आदि। इस काल में, जैसा दिखलाया जा चुका है, गद्य का स्थिर रूप निश्चित न हुआ था, अतः उसके अभाव में, संस्कृत के रीति-ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए तथा पद्य में शीघ्र याद हो जाने और देर तक याद रहने की शक्ति को देखकर, कवियों ने रीति-ग्रन्थ भी छंदों में ही लिखे हैं। यदि इस ओर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि इस रचना-शैली के निम्नरूप हमें इस काल में प्राप्त होते हैं:—

१—दोहात्मक शैली—लक्षणों और उदाहरणों दोनों को दोहों में (एकही साथ और पृथक् पृथक् भी) रखना और इस प्रकार चंद्रालोक या कुवलयानंद की श्लोक-शैली का अनुकरण कर ग्रंथों को सूक्ष्म रूप देना। इसी शैली का विशेष उपयोग किया

गया है। राजा जसवन्तसिंह आदि इसके मुख्य प्रवर्तक एवं विकासक कहे जा सकते हैं।

२—छंद-शैली—इसके अनुसार लक्षण तो दोहों में और उदाहरण अन्य छंदों में दिये जाते हैं। इसका उपयोग उत्तर रीति-काल में विशेष हुआ है। मतिराम, भूषण आदि इसके विशेष विकासक हैं।

३—कवित्त-सवैया-शैली—इसके अनुसार लक्षण तथा उदाहरण दोनों कवित्तों में दिये जाते हैं। दूलह आदि इसके मुख्य विकासक हैं।

कुछ लेखकों ने तो उदाहरण और लक्षण दोनों को एक ही छंद या दोहे में साथ ही साथ रक्खा है और कुछ ने पृथक् पृथक् रक्खा है। इस प्रकार भी दो वर्गों में हम लेखकों को बाँट सकते हैं। साथ ही हम उन लेखकों को पृथक् रख सकते हैं जो लक्षण तो अपनी रचित छंदों (दोहों) में देते हैं किन्तु उनके उदाहरण दूसरे कवियों की रची हुई छंदों में देते हैं। ऐसे लेखक इस काल में बहुत ही कम हुए हैं, प्रायः कवि लोग अपने ही रचे हुए उदाहरण दिया करते हैं और इसी प्रकार अपनी कविप्रतिभा तथा काव्य-कुशलता का प्रमाण उपस्थित करते हैं। कुछ काल के लिये कवियों ने काव्य-रचना की यही प्रणाली ही सी चला दी थी।

गद्य-काव्य और नाट्य-शास्त्र

जिस प्रकार श्रव्य काव्य के शास्त्र के अंगों पर कवियों ने रीति-ग्रंथों की रचना करके प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है उसी प्रकार यदि वे दृश्य-काव्य या नाटक से सम्बन्ध रखने वाले नाट्य-शास्त्र पर भी प्रकाश डालते हुए उसके भी कुछ रीति-ग्रन्थ लिखते तो अच्छा होता, किन्तु ऐसा लेखकों ने नहीं किया, इस विषय को बिलकुल ही छोड़ दिया। इसी प्रकार गद्य-काव्य के भी

शास्त्रीय रीति-ग्रन्थ तथा गद्य-काव्य के भी ग्रंथ बिलकुल ही नहीं लिखे गये। इन सब का कारण यह जान पड़ता है कि उस समय के प्रभाव से, जो इनको उठने तथा विकसित ही न होने देता था, कवि इन विषयों को उठा ही न सके।

मुसलमानों के शासन-काल में यहाँ न तो नाटकाभिनय ही हो सके और न नाटक-ग्रंथ ही रचे जा सके। दोनों का मुसलमान-धर्म विरोध करता है, यही कारण है कि मुसलमानों के अरब तथा फ़ारस आदि देशों में भी नाटकों का विकास-प्रकाश नहीं हुआ और यह कला तथा शास्त्र वहाँ उदित ही न हो पाया। यहाँ भी मुसलमानों के प्रतिरोध से नाटकादि का कार्य न हो सका। कहीं किसी ने मुश्किल से एक आध नाटक की रचना की है। ऐसी दशा में नाट्य-शास्त्र की रचना कैसे हो सकती थी? प्रथम जब नाटक-साहित्य की रचना हो जाती तब कहीं नाट्य-शास्त्र की रचना हो सकती थी। लक्षित ग्रन्थों के उपरान्त ही प्रायः लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ करता है।

इसके साथ ही देश तथा समाज में श्रुत-काव्य की ही अधिक माँग थी और इसीलिये इस समय में काव्य-शास्त्र के रीति-ग्रन्थों को भी अनिवार्य आवश्यकता हुई और कवि लोग इसी ओर अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा से लग गये। नाट्य-शास्त्र तथा नाटक आदि की ओर उनका ध्यान ही न जा सका।

भक्ति-काल में रास-लीला तथा राम-लीला आदि का होना प्रारम्भ हुआ है, उस समय में इनके रूप नाटक के प्रारम्भिक रूप ही कहे जा सकते हैं, वास्तव में वे सर्वाङ्ग पूर्ण नाटकों के रूप में न थे, इसीलिये लोगों का ध्यान नाटकाभिनय की ओर पूर्ण रूप से न जा सका। साथ ही चूँकि उनमें धार्मिक भाव या तत्व बहुत प्रधान था, इसीलिये उन्हें लोग मनोरंजक नाटक-कौतुकों के रूप में न लेते थे। यही कारण थे कि इस काल में तथा इसके

आगे भी बहुत दिनों तक नाटकों, नाट्य-शास्त्र तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों की रचना की ओर विद्वान कवियों और लेखकों का ध्यान न जा सका और नाटकाभिनय का भी कार्य न हो सका।

प्रभाव—यहाँ इस बात का भी प्रगट कर देना ठीक जान पड़ता है कि कवियों के रीति-ग्रंथों तथा उनकी काव्य-रचना का क्या परिणाम या प्रभाव हुआ। यह हम दिखला ही चुके हैं कि इस काल में कवियों ने एक यह प्रणाली ही सी बना ली थी कि लक्षणों को सूक्ष्म रूप में लिखकर वे अपने कवि-कार्य में प्रवृत्त हो जाते थे और अपनी प्रतिभा तथा कला-कुशलता का प्रकाशन उदाहरणों के रूप में अन्य छंदों की रचना करके किया करते थे। रीति-ग्रन्थ-कार प्रायः भावुक, सरस और कुशल कवि होते थे, अस्तु, उनका प्रधान उद्देश्य सत्काव्य की रचना करना ही रहता था, काव्यांगों की शास्त्रीय शैली से विवेचना करना उनके लिये गौण सा ही था, इसी आधार पर वे काव्य-रचना किया करते थे। इसका एक विशेष फल यह हुआ कि रसपूर्ण, विशेषतया शृङ्गार रस पूर्ण—अलंकारादि के अत्यंत सरस, मंजुल और मनोरंजक उदाहरणों का एक अच्छा मुक्तक साहित्य तैयार हो गया। मुक्तक काव्य का एक बहुत ही अच्छा सरस साहित्य बन गया, जिसमें शृङ्गार रस का ही पूर्ण प्राधान्य है।

इसी काल में एक प्रणाली यह भी कवियों ने चला दी कि वे शृङ्गार रस के आलम्बन नायक-नायिकाओं को लेकर नायिका-भेद के रूप में एक स्वतंत्र सरस साहित्यांश रचने लगे। कई ग्रंथ इसी पर बन गये। इसी प्रकार शृङ्गार रस के उद्दीपन को लेकर षट ऋतु-वर्णन के रूप में भी एक स्वतंत्र साहित्यांश रचा गया।

इसी के साथ विप्रलंभ शृङ्गार सम्बन्धी बारहमासों के भी लिखने की पद्धति सी चल पड़ी जिसमें करुणा रस की भी बड़ी ही

सुन्दर पुट है ।* प्रकृति तथा आत्मा के सम्पर्क-साहचर्य का भी इसमें अच्छा चित्रण किया गया है और भावनाओं तथा मानव-मानस की रागात्मिका वृत्तियों की बड़ी ही मार्मिक, हृदयस्पर्शिनी तथा व्यापक व्यंजना रक्खी गई है। यदि इस विचार से हम इस काल को **कला-शृंगार-प्रधान मुक्तक काव्य-काल** भी कहें तो कोई अनौचित्य न होगा।

कवि-काव्य-समालोचना—भक्ति-काल से ही (विशेषतया तो भी उसके अवसान-काल से) कवियों और उनकी रचनाओं पर आलोचनात्म ढंग से विचार किया जाने लगा था। "भक्त-माल" में कृष्ण-भक्त-कवियों के विषय में यत्र-तत्र आलोचनात्मक विचार दिये गये हैं। सम्राट अकबर तथा अन्य राजा-महाराजाओं ने भी कवियों को उनकी रचनाओं को कसकर आलोचनासूचक उपाधियों से विभूषित किया है।

कला-काल में विद्वान लेखकों ने भी कवियों और उनके काव्यों पर आलोचक-दृष्टि डालते हुए, अपने विचार प्रकाशित किये हैं :— यथाः—

" सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करहिं प्रकास ॥

---

* बारहमासों में प्रायः वियोगिनियों की प्रत्येक मास में विरह-वेदना ही रक्खी जाती है। सबसे प्रथम खुसरो ही ने बारहमासा लिखा था, उनके बाद केशवदास ने, फिर कदाचित् किसी प्राचीन बड़े कवि ने बारहमासा न लिखकर ऋतु-वर्णन ही, जो संस्कृत के ऋतु संहार के अनुकरण में चला, लिखा, इधर आकर गणेशप्रसाद, वहाब जैसे कुछ सामान्य कवियों ने फिर बारहमासे लिखे, फिर बहुतों ने लिखे, इनकी रचनायें निम्नश्रेणी ही की हैं और उल्लेनीय नहीं।

—सम्पादक

सार तत्व तो सूरा कहिगा, तुलसी कही अनूठी ।
रही सही सो कबिरा कहिगा, और कही सो झूठी ॥
तुलसी, गंग दुवौ भये, सुकविन के सरदार "—दास
व्रजभाषा बरनी कविन, निज २ बुद्धि विलास।
सब सों उत्तम सतसई, करी बिहारीदास ॥—इत्यादि

इससे यह तो स्पष्ट ही है कि अब लोगों का ध्यान काव्य-कसौटी और सत्समालोचना की ओर भी जाने लगा था। अब तक में अनेक कवि एवं काव्य-ग्रन्थ साहित्य तथा समाज में आ गये थे, उनमें से उत्तम कवियों और उनके उत्तम काव्यों का काव्य-कसौटी पर कस कर चुनना आवश्यक ही था।

सत्समालोचना के उदय एवं विकास में राजा-महाराजाओं के दरबारों में पुरस्कार एवं उपाधि आदि के प्राप्त होने ने भी अच्छा कार्य किया। इस प्रोत्साहन से सत्समालोचना का प्रारम्भ हो चला। सम्भवतः क्या अवश्यमेव इसका कार्य प्रथम संस्कृतज्ञ विद्वानों ही के हाथ में रहा होगा, वे ही दरबारों में हिन्दी-कवियों एवं उनके काव्यों की आलोचना करके उनको उत्तम, मध्यम तथा सामान्यादि श्रेणियों में विभाजित कर यथोचित पुरस्कार, मान सम्मान तथा उपाधि के योग्य ठहराते रहे होंगे। संस्कृत-काव्य-शास्त्र के ही मर्मज्ञ वास्तव में यह कार्य उस समय कर भी सकते थे, क्योंकि काव्य-शास्त्र संस्कृत में ही पूर्ण रूप से था, हिन्दी में रीति-ग्रंथों की रचना न हुई थी, जिनके आधार पर हिन्दी के पंडित भी काव्यालोचना के क्षेत्र में कार्य करते। वस्तुतः काव्यालोचना काव्य-शास्त्र के ज्ञान पर ही समाधारित होती है। काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ ही काव्य एवं कवि की आलोचना करने के योग्य एवं अधिकारी ठहरते हैं। जब से हिन्दी में रीति-ग्रंथ बन गये तब से कदाचित् हिन्दी के पंडित भी समालोचना-कार्य करने लगे हैं।

समालोचना (Literary criticism) के विषय पर न तो संस्कृत-साहित्य में ही स्वतंत्र ग्रंथ हैं और न अब तक, इसी कारण से हिन्दी भाषा में ही हैं। अब दो-चार ग्रंथ इस विषय पर बाबू श्यामसुन्दरदास जैसे विद्वानों के द्वारा अंग्रेज़ी भाषा के ग्रन्थों के आधार पर आधुनिक वैज्ञानिक शैली से लिखे गये हैं, जिनका विवरण हम वर्तमान या गद्य काल में करेंगे।

संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में समालोचना के ग्रंथ वे ही माने जाते थे और हैं, जिनमें काव्य-शास्त्र का सांगोपांग पूर्ण निरूपण किया गया है, अतः काव्य के लक्षण-ग्रन्थ ही समालोचना-ग्रंथ माने गये हैं। काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ पंडित या कला-कुशल सहृदय विद्वान् तथा कवि ही सत्समालोचक कहे गये हैं।

"कविः कवयते काव्यम् मर्मं जानाति पंडितः"

कहीं कहीं सहृदय पंडित को भी सत्काव्य का सच्चा स्वादविद् समालोचक न मानकर सत्कवि को ही सच्चा समालोचक कहा गया है:—

"अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृत फले रसः।
चर्वणे सर्वसामान्यम् स्वादवित्केवलं कविः॥

इसीलिये कदाचित् राज-दरबारों में जहाँ कवि और काव्य की परीक्षा या समालोचना होकर पुरस्कारोपाधियाँ आदि दी जाती थीं, सत्कवि और काव्य शास्त्र मर्मज्ञ विद्वान् दोनों ही रहा करते थे और काव्यालोचन-कार्य किया करते थे।

हमारी समझ में वही सच्चा समालोचक कहा जा सकता है जो सहृदय, काव्य-शास्त्र मर्मज्ञ और कलाकुशल सत्कवि दोनों के गुणों से समलंकृत हो।

हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में भी यही बात अब तक रही है, अब कुछ वर्षों से समालोचना का विषय काव्य-शास्त्र के विषय से पृथक् होकर स्वतंत्र रूप से तर्कात्मक एवं शास्त्रीय शैली से

सुव्यवस्थित एवं निश्चित किया जाने लगा है। कला-काल में तथा उसके पश्चात् पूर्व गद्य-काल में भी ऐसा न किया गया था। हाँ, यह अवश्य था कि सत्कवियों एवं सत्काव्यों को सत्समालोचना की कसौटी पर कसने की पद्धति प्रचलित हो चली थी। जैसा ऊपर दिखलाया गया है यह बात लक्षण ग्रंथों की रचना होने से ही हुई है, क्योंकि उन्हीं पर सत्समालोचना समाधारित रहती थी।

इस प्रकार हम संक्षेप से अपने इस प्राक्कथन के द्वारा कला-काल की आवश्यक एवं ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाल चुकने पर इस काल के प्रधान सत्कवियों एवं लेखकों तथा उनकी सुन्दर सराहनीय रचनाओं का सूक्ष्म विवेचन करते हैं, जिससे पाठकों को यथेष्ट परिचय प्राप्त हो जावे। हाँ, साथ ही हम अपने पाठकों से अलंकार शास्त्र के सुव्यवस्थित, विस्तृत तथा ऐतिहासिक विकासादि से यथेष्ट परिचय प्राप्त करने के लिये अपने "अलंकार पीयूष" (पूर्वार्ध) नामी ग्रन्थ के अवलोकन करने की साग्रह प्रार्थना करते हैं।

—:o:—

कवि-काव्य-विवेचन

हमने चूँकि लक्षण-ग्रन्थों की परंपरा या प्रणाली का प्रारम्भ आचार्य केशवदास से ही माना है इसीलिये हम उन्हीं का यहाँ प्रथम विवेचन देते हुए आगे बढ़ते हैं, यद्यपि कला-काल को हमने सं० १७०० से १९०० तक माना है और केशवदास का समय सं० १६१२ से १६७४ तक है।

महाकवि केशवदास

आचार्य केशवदास सनाढ्य-कुल-भूषण कृष्णदत्त के पौत्र और काशीनाथ मिश्र के सुपुत्र थे। इनका जन्म सं० १६१२ में हुआ

और इनकी मृत्यु सं० १६७४ के समीप हुई थी। ओरछा-नरेश महाराज रामसिंह के भाई श्री इंद्रजीतसिंह इनके परम प्रेमी और आश्रयदाता थे, इसीसे ओरछा-दरबार में इनका बहुत मान-सम्मान था। आपके वंश में सदा ही से संस्कृत की विद्वता चली आई थी, यह भी इसीलिये संस्कृत के प्रकांड पंडित और काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य हुए। इन्हें यद्यपि हिन्दी में काव्य करना कुछ हेय सा प्रतीत होता था तौ भी देश-काल के प्रभाव से तथा समाज-साहित्य की नई प्रगति को देखते हुए आपने हिन्दी में कई परम प्रशस्त रचनायें करके हिन्दी-साहित्य का भव्य भाल ऊँचा किया है।

"भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास।
ताही कुल में मंद कवि, उपज्यो केशवदास॥

—कवि प्रिया

इनके बड़े भाई भी संस्कृत के अच्छे पंडित और कवि थे, उन्होंने भी हिन्दी में अच्छी रचनायें कीं, कदाचित् उनकी ही देखादेखी या उनके ही प्रभाव से इनकी भी रुचि हिन्दी-काव्य-रचना की ओर अग्रसर हुई थी।

कान्यकुब्ज-कुल-भूषण महाराज बीरबल ने इनके एक छंद पर मुग्ध होकर इन्हें छः लाख रुपये दिये थे और इनके महाराज इन्द्रजीतसिंह पर अकबर के द्वारा किया गया एक करोड़ का जुर्माना भी मुआफ़ करा दिया था।

केशवदास ने कुल ८ ग्रंथों की रचना की १—**रसिक प्रिया** (सं० १६४८) रसों के विवेचन पर शास्त्रीय तथा मौलिक ढंग से रचित, २—**कवि प्रिया**—अलंकार-प्रधान काव्य-शास्त्र का मौलिक ग्रन्थ है, जो वैज्ञानिक शैली से सभी काव्यांगों पर प्रकाश डालता है। यही सब से प्रथम काव्य-शास्त्र का सांगोपांग मौलिक शास्त्रीय शैली का ग्रन्थ है। इसी से केशवदास को

आचार्य की पदवी प्राप्त हुई थी*। ३—**रामचंद्रिका**—विविध छंदों में वर्णित राम-कथा का उत्तम प्रौढ़ प्रबन्ध-काव्य-ग्रन्थ है। इसी से विविध छंदों मे प्रबन्ध-काव्य लिखने की नवीन शैली का प्रकाश केशव ने किया है और तुलसी आदि की दोहा-चौपाई-वाली शैली के सामने इस छंदाचार्योचित शैली को रक्खा है। कविप्रिया और यह दोनों ग्रन्थ खोज (१९०२ ई०) से सं० १६५८ में रचे गये सिद्ध होते हैं।

राम-काव्य का श्री गो० जी-रचित रामचरितमानस के पश्चात् यही एक परम प्रशस्त, प्रख्यात, प्रचलित तथा पूर्ण ग्रन्थ है। इसके पश्चात् फिर कोई ऐसा ग्रन्थ राम-काव्य पर अब तक नहीं लिखा गया। ४—**विज्ञान गीता**—संस्कृत के प्रबोध-चन्द्रोदय नामी नाटक के समान एक साधारण श्रेणी का कल्पित नाटक-ग्रंथ है। ५—**वीरसिंह देव-चरित** (१६६४ सं०) १९४ पृष्ठों का एक **वीर-कथा-काव्य** है, यह भी काव्य-दृष्टि से साधारण श्रेणी का ही है। ६—**जहाँगीर जस-चन्द्रिका**—(सं० १६६९) बादशाह जहाँगीर का प्रशंसापूर्ण चरित-काव्य है और साधारण श्रेणी ही का है। ७—**रत्नबावनी** और ८—**नखशिख** ये दो ग्रंथ इनके और कहे गये हैं, किन्तु इनका अभी तक पता नहीं चला।

अब यह स्पष्ट ही है कि केशवदास की प्रतिभा बहुन्मुखी थी। उन्होंने कई शैलियों में कई प्रकार की रचनायें की हैं, इन्हीं में आचार्य तथा महाकवि दोनों के स्तुत्य गुण पाये जाते हैं। यह बात इनमें इसीलिये थी चूँकि ये संस्कृत-साहित्य के प्रकांड पंडित और मर्मज्ञ थे और साथ ही एक काव्य-कला-कुशल कवि भी

---

*विस्तृत विवरण के लिये देखिये श्री रसालजी कृत अलंकार-पीयूष नामी ग्रंथ।—सम्पादक

थे। शास्त्रीय शैली से सुव्यवस्थित रूप में मौलिकता के साथ काव्यशास्त्र पर सर्वाङ्ग पूर्ण ग्रन्थ लिखने का सब से प्रथम श्रेय आप ही को है, आपके बाद फिर इसकी एक परम्परा ही चल पड़ती है। अलंकारादि के विवेचन में आपने अपनी आचार्यता तथा विद्वतापूर्ण मौलिकता का अच्छा परिचय दिया है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य के विस्तृत रूप को देखकर आपने राम-काव्य को उठाया और **विविध छंद-रचना-शैली** का नवीन उदय करते हुए रामचन्द्रिका नामी एक परम प्रशस्त पांडित्यपूर्ण प्रबन्ध-काव्य रचा।

वीर-गाथा-काव्य को भी आपने फिर उठाया और दो चरित-काव्य लिखे। ये दोनों साधारण कोटि के हैं, अतः ये नवावस्था में रचे हुए जान पड़ते हैं।

आपने एक कल्पित नाटक की भी रचना करके नाटक-साहित्य की पूर्ति करने की ओर हिन्दी-कवियों का ध्यान आकर्षित किया।

शृङ्गार रस के वर्णनात्मक (Descriptive) मुक्तक काव्य की एक परिपाटी नायिका के अंगों-प्रत्यंगों का अलंकृत वर्णन करना भी है। इसका भी कला-काल में अच्छा प्रचार-प्रस्तार हुआ है। केशवदास ने इस नख-शिख-शैली का भी विकास-प्रकाश किया है। ५२ छंदों की रचना-शैली भी एक विशेष शैली है, जो शतसई के अनुरूप है, किन्तु संकीर्ण रूप रखती है, केशव ने इसकी ओर भी संकेत करते हुए रत्न बावनी की रचना की।

यहाँ इनकी रचनाओं की कुछ प्रधान विशेषताओं की ही ओर संकेत कर देना उचित है। केशवदास काव्य में अलंकारों का ही प्राधान्य मानते हैं और चमत्कारवादी होकर कला-कौशल-चातुरी को ही विशेषता देते हैं। वाग्वैचित्र्य को ये मुक्तक काव्य का प्राण सा समझते हैं इसीलिये दंडी, रूय्यक आदि अलंकारवादी आचार्यों के आधार पर आपने अपनी कवि-प्रिया में मौलिकता

के साथ इन्हीं पर विशेष ध्यान दिया है। चूँकि ये रसवादी न थे, इसीसे इनकी कविता में सरसता का उतना सुन्दर एवं पुष्कल समावेश नहीं पाया जाता। रसिक प्रिया में इन्होंने शृङ्गार रस को, जो सदा ही से रस-राज माना गया है, प्रधानता दी है और उसी से सम्बन्ध रखने वाले दाम्पत्य-रति-भाव तथा आलम्बनादि का मौलिक विशदता के साथ मार्मिक विवेचन किया है। मुक्तक-काव्य में केशव को प्रबंध-काव्य की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है, फिर भी इनका प्रबंध-काव्य अपनी शैली का अनूठा ही है। नाटककार के गुणों से प्रभावित होकर आपने संवाद-शैली का अच्छा और विशेष उपयोग किया है। पांडित्य से प्रभावित होकर आपने गूढ़ भाव, गंभीर शब्दावली, क्लिष्ट वाक्य-विन्यास से अपने काव्य को पंडित-योग्य बना दिया है। आपकेसमान आपकी वर्णन-शैली भी राजसी ठाठ-बाट की है, हाँ, कथाओं के सम्बन्ध-निर्वाह में कहीं कुछ शिथिलता सी जान पड़ती है। वर्णन यद्यपि बड़े ही सांगोपांग हैं तथापि कहीं २ प्रसंगवाह्य से हो रहे हैं। ग्रन्थ में शब्द कौशल, चमत्कार चातुर्य तथा वाग्वैचित्र्य मय गूढ़ वाक्य-विन्यास स्पष्टतया दिखलाई पड़ता है।

संस्कृत-साहित्य के पूर्ण परिचय से प्रभावित होकर इन्होंने कहीं कहीं संस्कृत-कवियों की सूक्तियाँ कुछ नवीन साँचे में ढाली हुई रक्खी हैं, यहीं कुछ विशेष गूढ़ता आ गई है। काव्य-कौशल के प्रकाशन से काव्य की सरसता को कुछ धक्का पहुँचा है, फिर भी लालित्य और गौरव नहीं जाने पाया।

केशव के पूर्व और अब तक किसी भी अन्यकवि या महाकवि ने छंद-वैलक्षण्य-शैली का इतना पांडित्य पूर्ण प्रकाशन नहीं कर पाया। केशव इसके विचार से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अद्वितीय ही ठहरते हैं। वास्तव में ऐसा पूर्ण आचार्य कवि यहाँ नहीं हुआ और शायद ही आगे हो।

शास्त्रीय शैली से काव्य-शास्त्र की मीमांसा का सुव्यवस्थित मार्ग वास्तव में केशव ने ही सब से प्रथम खोला है, काव्यांगों की मार्मिक, वैज्ञानिक तथा विस्तृत विवेचना और पर्यालोचना के साथ ही साथ मौलिक ढंग से भेदोपभेदों का सम्यक् निरूपण करने के लिये हिन्दी-संसार आचार्य केशव का चिरऋणी है और रहेगा। साहित्य-मर्मज्ञता और काव्य-शास्त्र में आचार्यता तो इनके ग्रंथों से विदित ही होती है, भाषा एवं शैली में भी आपकी पूर्ण पटुता प्रगट होती है।

यद्यपि केशवदास की भाषा संस्कृत तथा बुन्देलखंडी की पदावली से पूर्णतया प्रभावित सी है और सकारण प्रभावित है, क्योंकि ये संस्कृत के प्रगाढ़ पंडित थे और उस कुल में उत्पन्न हुए थे जिसकी संस्कृत ही एक प्रकार से मातृभाषा सी थी और फिर बुंदेलखंड के ओरछा-राज्य में ये सदैव रहते रहे; तथापि इनकी भाषा सर्वथा शुद्ध साहित्यिक रूप की व्रजभाषा ही है। केशवदास ने इसे सुव्यवस्थित तथा नियम-नियंत्रित करके साहित्योचित एक-रूपता देते हुए स्थैर्य देने में बड़ा श्रम किया है। इन्हीं के समय से व्रजभाषा में यह आवश्यक गुण आने लगा। केशव के इस अनुकरणीय प्रयत्न को कविवर विहारीलाल तथा घनानंद ने और आगे बढ़ाया और बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की। हाँ इसे वे पूर्णता तक न पहुँचा सके। आगे देश-काल के प्रभाव से खड़ी बोली के द्रुति गति तथा बल-वेग से विकसित हो चलने पर यह कार्य शिथिल सा हो गया। वर्तमान समय में महाकवि "रत्नाकर" जी ने इसे फिर उठाया और सराहनीय सफलता के साथ और आगे बढ़ा कर पूर्ति के निकट तक पहुँचा दिया। इसी कार्य को सफलता के साथ पूर्ण करने तथा व्रज भाषा का उद्धार करने को अब व्रज भाषा-प्रेमी अन्य महानुभाव भी

उद्योग कर रहे हैं।* आशा है कि शीघ्र ही ब्रज भाषा का भाल ऊँचा हो सकेगा।

केशव के काव्य की विस्तृत आलोचना का स्थान एवं समय यहाँ नहीं, उसके लिये पाठक "हिन्दी नवरत्न", "केशव-कौमुदी" आदि ग्रन्थ देख सकते हैं, यहाँ यही पर्याप्त है।

सम्पूर्ण बातों पर विचार करके हम केशव को हिन्दी-साहित्य में पांडित्य तथा कला-कौशलपूर्ण काव्य के लिये सब से प्रथम और मुक्तक तथा प्रबंध-काव्य के लिये तुलसी और सूर के बाद स्थान देते हैं। इसी दृष्टि से कहा भी गया है :—

"सूर सूर, तुलसी, शशी, उडगन केशवदास"

अर्थात् केशव तृतीय महाकवि हैं, आचार्य तो वे प्रथम ही हैं।

बलभद्र मिश्र आचार्य केशव के बड़े भाई थे। केशव ने अपनी कविप्रिया में इनका उल्लेख किया है। इनका जन्म सं० १६०० में माना गया है। ये भी उन कविवरों में हैं जिन्होंने काव्य-शास्त्र के लक्षणों या नियमों के अनुसार उन्हें स्पष्ट करने के लिये काव्य-रचना की प्रणाली चलाई है।

इनके पूर्व कृपाराम ने अपनी हिततरंगिणी में रस-रीति के आधार पर नायिका-भेद का वर्णन उठाया था और इन्होंने नायिका के आंगिक सौंदर्य के अलंकृत वर्णन का विधान उठाया है। इन्हीं के नखशिख-वर्णन को देख कर कदाचित् श्री केशव तथा अन्य कवियों ने भी इसे काव्य-रचना का एक स्वतंत्र विषय मान कर प्रचलित किया है। यद्यपि भक्ति-काल में भी नख-शिख (और

* एतदर्थं श्री रसाल जी तथा उनके स्था "रसिक मंडल", प्रयाग को भी बहुत बड़ा श्रेय दिया जा सकता है। रसिक-मंडल ब्रजभाषा के लिये बहुत काम कर रहा है। —सम्पादक

देवादि आप्त पुरुषों तथा देवियों के लिये शिख-नख) के वर्णन की प्रणाली थी, किन्तु इस प्रकार एक स्वतंत्र विषय की भाँति वह अपना एक पृथक् स्थान साहित्य या काव्य के क्षेत्र में न रखती थी।

इनके "नख-शिख" में ६५ कवित्त हैं और एक छप्पय है। यह एक प्रौढ़ और अवलोकनीय ग्रंथ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि अलंकारों के द्वारा इसमें सुन्दर सरसता तथा मधुरता के साथ नायिका के आंगिक सौंदर्य का चित्रण कवि-प्रतिभा या कल्पना के द्वारा किया गया है। भाषा इनकी भी केशव के ही समान प्रौढ़, परिमार्जित तथा भावपूर्ण है। हाँ कुछ संस्कृत से प्रभावित अवश्य है। भाव-गांभीर्य, पद-लालित्य और चमत्कार-चातुर्य के साथ वैचित्र्य भी इन के छंदों में पाया जाता है। अस्तु, कहना चाहिये कि ये एक पंडित सुकवि थे। परिपक्व, शुद्ध तथा मृदुल व्रज भाषा की यह एक उत्तम पुस्तक है। कदाचित् इसे हिन्दी के समस्त नख-शिखों में सर्वोच्चस्थान मिल सकता है। इसकी सं० १८९१ में गोपाल कवि ने टीका भी लिखी। गोपाल कवि के लेखानुसार इन्होंने बलभद्री व्याकरण, हनुमन्नाटक की टीका, गोवर्धन शतसई की टीका आदि कई ग्रन्थ और रचे थे। द्वि० त्रै० खोज में "दूषण-विचार" (सं० १७१४) नामी एक ग्रन्थ इनका और मिला है, जिसमें काव्यगत दोषों की विवेचना है।

सेनापति

अनूपशहर-निवासी पं० परशुरामात्मज पं० गंगाधर के ये सुपुत्र और कान्यकुब्ज-कुल-भूषण प्रख्यात कवि थे। इनके गुरु का नाम पं० हीरामणि दीक्षित था।

सेनापति जी का जन्म-काल सं० १६४६ के आप-पास माना गया है। इनका हृदय बड़ा ही शुद्ध, सरस और भावुक था।

इनकी प्रतिभा बड़ी ही विलक्षण और प्रौढ़ थी। इनकी कल्पना-शक्ति भी बड़ी ही तीव्र और बहुन्मुखी थी।

कहीं कहीं इन्होंने कुछ ऐसा संकेत दिया है जिससे ज्ञात होता है कि इनको मुसलमान-दरबार में भी अच्छा मान-सम्मान प्राप्त हुआ था।

इनका षटऋतु वर्णन हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग का अप्रतिम ही है, उसकी टक्कर का और दूसरा ऋतु-वर्णन किसी भी कवि का नहीं ठहरता। ये उस कक्षा के कवियों में से सर्व प्रधान कवि हैं जिन्होंने श्रृङ्गार रस के उद्दीपन-सम्बन्धी ऋतु-वर्णन की एक स्वतंत्र परिपाटी चलाई है और इसे मुक्तक काव्य-रचना के लिये एक स्वतंत्र विषय ठहराया है।

ऋतु-वर्णन-शैली—यहाँ हम ऋतु-वर्णन-शैली का कुछ सूक्ष्म विवेचन दे देना उचित समझते हैं। ऋतु-वर्णन में कवि लोग प्रायः प्रकृति की दशाओं और अवस्थाओं का वर्णन या चित्रण करते हुए प्रायः अपनी मानसिक भावनाओं के साथ उनका सुन्दर सामंजस्य किया करते हैं। यह मनोविज्ञान-मूलक पद्धति है, इस का मूल सिद्धान्त यह है कि प्रकृति उसी रूप में दिखलाई पड़ती है जिस रूप में किसी दर्शक की मानसिक भावनायें उठती हुई उसे देखती हैं, यदि दर्शक वियोगी और दुखी है तो प्रकृति उसे दुःखमयी और यदि वह सुखी है तो प्रकृति भी सुखमयी दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार के वर्णन में बहिर्जगत की, प्रकृति के चित्रण के साथ ही साथ, अन्तर्जगत की भावनाओं या रागात्मिका वृत्तियों की दशाओं आदि की भी मर्मस्पर्शिनी तथा व्यापक व्यंजना रहती है। इसी शैली के अनुकरण-रूप में कवियों ने नीति-काव्य के भी क्षेत्र में प्राकृतिक दृश्यों, अवस्थाओं आदि के साथ ही साथ नीति-विषयक बातों की भी मार्मिक व्यंजना के रखने की एक स्वतंत्र प्रणाली चलाई है।

ऋतु-वर्णन की दूसरी शैली वह है, जिसमें प्रकृति के दृश्यों और अवस्थाओं आदि का स्वाभाविक या वास्तविक चित्रण किया जाता है और उनके प्रभाव से प्राकृतिक पदार्थों को प्रभावित होता हुआ दिखलाया जाता है और उनमें भी मानव-मानसोचित भावनाओं, वृत्तियों तथा दशाओं की सत्ता का प्रतिविम्ब दिखालाया जाता है तथा हार्दिक-भावों का आभास दिया जाता है।

ये दोनों प्रधान शैलियाँ तो भावना-प्रधान शैलियाँ हैं और सरसता तथा मधुरता की ओर झुकी रहती हैं। इनके अतिरिक्त एक तीसरी पद्धति ऋतु-वर्णन की वह कही जा सकती है जिसमें रसवत्ता तथा मानसिक भावनाओं के स्थान पर काल्पनिक कला-कौशलात्मक चमत्कार-चातुर्य का ही प्राधान्य रहता है और अलंकारों तथा वाग्वैचित्र्य के आधार पर वर्णन-वैलक्षण्य को विशेषता दी जाती है। यह अलंकृत काव्य-कला से सम्बन्ध रखती है। प्रकृति के दृश्य-दशादि का चित्रण तो इसमें सामान्य तथा स्वाभाविक रीति से ही किया जाता है किन्तु अलंकार-सम्बन्धी कला-चातुरी से वह वाग्वैचित्र्य की ओर झुका दिया जाता है। ऐसी शैली में प्रायः शब्दालंकारों और उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक और अपन्हुति जैसे अर्थालंकारों का ही विशेष प्राधान्य रहता है।

संस्कृत-काव्यों में भी ऋतु-वर्णन प्राचुर्य रूप में पाया जाता है, किन्तु इसे एक स्वतंत्र काव्य-विषय का रूप कदाचित् कवि-कुल-गुरु श्री कालिदास ने ही 'ऋतुसंहार' नामी काव्य-ग्रन्थ लिखकर दिया है।

बारहमासा-रचना-शैली इसी की एक विकसित पद्धति है, जिसमें वर्ष के प्रत्येक मास में परिवर्तित होने वाली प्रकृति के दृश्यादि का वर्णन किया जाता है। कदाचित जायसी ही इसको

साहित्यिक रूप देने में सब से प्रथम कवि हैं। प्रथम इसका प्रचार गाँवों में ही था और अब भी है। ग्रामीण लोग अपनी प्रान्तिक बोली में बारहमासे गाया करते हैं। साहित्य में भी इसका प्रचार हो गया और बहुत से कवियों ने सुन्दर बारहमासे लिखकर एक स्वतंत्र बारहमासा-रचना की पद्धति सी चला दी, अस्तु।

सेनापति जी के षट्ऋतुवर्णन में प्रकृति-निरीक्षण तथा तच्चित्रण की सराहनीय मात्रा पाई जाती है। वर्णन सर्वथा अलंकृत और मनोरंजक है। स्वाभाविकता के साथ ही साथ उसमें कल्पना-कौतुक और काव्य-कला-कौशल भी अच्छा है। सरसता, मधुरता और व्यंजकतादि की भी पर्याप्त पुट लगी हुई है।

इसमें शब्द-संचयन भी कौशलपूर्ण और सराहनीय है, प्रत्येक शब्द भाव-पूर्ण, सर्वथोपयुक्त और उपादेय है, पद एवं वाक्य-विन्यास, अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकारों से सुन्दर और सुसज्जित होकर मनोहारी है। पदावली में लालित्य और माधुर्य ख़ूब भरे गये हैं। अलंकारों की प्रचुरता तथा प्रधानता से भी काव्य में कहीं भी कृत्रिमता नहीं आने पाई, सर्वत्र स्वाभाविकता का स्तुत्य आभास मिलता है। मौलिकता भी प्रायः प्रत्येक छंद की उक्तियों में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

भाषा सेनापति की ब्रजभाषा ही है, हाँ यत्र तत्र संस्कृत तथा कुछ अन्य भाषा के शब्द एवं पद आ गये हैं। इसीसे काव्य में माधुर्य और प्रसाद गुण प्रधान हो गये हैं। जान पड़ता है कि भाषा पर कवि का पूरा अधिकार है, ऐसी सुन्दर, सरस और सुव्यवस्थित भाषा बहुत ही थोड़े कवियों की पाई जाती है।

सेनापति के सम्बन्ध में यह एक विशेष बात सदा ध्यान में रखना चाहिये कि उन्होंने केवल घनाक्षरी या कवित्त में ही अपनी सारी रचना की है और दूसरी छंद नहीं लिखी।

इसका कारण यह था कि अन्य छंदों में उनका पूरा नाम सुन्दरता और सरल साध्य सफलता के साथ न आता था तथा दूसरे तुच्छ कवियों के द्वारा अपनी छंदों के चुरा लिये जाने से वे बहुत डरते थे, इसीसे वे अपनी प्रत्येक छंद में अपना पूरा नाम अवश्यमेव रखना चाहते तथा रक्खा करते थे।

सेनापति में अहंमन्यता की भी मात्रा पर्याप्त थी, इन्होंने अपने विषय में गर्वोक्तियाँ भी कई लिखी हैं किन्तु वे इन्हें सर्वथा फब जाती हैं और इसीसे खटकतीं भी नहीं।

अपने अंतिम जीवन-काल में ये संसार से विरक्त होकर संन्यासी हो गये। इन्होंने वृन्दावन में क्षेत्र-संन्यास के अनुसार अपना जीवन भक्ति-भावानन्द में ही बिताया। रहते ये अवश्य वृन्दावन में थे पर थे ये उपासक श्री सीताराम के ही, अस्तु आपने कवित्तों में स्थान स्थान पर उन्हीं का स्मरण किया है। इनके भक्तिरस के कवित्त "कवित्त रत्नाकर" नामी ग्रंथ में, जो इनका सब से पिछला ग्रंथ कहा जाता है, मिलते हैं। कवित्त रत्नाकर भी एक स्तुत्य काव्य है, वह सं० १७०६ में रचा गया:—

"संवत सत्रह सै छः मैं, सेइ सिया-पति पाय।
"सेनापति" कविता सजी, सज्जन सजौ सहाय॥

इससे यह भी स्पष्ट है कि इन्हें अपनी अलंकृत कविता का गर्व था, क्योंकि ये " कविता सजी " लिखते हैं न कि "कविता रची या करो"।

इनके भक्त हृदय से निकले हुए उद्गार भी बड़े ही अनूठे और मार्मिक हैं। रामचरित सम्बन्धी रचना भो बड़ी ही ओजस्विनी और मर्मस्पर्शिनी है। "काव्य-कल्पद्रुम" नामी ग्रंथ भी इनका बहुत प्रसिद्ध है।

कला-कुशल मुक्तक काव्यकारों में हम सेनापति को एक उच्च स्थान देते हैं और मुक्तक महाकवि कहने के लिये भी समुत्सुक हैं।

सुन्दर कवि—ये ग्वालियर-निवासी ब्राह्मण थे और शाह-जहाँ के दरबार में रहते थे। वहीं इन्हें प्रथम "कविराय" और फिर "महाकविराय" की उपाधि मिली। इनका रचना-काल सं० १६८८ के आस पास है, क्योंकि इसी संवत् में इन्होंने नायक-नायिका-भेद पर "सुन्दर शृङ्गार" नामी एक ग्रंथ लिखा। दो और पुस्तकें "सिंहासन बत्तीसी" और बारहमासा" नाम की इनकी रची हुई कही जाती हैं।

इनकी रचनायें अलंकृत और कलामयी हैं, उनमें अनुप्रास और यमकादि शब्दालंकारों की अच्छी सजावट की गई है। भाषा भी व्यवस्थित और शुद्ध व्रज भाषा है। यद्यपि उक्त कवि लोग कला-काल के कुछ पूर्व के हैं तौ भी हमने उनका वर्णन कला-काल में किया है, चूँकि उनकी रचनायें कला पूर्ण हैं।

सुन्दर की सिंहासन बत्तीसी का भी प्रचार साधारण जनता में विशेष है। इनका बारहमासा भी बारहमासा-पद्धति की एक अच्छी रचना है।

लक्षण ग्रन्थों की अविरल-धारा

यह हम लिख ही चुके हैं कि लक्षण-ग्रंथों की परम्परा की अविरल प्रगति चिन्तामणि त्रिपाठी से प्रारम्भ की जा सकती है, यद्यपि उसका सुचारुरूप से प्रारम्भ या उदय आचार्य केशव के ही समय से मानना ठीक है। इसी विचार से हमने प्रथम उन थोड़े से मुख्य कविवरों का विवेचन कर दिया है जिन्होंने भक्तिकाल के अवसान से ही रीति-ग्रंथों की रचना का प्रारम्भ करके उनकी परम्परा का सूत्रपात सा कर दिया था। अब हम यहाँ से उन कवियों का सूक्ष्म विवेचन प्रारम्भ करते हैं, जिन्होंने कला-

काल की परम्परा-धारा को अपने लक्षण-ग्रन्थों की रचना से अविरल रूप में प्रवाहित किया है।

चिन्तामणि त्रिपाठी

तिकवाँपुर (प्रान्त कानपुर) के निवासी कान्यकुब्ज कुल-दीपक पं० रत्नाकर त्रिपाठी के ये ज्येष्ठ पुत्र थे। इन के अन्य ३ भाइयों के नाम मतिराम, भूषण और जटाशङ्कर हैं। हिन्दी-संसार में चिन्तामणि, मतिराम और भूषण को अक्षय यश प्राप्त हो चुका है और वास्तव में वे उसके प्रशस्तोपयुक्त पात्र भी हैं।

चिन्तामणि जी का जन्म सं० १६६६ के आस-पास हुआ था और इनका रचना-काल, इसीसे सं० १७०० के लगभग में माना गया है। सं० १७०७ में इन्होंने "कविकुल-कल्पतरु" नामी एक परम प्रशस्त ग्रंथ रचा। "सरोजानुसार" इनके अन्य ग्रंथ "काव्य-विवेक, काव्य-प्रकाश, रामायण और छंद-विचार" हैं।

ये नागपुर के भोसलाराज (सूर्यवंशीय) श्री मकरंदशाह के यहाँ बहुत समय तक रहे। इन्हें रुद्रशाहि सोलंकी, जैनदी अहमद तथा शाहजहाँ बादशाह के यहाँ अच्छा सम्मान तथा पुरस्कार प्राप्त हुआ था। कहीं कहीं इन्होंने अपना नाम "मणि-माल" भी लिखा है।

इन्होंने काव्य शास्त्र का अच्छा अध्ययन किया था और इसी से ये उस पर अच्छे ग्रन्थों की रचना कर सके। छंद-शास्त्र का सर्वाङ्ग पूर्ण, सुव्यवस्थित तथा शास्त्रीय पद्धति से लिखा हुआ कदाचित् सब से प्रथम ग्रंथ इन्हीं का है। अस्तु, कह सकते हैं कि ये आचार्य कोटि के कवि थे। केशव की विविध छंदात्मक शैली का अनुसरण करते हुए इन्होंने राम-काव्य की रचना "रामायण" नामी ग्रन्थ से की, किन्तु उसका प्रचार-प्रस्तार न तो

रामचरित मानस के ही समान हो सका और न रामचंद्रिका के ही समान।

भाषा इनकी प्रौढ़, परिपक्क और सुसज्जित व्रज भाषा है, रचना-शैली प्रधानतया अलंकृत कवित्त-सवैयात्मक ही है। पदावली में लालित्य, अलंकार-सौंदर्य और प्रसादगुण अच्छा है, शब्द-संगठन में सानुप्रासिक कला-कौशल भी स्तुत्य है। वर्णन-शैली भी उत्कृष्ट और मनोरंजक है। इनका ही यह प्रभाव है कि मतिराम और भूषण इतने कला-कुशल कवि हो सके।

महाकवि मतिराम

महाकवि मतिराम हिन्दी-संसार के एक परम प्रसिद्ध रत्न हैं। चिन्तामणि और भूषण के ये भाई थे और तिकवाँ-पुर ज़िला कानपुर में सं० १६७४ के आस-पास में उत्पन्न हुए थे।

बूँदी-नरेश महाराव भावसिंह के यहाँ इनका बड़ा मान-सम्मान था, वहाँ ये बहुत दिनों तक रहे। वहीं इन्होंने सं० १७१६ और सं० १७४५ के भीतर "ललित-ललाम" नामी अलङ्कार-ग्रन्थ, संस्कृत के चंद्रालोक पर न्यूनाधिक रूप में आधारित करते हुए लिखा और उसमें कहीं कहीं पर्याप्त मौलिकता की छाप लगाई है। इसमें लक्षण तो दोहों में हैं और उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं।

काव्य में सरस भाव-व्यंजना के साथ ही साथ ये चातुर्य-चमत्कार तथा अलंकृत शब्द-सौंदर्य को भी प्रधान मानते से जान पड़ते हैं। इन्होंने अपने दूसरे आश्रयदाता महाराज शंभूनाथ सोलंकी को "छंद सार" नामी एक पिंगल-ग्रन्थ समर्पित किया है।

इनका सब से मनोरम और प्रसिद्ध ग्रंथ "रसराज" है, जिसमें रसों की बड़ी ही सुन्दर और मार्मिक विवेचना सरस, स्पष्ट तथा

उपर्युक्त उदाहरणों के साथ की गई है। ललित-ललाम के ही समान यह ग्रन्थ भी परम प्रशस्त और प्रसिद्ध है किन्तु ये दोनों ग्रंथ ऐसे नहीं कि मतिराम को आचार्यत्व दिला सकें, हाँ ये इन्हें महाकवि अवश्य सिद्ध करते हैं।

"साहित्य सार", "लक्षण शृङ्गार" और "मतिराम सतसई" नामी ३ पुस्तकें और भी आपने रची हैं।

आलोचना—मतिराम बड़े ही सरस और विद्वान कवि थे अपने बड़े भाई चिन्तामणि से प्रभावित होकर इन्होंने भी काव्य-शास्त्र तथा पिंगल-शास्त्र पर सुन्दर ग्रन्थों की रचना की। रचना-शैली इनकी साधारणतया कवित्त-सवैयात्मक ही थी, दोहात्मक सतसई-शैली में भी इन्होंने सुन्दर रचना की है। इनकी सतसई में भी विहारी-सतसई की सी ही सरसता तथा सुन्दरता है। हाँ वाग्वैचित्र्य, हास्य-व्यंजना तथा नाज़ुक या बारीक ख़्याली वैसी नहीं। स्वाभाविकता तथा मौलिकता का भी अच्छा निर्वाह इन्होंने किया है, हाँ कहीं २ भाव-गौरव में कुछ शैथिल्य सा अवश्य जान पड़ता है।

मतिराम जी ने ही भाषा को रसस्निग्ध तथा लचीली बनाने में अच्छा सफल प्रयास किया है। इनकी सी सरल, स्वच्छ और स्वाभाविक भाषा पद्माकर तथा घनानंद को छोड़ कर और किसी भी तत्कालीन कवि ने नहीं लिख पाई। शब्दावली सर्वथा भावोपयुक्त और प्रसादगुण पूर्ण है, पदावली में भावव्यंजना सरसता तथा सुव्यवस्थित सुन्दरता भली प्रकार पाई जाती है। वाक्य-विन्यास में अलंकारों की सुन्दर सजावट और कला-कौशल के साथ ही साथ स्वाभाविकता भी ख़ूब भरी हुई है। प्रौढ़, परिपक्व और संयत व्रज भाषा का लिखना मतिराम का मुख्य उद्देश्य रहा है। जीवन की भाव-भावना पूर्ण सच्ची दशाओं का मर्म-स्पर्शी चित्रण करना इनकी रचना का विशेष गुण है। इन्हीं सब

बातों से हिन्दी-साहित्य में इन्हें बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है। शृङ्गारात्मक मुक्तक-काव्य के कवियों में इन्हें हम देव के ही समान महाकवि मानते हैं।

महाकवि-भूषण

भाषा-भाल-भूषण श्री भूषण जी उक्त मतिराम जी के भाई थे। इनका जन्म सं० १६७० में हुआ। इनके असली नाम का पता नहीं चलता, भूषण इनकी उपाधि थी जो इन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा श्री रुद्रनाथ से प्राप्त हुई थी। तभी से ये "कविभूषण या भूषण" कहे जाने लगे।

भूषण त्रिपाठी की प्रतिभा उसी प्रकार अप्रतिम रूप से वीर रसात्मक काव्य के क्षेत्र में दीप्तमान हुई जिस प्रकार इनके भाई मतिराम की प्रतिभा शृंगार रसात्मक काव्य के क्षेत्र में हुई थी। वीर-काव्य में भूषण की समता का महाकवि हिन्दी-संसार में आज तक नहीं हो सका। शृंगार रस की कुछ ही छन्द इनके ऐसे मिलते हैं जिनके देखने से ज्ञात होता है कि भूषण वीररस की रचना करने के लिये ही अवतीर्ण हुए थे।

कई राजाओं के यहाँ रहकर और मान-सम्मान के साथ पुरस्कार प्राप्त करके अन्त में ये महाराष्ट्रपति शिवाजी के यहाँ पहुँचे। वहाँ इनका बहुत आदर-सत्कार हुआ और वहीं से इनकी कीर्ति-कौमुदी कलित हुई। शिवाजी ही में इन्हें अपना अभीष्ट वीरनायक मिला और इनमें ही शिवाजी को अपना अभीष्ट मित्र वीर कवि मिला। शिवाजी ने, कहा जाता है, प्रथम ही इनकी योग्यता ताड़ ली थी और इन्हें एक छंद पर कई लाख रुपये दिये थे। इन्होंने शिवाजी को और शिवाजी ने इनको अमर कर दिया है। शिवाजी के लिये इन्होंने "शिवराज-भूषण" नामी एक वीर प्रधान अलंकार-ग्रन्थ ("साहित्यदर्पण" नामी

संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर) और "शिवाबावनी" नामी एक दूसरा ग्रन्थ लिखा।

पन्ना-नरेश महाराज छत्रशाल के यहाँ भी इनका बहुत प्रचुर मान हुआ, कहते हैं कि स्वयमेव महाराज ने इनकी पालकी अपने कन्धे पर रख ली थी, इसी पर मुग्ध होकर इन्होंने कहा "शिवा को सराहौं कै सराहौं छत्रशाल को"। इनके लिये भी इन्होंने "छत्रशाल दशक" नामी एक प्रसिद्ध पुस्तक रची। कमनीय कीर्ति कमाकर भूषण ने अपना शरीर सं० १७७२ में छोड़ दिया।

आलोचना—भूषण की रचना साहित्यिक महत्ता के साथ ही साथ ऐतिहासिक महत्ता भी रखती है। शिवाजी, छत्रशाल तथा मुग़ल सम्राट से सम्बन्ध रखने वाली कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं, उनकी तिथियों तथा उनकी स्थितियों का उल्लेख इन्होंने किया है। अस्तु इनकी रचनाओं से उस समय की राजनैतिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश पड़ता है।

जय-काव्य-काल में जिस प्रकार का वीर-काव्य लिखा गया है तथा उसके पश्चात् भक्ति-काल में जो दो-चार कवियों ने वीर-काव्य का रचना की है, उनसे भूषण का वीर-काव्य कुछ नवीन विशेषता रखता है। वह वीर-स्तवन तथा प्रोत्साहक काव्य के रूप में है। उस नायक पर वह समाधारित किया गया है जिसने अपने जीवन का एक उद्देश्य अन्याय-अत्याचारादि के दमन, हिन्दू-राष्ट्र की महत्ता-सत्ता का संस्थापन तथा हिन्दू-जाति का अभ्युत्थान करना ही था, इसलिये ऐसे नायक के प्रति समस्त भारत या हिन्दू-संसार के हृदय में श्रद्धा, भक्ति, सम्मान और प्रेम के भाव भरे थे। ऐसे नायक की कीर्ति का कीर्तन भूषण जैसे वीर-प्रशंसक महाकवि के द्वारा किया जाकर क्यों न आज तक भारत-व्यापी हो।

इससे स्पष्ट है कि भूषण में अपने काव्य-विषय के चुनने, देश-काल की मनोवृत्ति के जानने और अपने काव्य-नायक के पहिचानने की अच्छी योग्यता थी। चूँकि उनकी काव्य-वस्तु ऐतिहासिक, वास्तविक और प्रत्यक्षीकृत थी इसी से उसमें स्वाभाविकता, सत्यता तथा ओज आदि की यथेष्ट मात्रा पाई जाती है।

यद्यपि भूषण का काव्य स्तवन-पूर्ण है तो भी वह नहीं खटकता, क्योंकि वह स्तवन योग्य व्यक्ति का है, वह सत्यता और हार्दिक सहानुभूति रखता है, उसमें दिखावा नहीं। भूषण ने उन्हीं वीरों की प्रशंसा की है जिनकी प्रशंसा सारी हिन्दू-जनता करती थी, है और रहेगी। इसीसे आज तक भूषण के कवित्त हिन्दू-जनता की ज़बान पर मौजूद हैं।

शैली—भूषण ने कवित्त-शैली ही में अपनी सारी रचना की है। कवित्त की लय वीररसोपयुक्त भी होती है, कदाचित् भूषण ही एक प्रधान कवि हैं जिन्होंने वीर-काव्य में इस शैली का ऐसी सुन्दर सफलता के साथ उपयोग किया है और साथ ही अलंकार सम्बन्धी रीति ग्रन्थों में उदाहरणों से शृंगार रस को हटाकर वीररस का संचार किया है और इस प्रकार एक नवीन विशेषता उत्पन्न कर दी है। अलंकारों के शृंगार रसात्मक उदाहरणों को प्रधानता देने वाली परिपाटी में रूपान्तर करने वाले भूषण ही एक मुख्य महाकवि हैं।

भाषा—वीररस को प्रधान रखने के लिये भूषण को अपनी भाषा में अच्छा ओज रखना पड़ा है। वह सजीव, प्रबल और प्रौढ़ है। उसमें कहीं भी शैथिल्य, कार्पण्यसूचक मार्दव तथा हीनता नहीं। वह शुद्ध, सुव्यवस्थित तथा खूब मँजी हुई ब्रजभाषा है जिसपर बुन्देलखंडी और अवधी का भी कुछ प्रभाव है। प्रायः परुषावृत्ति की ही प्रधानता है। भाषा-अलंकारों की मर्यादा ही से

वाध्य हो कहीं कहीं वह अस्पष्ट और कुछ अव्यवस्थित सी हो गई है। यत्र तत्र व्याकरण के नियमों को तोड़ने-मरोड़ने में भूषण ने "निरंकुशाः कवयः" से लाभ उठाया है। उन्होंने कुछ नवीन शब्द भी अपनी इच्छानुसार गढ़ से लिये हैं और कहीं कहीं कुछ शब्दों में रूपान्तर भी कर दिये हैं, किन्तु हो सकता है कि उस समय महाराष्ट्र देश के निकट ऐसे शब्दों का प्रयोग होता रहा हो, यह भी सम्भव है कि यह मरहठों का प्रभाव हो। अस्तु ये सब ऐसी बातें हैं जिन्हें हमें ध्यान ही में यहाँ न लाना चाहिये।

अपने कला-काल की परम्परा से प्रभावित होकर उन्होंने "शिवराजभूषण" नामी अलंकार-ग्रन्थ रचा। इसमें लक्षण तो सूक्ष्म रूप से दोहों में देकर उदाहरण कवित्तों या सवैयों में दिये हैं। शास्त्रीय दृष्टि से यह ग्रन्थ कुछ विशेष महत्ता नहीं रखता, क्योंकि इसमें लक्षण प्रायः कुछ अस्पष्ट या संदिग्ध से हैं, उनके उदाहरण भी कहीं कहीं उपयुक्त नहीं हैं। काव्य-दृष्टि से यह ग्रंथ अवश्य ही पूरी प्रशंसा के योग्य है। कहीं कहीं तो ऐसा जान पड़ता है कि मतिराम और इनके ग्रन्थों का आधार एक ही है और इन्होंने ललित ललाम से पूरी सहायता ली है। कहीं कहीं दोनों की पूरी पदावली मिल जाती है।

भूषण ने केशव के समान बावन छंदवाली **बावनी** शैली उठाई है और साथ ही अपनी एक नवीन १० छंदों की **दशक शैली** भी निकाली है।

महाकवि विहारीलाल

हिन्दी-संसार में कौन ऐसा होगा, जिसने विहारी का नाम न सुना हो। काव्य-प्रेमियों में तो कोई भी ऐसा नहीं जिसे उनकी सतसई का एक-दो दोहा न याद हो। जितनी प्रसिद्ध और

व्यापक हिन्दी-संसार में विहारी-सतसई है उतना रामायण, रामचंद्रिका तथा सूर के पदों को छोड़कर और कोई भी पुस्तक नहीं। दोहा-सतसई के समुदाय में तो इसका सर्वप्रथम स्थान है ही, अलंकृत काव्य में भी इसका बहुत ही ऊँचा स्थान है।

बिहारीलाल चौबे (माथुर) का जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविन्दपुर में सं० १६६० के निकट माना गया है। एक दोहे के अनुसार कहा जाता है कि बाल्यकाल में ये बुन्देलखंड में रह कर फिर अपनी ससुराल मथुरा में आकर रहने लगे। इनका जीवन-काल सं० १७२० तक माना जाता है।

जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह के ये अपने एक लोक-प्रसिद्ध दोहे से—"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही में रम्यो, आगे कौन हवाल॥"
बड़े प्रिय कवि हो गये। इसी से उन्होंने महाराज को, जो अपनी छोटी रानी के प्रेम में मग्न होकर सदा महल में ही रहते थे, राज-काज की ओर आकृष्ट कर लिया था। महाराज की ही प्रेरणा से इन्होंने यह सतसई तैयार की, जिसके प्रति दोहे पर इन्हें एक एक अशर्फ़ी पुरस्कार में मिली।

आलोचना—सिवा सतसई के, जिसे शृंगार रस के ग्रंथों में सबसे अधिक ख्याति मिली है, इन्होंने और कोई दूसरी रचना नहीं की। दोहात्मक सतसई शैली में इनसे पूर्व कई रचनायें हो चुकी थीं, किन्तु वे प्रायः भक्ति एवं नीति-विषयक ही थीं, विहारी ही ने शृंगार रस के काव्य में इस शैली का उपयोग किया है। इनके पश्चात् भी कई सतसई-लेखक हुए किन्तु प्रायः सभी ने उनमें नीति को ही प्रधानता दी।

सतसई की कई टीकायें हुई हैं, उनमें से ४ या ५ टीकायें ही बहुत प्रसिद्ध हैं। कृष्ण कवि कृत कवित्तात्मक टीका, हरि प्रकाश टीका, लल्लू जी लालकृत लालचंद्रिका, सरदार कृत टीका और

सूरत मिश्र कृत टीका। कई कवियों ने विहारी के दोहों के भावों को विकसित करने के लिये छप्पय, कुंडलिया, रोला, सवैया आदि ललित छंदें लिखी हैं। इनमें से पठान सुलतान की कुंडलिया हैं तो अतीव रोचक और उपयुक्त, परन्तु हैं अधूरी; भारतेन्दु बाबू ने उनकी पूर्ति करनी चाही पर न कर सके। अंबिकादत्त व्यास ने सतसई के दोहों के साथ रोले जोड़े हैं।

पं० परमानन्द ने इसका संस्कृत में अनुवाद कर "शृङ्गार सप्तसती" की रचना की। मुन्शी देवीप्रसाद (प्रीतम, बुंदेलखंड) ने इसके दोहों का उर्दू शेरों में अनुवाद किया है, अतः इसकी महत्ता सर्वथा स्पष्ट ही है।

सतसई का सब से अच्छा प्रमाणित, स्पष्ट और शुद्ध संस्करण ब्रजभाषाचार्य महाकवि बा० जगन्नाथदास "रत्नाकर" ने गंगा-पुस्तक माला, लखनऊ से बड़े परिश्रम, खोज और सावधानी से संपादित कर मार्मिक टीका के साथ निकाला है। ऐसा संस्करण आज तक और कोई भी नहीं निकला।

कवि की महत्ता उसकी रचनाओं के गुणों से होती है, उनके परिमाण या संख्या से नहीं, यह आलोचना-सिद्धान्त विहारी पर पूर्णतया घटित होता है।

विहारी का काव्य ऐसा कला-पूर्ण मुक्तक-काव्य है जिसकी उपमा सरस, सुरभीले और सुन्दर सुमनों के एक सुगठित स्तवक से दी जा सकती है। इसमें शृङ्गारोपयुक्त यौवन की मनोरम वस्तुओं और मर्मस्पर्शी प्रेम-व्यापारों का सबल और सूक्ष्म-भाषा में चारु चित्रण किया गया है। इसके देखने से कवि की उस प्रशस्त प्रतिभा तथा कल्पना का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है जिसके द्वारा वह जीवन के किसी मनोरम अंग से सम्बन्ध रखने वाले सुखद और सुन्दर दृश्यों को संचित करके एक विचित्र रूप से चित्रित कर पाठकों या श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर लेता है और जिसके

द्वारा वह समाहार-शक्ति से उन्हें विनोदकारी व्यंजना के साथ थोड़े समय और थोड़े से स्थान में अपना पूर्ण प्रभाव डालने वाली सुगठित और सशक्त भाषा में स्पष्टता से व्यक्त करने में सफल होता है। मुक्तक काव्य की रचना में ऐसे ही प्रतिभाशाली कवि को सफलता-पूर्ण सुयश प्राप्त होता है।

विहारी का काव्य प्रबंध-काव्य नहीं, जिसमें रस की एक धारा से सिंचित होने वाले जीवन की घटनाओं और अवस्थाओं का स्थायी प्रभाव डालने वाला चित्रण रहता है और जिसके अन्दर भिन्न २ दृश्यों के चमत्कृत चित्रों की मनोरम चित्र-शाला सजी रहती है। हाँ, उत्कृष्ट मुक्तक काव्य के आदर्शानुसार उसमें अनुभावों, विभावों और हाव-भावादिकों की मर्मस्पर्शिनी व्यंजना के साथ सुयोजना भी सम्यक् संजीवता, स्वाभाविकता तथा साकारता के साथ पाई जाती है। इसीसे उसमें चित्रोपमता का पूरा प्राधान्य पाया जाता है। साथ ही उसमें भाव-व्यंजना भी अपने परमोत्कृष्ट रूप में मिलती है। वस्तु-व्यंजना भी यद्यपि बहुत ही सुन्दर रूप में रखी गई है तथापि कहीं कहीं वह औचित्य की सीमा से कुछ परे सी हो गई है।

कहीं कहीं व्यंग्य भावों का भी अच्छा कौतुक पाया जाता है किन्तु ऐसे स्थल तनिक कठिन कल्पना शक्ति की अपेक्षा करते हैं, यहाँ केवल प्रचलित या परिचित रीति या रूढ़ि ही का ज्ञान पर्याप्त सहायता नहीं कर सकता है।

यद्यपि इस काव्य में कवि ने अलंकारों की सजावट भी ख़ूब दिखलाई है किन्तु वह काव्य को किसी भी प्रकार कृत्रिम और भद्दा नहीं कर सकी क्योंकि प्रधानता उन्हीं अलङ्कारों को दी गई है जो रसभावोत्कर्षक तथा वस्तु-व्यंजक हैं। सूक्तियों में विहारी ने कल्पना-वैलक्षण्य और वाग्वैचित्र्य का भी अच्छा उपयोग किया

है। साथ ही कहीं कहीं श्रृङ्गार के संचारी भावों की भी बड़ी ही मार्मिक व्यंजना रक्खी है।

कुछ दोहे विहारी के नीति सम्बन्धी भी हैं, इनमें वर्णन-चमत्कार और शब्द-चातुर्य अच्छा पाया जाता है। समस्त काव्य कला-कौशल पूर्ण सत्काव्य ही ठहरता है।

भाषा—विहारी उन भाषाचार्यों में से हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्योचित एकरूपता, स्थिरता तथा निश्चित सुव्यवस्था के देने का सफल प्रयास किया है और इस प्रकार उसे परम परिमार्जित, शुद्ध तथा सुसज्जित बनाया है समस्त काव्य में शब्दों के रूप एक निश्चित प्रणाली से स्थिर करके रक्खे गये हैं। ऐसा करने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं। विहारी ने अन्य कवियों की भाँति न तो शब्दों को प्रायः तोड़ा-मरोड़ा ही है और न उनमें रूपान्तर करते हुए नये शब्द ही गढ़े हैं। केवल कुछ ही स्थानों में संस्कृत के तत्सम शब्दों को हिन्दी भाषा-प्रचलित सारल्य-सिद्धान्त के आधार पर सरल कर दिया है। वाक्य-विन्यास सुव्यवस्थित तथा व्याकरणानुकूल हैं।

आधार—विहारी के इस काव्य का आधार मुख्यतः संस्कृत की गाथा सप्तशती और अमरुक कवि कृत आर्या सप्तशती है, प्रायः सभी भाव इन्हीं के श्लोकों से लिये गये हैं, हाँ विहारी ने उन्हें अपने ढंग से विशेष रूप में कुछ न्यूनाधिक विशेषता तथा विचित्रता के साथ रख दिया है। कहीं यदि वे किसी भाव का उत्कर्ष कर सके हैं तो कहीं किसी भाव का अपकर्ष सा भी कर दिया है। इन सब बातों की विस्तृत विवेचना का यहाँ स्थान नहीं।

कला-काल की परम्परा के अनुसार, यद्यपि विहारी ने लक्षण-ग्रन्थ की रचना नहीं की और इस विचार से यहाँ हमें विहारी को न रखना चाहिये था, किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो ज्ञात होता है कि सम्भवतः विहारी ने नायिका-भेद, नखशिख

आदि का विचार रखते हुए दोहों की रचना की है इसीलिये उनका काव्य लक्षण ग्रंथ के रूप में न हो कर रीति-ग्रंथ के उदाहरण-ग्रंथ के रूप में है।

महाराज जसवन्तसिंह

महाराज जसवंतसिंह मारवाड़ के प्रसिद्ध हिन्दू-सम्राट गजसिंह के द्वितीय पुत्र और राजा अमरसिंह के छोटे भाई थे। उद्धत स्वभाव के कारण पिता के द्वारा अमरसिंह के राज्यच्युत कर दिये जाने पर ये सं० १६९५ में गद्दी पर बैठे।

शाहजहाँ के समय में ये कई युद्धों में लड़ चुके थे। औरंगज़ेब इनसे सदा डरता रहता था, उसने इनको गुजरात का सूबेदार बनाया और शाइस्ता ख़ाँ के साथ शिवाजी महाराज के विरुद्ध दक्षिण में भेजा। वहाँ इनकी कूट नीति से, कहते हैं, शाइस्ता ख़ाँ की दुर्गति और मुग़ल सेना की हार हुई। ये अफ़ग़ानों के विरुद्ध काबुल भी भेजे गये और इन्होंने उन्हें दबा दिया। सं० १७३८ में इनका स्वर्गारोहण हुआ।

ये महाराज बड़े साहित्य-मर्म्मज्ञ और तत्वज्ञानी थे। इनके समय में इनके देश में विद्या की बड़ी उन्नति हुई, काव्य और काव्य-शास्त्र की श्री-वृद्धि भी इनके प्रोत्साहन से ख़ूब हुई। ये स्वयमेव अच्छे कवि और आचार्य थे, इसीसे इनके यहाँ कवियों और विद्वानों का बड़ा आदर-सत्कार होता था।

हिन्दी-काव्य-साहित्य के ये प्रधान आचार्यों में हैं। इनका रचा हुआ "भाषा-भूषण" नामी अलङ्कार-ग्रन्थ हिन्दी-संसार में बहुत ही प्रसिद्ध और चिर प्रचलित है। यह ग्रन्थ संस्कृत के "चंद्रालोक" नामी अलङ्कार-ग्रन्थ पर सर्वथा समाधारित है, कहीं कहीं इसमें "साहित्यदर्पण" से भी सहायता ली गई है।

चंद्रालोक की शैली का अनुकरण करते हुए इसमें इन्होंने एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों का समावेश किया है। इसीसे इस शैली का हिन्दी के रीति-ग्रंथों में संचार एवं प्रचार हुआ है। इस ग्रन्थ को हम एक प्रकार से अनुवाद या छायानुवाद-ग्रन्थ ही कह सकते हैं, क्योंकि इसमें कोई विशेषता या मौलिकता नहीं की गई।

भाषा भूषण की तीन टीकायें हुईं, प्रथम है सं० १७९२ में वंशीधर कृत "अलंकार रत्नाकर" नामक, दूसरी है प्रतापसाहिकृत और तीसरी है "भूषण चंद्रिका" नामी गुलाब कवि कृत।

तत्वज्ञान सम्बन्धी इन्होंने ६ पुस्तकें और रचीं, **प्रबोध चन्द्रोदय नाटक** (संस्कृत के इसी ग्रंन्थ के आधार पर), अपरोक्ष सिद्धान्त, आनंद-विलास, सिद्धान्तसार, अनुभव प्रकाश और सिद्धान्त-बोध। ये सब पद्यों में ही हैं जिनसे इनकी कवि-प्रतिभा का भी अच्छा परिचय मिलता है।

मारवाड़ में रहते हुए भी इन्होंने सुन्दर व्रज भाषा का प्रयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि ये प्रधान साहित्यिक व्रज भाषा के अच्छे मर्मज्ञ थे।

कुलपति मिश्र

ये चौबे (माथुर) महाकवि विहारीलाल के भानजे थे और आगरे में रहते थे। इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। विहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के सुपुत्र राजा रामसिंह के दरबार में ये रहा करते थे।

कार्तिक कृष्ण ११ सं० १७२७ में इन्होंने मम्मटाचार्य कृत काव्य प्रकाश (संस्कृत-ग्रन्थ) के आधार पर उसका छायानुवाद सा

करते हुए "रस-रहस्य" नामक काव्य-शास्त्र का एक उत्तम ग्रंथ रचा। इससे स्पष्ट है कि यह संस्कृत के अच्छे विद्वान थे।

इनके ग्रंथ का अवलोकन करने से ऐसा अनुमान होता है कि यह काव्य शास्त्र के सभी विषयों का प्रौढ़ और सर्वोत्तम निरूपण करना चाहते थे, इसका इन्होंने प्रयत्न भी किया, किन्तु विषय की दुरूहता, ब्रजभाषा की निश्चित गद्य-शैली की अविद्यमानता तथा प्रचलित पद्यात्मक काव्य-शास्त्र के रीति-ग्रन्थों की रचना-पद्धति के पालन करने की विवशता से इनको यथेष्ट सफलता न प्राप्त हो सकी। इस ग्रन्थ में शब्द-शक्ति तथा रसभावादि का निरूपण (लक्षण और उदाहरणादि पूर्ण) सभी प्रायः पूर्णतया काव्य-प्रकाश ही का है। अलंकार-निरूपण में इन्होंने भूषण की शैली का अनुकरण करते हुए उदाहरणों में अपने आश्रयदाता राजारामसिंह की प्रशंसा स्वरचित छंदों में की है। ऐसा करते हुए भी ये भूषण की उद्देश्य-मार्मिकता तथा शैली की वास्तविकता को नहीं पा सके।

खोज से इनके ५ ग्रन्थों का और पता चला है, १—द्रोणपर्व (सं०१७३७) २—मुक्ति तरंगिणी (सं० १७४३)। नखशिख, संग्रह-सार और गुणरस-रहस्य (सं० १७२४) और मिले हैं। इस प्रकार इनका रचना-काल सं० १७२४ से १७४३ तक जान पड़ता है।

भाषा इनकी ब्रज की साधारण ब्रजभाषा है, इस पर इनका अच्छा अधिकार जान पड़ता है, यद्यपि रस रहस्य में भाषा (तथा वाक्य-रचना) कहीं दुरूह और अस्पष्ट हो गई है, किन्तु इसका कारण विषय की क्लिष्टता ही है। साधारणतया इनकी रचना सरस और सुन्दर है।

सुखदेव मिश्र

इनका जन्म-स्थान कम्पिला था, किन्तु इनके वंशज अब तक दौलतपुर (ज़ि० रायबरेली) में रहते हैं। इनका रचना-काल सं०

१७२० से १७६० तक माना जा सकता है। इन्होंने ७ ग्रंथों की रचना की है।

इन्होंने काशी में विद्याध्ययन किया, फिर वहाँ से ये आकर असोथर (ज़ि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची और डौंडिया खेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ रहे। कुछ समय तक ये औरंगज़ेब के मन्त्री फ़ाज़िल अलीशाह के भी यहाँ रहे और अंत में मुरारमऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ आये और उन्हीं की आग्रह से सपरिवार दौलतपुर में रहने लगे। राजा राजसिंह से इन्हें "कविराज" की पदवी भी प्राप्त हुई थी।

मिश्र जी एक विद्वान कला-कुशल कवि और आचार्य थे। छन्द-शास्त्र का भी इनको अच्छा ज्ञान था। इनका "वृत्त-विचार" (सं० १७२८) पिंगल का एक अच्छा ग्रन्थ है, इसी प्रकार "छंद-विचार" भी है।

"रसार्णव" और "फ़ाज़िल अली प्रकाश" ये दोनों ग्रंथ भी सराहनीय हैं, इनमें इनकी काव्य-कला-कुशलता दिखलाई पड़ती है, जितने भी उदाहरण हैं प्रायः सभी सरस और सुन्दर हैं। "श्रृङ्गार लता" "दशरथ राय" और "अध्यात्म-प्रकाश" (सं० १७५५) भी इनके सुन्दर ग्रन्थ हैं। अध्यात्म प्रकाश में ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी बातें बड़ी मार्मिकता से दी गई हैं इससे यह भी ज्ञात होता है कि ये निस्पृह और विरक्त साधु होकर रहते थे, ऐसी जन-श्रुति भी है।

इनकी रचना से ज्ञात होता है कि इनकी भाषा सुन्दर-सुव्यवस्थित और प्रौढ़ ब्रजभाषा है, उसमें सरसता, स्पष्टता और स्वच्छता है।

कालिदास त्रिवेदी

इनकी जीवनी के तो विषय में विशेष नहीं ज्ञात हो सका, हाँ यह निश्चित है कि ये अंतरवेद के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

सं० १७४५ में औरंगज़ेब ने गोलकुण्डा पर जो चढ़ाई की थी उसमें ये भी किसी राजा के साथ गये थे, क्योंकि उस युद्ध का उल्लेख करते हुए इन्होंने औरंगज़ेब की प्रशंसा की है। सं० १७४९ में इन्होंने "वरवधू-विनोद" नामक एक पुस्तक लिखी, जिससे ज्ञात होता है कि ये जम्बू-नरेश राजा जोगजीत सिंह जी के यहाँ भी रहे थे। इस पुस्तक में इन्होंने नायिका-भेद और नखशिख का वर्णन किया है।

त्रिवेदी जी ने "जंजीराबंद" नामी एक छोटी सी पुस्तक और लिखी। खोज से "राधा-माधवबुध-मिलन-विनोद" नामक एक ग्रन्थ इनका और मिला है।

सं० १४८१ से १७७६ तक के २१२ प्रधान कवियों के १००० छंदों का एक बृहत् संग्रह इन्होंने तैयार किया, जो "कालिदास हज़ारा" के नाम से प्रसिद्ध है। इससे कवियों के कालादि के निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। इनका यह ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है।

त्रिवेदी जी की रचना से विदित होता है कि वे एक काव्य-कुशल और सहृदय कवि थे। इनकी भाषा यद्यपि परिपक्व ब्रज-भाषा है तथापि अवधी से कुछ प्रभावित भी है। शब्दावली और वाक्य-विन्यासादि साधारणतया सुन्दर, भावपूर्ण और सुव्य-वस्थित हैं।

राम कवि

"सरोज" के अनुसार इनका जन्म सं० १७०३ में माना गया है और रचना-काल सं० १७३० के आस-पास अनुमाना गया है। इनकी जीवनी के विषय में विशेष बातें ज्ञात नहीं हैं।

"शृङ्गार सौरभ" नामक नायिका-भेद का एक अच्छा ग्रंथ इन्होंने रचा जिसमें उदाहरण बड़े ही मनोरंजक हैं। खोज में इनका "हनुमन्नाटक" भी मिला है।

इनकी भाषा और रचना बहुत उच्चकोटि की नहीं जान पड़ती अतः इन्हें हम साधारण श्रेणी में ही रखते हैं।

महाकवि देव

कला-काल के महाकवियों में देवजी को बिहारी के ही समान बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। वास्तव में देव जी इसके सर्वथा अधिकारी या योग्य हैं। इस काल के कवियों में सब से अधिक रचना इन्हीं की है। न केवल परिमाण में ही इनकी रचना को हिन्दी-साहित्य में एक विशेष ऊँचा स्थान दिया जाता है वरन् काव्य-गौरव के विचार से भी इनकी रचना विशेष महत्ता रखती है।

देव जी का जन्म सं० १७३० (सन् १६७४ ई०) में माना गया है क्योंकि इन्होंने सं० १७४६ में, जब ये १६ वर्ष के थे, अपना प्रख्यात ग्रंथ "भाव-विलास" नामी काव्य-शास्त्र पर लिखा। मिश्र-बन्धु-विनोदानुसार देव जी कान्यकुब्ज ब्राह्मण और इटावा के रहने वाले थे। इनके वंशधर इटावा से प्रायः ३२ मील दूर गाँव कुसुमपुरा में शायद अब भी रहते हैं।

किसी २ ने इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण कहा है, परन्तु न जाने किस आधार पर, ज्ञात नहीं। देव जी हितहरि-संप्रदाय के बारह शिष्यों में से मुख्य थे।

देव जी में विलक्षण कवि-प्रतिभा और शक्ति थी, यह इनके सोलहवीं वर्ष की अवस्था में "भावविलास" के रचने से ही स्पष्ट है। यह इनका दुर्भाग्य ही था कि इन्हें कोई गुणग्राही राजा या रईस न मिल सका। इसी खोज में ये सब ओर घूमते रहे। इस यात्रा से इन्हें बहुत अनुभव-ज्ञान प्राप्त हो गया, जिसका अच्छा उपयोग इन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। "जाति-विलास" नामक ग्रंथ इसी का फल है, इसमें इन्होंने भिन्न २ जातियों तथा भिन्न २ प्रान्तों की स्त्रियों का बड़ा ही चित्रोपम तथा स्वा-

भाविक चित्रण किया है। वह कहाँ तक सत्य है कहा नहीं जा सकता, क्योंकि इस परिवर्तित काल में उसका ज्ञानानुमान हो नहीं सकता।

देव जी ने अपने प्रायः सभी आश्रयदाताओं के नाम पर कई ग्रंथ रचे हैं। भवानीदत्त वैश्य के नाम पर "भवानी-विलास" कुशलसिंह के नाम पर "कुशल-विलास", मर्दनसिंहात्मज राजा उद्योतसिंह के लिये "प्रेम-चन्द्रिका" और राजा भोगीलाल के लिये "रसविलास (सं० १७८३) नामक ग्रंथ बनाये। राजा भोगीलाल ने इनका बहुत आदर-सत्कार किया, इसी से इन्होंने उनकी बड़ी प्रशंसा की है। "भाव-विलास और अष्टयाम" की रचना करके इन्होंने औरंगज़ेब के शाहज़ादे आज़मशाह को सुनाये और वे प्रसन्न भी हुए पर उस प्रसन्नता का अच्छा संतोषप्रद परिचय वे न दे सके:—

"दिल्लीपति नौरंग के, आज़मसाहि सपूत।
सुन्यो, सराह्यो, ग्रन्थ यह, अष्टयाम संजूत॥

यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका कि देव ने कितने ग्रन्थों की रचना की, कुछ लोग इनके ग्रन्थों की संख्या ७२ और कुछ ५२ कहते हैं, किन्तु इनके निम्नांकित २६ ग्रंथों का पता चलता है:—

१—भाव-विलास, २—अष्टयाम, ३—भवानी-विलास, ४—कुशल-विलास, ५—प्रेम-तरंग, ६—सुजान-विनोद, ७—रागरत्नाकर, ८—प्रेम चन्द्रिका, ९—देवचरित्र, १०—रसविलास, ११—जाति-विलास, १२—शब्द रसायन (काव्य-रसायन), १३—देव-माया-प्रपंच, १४—सुखसागर-तरंग, १५—पावस-विलास, १६—वृत्त-विलास, १७—तत्वदर्शन पचीसी, १८—ब्रह्मदर्शन पचीसी, १९—जगद्दर्शन पचीसी, २०—आत्मदर्शन पचीसी, २१—सुमिल-विनोद,

२२—नीतिशतक, २३—प्रेमदीपिका, २४—रसानंद लहरी, २५—राधिका-विलास, २६—नखशिख प्रेम-दर्शन।

यहाँ इस बात का भी लिख देना आवश्यक जान पड़ता है कि प्रायः देव जी अपनी छंदों को कुछ इधर उधर करके और कुछ न्यूनाधिक रूपान्तर के साथ एक ग्रन्थ से दूसरा ग्रन्थ तैयार कर दिया करते थे, इसी से ग्रंथों की संख्या बढ़ गई है। प्रायः बार बार कई ग्रंथों में एक ही छंद मिलते हैं जिससे उक्त बात की पुष्टि होती है।

यह अवश्य कहना पड़ता है कि देव की प्रतिभा बहुन्मुखी थी। उन्होंने साहित्य-क्षेत्र की प्रायः सभी प्रधान शैलियों के आधार पर रचनायें की हैं। कवित्त-सवैयात्मक, दोहात्मक शतसई शैली, रीति-रचना, भक्ति-काव्य तथा नाटक प्रायः सभी प्रकार की रचनायें की हैं।

संगीत और पिंगल शास्त्र का भी देव जी को अच्छा ज्ञान था। "रागरत्नाकर" में इन्होंने राग-रागनियों का वर्णन किया है और पिंगल के क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र मौलिकता दिखलाई है। ३० से ३३ वर्णों तक का प्रयोग इन्होंने अपनी घनाक्षरी छंदों में किया है। साथ ही और भी कई विशेषतायें छंदों की रचना में इन्होंने अपने काव्य-रसायन में दिखलाई हैं, जिससे इनकी मौलिक प्रतिभा तथा आचार्यता का पता चलता है।

कहना चाहिये कि देव जी कवि और आचार्य दोनों थे। भाव विलासादि काव्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथों में इन्होंने अपनी आचार्यता का प्रदर्शन कराया है, अलंकारों की संख्या इन्होंने घटाकर, केवल मुख्य २ अलंकारों को लेते हुए तथा कतिपय अलंकारों में अपनी विशेषता रखते हुए रूपान्तर करके, ३९ ही रखी हैं। * भाव विलास में आपने रस-

* देखिये इस सम्बन्ध में "अलंकार पीयूष" नामी ग्रन्थ।

—सम्पादक

भाव पर विशेष बल दिया है, जिससे स्पष्ट है कि ये प्रथम रस-वादी हैं बाद को चमत्कार-वादी।

आलोचना—यद्यपि देवजी ने अपना कोई विशेष सिद्धान्त या अपना कोई विशेष मार्ग ऐसा नहीं निश्चित किया जो हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में अपनी कोई अनुकरणीय विशेषता रखता हो, तौ भी देव जी ने अपनी समस्त रचनाओं में अपनी मौलिकता की छाप अवश्य लगा दी है। अनेक उक्तियाँ और उपमायें आदि इनकी सर्वथा मौलिक ठहरती हैं। कुछ लोग इनकी आचार्यता में संदिग्ध से हैं, किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो निष्पक्ष हृदय यही कहेगा कि देव में आचार्य के सभी प्रधान गुण थे, यदि उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली तो यह उनका उतना दोष नहीं जितना उस समय की रचना-परम्परा (जो समय-सम्मानित और समाज-प्रिय थी) तथा उस ब्रजभाषा का है जो काव्योप-योगी या पद्योपयुक्त ढंग में विकसित की गई थी और जिसका गद्य (जो शास्त्रीय पद्धति से रीति-ग्रंथों में विषय-निरूपण, तर्कात्मक प्रतिपादन तथा सैद्धान्तिक विवेचनादि के लिये अनि-वार्य है) निश्चित एकरूपता के साथ विविध या सब प्रकार के विचारों के स्पष्टीकरण की क्षमता रखते हुए साहित्यिक या व्याकरण सम्बन्धी नियंत्रण से स्थिर न हो सका था। यही कारण है कि कला-काल के प्रायः किसी भी आचार्य को पूरी सफलता नहीं मिली।

शृंगार रस-सम्बन्धी नख-शिख-वर्णन, नायक-नायिका भेद, षट्ऋतु-वर्णन, आदि भी देव ने लिखे हैं। इनका षटऋतु-वर्णन वैसा सुन्दर और प्रौढ़ नहीं जान पड़ता जैसा सेनापति जी का है।

— वैष्णव-कृष्ण-भक्तों की अष्टयाम-रचना-शैली के आधार पर देव ने भी अष्टयाम लिखा है, जो भाव-विलास सा प्रौढ़ नहीं।

देवचरित्र में देवजी ने श्रीकृष्णजी का चरित्र चित्रित किया है और इस प्रकार चरित-काव्य की भी रचना की है। देव जी ने कंस-बध तक तो कथा का अच्छा विस्तार रक्खा है, आगे सूक्ष्म रूप में लिखा है, यह कवित्त, सवैया-शैली में है।

देवजी शुद्ध प्रेम के अनुयायी हैं, इसके सामने वे जप-तपादि को भी ब्रह्मानंद की प्राप्ति में न्यून मानते हैं। नायिकाओं में आपने स्वकीया को ही उत्तम और सराहनीय कहा है, परकीया तथा सामान्यादि के सम्बन्ध को निंद्य और त्याज बताया है, बात भी यही है—देव जी "नहिं कविना परदारा एष्टव्या नवाप्युप देष्टव्या" के पूर्ण अनुयायी जान पड़ते हैं। रसों में आप शृंगार को ही मुख्य मानते हैं और तल्लीनतामय प्रेम को उस का सार समझते हैं। प्रेम के साथ ही अनुराग, सौहार्द, भक्ति-वात्सल्य और कार्पण्य पाँच भेदों की उन्होंने विवेचना की है।

काव्यरसायन या शब्द रसायन नामक ग्रंथ में उन्होंने काव्य शास्त्र के सभी प्रधान विषयों की मार्मिक-विवेचना की है, इसी ग्रंथ से इनकी विद्वता तथा आचार्यता प्रगट होती है। चित्र-काव्य की निन्दा करते हुए भी उदाहरणार्थ आपने चित्र-काव्य लिखा है, जो उत्कृष्ट है। इसी में इन्होंने संस्कृत-मतानुसार गद्य का भी सूक्ष्म विवेचन किया है, अन्य सभी लेखकों ने इस विषय को छोड़ ही दिया है।

छंद-शास्त्र की रचना करते हुए आपने छंदों के लक्षण और उनके उदाहरण एक ही साथ दिये हैं, उदाहरण उसी छंद में हैं जिसका लक्षण दिया जा रहा है। इसी शैली का संस्कृत के भी विद्वानों ने उपयोग किया है।

नीति-काव्य भी देव ने लिखा है और दोहात्मक सतसई शैली में भी रचना की है।

देवमाया प्रपंच एक नाटक-ग्रंथ है जो संस्कृत के प्रबोध चन्द्रोदय नामी नाटक के आधार पर लिखा गया है।

देव जी ने सतसई, बावनी और दशक के समान एक "पचीसी" शैली भी मुक्तक-क्षेत्र में निकाली और जगद्दर्शन, आत्मदर्शन, तत्वदर्शन और प्रेम दर्शन नामों से चार पचीसियाँ लिखीं। साथ ही इन्होंने "पावस-विलास" लिखकर एक ऋतु-वर्णन का भी एक नया रचना-मार्ग निकाला। इसी के अनुकरण में कदाचित् पावस-प्रमोद, पावस पचासा आदि अनेक पुस्तकें अन्य कवियों ने लिखीं। देव की चारों पचीसियों के संग्रह को वैराग्य शतक कहते हैं।

भाषा—देव की भाषा परिपक्व, प्रौढ़ और सुव्यवस्थित ब्रज भाषा है। शब्द-संचयन में इन्होंने कोमलता और सरसता का इतना ध्यान रक्खा है कि प्रायः कहीं भी कर्ण-कटु और संयुक्त वर्णों का शब्द नहीं आने पाया। यद्यपि अनुप्रास (सभी प्रकार के) और यमक आदि शब्दालंकारों का अच्छा प्रयोग पाया जाता है तथापि निरर्थक शब्दाडम्बर नहीं होने पाया। कठिन से कठिन तुकों का निर्वाह देव ने अपने विशद शब्द-कोष के बल से करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है। पदावली भी बहुत ही सुव्य-वस्थित और गठी हुई है, उसमें बड़े बड़े विशेषण या सामासिक पद रक्खे गये हैं। कहीं कहीं निरर्थक पद भी दिखलाई पड़ते हैं। भाषा भाव-गम्य भी है और मुहावरेदार भी है, वह चमत्कृत और अलंकृत भी ख़ूब है। उपमायें बड़ी ही मौलिक और उपयुक्त हैं। रूपक भी बड़े ही चित्रोपम हैं, उक्तियाँ भी बड़ी विचित्र और चुभती हुई हैं। भाषा कहीं कहीं ध्वन्यात्मक और व्यंग्य-वलित भी है। वर्णमैत्री के लिये कहीं २ शब्द तोड़े-मरोड़े भी गये हैं, शब्दमैत्री और अनुप्रास के लिये शब्द बिगाड़े गये तथा वाक्य-विन्यास भी अविन्यस्त किया गया है।

इन्हीं सब विशेष गुणों का विचार करके इन्हें हिन्दी-साहित्य में बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है। देव और विहारी की तुलनात्मक आलोचनायें बड़े मत-भेद से की गई हैं, जिनमें पक्षपात का न्यूनाधिक आभास अवश्य है।

सूरत मिश्र

"सूरत मिश्र कनौजिया, नगर आगरे वास"।

यह तो इस से स्पष्ट ही है कि सूरत मिश्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण और आगरे के रहने वाले थे। इन्होंने अपने सम्बन्ध में बस इतना ही लिखा है, अपने जन्मादि विषयक सारी और बातें छोड़ दी हैं।

इन्होंने "अलंकार माला" नामक एक अलंकार-ग्रंथ सं० १७६६ में रचा और विहारी-सतसई पर "अमरचंद्रिका" नामी टीका सं० १७६४ में लिखी, अतः इनका रचना-काल इसी काल में अर्थात् अठारहवीं शताब्दी के अवसान में माना गया है।

केशवदास कृत "कविप्रिया" और "रसिक-प्रिया" की भी इन्होंने विस्तृत और मार्मिक टीकायें लिखीं, अतएव इनकी साहित्य-मर्मज्ञता और योग्यता का पूरा परिचय प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त इन्होंने "वैताल पंचाशिका" नामी पुस्तक का संस्कृत से हिन्दी गद्य में अनुवाद भी किया। ये सब ग्रंथ इन्होंने व्रजभाषा गद्य में ही लिखे हैं, इससे ज्ञात होता है कि ये गद्य-लेखक भी थे।

इनके ७ रीति-ग्रन्थों का पता लगता है, १—अलंकार माला यह "भाषा भूषण" की ही शैली में लिखा गया है और चंद्रालोक पर ही समाधारित जान पड़ता है। कोई ऐसी विशेषता इसमें नहीं जो उल्लेखनीय हो। २—रसग्राहक-चंद्रिका, ३—रस-रत्नमाला, ४—रस-रत्नाकर, ५—काव्य-सिद्धान्त, ६—सरस रस

और ७—नख-शिख भी अच्छे ग्रन्थ हैं। खेद है कि ये सब प्रकाशित नहीं हुए, जितने प्रकाशित हुए हैं उनके देखने से ज्ञात होता है कि इनमें काव्य-शास्त्र की मर्मज्ञता और कवि-प्रतिभा अच्छी थी।

सरदार नसरुल्ला ख़ाँ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मद-शाह के दरबार में ये आया-जाया करते थे और बातें इनके विषय में ज्ञात नहीं।

मिश्र जी की भाषा चलती हुई साधारण व्रज भाषा है, उसमें स्वच्छता और स्पष्टता भी पर्याप्त है। रचना साधारणतया अच्छी जान पड़ती है।

—:o:—

उदयनाथ

ये उक्त कविवर कालिदास त्रिवेदी के सुपुत्र थे। इनका जन्म सं० १७३६ के आसपास माना जाता है। "कवीन्द्र" इनकी उपाधि है। इनका रचना-काल सं० १७७७ से १८०४ के आगे तक माना जा सकता है क्योंकि इन दोनों सम्वतों में इन्होंने दो ग्रंथ "विनोद चंद्रिका" और "रसचन्द्रोदय" नामक लिखे।

अमेठी-नरेश राजा हिम्मतसिंह और गुरुदत्तसिंह के यहाँ ये बहुत समय तक रहे और इनका अच्छा मान-सम्मान रहा। इनकी भाषा माधुर्य और प्रसाद गुणयुक्त स्वच्छ ब्रजभाषा है, यमक और अनुप्रासों की छटा भी उसमें अच्छी पाई जाती है। कहीं कहीं वाक्य-विन्यास एवं शब्द-व्यवस्था व्याकरण के नियमों के अनु-सार नहीं, इससे रचना-विधान अविन्यस्त सा हो गया है। कारक-विभक्तियाँ अपने पदों से कहीं कहीं अन्य शब्दों के व्यव-धान से विलग कर दी गई हैं, जिससे स्पष्टता को कुछ आघात सा पहुँच गया है।

—:o:—

श्रीपति

श्रीपति जी ने कालपी में कान्यकुब्ज-कुल में जन्म लिया। इनकी बुद्धि बहुत ही तीव्र और प्रतिभा प्रौढ़ और विलक्षण थी। ये जिस उच्चकोटि के कवि थे उसी उच्चकोटि के आचार्य भी थे।

इनकी रचना यद्यपि सामयिक शैली के ही मार्ग पर हुई है तोभी उसमें विशेषता और विचित्रता पर्याप्त रूप में पाई जाती है। इनकी कविता प्रौढ़, अलंकृत और उच्चकोटि की है। शब्दावली ख़ूब ही चुनी हुई, सुसंगठित और स्पष्ट है। सानुप्रासिक पदावली होती हुई भी भावपूर्णता तथा सरस मृदुलता किसी प्रकार भी कम नहीं हो सकी। व्यर्थ का शब्दाडम्बर और वाग्-जाल उसमें नहीं आने पाया। वाक्य-विन्यास सर्वथा सुव्यवस्थित और ओज, माधुर्य तथा प्रसाद गुणों से परिपूरित है। व्रजभाषा भी सुन्दर और साधारण है। कहीं कहीं व्याकरण सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ मिलती हैं किन्तु वे क्षम्य हो सकती हैं। कहीं कहीं कारकों की विभक्तियों का ऐसा लोप कर दिया गया है, जिससे स्पष्टता को कुछ धक्का पहुँचा है। रचना में स्वाभाविकता और कोमलता भी पर्याप्त मात्राओं में मिलती है।

जिस ग्रन्थ से इनके आचार्यत्व का पता चलता है वह है "काव्य-सरोज", जिसकी रचना इन्होंने सं० १७७७ में की थी। यह ग्रंथ सर्वाङ्ग पूर्ण, विशद और प्रौढ़ है, इसमें बड़े ही सुचारु ढंग से काव्य-शास्त्र के अंगों पर प्रकाश डाला गया है। विषय-प्रतिपादन बड़ी ही स्पष्टता और सरलता के साथ किया गया है। इसी ग्रन्थ पर भिखारीदास का काव्य-निर्णय बहुत कुछ समाधारित है, इसके बहुत से स्थल तो दास ने ज्यों के त्योंही रख लिये हैं। जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ में इन्होंने संस्कृत के काव्य-प्रकाश तथा चन्द्रालोक से अच्छी सहायता ली है। इसके अलावा

इन्होंने १—कविकल्पद्रुम २—रससागर ३-सरोज-कलिका ४-अनुप्रास-विनोद ५—अलंकार गंगा और ६—विक्रम-विलास नामक ग्रंथ और रचे। इन्होंने काव्य-दोषों की विवेचना विशद रूप में की है और केशव के काव्य से भी दोषों के उदाहरण रक्खे हैं। इससे स्पष्ट है कि ये बड़े ही सच्चे और पक्षपात-रहित समालोचक थे, और विचार-स्वातंत्र्य के साथ निर्भीक होकर आलोचना करते थे।

इस प्रकार हम श्रीपति जी को आचार्यों की श्रेणी में एक ऊँचा स्थान देते हैं। यद्यपि मौलिकता का इतना विशेष अंश इनमें नहीं कि इन्हें प्रधान आचार्य कहा जा सके, तथापि इनको आचार्यत्व देने के लिये वह पर्याप्त है।

भिखारीदास

इन्होंने अपने वंश का पूरा परिचय दिया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ये प्रतापगढ़ (अवध) के समीपवर्ती ट्योंगा गाँव के निवासी श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनके पिता का नाम कृपालुदास, पितामह का वीरभानु, प्रपितामह का राय रामदास और वृद्धप्रपितामह का राय नरोत्तमदास था। इनके पुत्र का नाम अवधेशलाल और पौत्र का गौरीशङ्कर था। गौरीशङ्कर निस्सन्तान थे अतः इनकी वंशावली यहीं समाप्त हो जाती है।

दास जी के लेखानुसार, इनके आश्रयदाता प्रतापगढ़ के सोमवंशीय राजा पृथ्वीपतिसिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह थे।

इनके ९ ग्रन्थों का पता लगा है, जिनसे इनके कवित्व तथा आचार्यत्व का परिचय प्राप्त हो जाता है। इन ग्रन्थों में से १—काव्य-निर्णय और २—छंदार्णव पिंगल बहुत प्रौढ़ और प्रसिद्ध हैं। ३—रस सारांश (सं० १७९९), ४—शृङ्गार निर्णय (सं० १८०७), नाम प्रकाश (कोषग्रंथ सं० १७९५), ६—विष्णुपुराण

(दोहे-चौपाइयों में), ७—शतरंजशतिका, ८—अमर-प्रकाश (संस्कृत के अमरकोष का हिन्दी में पद्यानुवाद) और ६—छंद-प्रकाश शेष ग्रन्थ हैं और अच्छे हैं।

आलोचना—दास जी ने, जैसा उक्त ग्रन्थोंके देखने से ज्ञात होता है, हिन्दी-साहित्य की दो मुख्य रचना-शैलियों का विशेष उपयोग किया है। कवित्त-सवैया-शैली तो इस काल की प्रधान शैली थी ही इसको तो समय-प्रवाह के आधार पर दास ने प्रधानता दी ही है, दोहा-चौपाई वाली शैली का भी विष्णु पुराण में उपयोग किया है। अनुवाद-पद्धति के अनुसार इन्होंने विष्णु पुराण और अमरकोष का अनुवाद भी किया है। हिन्दी भाषा में अब तक कोष-ग्रन्थ बहुत ही अल्प संख्या में थे, अतः उनकी भी महती आवश्यकता थी, क्योंकि अब हिन्दी भाषा और उसका साहित्य पर्याप्त रूप से बढ़ चुका था और बढ़ रहा था। इसी का विचार करके दास जी ने दो कोष ग्रन्थ भी लिखे, जिनमें से अमरकोष तो संस्कृत के लोक-प्रसिद्ध अमरकोष का भाषा में पद्यानुवाद ही है।

संस्कृत में प्रत्येक विषय को मूलतः छंदबद्ध करने की जो सुपद्धति, बहुत समय से प्रचलित रही है उसी का हिन्दी-कवियों ने भी अनुसरण किया था और वही अब तक बराबर चली जा रही थी। इस पद्धति से जिस प्रकार संस्कृत-गद्य का प्रचुर प्रचार, विकास तथा प्रवर्धन न हो सका, वह केवल संकीर्ण रूप में ही रह गया, उसी प्रकार हिन्दी-गद्य भी इसके कारण पल्लवित और पुष्पित न हो सका।

लेखन-सामग्री की संकीर्णता, मुद्रणकला की अविद्यमानता तथा लोक-रुचि आदि के भी कारण गद्य का उस समय यथेष्ट प्रकाश न हो सका और कदाचित् इसीलिये कवियों एवं विद्वानों को गद्य की ओर से अपना ध्यान हटा कर पद्य-रचना की ही

ओर पूर्ण रूप से लगा कर प्रायः प्रत्येक विषय को पद्य में ही लिखना पड़ा है। इसी कारण से गद्य का एक सर्वमान्य, व्यापक तथा साहित्योचित स्थिर रूप न निश्चित हो सका। जब उक्त कारण दूर हो गये और गद्य के बिना कार्य-निर्वाह न हो सकने लगा तब गद्य का उदय और उसका विकास-प्रकाश होने लगा और "हिन्दी साहित्य के गद्य-युग" का प्रवेश हो गया।

यह भी कहा जा सकता है कि इस समय चूँकि प्रायः कवि एवं लेखक संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद किया करते थे या उनके आधार पर ही अपने ग्रंथों की रचना किया करते थे और चूँकि लोक-रुचि के अनुसार पद्य-शैली ही सर्वमान्य एवं व्यापक होकर प्रवल प्रधानता या प्रचुरता के साथ, सर्वत्र प्रचलित थी, इसीलिये कवि आदि इसी शैली का उपयोग किया करते थे।

भाषा—परिपक्व, शुद्ध तथा सुव्यवस्थित ब्रज भाषा का उपयोग दास ने भी किया है, क्योंकि यही उस समय में एक व्यापक साहित्यिक भाषा थी। सानुप्रासिक भाषा का प्रचुर प्रयोग इन्होंने नहीं किया, वरन् भाव-व्यंजक पदावली को ही प्रधानता दी है। चमत्कार-चातुर्य से भी भाषा को दुर्बोध नहीं होने दिया। इन्होंने सरल, सीधे और स्वाभाविक भावों को लेकर स्पष्ट और सुव्यवस्थित भाषा में रखने का प्रयत्न किया है और इन्हें इसमें सफलता भी मिली है। वाग्वैचित्र्य की ओर विशेष ध्यान न देकर इन्होंने भावों को यथोचित रूप से प्रकाशित करने की ही ओर विशेष ध्यान दिया है। वाक्य-विन्यास इसी से सुगठित और स्पष्ट हो सका है। शब्द-संगठन भी इनका भावगम्य और सुन्दर है। व्याकरण-सम्बन्धी वैसी अनीप्सित भूलें इनकी भाषा में बहुत ही न्यून हैं जैसी अन्य कवियों में पाई जाती हैं।

आचार्यत्व—दास जी ने काव्य के सभी अंगों का यथोचित निरूपण किया है, अस्तु, कहना चाहिये कि इस कार्य में वे

सफल हुए हैं और उन आचार्यों की श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं जिन्हें इस कार्य में अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। अलङ्कार, रस, छंद-रीति, गुण-दोष और शब्द-शक्ति आदि का विशद विवेचन इन्होंने सफलता के साथ पद्यों में किया है। यदि गद्य में ये यही कार्य कर सकते तो इन्हें और भी अधिक सफलता मिल सकती। किन्तु परम्परा-पालन से ये मजबूर थे। यद्यपि इन्होंने श्रीपति जी के काव्य-रसायन नामक ग्रंथ से बहुत अधिक सहायता ली है और कहीं २ तो उसकी बहुत सी बातें ज्यों की त्यों ही रख ली हैं, तो भी हम कह सकते हैं कि इनकी विषय-प्रतिपादन शैली तथा आलोचना-शक्ति प्रौढ़ थी और इनकी कल्पना मौलिकता की ओर भी अग्रसर होती थी। परकीया तथा हावादि के विवेचन में इन्होंने कुछ नूतनता के लाने का प्रयास किया है और इसी प्रकार अलङ्कारों के वर्गीकरणादि में भी कुछ विशेषता दिखलाई है, किन्तु इन्हें इन बातों में बहुत सराहनीय एवं उल्लेखनीय सफलता नहीं प्राप्त हो सकी।*

कहीं कहीं तो सूक्ष्मता तथा पद्य-बद्धता के कारण इनके लक्षण भी अस्पष्ट और भ्रमोत्पादक से हो गये हैं, उदाहरणों में भी कहीं कहीं अशुद्धियाँ आ गई हैं। यह सब होते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि दास जी साहित्य-मर्मज्ञ थे और मौलिक तथा स्वतंत्र विचारों के साथ विवेचना करते थे। काव्य-निर्णय और "शृङ्गारनिर्णय" दोनों ही इनके अपने ढंग के अनूठे ग्रंथ हैं। इनमें जो उदाहरणों के छंद हैं वे शब्दाडम्बर-रहित, सरस और कोमल-कान्त-पदावली वाली सुन्दर ब्रज भाषा में होकर मनोरंजक हैं। इन्हीं से इनकी प्रतिभा तथा कल्पनादि का परिचय प्राप्त होता है।

---

* देखो इस सम्बन्ध में श्री रसाल जी का "अलङ्कार पीयूष" नामी ग्रन्थ का पूर्वार्धं। —सम्पादक

"रससारांश" नामी ग्रंथ में इन्होंने श्रृङ्गार रस को प्रधानता देते हुए उसकी विशद् विवेचना की है। देव के समान इन्होंने भी भिन्न २ जाति की स्त्रियों का वर्णन किया है किन्तु देव के समान नायिकाओं के रूप में नहीं, वरन् दूतियों के रूप में, इससे रसाभास नहीं होने पाया। साथ ही लोक या समाज की मर्यादा भी विनष्ट तथा भ्रष्ट नहीं हो सकी।

"छंदार्णव" पिंगल सम्बन्धी एक सुन्दर ग्रंथ है, इसी प्रकार छंद-प्रकाश भी एक उपयोगी और रोचक पुस्तक है।

दास जी को हम साहित्य में एक अच्छा स्थान देते हैं, हाँ बहुत उच्च स्थान अवश्यमेव नहीं दे सकते। इन्होंने अपने रचना-काल, में जो सं० १७८५ से १८०७ तक रहा, हिन्दी-साहित्य की अच्छी सेवा की है। और इनके ग्रन्थों से लोगों का उपकार भी हुआ है।

राजा गुरुदत्तसिंह

ये अमेठी के राजा थे, इनका उपनाम "भूपति" था। इनके जन्मादि की तिथियों का ठीक पता नहीं लगा। उदयनाथ "कवीन्द्र" इन्ही के यहाँ बहुत दिन तक रहे और इनके विषय में उन्होंने बहुत कुछ लिखा भी। राजा साहब बड़े ही वीर, साहसी और दहादुर थे। एक बार अवध के नवाब से ये बिगड़ गये, उसने इन पर चढ़ाई कर दी, ये वीरता से उसकी सेना को तितर-बितर कर जंगल की ओर शेर की तरह चले गये।

सं० १७९१ में इन्होंने दोहों में श्रृंगार रस सम्बन्धी एक सुन्दर सतसई रची। यह काव्य-दृष्टि से एक साधारण ग्रंथ है किन्तु सरस और मनोरंजक है। इन्होंने "कंठाभूषण" नामक एक अलंकार-ग्रंथ और "रसरत्नाकर" नामक एक रस-विवेचना

का ग्रन्थ और लिखे, जो अब तक कहीं प्राप्त नहीं हो सके। सतसई के दोहे अच्छी कोटि के हैं।

राजा साहब बड़े ही सहृदय और काव्य-मर्मज्ञ थे। कवियों का आदर-सत्कार भी ये खूब करते थे। भाषा इनकी अलंकृत और सरस है, उसमें कला-कौशल और चमत्कार भी अच्छा है।

तोष-निधि

इनके जन्मादि के विषय में ठीक पता नहीं लगता, हाँ यह अवश्य ज्ञात हुआ है कि इनके पिता का नाम चतुर्भुज शुक्ल था और ये सिंगरौर (शृंगवेरपुर) प्रान्त इलाहाबाद के रहने वाले थे।

इन्होंने सं० १७६१ में "रस-भेद और भाव-भेद" पर एक "सुधा-निधि" नामक बड़ा ग्रंथ रचा। इसमें लक्षण और उदाहरण दोनों ही सराहनीय रूप में दिये गये हैं, छन्द सरस और मनोरम हैं।

इनकी भाषा भी साधारण किन्तु शुद्ध ब्रज-भाषा है। उसमें सुन्दर प्रवाह या स्वाभाविक धारावाहिकता है, साथ ही स्पष्टता और सुव्यवस्था भी है। इनकी भाषा की विशेषता स्वच्छता ही है।

कल्पना भी इनकी मनोरंजक और पैनी है, उसका निर्वाह भी इन्होंने अच्छा किया है। इस प्रकार ये एक प्रतिभापूर्ण सहृदय और कला-कुशल कवि थे। कहीं कहीं इनकी रचना में ऊहात्मक अत्युक्तियाँ भी पाई जाती हैं। पदावली भी इनकी सुगठित तथा अलंकृत रहती है। मिश्रबंधुओं ने इन्हें एक श्रेणी-विशेष का प्रधान कवि माना है। वास्तव में इन्हें साहित्य में एक अच्छा स्थान दिया जाना चाहिये।

—:o:—

वंशीधर और दलपतिराय

दोनों कवि अहमदाबाद के रहनेवाले थे। वंशीधर तो ब्राह्मण और दलपतिराय महाजन थे। सं० १७६२ में दोनों ने जयपुर के महाराणा श्री जगतसिंह के लिये अलंकार विषयक "अलङ्कार रत्नाकर" नामक एक सुन्दर ग्रन्थ बनाया। यह ग्रन्थ श्री जसवन्त सिंह कृत "भाषा भूषण" पर समाधारित है। यही कदाचित् प्रथम ग्रन्थ है जो हिन्दी के ग्रंथ पर आधारित है, अन्य रीति-ग्रन्थ तो प्रायः संस्कृत के ग्रन्थों पर ही समाधारित हैं।

"अलंकार रत्नाकर" में उक्त कविद्वय ने अलङ्कारों का स्पष्टीकरण करने के लिये गद्य में भी विवेचना लिखी है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि अब लोगों को विवेचना के लिये गद्य का महत्व ज्ञात होने लगा था और वे गद्य को उठाना चाहते थे। पद्य-शैली के प्रचुर प्रचार ने इस कार्य को आगे के लिये ही लोगों को स्थगित करने पर वाध्य कर रक्खा। इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत के दंडी आदि आचार्यों तथा हिन्दी के अन्य सुकवियों के उदाहरण उद्धृत किये गये हैं, जिससे भिन्न भिन्न कवियों के भी छंदों का अध्ययन हो सकता है और उनकी रचनाओं का भी परिचय न्यूनाधिक रूप में प्राप्त होता है। हिन्दी के कवियों की एक लम्बी नामावली भी इसमें मिलती है जिससे ऐतिहासिक खोज में बड़ी सहायता मिलती है।

इन दोनों कवियों की रचनायें भी सुन्दर और प्रौढ़ हैं, जिनसे इनकी भावुकता तथा प्रतिभा का पता चलता है। भाषा साधारण ब्रजभाषा है किन्तु स्पष्ट और स्वच्छ है। कहीं कहीं रूपान्तरित और देशज ठेठ शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। पदावली साधारणतया सुगठित और कोमल है।

—:*:—

सोमनाथ

ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर-नरेश महाराज बदनसिंह के सबसे छोटे कुँवर साहब प्रतापसिंह के यहाँ रहा करते थे। इनका उपनाम "शशिनाथ" था और ये एक सहृदय तथा निपुण कवि थे। इनकी प्रतिभा भी बहुन्मुखी थी। इनका रचना-काल, जो इनकी रचनाओं के सम्बन्धों से निर्धारित किया गया है, सं० १७९० से १८१० तक है।

इनकी भाषा की विशेषता "स्वाभाविकता और स्पष्टता" है। कलापूर्ण कृत्रिमता उसमें कहीं भी नहीं है। इनकी कल्पना भी बड़ी ही मनोरंजक और व्यंग्यवलित होती है। इनके काव्य में प्रसाद् गुण की प्रधानता पाई जाती है। काव्य-वस्तु तथा उसका वर्णन इनकी रचना में स्वाभाविक तथा स्पष्ट रहता है, उसमें जटिलता तथा पेंचीदगी नहीं है।

सं० १७९४ में इन्होंने "रसपीयूष-निधि" नामक एक विस्तृत रीति-ग्रंथ रचा, जिसमें पिंगल, काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, गुण, रीति दोषादि काव्य के सभी विषयों का अच्छा विवेचन पाया जाता है। इन्हें विषयों के स्पष्ट निरूपण में अच्छी सफलता मिली है। इनका ग्रंथ दास के काव्य-निर्णय से कहीं बड़ा है। कहना चाहिये कि ये श्रीपति और दास से यदि उच्चतर नहीं तो न्यून भी नहीं ठहराये जा सकते।

खोज से इनके ३ ग्रन्थ और मिले हैं:—१—कृष्ण लीलावती पंचाध्यायी (सं० १८००), २—सुजान विलास (सिंहासनबत्तीसी पद्यों में (सं० १८०७) और ३—माधव विनोद नाटक (सं० १८०९)। इनके देखने से ज्ञात होता है कि इन्होंने रीति और मुक्तक ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त एक नाटक और एक प्रबंध-काव्य की भी

रचना की। सिंहासन बत्तीसी यद्यपि एक सत्काव्य-ग्रंथ नहीं ठहरता तौभी वह एक पद्यात्मक कथा-काव्य अवश्य ही जँचता है।

माधव-विनोद नाटक सम्भवतः संस्कृत के मालती माधव के ही आधार पर लिखा गया है और एक प्रेमात्मक कथा दिखलाता है। हिन्दी में अब तक नाटक-ग्रन्थ बहुत ही अल्प संख्या में थे। इन्होंने एक नाटक और बढ़ा दिया। इनके पूर्व कुछ कवियों ने थोड़े से नाटक लिखे थे, किन्तु किसी ने भी अब तक तथा अग्रिम काल के भी बहुत समय तक नाट्य-शास्त्र पर लेखनी ही नहीं उठाई।

प्रेमात्मक कल्पित कथा-काव्य की परिपाटी मुसलमान फ़कीरों ने उठाई और चलाई थी, किन्तु हिन्दू कवियों ने उस पर कुछ विशेष ध्यान ही नहीं दिया, अतः वह एक प्रकार से अल्पायु ही में मृत सी हो गई। जहाँगीर के समय में पुहकर कवि ने "रस-रत्न" नामी एक ऐसा प्रेमात्मक कल्पित कथा-काव्य लिखा, जिसे उल्लेखनीय कहा जा सकता है, उसके पश्चात् हम सोमनाथ जी के इस ग्रन्थ को ही उल्लेखनीय समझते हैं। इस प्रकार इन्होंने एक मृतप्राय परम्परा को फिर उठाने का प्रयत्न किया है।

—:०:—

रघुनाथ

ये बन्दीजन थे और काशी-नरेश बीरबंडसिंह की सभा में रहते थे, काशिराज ने इन्हें चौरा ग्राम दिया था। इनके सुपुत्र गोकुलनाथ व पौत्र गोपीनाथ थे। इन दोनों तथा गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव ने मिलकर महाभारत का भाषानुवाद किया जो अब तक काशिराज के पुस्तकालय में रक्खा है।

रघुनाथ कवि के ४ ग्रन्थों का उल्लेख "सरोज" में किया

गया है। इनका रचना-काल सं० १७६०, से १८१० तक माना गया है।

रघुनाथ एक बहुज्ञ सुकवि थे। इनकी प्रतिभा भी प्रौढ़ और पैनी थी। भाषा इनकी सरस और स्पष्ट ब्रजभाषा है, यद्यपि ये बनारस में, जो पूर्वीय प्रान्त है और जहाँ पूर्वीय हिन्दी का ही प्रचार है, रहे, तौभी इनकी भाषा पर बनारसी बोली का प्रभाव नहीं पड़ सका। इनका वाक्य-विन्यास सुगठित और यथेष्ट भाव-व्यंजक है। शब्द-चयन भी चारुता पूर्ण और प्रौढ़ है। आपने उस समय की खड़ी बोली में भी रचना की है किन्तु इसमें आपको वैसी यथोचित सफलता नहीं मिली।

सं० १७६६ में इन्होंने "रसिक मोहन" नामक एक अलंकार-ग्रन्थ लिखा। इसमें इन्होंने केवल शृङ्गार रस के ही उदाहरण नहीं दिये वरन् वीरादि अन्य रसों के भी दिये हैं। प्रत्येक अलंकार के उदाहरण की छंद में वही अलङ्कार सब चरणों में दिखलाया गया है, ऐसा अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। ये दो विशेषतायें आपके इस ग्रन्थ को सराहनीय बनाती हैं।

सं० १८०२ में इन्होंने "काव्य कलाधर" की रचना की, जिसमें परम्परागत पद्धति के अनुसार रस और भावादि का सूक्ष्म किन्तु मार्मिक विवेचन करके नायक-नायिका-भेद का विस्तृत वर्णन किया है, अतः विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से यह ग्रन्थ गौण और कविता की दृष्टि से अच्छा है।

"जगत-मोहन" नामक ग्रन्थ, जिसे इन्होंने सं० १८०७ में रचा, इनकी बहुज्ञता का परिचायक है। इसमें इन्होंने कृष्ण भगवान की १२ घंटे की दिनचर्या लिखी है, अतः यह भक्त कवियों के "अष्टयाम" शैली का ठहरता है। राजाओं के लिये यह उपयोगी हो सकता है; क्योंकि राजनीति, नगर-गढ़-रक्षा, मृगया, सेना, शतरंज, ज्योतिष, वैद्यक, शालिहोत्र, पशुपक्षी-विज्ञान, सामु-

द्रिक आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों की विशेष विशेष बातें इसमें यथा-स्थान सन्निविष्ट की गई हैं। यद्यपि ऐसा करने से ग्रंथ कुछ उपादेय तो हो गया है किन्तु काव्य-दृष्टि से वह विस्तृत और अरोचक ठहरता है।

खड़ी बोली (जिससे तब तक लोग उर्दू का तात्पर्य रखते थे) की रचनायें इन्होंने "इश्क महोत्सव" नामक ग्रंथ में की हैं। भाषा बहुत परिमार्जित, प्रौढ़ और साहित्योचित नहीं जँचती, व्याकरण सम्बन्धी दोष भी जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ते हैं, शायद तब वे दोष न समझे जाते रहे हों।

इनकी की हुई "बिहारी सतसई" की एक टीका का भी उल्लेख "सरोज" में किया गया है। अतः ज्ञात होता है कि इन्होंने टीका-कार-कर्म में भी दक्षता प्राप्त की थी।

—:*:—

कवि दूलह

दूलह जी सुकवि कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ "कवीन्द्र" के सुपुत्र थे। कहना चाहिये कि काव्य-रचना इन्हें मौरूसी या पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी और इनके घर की थी। सम्भवतः ये थोड़ी अवस्था से कविता बनाने लगे थे और इस प्रकार अपने पिता के समकालीन कवि भी रहे। "दूलह" इनकी उपाधि थी।

इनका रचना-काल सं० १८०० से १८२५ तक माना गया है। खेद है कि इनका केवल एक ही ग्रन्थ मिलता है, उसके अतिरिक्त केवल कुछ थोड़े ही से पद्य और मिलते हैं।

अलंकार लेखकों में दूलह को एक अच्छा स्थान दिया गया है, और इनके रचे हुए "कवि-कुल कंठाभरण" नामक अलंकार-ग्रंथ को

प्रमाणित तथा आदरणीय कहा गया है। यह ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध और मार्मिक है।

कवि-कुल-कंठाभरण के द्वारा दूलह ने वास्तव में रीति-ग्रन्थों की रचना-शैली में एक अच्छा रूपान्तर कर दिया है। प्रायः कवि लोग दोहों में ही लक्षण और उदाहरण (कभी २ कवित्तों और सवैयों में भी) दिया करते थे, दूलह ने दोनों को कवित्तों में एक साथ रक्खा है।

दोहों की अपेक्षा कवित्त मनोहर और शीघ्र याद होकर देर तक ठहरने वाले होते हैं, यही विचार कर कदाचित् दूलह ने कवित्तों का उपयोग किया है। कवित्त एक बड़ा छंद है, जिसमें दोहे की अपेक्षा अधिक स्थान रहता है और इससे उसमें लक्षण और उदाहरण अधिक विस्तार और स्पष्टता से दिये जा सकते हैं।

बस इसी विचार से दूलह ने इस छंद को अधिक उपयुक्त समझ कर प्रयुक्त किया है।

इस ग्रन्थ में केवल ८५ छंद हैं और इन्हीं में सभी अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों का यथोचित कथन कर दिया गया है। यद्यपि सूक्ष्मता का विशेष ध्यान रक्खा गया है तौ भी विषय की सम्यक् स्पष्टता जाने नहीं दी गई। विद्यार्थियों के लिये तो यह ग्रंथ अतीवोपयोगी एवं उपयुक्त है। दूलह ने स्वयमेव इसके विषय में ठीक कहा है:—

"जो यह कंठाभरण को, कंठ करै चित लाय।
सभामध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥"

दूलह की मुक्तक-रचना के केवल १५ या २० स्फुट पद्य ही मिलते हैं, किन्तु उनके ही देखने से इनकी विलक्षण प्रतिभा और विद्वता का परिचय प्राप्त हो जाता है। देव, मतिराम और दास आदि सत्कवियों के साथ इनकी भी गणना की जाती है। लोगों ने तो यहाँ तक कह डाला है:—

"और बराती सकल कवि, दूलह दूलहराय।"

इनकी भाषा प्रौढ़, परिपक्व, सुव्यवस्थित और स्वच्छ व्रज भाषा है। शब्द-संगुम्फन और वाक्य-विन्यास भी सुन्दर, सुगठित और प्रसाद गुण पूर्ण है। पदावली अलंकृत और भावगम्य है। कल्पना में कोमलता तथा मधुरता है। भाव-व्यंजना में स्वाभाविकता, प्रौढ़ता तथा मार्मिकता पाई जाती है। वर्णन में कुशलता और चारुता रहती है। इसीसे दूलह की रचना लोक-रुचि को अपनी ओर समाकृष्ट कर सकी है।

शम्भुनाथ मिश्र

असोथर (प्रान्त-फतेहपुर) के राजा भगवतंराय खीची के यहाँ रहने वाले शम्भुनाथ मिश्र सं० १८०६ में रहे हैं। इन्हीं के नाम के दो कवि सं० १८६७ और सं० १६०१ में हुए हैं।

मिश्र जी ने ३ रीति-ग्रंथों की रचना की १—रसकल्लोल जो रस विवेचन का एक साधारण ग्रंथ है २—रसतरंगिणी यह भी रस-निरूपण का ग्रंथ है और ३—अलंकार-दीपक जो अलंकारों की विवेचना करता है।

अलंकार दीपक में दोहात्मक शैली का ही प्राचुर्य-प्राधान्य है, घनाक्षरी तथा सवैया आदि छन्द बहुत ही कम हैं। उदाहरणों में कवि ने अपने आश्रयदाता राजा साहब के यश एवं प्रतापादि का प्रशंसा-पूर्ण वर्णन किया है, इस प्रकार भूषण की शैली का अनुकरण किया है, रचना साधारण ही है।

भाषा है तो व्रज भाषा, किन्तु उच्चकोटि की सुव्यवस्थित नहीं, व्याकरण-संयत व्यवस्था-विधान का पूर्ण ध्यान नहीं रक्खा गया— यथाः—

"आजु चतुरंग महाराज सेन साजत ही"—यहाँ चतुरंग और

सेन महाराज पद के व्यवधान से पृथक् कर दिये गये हैं जो उचित नहीं। कहीं कहीं कारकों की आवश्यक विभक्तियों का ऐसा लोप कर दिया गया है, जो अनुचित और अस्पष्टताकारी है; यथा—"स्याही लाई-बदन तमाम पातसाही के", यहाँ बदन पर था में चाहिये, यहाँ विभक्ति का अरोचक लोप है।

रतन कवि

इनकी जीवनी के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका, "सरोज" में इनका जन्म-सं० १७९८ लिखा गया है। अतः इनका रचना-काल सं० १८३० के ही समीप माना गया है।

श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतेहसिंह के यहाँ ये रहा करते थे, वे ही इनके आश्रयदाता थे। इसी से उनके नाम पर इन्होंने "फतेहभूषण" नामक एक सुन्दर रीति-ग्रंथ लिखा। इसमें इन्होंने काव्य-शास्त्र के सभी विषयों का मार्मिक विवेचन किया है। लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, रस, गुण-दोष आदि का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है। उदाहरणों में शृंगार रस तथा अपने आश्रयदाता की प्रशंसा से पूर्ण कवित्त रक्खे गये हैं। कोई ऐसी विशेषता इसमें नहीं जो उल्लेखनीय ठहरे।

सं० १८२७ में इन्होंने "अलंकार-दर्पण" नामक एक दूसरा ग्रंथ केवल अलंकारों पर लिखा। यह भी एक विशद विवेचनामय ग्रंथ है, इसके उदाहरण विशेष सरस और सुन्दर हैं। अतएव कहना चाहिये कि ये एक अच्छी श्रेणी के सुकवि थे।

भाषा इनकी है तो ब्रजभाषा, किन्तु शुद्ध नहीं है। शब्दों के रूप तोड़-मरोड़ कर बिगाड़ भी दिये गये हैं। कहीं कहीं यति-भंग दोष सा भी दीखता है—'पानिप मनिन को, रतन रतनाकर, कुबेर पुन्य जनन को, छमा महीधरु है।" यहाँ कुबेर के 'कु' तक

यति आती है। महीधर को महीधरु कर दिया गया है। तो भी कह सकते हैं कि साधारणतया भाषा स्पष्ट और प्रवाहमयी है, उसमें अलंकृत पदावली का प्राधान्य है। कहीं कहीं वर्ण-मैत्री एवं शब्द-मैत्री में शिथिलता सी आ गई है। अस्तु, इन्हें हम एक सफल भाषा-लेखक नहीं मान सकते।

चंदन कवि

ये नाहिल पुवाँया ज़िला शाहजहाँपुर के निवासी बंदीजन थे और गौड़-राजा केशरीसिंह के यहाँ रहा करते थे। इनकी जीवनी अज्ञात भूत के गर्भ में पड़ी हुई है। इनके १३ ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है, जिनमें से १—काव्याभरण (सं० १८४५) जो एक अलंकार-ग्रन्थ है, २—शृंगार सागर, जो शृंगार रस का एक सुन्दर ग्रन्थ है और ३—कल्लोल तरंगिणी, तीन प्रधान रीति-ग्रंथ हैं। ४—केशरीप्रकाश (जिसमें केशरीसिंह की प्रशंसा पूर्ण रचना है), ५—चंदनसतसई, ६—पथिकबोध, ७—नखशिख, ८—नाम-माल (कोष), ९—पत्रिकाबोध (a letter writer perhaps, पत्र लिखने की शैली का सूचक), १०—तत्वसंग्रह, ११—शीतवसंत-कथा, १२—कृष्णकाव्य, १३—प्राज्ञविलास भी अच्छे ग्रन्थ हैं। इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि ये बहुज्ञ और चलते हुए सुकवि थे।

इन्होंने साहित्य के कई विषयों या अंगों को उठाया है और उनमें रचनायें की हैं, जिससे इनकी अनेक मार्गानुसारिणी प्रतिभा का पता चलता है। दोहाशैली से इन्होंने सतसई पद्धति के अनुसार एक चंदन सतसई और प्रबंधकाव्य की पद्धति से एक प्रचलित कहानी "शीतवसंत" नाम से लिखी, यह कथा उधर के प्रान्तों में बहुत ही प्रख्यात है और सामाजिक उद्देश से लिखी

गई है। इसमें विमाता के अत्याचारों से पीड़ित शीत और वसंत नामक दो कल्पित राजकुमारों की कारुणिक कथा विस्तार के साथ कही गई है। यह कहानी अन्योक्तिमूलक (allegorical) है और पारवारिक जीवन का चित्रण करती है। इन्होंने "नाममाला" नामक एक कोष भी लिखा और इसकी कमी के पूरा करने का प्रयत्न किया। सामयिक परम्परा के अनुसार नखशिख और केशरी प्रकाश आदि भी इन्होंने लिखे।

चंदनजी उर्दू और फारसी में भी अच्छी शायरी किया करते थे और उर्दू-क्षेत्र में "संदल" नाम (तख़ल्लुस) से विख्यात थे। आपने "दीवाने संदल" नाम से एक उर्दू सत्काव्य भी लिखा। आपका रचना-काल सं० १८२० से १८५० तक माना गया है। आप चूँकि उर्दू और फ़ारसी के योग्य शायर थे, इससे आप की हिन्दी भी उनसे प्रभावित हुई है। इन्होंने हिन्दी-रचना की तो ब्रजभाषा में है किन्तु वह उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा नहीं कही जा सकती। हाँ उसमें सफ़ाई और धारावाहिकता या फ़साहत ज़रूर है। इसी से वह स्पष्ट, सुबोध और सुन्दर ठहरती है। पदावली उसकी अलंकृत या सानुप्रासिक है, कहीं कहीं कारकों का यथोचित प्रयोग तथा क्रियाओं के उपयुक्त रूपों का उपयोग नहीं हो सका, ऐसे स्थल खटकने लगते हैं—"चित जो चहैं दी, चकिसी रहैं दी, केहि दी मेंहदी इन पायन में"। चंदन जी को हम साधारण श्रेणी में ही रख सकते हैं।

देवकीनन्दन शुक्ल

ये कन्नौज के समीपवर्ती मकरंद नगर के निवासी पं० सबली शुक्ल के सुपुत्र थे। सं० १८४३ के आस-पास ये कुँवर सरफ़राज-गिरि नामक किसी धनी महंत के यहाँ रहते थे और उन्हीं के नाम से इन्होंने "सरफ़राज़ चंद्रिका" नामक एक अलंकार और रस-

विवेचना का ग्रन्थ रचा। इसके पूर्व ये सं० १८४१ में "शृङ्गार चरित्र" नामक एक रस-विवेचना-प्रधान ग्रन्थ लिख चुके थे।

सं० १८५७ में इन्होंने अपने दूसरे आश्रयदाता रुद्रामऊ (प्रान्त हरदोई) के रईस ठा० अवधूतसिंह के नाम से "अवधूत भूषण" नामक एक अलंकार-ग्रन्थ और रचा। इन्होंने एक "नखशिख" भी लिखा, जिसका उल्लेख "सरोज" में किया गया है।

शृङ्गार चरित्र में रस, भाव, नायिका-भेद तथा कुछ थोड़े से अलङ्कारों का विवेचन किया गया है, इसी को कुछ वृहद् रूप देकर अवधूत भूषण लिखा गया है, जिसमें अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन है।

शुक्लजी की भाषा परिमार्जित और प्रौढ़ है, पदावली भाव-पूर्ण और सरस है। शब्द-संगठन सुन्दर और प्रसाद-गुण-पूर्ण है। कविता में इसी से माधुर्य और लालित्य अच्छा आ गया है। वाक्य-विन्यास सर्वथा सुव्यवस्थित, सुगुम्फित और मैत्री-पूर्ण है। इनके कवित्तों की गति भी स्वच्छ और सुप्रवाहमयी है, शब्दों में तोड़-मरोड़ एवं रूपान्तर भी नहीं किया गया। अतएव हम शुक्ल जी को सुकवियों में अच्छा स्थान देते हैं, हाँ आचार्यों में इन्हें विशेष स्थान नहीं दे सकते, क्योंकि इनके ग्रन्थों में कोई आचार्यत्व-सूचक विशेषतायें नहीं पाई जातीं।

भानु कवि

न तो इनकी जीवनी का ही पूरा पता है और न इनके नाम का ही। भानु कवि इनका उपनाम ही है। इन्होंने अपने "नरेन्द्र भूषण" नामक एक अलङ्कार-ग्रन्थ में केवल इस बात का संकेत किया है कि ये राजा ज़ोरावरसिंह के सुपुत्र थे और राजा रन-ज़ोरसिंह बुन्देले के यहाँ रहते थे।

इनके उक्त ग्रन्थ में, जो सं० १८४५ में रचा गया था, एक विशेषता यह है कि इसमें शृङ्गार रस के ही समान वीर, अद्भुत और भयानक आदि अन्य रसों से भी पुष्ट उदाहरण दिये गये हैं और प्रायः चर्वित चर्वणम् को बचाया गया है। मौलिकता तथा नवीनता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

यद्यपि इनकी रचना में शृङ्गार रस की सी मधुरता और कोमलता नहीं, तथापि उसमें ओज और प्रसाद गुण ख़ूब है। अतएव इनकी रचना के देखने से भूषण कवि की याद आ जाती है।

भाषा इनकी परिमार्जित और प्रौढ़ है, हाँ कहीं कहीं फ़ारसी और उर्दू के भी शब्द आ गये हैं। शब्द-चयन एवं संगुंफन सुन्दर और मैत्री-पूर्ण है। वाक्य-विन्यास भी सुव्यवस्थित तथा सबल है, पदावली में सुन्दर प्रवाह और उत्कर्ष-पूर्ण ओज है। उसमें शब्दालंकारों की भी सजावट यथोचित तथा भावानुसार है। अतः कह सकते हैं कि ये एक सुकवि थे।

बेनीकवि (बंदीजन)

हिन्दी-साहित्य में हास्य रस की बड़ी न्यूनता है, विशेषतया अच्छे (शिष्ट और सूच्य) हास्य के उदाहरण तो बहुत ही अल्प संख्या में मिलते हैं। बेनी कवि ने इस कमी की पूर्ति की है और अपनी भडौवा-रचना से अच्छी ख्याति पाई है। यद्यपि इनको भी हम उच्चकोटि के हास्य रस का सिद्ध हस्त लेखक नहीं कह सकते और इसीलिये सुकवि-समाज में एक ऊँचा स्थान भी नहीं दे सकते, तौभी यह अवश्य कह सकते हैं कि इनकी रचना से हास्यरस की ऊनता की अवश्य कुछ पूर्ति होती है। इनकी रचना में उच्चकोटि का व्यंग्यात्मक या ध्वनि-पूर्ण हास्य नहीं, वह

सर्वथा शिष्ट या सभ्योचित नहीं, तथापि वह साधारणतया अच्छा ही है।

बेनी कवि, बैंती ज़िला रायबरेली के रहने वाले बंदीजन थे। अवध के वज़ीर श्री टिकैतराय के यहाँ ये बड़े सत्कार से रहते थे। उनके नाम पर इन्होंने "टिकैतराय-प्रकाश" नामी एक अलंकार-ग्रन्थ सं० १८४९ में बनाया। यह ग्रन्थ साधारण श्रेणी का ही ठहरता है, इसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं। सच पूछिये तो यह इनकी हास्य-प्रिय रुचि और तदनुकूल प्रतिभा का विषय ही न था। इन्होंने सं० १८७४ में "रस-विलास" नामी एक दूसरा ग्रंथ रचा, जिसमें रस-निरूपण किया है। यह भी कोई विशेष पांडित्य पूर्ण और प्रौढ़ ग्रन्थ नहीं, वरन् साधारण ही है।

इनके भड़ौवे भड़ौवा-संग्रह (भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित) में हैं, वे ही इनकी ख्याति के विशेष कारण हैं।

अब तक हमारे साहित्य में शृङ्गार की ही प्रधानता रही है, वीर आदि अन्य रसों में भी यद्यपि रचनायें होती रही हैं, किन्तु हास्य रस को कवियों ने बहुत ही कम, यदि बिल्कुल ही नहीं उठाया है। बेनी ने हास्य रस को जाग्रति दी।

भड़ौवा यद्यपि हास्य का एक अंग ही है तो भी वह, जैसा कहा जा चुका है, उच्च तथा प्रधान अंग नहीं, क्योंकि इसमें उपहास-पूर्ण निन्दा की ही पूर्ण प्रधानता रहती है, अतः यह साहित्य में उच्च स्थान पाने के योग्य नहीं समझा जाता।

प्रायः प्रत्येक देश, समाज, काल और साहित्य में भड़ौवा-शैली पाई जाती है। फ़ारसी और उर्दू में इसे "हजो" कहते हैं, यह प्रशंसात्मक स्तवन का विरोधी है। अंग्रेज़ी में इसे Satire कहते हैं। हमारे यहाँ की पूर्वीय हिन्दी में भड़ौवों के विषय प्रायः कंजूस राजा या रईस तथा ऐसे ही अन्य व्यक्ति होते रहे हैं।

उर्दू में भी यही बात न्यूनाधिक रूप से पाई जाती है। अंग्रेज़ी में ऐसे उपहास-काव्य के विषय प्रायः समसामयिक कवि और लेखक ही हुआ करते हैं और उनकी पंक्तियों को रूपान्तरित करके ही हास्योचित बनाया जाता तथा इसी प्रकार कुछ दूसरे ढंगों से भी उपहास-काव्य लिखा जाता है। हाँ, ध्यान रखना चाहिये कि प्राचीन पूज्य कवियों या लेखकों का उपहास नहीं किया जाता।

भड़ौवा लिखने में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि उसमें ऐसी बातें न आने पावें जो अश्लील, कुत्सित और द्वेषादि से पूर्ण हों, क्योंकि ये बातें सुनने वालों को भली नहीं वरन् बुरी लगती हैं। उपहास वही है जिससे उपहास के पात्र का भी मनोरंजन हो और सुनने या पढ़ने वालों के साथ वह भी हँसे, न कि बुरा मान कर कुपित हो उठे और उपहास-काव्यकार से बदला लेने तथा उसे हानि पहुँचाने के लिये तैयार हो जाय। अतः उपहास-काव्यकार को सदैव आक्षेपपूर्ण बातों को बचाना चाहिये।

उर्दू में उपहास-काव्यकारों में सौदा शायर को अच्छी ख्याति मिली है, उसी प्रकार हिन्दी में बेनी कवि को भी। कहीं कहीं बेनी के भड़ौवे कुछ भद्दे से हो गये हैं।

भड़ौवा का एक रूप वह भी है जिसमें व्याज-निंदा के आधार पर किसी देवता या महान पुरुष का भी उपहास सा किया जाता है। इसमें वाग्वैचित्र्य और कथन-चातुर्य की चमत्कार पूर्ण पुट और भी अधिक सुन्दर और मनोरंजक होती है, यदि भाव ध्वन्यात्मक या व्यंग्यपूर्ण रक्खा जाय तो कहना ही क्या है। सांकेतिक या सूक्ष्म भड़ौवे तो बड़े ही रोचक होते हैं। बेनी में ये बातें कम पाई जाती हैं। बेनी को इन्हें साहित्यिक रूप देकर विकसित या प्रारम्भ करने का श्रेय अवश्य है। देहातों में साधारण कवि लोग अब भी ऐसे भड़ौवे बनाया करते हैं।

बेनी की भाषा बोल-चाल की साधारण भाषा है, हाँ वह ब्रज भाषा के साँचे में ढली हुई है। भडौवों के लिये सीधी-सादी, स्पष्ट और मुहाविरेदार भाषा ही अधिक उपयुक्त तथा उचित होती है। हाँ उच्च कोटि के भडौवों में भाषा को भावपूर्ण, सुगठित तथा वैचित्र्य पूर्ण ही होनी चाहिये। साधारणतया ठेठ भाषा ही इनमें रोचक होती है। बेनी की पदावली सरस, प्रवाह पूर्ण और सुगठित है, इनका वाक्य-विन्यास भी सुव्यवस्थित और मुहाविरेदार है।

बेनी प्रवीण

इनके जन्म-सम्वतादि का निश्चित रूप से पता नहीं चलता। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण लखनऊ के बाजपेयी थे और लखनऊ के नव्वाब साहब के वज़ीर या दीवान राजा दयाकृष्ण के पुत्र के यहाँ रहा करते थे।

प्रथम इन्होंने "श्रृंगार-भूषण" नामक एक सुन्दर ग्रंथ रचा, फिर दीवान साहब के वास्ते "नवरस तरंग" नामक एक रस-विवेचना का मनोहर ग्रन्थ बनाया।

हास्य-रस के कविवर बेनीवन्दीजन के वार्तालाप से प्रसन्न होकर इन्होंने उन्हें "प्रवीण" की उपाधि दी थी। विठूर-निवासी महाराजा नानाराव के यहाँ भी ये कुछ दिनों तक रहे और उनके नाम पर इन्होंने "नानाराव प्रकाश" नामक एक अलंकार-ग्रन्थ लिखा, जो कवि प्रिया के ढंग का है।

आलोचना—इनकी भाषा परिमार्जित, प्रौढ़ और सुव्यवस्थित ब्रजभाषा है। इनकी छंदों का प्रवाह भी बहुत ही सरल और सुखद है। श्रृंगार रस की कविताओं में इन्होंने सवैया छंद बहुत लिखे हैं, जिससे ज्ञात होता है कि ये इस छंद को बहुत

पसंद करते तथा शृंगार के लिये विशेष उपयुक्त समझते थे। भाषा और भाव दोनों ही में इनकी प्रतिभा और पांडित्य की झलक है। माधुर्य और प्रसाद गुण इनकी रचनाओं में पद्माकर से ही पाये जाते हैं। इनका काव्य मतिराम का सा लालित्य और सौन्दर्य रखता है। इनकी पदावली कोमल और सरल है। वाक्य-विन्यास व्याकरण-संयत और शुद्ध है। शब्दावली स्वच्छ, भावपूर्ण और सुबोध है, उसमें तोड़े-मरोड़े और रूपान्तरित शब्द नहीं के ही बराबर हैं।

अपने "नवरस तरंग" में इन्होंने सामयिक पद्धति के आधार पर नायिका-भेद, रस-भाव-भेद आदि विषयों का मार्मिक विवेचन किया है और प्रेमात्मक क्रीड़ा कला की सुन्दर कल्पनायें ख़ूब रक्खी हैं। वर्णन (विशेषतया नायिकाओं का) बड़ा ही सरस और सजीव है।

इनके और ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए, जिससे इनकी प्रतिभा का पूरा परिचय अभी लोगों को नही मिल सका।

यशोदानंदन

इनकी जीवनी अंधकार में ही पडी हुई है, उसकी बातों का विशेष पता नहीं लगता। सरोज से ज्ञात होता है कि इनका जन्म-संवत १८२८ है।

बरवा शैली हिन्दी-साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखती है, अवधी भाषा की तो वह एक अनूठी और अप्रतिम संपत्ति है। रहीम कवि ने जिस प्रकार "बरवा नायिका भेद" लिखा था, उसी प्रकार इन्होंने भी एक छोटा सा "बरवा नायिका भेद" लिखा, जो रहीम की पुस्तक से किसी भी प्रकार न्यून नहीं कहा जा सकता। इसमें ६ बरवे तो संस्कृत भाषा में भी हैं, जिनके देखने से इनकी संस्कृतज्ञता का भी परिचय प्राप्त होता

है। अवधी भाषा में इनके ५३ सुन्दर, सरस और कोमल बरवे हैं। इनमें स्वाभाविकता तथा मौलिकता का अच्छा निर्वाह किया गया है।

यद्यपि इनकी रचना बहुत ही अल्प मात्रा में है, तथापि यदि उसे गुण-गरिमा की दृष्टि से देखा जाय तो वह उच्चकोटि की साहित्यिक रचना ठहरती है और इन्हें सत्कवि बनाकर साहित्य में अच्छा स्थान दिलाने के लिये पर्याप्त जँचती है।

भाषा इनकी ठेठ अवधी है, हाँ, उसे साहित्यिक रूप देने का इन्होंने अच्छा प्रयत्न किया है, तौ भी यह चलती हुई साधारण भाषा सी ही जँचती है। पदावली कोमल, सरस और भावोपयुक्त है। कहीं कहीं फ़ारसी के उपयुक्त शब्द भी, जो सर्वसाधारण होकर प्रचलित हो गये हैं, प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु यथास्थान और यथोचित रीति से। बरवों में संस्कृत भाषा भी बड़ी सरल, सरस और स्पष्ट रक्खी गई है। वस्तुतः संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जिसे सब प्रकार की छंदों में सम्यक् सफलता के साथ सुचारुता से रक्खा जा सकता है। ब्रजभाषा बरवा छंद के उपयुक्त नहीं ठहरती, किन्तु संस्कृत को देखिये :—

"यदि च भवति बुध-मिलनं किं त्रिदेवेन।
यदि च भवति शठ-मिलनं किं निरयेण॥"

करन (करण) कवि

ये कान्यकुब्ज कुल के षट्कुल वंशीय पांडे थे और पन्ना-नरेश महाराज हिन्दूपति के यहाँ रहा करते थे। ये बड़े ही भावुक और सहृदय थे। इनका कविता-काल सं० १८६० के आसपास माना गया है। इनकी रचनाओं में सरसता और सुन्दरता ख़ूब पाई जाती है। बुंदेलखंडी पन्ना जैसे प्रान्त में रहते हुए भी इनकी ब्रजभाषा में बुन्देलखंड की भाषा का बहुत ही न्यून

प्रभाव है। भाषा इनकी स्पष्ट, परिपक्व और अलंकृत है। वाक्य-विन्यास व्याकरण-संयत और सुव्यवस्थित है। तत्सम तथा देशज शब्दों का सामंजस्य भी सुन्दरता के साथ किया गया है। कहीं कहीं अनुप्रासादि के लिये शब्दों में कुछ रूपान्तर भी किया गया है—"अरज्यों न मानी तू, न गरज्यो चलतवार, परे! घन बैरी! अब काहे गरजतु है।"

इन्होंने "साहित्य रस" और "रस कल्लोल" नामी दो सुन्दर और पांडित्य-पूर्ण ग्रन्थ लिखे। साहित्य रस में इन्होंने साहित्य दर्पण के समान—लक्षणा, व्यंजना, ध्वनिभेद, रस, अलंकार, गुण, दोषादि काव्य के सभी अंगों का विवेचन विस्तार के साथ किया है। इन्हें हम साहित्य में अच्छा स्थान दे सकते हैं।

पं० गुरुदीन पांडे

इनकी जीवनी के सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं होता। इनका रचा हुआ "बाग मनोहर" (सं० १८६०) नामक एक वृहत् रीति-ग्रन्थ मिलता है, जिसमें पिंगल के साथ ही साथ काव्य-शास्त्र के भी सभी विषयों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। अतएव कहना चाहिये कि साहित्य का यह एक सुन्दर और सर्वांग पूर्ण ग्रन्थ है और विद्यार्थियों के लिये परमोपयोगी है।

इसके उदाहरण बड़े ही सरस, उपयुक्त और सुन्दर हैं। प्रायः संस्कृत की वार्णिकवृत्तियों का इसमें प्राधान्य है।

पद्माकर

कला-काल में पद्माकर भट्ट जैसा प्रौढ़ और प्रसिद्ध कवि कदाचित् "विहारी, मतिराम" आदि महाकवियों को छोड़ कर और कोई भी नहीं हुआ। मुक्तक काव्य की परंपरा इस काल में इनके द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त होकर आगे धीरे धीरे शिथिल तथा

चीण हो चली, अस्तु इन्हें कला-काल की परवर्ती सुकवि-मंडली में परमोत्कृष्ट मानकर सर्वोच्च स्थान देना चाहिये।

पद्माकर तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मोहन-लाल भट्ट था, जो बाँदे में रहते और अपने समय के एक प्रसिद्ध पंडित और सुकवि थे। पद्माकर का जन्म बाँदे में सं० १८१० में हुआ। पद्माकर भी अपने पिता के समान पंडित और सुकवि थे।

मोहनलाल भट्ट—पद्माकर कवि के पिता और अच्छे पंडित थे। इनका कई राज-दरबारों में अच्छा मान-सम्मान था। कुछ समय तक ये नागपुर के महाराज रघुनाथ राव (अप्पा साहब) के यहाँ रहे, फिर पन्ना-नरेश हिन्दूपति जी के गुरु हुए और इन्हें उनसे कई गाँव मिले। वहाँ से ये जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ गये और वहाँ इन्हें "कविराज-शिरोमणि" की पदवी और अच्छी जागीर मिली। इनका कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता, केवल कुछ स्फुट छंद ही सुनने में आते हैं।

पद्माकर भी कई दरबारों में अच्छे मान-सम्मान के साथ रह सुगरा के नोने अर्जुनसिंह के गुरु हुए। फिर सं० १८४९ में ये गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मतबहादुर के यहाँ गये। हिम्मतबहादुर यथानामः तथा गुणः थे, ये प्रथम बाँदे के नवाब और फिर अवध के नवाब के यहाँ सेना में अच्छे पद पर रहे। इन्हीं के नाम पर पद्माकर ने "हिम्मतबहादुर विरुदावली" के नाम से एक वीर-स्तवन काव्य लिखा।

सितारा-नरेश श्री रघुनाथराव या राघोबा जी के यहाँ से इन्हें एक हाथी, एक लाख रुपया और दस गाँव मिले। वहाँ कुछ समय तक रहकर ये जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ (जहाँ इनके पिता बड़े सम्मान के साथ रहे थे) गये और उनके तथा उनके पुत्र महाराज जगतसिंह के साथ बहुत दिनों तक रहे।

इन्हीं के नाम पर इन्होंने "जगद्विनोद" नामी अपना प्रसिद्ध ग्रंथ बनाया। कदाचित् वहीं इनका "पद्माभरण" नामी अलंकार-ग्रन्थ भी बना था। एक बार ये उदयपुर-नरेश के यहाँ भी गये, किन्तु वहाँ इनका यथेष्ट सत्कार न हुआ, अतः ये श्रीजगतसिंह के सं० १८६० में मरने पर ग्वालियर के महाराज दौलतराव सेंधिया के दरबार में आये, यहाँ इनका अच्छा सम्मान हुआ। सरदार ऊदाजी के अनुरोध से यहाँ इन्होंने हितोपदेश का भाषानुवाद भी किया।

ग्वालियर से बूँदी होते हुए ये बाँदे में आकर रहने लगे। वृद्धावस्था में ये रोगग्रस्त हो गये और अंतिम सात वर्ष के लिये कानपुर में गंगातट पर आ बसे। यहीं इन्होंने प्रसिद्ध "गंगालहरी" (पंडितराज की गंगालहरी के समान) रची। ८० वर्ष की अवस्था में इन्होंने सं० १८६० में परलोक को प्रस्थान किया।

आलोचना—पद्माकर जी को हम रीतिकाल के परवर्ती सभी कवियों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। भाषा इनकी बड़ी ही सरस और सुगठित है। वाक्य-विन्यास सर्वथा सुव्यवस्थित, व्याकरण-संयत और सुगुम्फित है। पदावली सरस, कोमल और ललित है। प्रसाद और माधुर्य गुण तो लालित्य के साथ ही साथ इनके प्रत्येक छंद में उमड़ता रहता है। इनकी रचना-शैली अपने ढंग की अकेली और अनूठी है। जैसे सुन्दर कवित्त इनके हैं वैसे कदाचित् किसी भी अन्य कवि से नहीं बन पड़े। इसी प्रकार इनकी सी सवैया भी बहुत ही कम कवियों की बन सकी है। इनकी विशिष्ट पदावली से कवित्त अपनी गति, अपने प्रवाह तथा अपनी सुन्दरता में अनोखा और चारु चोखा ठहरता है। इनकी सी शुद्ध, सुन्दर और स्निग्ध गति के साथ घनाक्षरी छंद की रचना कोई विरला ही सुकवि कर सका है। अतः हम इन्हें इसका विशेषज्ञ एवं सिद्ध हस्त कवि मानते हैं। कवित्त लिखनेवालों को इनका अध्ययन अनिवार्य रूप से करना चाहिये। वर्तमान महाकवि रत्नाकर जी ने कवित्त

लिखने में इनसे अच्छी टक्कर ली है अब तक के कवियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्रायः कवि किसी विशेष रस की ही रचना सफलता के साथ कर सकता है, बहुत ही कम कवि ऐसे हुए हैं जो भिन्न भिन्न रसों की रचनायें समान सफलता के साथ कर सके हों। पद्माकर जी में यही विशेषता पाई जाती है। उन्होंने शृङ्गार में जैसी सराहनीय सफलता पाई है वैसी ही वीर और शान्त आदि अन्य उन सभी रसों में भी है जिन्हें उन्होंने उठाया है। अतः कह सकते हैं कि पद्माकर की प्रतिभा बहुन्मुखी थी और इसी के साथ ही साथ उनको भाषा तथा उसकी समस्त शक्तियों पर भी पूरा अधिकार था। पद्माकर जी अपनी भाषा को इच्छानुसार प्रवाहित करने में पूर्ण सफल हुए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी भाषा में भिन्न भिन्न रस-भावादि के अनुकूल उपयुक्त सबलता (शक्ति), सार्थकता, समर्थता तथा प्रौढ़ता पाई जाती है अर्थात् वह इनकी प्रतिभा एवं कल्पना की सब प्रकार अनुगामिनी होकर उनके साथ ही साथ चलती हुई अनेकरूपता रखती है। यह बात बहुत ही कम कवियों में पाई जाती है, हाँ गो० तुलसीदास जैसे महाकवियों की भाषा ऐसी ही है।

कवि की भाषा वही सराहनीय है जो उसके भावों आदि को पूरी सत्यता, स्वाभाविकता तथा सुन्दरता के साथ व्यक्त करने में सर्वथा समर्थ हो और जिसमें भावादि के उपयुक्त पूरी शक्ति (सबलता) प्रतिभा और क्षमता हो। प्रथम तो कवि के लिये मौलिक तथा नवीन भावादि का ही खोज निकालना कठिन होता है और फिर भिन्न भिन्न विषयों से सम्बन्ध रखने वाले नूतन भावों का आविष्कार पूर्ण सफलता के साथ करना और भी कठिन-तर होता है, सब से कठिनतम कार्य उसके लिये उन भावों का यथार्थता के साथ सुन्दर, सजीव तथा सबल भाषा में चमत्कार-

चातुर्य से व्यक्त करना होता है। इसके लिये प्रतिभामयी कवि-कल्पना से वाणी तक भावुकतामयी सहृदयता की व्याप्ति अनिवार्य है, इसी से सत्काव्य की उत्पत्ति होती है। पद्माकर में यही विशेष बात पाई जाती है।

जिस प्रकार पद्माकर की कल्पना मूर्ति-विधान करती है ठीक उसी प्रकार उनकी वाणी भी परम स्वाभाविकता, भावगम्यता तथा सुन्दरता के साथ चित्रोपमता से हावों-भावों को चित्रित करती है। इसी से इनकी रचना में प्रत्यक्ष-अनुभूति, मूर्तिमयी सजीवता तथा साकारता पाई जाती है, जिसमें पाठकों या श्रोताओं की भावुकता मग्न हो जाती है।

कवि की प्रतिभा वही है जिसमें कुशल कल्पना, भावुकता तथा तदुपयुक्त भाषा की शक्तिशालीनता का यथेष्ट सामंजस्य हो, बिना इसके उत्कृष्ट काव्य असाध्य ही सा है। बहुज्ञता और विद्वता तो इसकी सहचरी ही है।

मधुर और सुन्दर ब्रजभाषा पर पद्माकर को अच्छा अधिकार प्राप्त था, यह तो सिद्ध ही है। साथ ही यह भी प्रत्यक्ष है कि उनकी भाषा अलंकारों से समलंकृत, व्याकरण के सुविधानों से सुव्यवस्थित, सरसता से संस्निग्ध और कला-कौशल से कलित है, उनकी पदावली अपनी अनूठी छाप रखती है, कोमलता, धारावाहिकता तथा चमत्कृत चारुता उसमें सर्वत्र स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। इसी से उसमें लालित्य, प्रसाद, माधुर्य आदि सुगुण भी ख़ूब पाये जाते हैं और अपना आतंक वह तुरन्त जमा लेती है।

पद्माकर का शब्द-कोष भी बहुत विशद और प्रौढ़ है। उसमें प्रत्येक भाव, रस तथा कल्पना के लिये समुपयुक्त सुन्दर और सार्थक शब्दरत्न भरे पड़े हैं। इसी के बल पर पद्माकर जी शृङ्गार-मन्दिर में भाव-पूर्ण, सजीव और सुन्दर प्रेम-मूर्ति खड़ी कर देते हैं

और सरस भावों की सुवृष्टि कर पाठकों के भावुक मनों एवं सुहृदयों को रस से परिप्लावित कर देते हैं। वे फिर कहीं वीरता के क्षेत्र में आकर पाठकों या श्रोताओं की सूखी नसों में नवजीवन की उत्तेजना से तरलीभूत रक्त भी दौड़ा देते हैं और फिर कहीं उन्हें प्रशान्त सागर में ले जाकर उसकी गंभीर और स्थिर विश्रांति में निमग्न कर देते हैं।

यद्यपि इस कला-काल की प्रचलित पद्धति के प्रभाव से प्रभावित होकर कहीं कहीं इन्होंने भी सानुप्रासिक शैली को प्रधानता दी है और अनुप्रासों एवं अन्य यमकादि शब्दालंकारों की एक लम्बी जंज़ीर सी बनाई है। कहीं २ इसके लिये व्यर्थ के शब्द भी रख दिये हैं, तथापि यह प्रवृत्ति अपनी लीला इनकी रचना में अरुचिकर मात्रा से नहीं कर सकी, केवल उन्हीं स्थलों में यह अनुप्रास-झंकार आती है जहाँ जान-बूझ कर केवल शब्दालंकारों के चमत्कार-चातुर्य को प्रदर्शित करने के लिये ही इन्होंने उसे रखा है।

प्रायः वर्णनात्मक (Descriptive) छंदों में यह बात पाई जाती है, सर्वत्र नहीं। जहाँ सरस कल्पना के साथ मधुर, मृदुल और चमत्कृत भावों का सौन्दर्य रक्खा गया है वहाँ ऐसी पदावली नहीं है वरन् भाव-व्यंजक, सरस, कोमल और स्वाभाविक पदावली रक्खी गई है, जिससे भाषा में मधुरता, मंजुलता और भावपूर्ण सरसता आ गई है, साथ ही स्वाभाविकता और स्पष्टता भी भर गई है। इन्हीं स्थानों की भाषा साफ़-सुथरी और सीधी-सादी किन्तु पूर्णतया परिपक्व, सुव्यवस्थित और प्रभावोत्पादिनी है। यहाँ जो शब्दालंकार हैं, वे भाव-पोषक शब्दों में ही रहकर संयत और सार्थकता लिये हुए स्वाभाविक से ज्ञान पड़ते हैं।

कुशलकल्पना के द्वारा निर्मित किये गये भाव-चित्र चमत्कृत-चातुर्य से ऐसे चित्रित किये गये हैं कि वे मौन रह कर भी

मन की अव्यक्त भावनाओं को अपनी व्यंजना-शक्ति के द्वारा सजीवता देकर साकार खड़ा कर देते हैं।

अन्य कला-कुशल कवियों की भाँति पद्माकर ने शब्दाडम्बर और ऊहात्मक वैचित्र्य को प्रधानता तथा प्रचुरता देकर अपने सबल रस-भावादि में किसी प्रकार ऊनता नहीं आने दी, केवल कोरी कारीगरी के ही साथ कृत्रिम काव्य-मंदिर बनाकर वे कवि-रूपी राज (घर बनाने वाला) या कविराज बनने में प्रयत्नशील नहीं हुए।

अतएव हम पद्माकर को साहित्य में एक उच्च स्थान देना उचित समझते हैं।

पद्माकर ने केवल मुक्तक काव्य में ही अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं दिया वरन् वीर-स्तवन तथा प्रबंध या कथा-काव्य में भी अपनी कुशलता दिखलाई है। "हिम्मत बहादुर विरुदावली" वीररस प्रधान वीर-स्तवन की एक सुन्दर पुस्तक है और अपने ढंग की अनूठी है। दोहे-चौपाई वाली प्रबंध-काव्य-शैली में इन्होंने श्री वालमीकीय रामायण के आधार पर राम काव्य का "रामरसायन" नामी एक सुन्दर ग्रंथ रचा है। यह काव्य साधारणतया है तो अच्छा, किन्तु इन्हें नहीं फबता और इनका रचा हुआ भी जान नहीं पड़ता, सम्भव है या तो यह इनका न भी हो या यदि हो तो बहुत ही अल्पावस्था का हो। यह भी सम्भव है कि इन्होंने इसे साधारण लोगों में प्रचलित करने के लिये साधारण रूप में ही लिखा हो। अस्तु, यह ऐसा काव्य है, जिस में कहा जा सकता है पद्माकर को यथोचित सफलता नहीं मिली।

इनकी गंगालहरी है तो छोटी, पर बड़ी ही सुन्दर और सराहनीय रचना है। जगद्विनोद तो मतिराम के रसराज की टक्कर लेता है और इसीलिये काव्य-प्रेमियों की रसना पर रम

रहा है। पद्माभरण नामी अलंकार-ग्रंथ दोहा-शैली में अन्य अलंकार-ग्रंथों के समान लिखा गया है, इसमें पद्माकर को जगद्विनोद की सी सफलता नहीं मिली और इसीसे इसकी वैसी ख्याति भी नहीं हुई।

पद्माकर ने बावनी आदि के समान पचासा-शैली में "प्राबोधपचास" नामी वैराग्य और भक्ति से भरी हुई एक सुन्दर रचना की, जो सराहनीय है। भाषानुवाद में भी इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। अस्तु पद्माकर को यदि उत्तर कला-काल का महाकवि भी कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी।

———o———

ग्वाल कवि

ग्वाल कवि भी अपने समय के बड़े प्रसिद्ध कवि हुए हैं। ये मथुरा-निवासी सेवाराम बन्दीजन के सुपुत्र थे। इनकी जीवनी की अन्य बातें निश्चित रूप से नहीं ज्ञात हो सकीं। इनके ग्रंथों के रचना-संवतों पर विचार करके यह कहा जाता है कि इनका कविता-काल सं० १८७९ से सं० १९१९ तक रहा है।

इनके चार प्रसिद्ध रीति-ग्रंथ हैं और दो ग्रंथ अभी और मिले हैं तथा दो और इन्हीं के विरचित कहे जाते हैं। एक "कवि-हृदय-विनोद" नामी ग्रंथ इनकी स्फुट कविताओं के संग्रह के रूप में मिला है।

आलोचना—ग्वाल कवि भी एक विशेष प्रतिभा और योग्यता वाले सुकवि थे। इनकी रचनाओं को भी अच्छी ख्याति मिली है, अब तक अनेकों काव्य-रसिकों को इनकी सुन्दर २ छंदें कंठाग्र हैं। साधारण और उच्च दोनों कोटि की रचनायें ये सफलता के साथ करते थे।

भाषा इनकी साधारण मुहावरेदार, स्पष्ट और सुव्यवस्थित

ब्रजभाषा है। देशाटन से इन्होंने पूर्वीय हिन्दी, गुजराती और पंजाबी आदि १६ भाषायें सीख ली थीं और उनमें रचनायें भी कर लेते थे। इन सब का बहुत ही कम प्रभाव इनकी ब्रजभाषा पर पड़ा है, अपने साहित्यिक ग्रंथों में इन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा के उच्च साहित्यिक रूप के रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है और उसमें इन्हें सफलता भी मिली है, हाँ साधारण रचनाओं में ये साधारण भाषा का प्रयोग करते थे जिस में .फारसी एवं अरबी के शब्दों का भी अच्छा समावेश रहता था।

पदावली इनकी सुगठित और कोमल है, वाक्य-विन्यास संयत, सुव्यवस्थित और भावपूर्ण है। शब्दावली अलंकृत और मँजी हुई है, रचना में वाग्वैचित्र्य और कला-कौशल भी पाया जाता है। स्वाभाविकता और मौलिकता पाई तो जाती है, परन्तु बहुत विशेष रूप में नहीं।

पद्माकर की देखादेखी इन्होंने "यमुना लहरी" नामी (सं० १८७६ में) सब से प्रथम रचना की, अस्तु यह उतनी अच्छी नहीं जितनी इनकी अन्य पुस्तकें हैं।*

इनके पश्चात् प्रौढ़ काल में इन्होंने परम्परा के आधार पर १—कृष्ण जू को नख-शिख (सं० १८८४ में), २—भूषण-दर्पण (सं० १८६१ में काव्य-दोषों का विवेचन), ३—रस रंग (सं० १६०४ में) और ४—रसिकानंद (अलंकार-ग्रंथ) रचे। चारों अच्छे रीति

---

*इस देव-स्तवन काव्य में भी इन्होंने नव रस और षट् ऋतु का वर्णन किया है। यह कला-काल की परम्परा का प्रबल प्रभाव ही है।

इनके षट्ऋतु में विशेषता यह है कि ऋतु के अनुकूल इन्होंने भोग-विलास की राजसी सामग्री भी .खूब दिखलाई है और शृंगार के उद्दीपन का ध्यान रख कर ही ऋतुओं का वर्णन किया है, इससे कुछ अस्वाभाविकता और संकीर्णता सी आ गई है। हाँ ऋतु-वर्णन है विस्तृत और निरवध।

ग्रंथ हैं, किन्तु जगद्विनोद आदि के समान प्रसिद्ध और प्रचलित नहीं हुए।

हम्मीर हठ (सं० १८८१ में रचित वीर-कथाकाव्य) और गोपीपच्चीसी (कृष्ण-काव्य) इनकी दो रचनायें और मिली हैं। इनके अतिरिक्त १—"राधामाधव-मिलन" और "राधा अष्टक" नामी दो अन्य रचनायें भी इनकी ही कही जाती हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इन्होंने कदाचित् पच्चीसी और अष्टक नामी दो शैलियों को और विकसित और प्रचलित किया है।

प्रतापसाहि

इनकी भी जीवनी बहुत कुछ अंधकार में ही है, केवल कुछ थोड़ी ही सी बातें ज्ञात हो सकी हैं। यह एक परम्परा सी बन गई थी कि कवि लोगों ने अपने ग्रन्थों में अपने सम्बन्ध की बातों का देना बन्द कर दिया था, इसी से उनके ग्रन्थ उनकी जीवनियों पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालते और इतिहास-लेखक कुछ निश्चित तथा विश्वस्त सामग्री नहीं प्राप्त कर पाते, केवल जनश्रुतियों पर ही निर्भर रहने पर बाध्य होते हैं। संस्कृत-काव्यों में कवि अपना स्वल्प परिचय दिया करते थे, महाकाव्य के लिये तो यह बात अनिवार्य थी। संस्कृत की इस पद्धति का अनुकरण केवल केशव जैसे कुछ ही महाकवियों ने किया है, किन्तु पूर्णरूप से नहीं।

ये बन्दीजन "रतनेश" के सुपुत्र थे और चरखारी-नरेश श्री विश्रामसाहि के यहाँ रहा करते थे। इनके ग्रंथों के सम्वतों को देखने से इनका रचना-काल सं० १८८० से १९०० तक जान पड़ता है।

आलोचना—ये एक विशेष प्रतिभा के कवि थे, क्योंकि इनमें आचार्यत्व और कवित्व दोनों का बड़ा ही सुन्दर और उपयुक्त

संयोग मिलता है। ये आचार्य भी उच्चकोटि के हैं और कवि भी। इस विचार से हम इन्हें श्रीपति और दास की श्रेणी में स्थान दे सकते हैं। पद्माकर के पश्चात् कला-काल की मुक्तक शैली को, जो पद्माकर के द्वारा परमोत्कर्ष को पहुँचा दी गई थी, इन्होंने पूर्णता को पहुँचा कर एक स्थायी आसन पर बिठा दिया।

इनकी मधुर कल्पना बड़ी कोमलता और कला-कुशलता के साथ मौलिक और स्वाभाविक भाव खोजकर इस चारुता से चित्रित करती है कि उनमें सजीवता और साकारता आ जाती है। हृदय की भव्य भावुकता तथा सरसता इनकी रचना से प्रवाहित होकर प्रत्येक सहृदय पाठक को द्रवित कर देती है। वर्णन-शैली भी इनकी बड़ी ही मनोरंजक और सुव्यवस्थित स्वाभाविकता रखती है, उसमें अनुभूति की ऐसी सुन्दर व्यंजना पाई जाती है कि उसमें हृदय मग्न हो जाता है।

भाषा इनकी परिमार्जित और प्रौढ़ व्रजभाषा है। उसमें स्निग्धता और सुन्दर धारावाहिकता है, मधुरता, मृदुलता और मंजुलता के बिना तो वह कहीं दिखाई ही नहीं पड़ती। उसकी प्रगति एक रूप से ही सर्वत्र मिलती है। उसमें कृत्रिमतामय कला का आडंबर, जो गति का बाधक ठहरता है, नहीं मिलता, इसी से गति में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाई।

पदावली इनकी बहुत ही सुगठित, व्यवस्थित और भावमयी रहती है, सर्वत्र उसमें एक सा बल, लालित्य और अर्थ-गौरव रहता है। इसी से वह मर्मस्पर्शिनी हो जाती है। भाषा संयत और नियम-नियंत्रित है। कहीं कहीं व्यवस्था सम्बन्धी कुछ कटुता सी मिलती है, किन्तु वह क्षम्य ही ठहरती है।

शब्दावली के देखने से ज्ञात होता है कि ये कोष-कानन के चतुर माली हैं और चुन चुन कर सुन्दर शब्द-सुमनों से अपनी कविता-मालिका को संगुंफित करते हैं। शब्द भावपूर्ण, सरस,

सार्थक और सुबोध रक्खे गये हैं। कहीं कहीं फ़ारसी के भी शब्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु उपयुक्त स्थानों पर और उचित तथा शुद्ध रीति से। शब्द-योजना जिसमें अनुप्रासादि की भी परम सुन्दर और स्वाभाविक योजना दिखलाई पड़ती है, मर्यादा-पालित और रोचक रूप से है, इसीसे उससे भावादि को धक्का नहीं पहुँचता और वह अरुचिकर नहीं लगती।

शब्द तोड़मरोड़ एवं रूपान्तरित करके अन्य कवियों की भाँति नहीं रक्खे गये, निरर्थक शब्दों का केवल योजना के ही लिये प्रयोग नहीं किया गया, जैसा अन्य कवियों की कविताओं में हुआ है।

इनके प्रायः सभी छंद तथा उनके सभी चरण अपनी पूरी महत्ता एवं सत्ता रखते हैं, कहीं भी निरर्थकता नहीं पाई जाती। यही इनकी विशेषता है। इन बातों के देखते हुए हम इन्हें पद्माकर का समकक्ष कवि मानते हैं।

इनके दो ग्रंथ १—"व्यंगार्थ कौमुदी" (सं० १८८२ में) २—"काव्य-विलास" (सं० १८८६ में) बहुत ही प्रसिद्ध हैं। प्रथम में इन्होंने शब्द-शक्ति लक्षणा व्यंजनादिक का सोदाहरण विस्तृत विवेचन किया गया है। अब तक प्रायः आचार्यों ने इस विषय को या तो छोड़ ही दिया था या सूक्ष्म रूप में ही लिख कर चलता किया था। इस पुस्तक में १३० छंद—कवित्त, सवैये और दोहे हैं। इसीसे इनकी साहित्य-मर्मज्ञता का पता चल जाता है। इन्होंने अपने रस-ग्रंथ में रसों की विवेचना करते हुए उदाहरणों में यथा-क्रम नायिका-भेद भी दिखलाया है, इस प्रकार दो कार्य एक ही यत्न से सिद्ध किये हैं, यह एक सराहनीय बात है।

इसके अतिरिक्त इनकी रची हुई १—जयसिंह प्रकाश (सं०१८-५२), २—शृङ्गारमंजरी (सं० १८८६), ३—शृङ्गार-शिरोमणि (सं० १८६४), ४—अलंकार चिन्तामणि (सं०१८६४), ५—काव्य-विनोद

(सं० १८९६), ६—जुगुल नखशिख (सीताराम का नखशिख-वर्णन) नामी पुस्तकें और हैं। इनसे इनकी विद्वता तथा आचार्यता का परिचय मिलता है। इन्होंने ३ पुस्तकें १—रसराज, २—रत्नचंद्रिका (सतसई की टीका), ३—बलभद्र कृत नखशिख की टीकायें भी लिखीं। अतः कहना चाहिये कि ये एक अच्छे टीकाकार भी थे। हिन्दी-पुस्तकों की भी टीकायें इस कला-काल में लिखी जाने लगी।

प्रतापसाहि को कला-काल का अंतिम आचार्य और सुकवि कहना चाहिये। इनके पश्चात् फिर इस काल की परम्परा में शैथिल्य आ चलता है।

अब हम इस काल की स्फुट रचनाओं तथा उनके कवियों आदि का विवेचन देते हैं।

साधारण कवि

इसके पूर्व कि हम इस काल की अन्य विषयक रचनाओं तथा उनके कवियों आदि का वर्णन करें, हम यहाँ कुछ उन साधारण श्रेणी के कवियों तथा उनकी रचनाओं का सूक्ष्म निदर्शन करा देना चाहते हैं जिन्होंने कला-काल के रीति-ग्रंथों की परम्परा का अनुकरण करते हुए साधारण पुस्तकें लिखी हैं।

बेनी कवि—ये असनी (फतेहपुर) के बंदीजन और सं० १७०० के आस-पास विद्यमान थे। इनकी कोई पुस्तक नहीं मिलती किन्तु स्फुट रचनाओं से इनके नखशिख तथा षट्ऋतु-वर्णन के लिखने का अनुमान होता है। भाषा इनकी साधारण, चलती हुई किन्तु सानुप्रासिक ब्रजभाषा है। रचनायें भी साधारण हैं।

मंडन कवि—ये जैतपुर (बुंदेलखंड) के रहने वाले थे और राजा अंगदसिंह के यहाँ सं० १७१६ में थे। इनका कोई

ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ, हाँ खोज से १—रसरत्नावली, २—जनक पचीसी, (पच्चीस छंदों की शैली में) ३-नैन पचासा (पचास छंदों की शैली में) ४—जानकीजू को ब्याह (खंड प्रबन्ध-काव्य) और ५—रस-विलास नामी पुस्तकों का पता चला है।

इनके छंद स्फुट रूप से पुस्तकों में मिलते हैं जिससे इनकी प्रतिभा का पता चलता है। ये सरस और सहृदय कवि थे, भाषा इनकी व्यंजनामयी और स्वाभाविक है, पदावली भी सुव्यवस्थित, सुगठित तथा ललित है। इनके कुछ पद भी मिलते हैं जिससे इनको पद-रचना-शैली का भो आभास मिलता है।

बीर कवि—ये दिल्ली के श्रीवास्तव कायस्थ थे। सं० १७७६ में इन्होंने "कृष्ण चंद्रिका" नामी रस और नायिका-भेद की एक साधारण पुस्तक लिखी। रचना इनका साधारण है।

रसिक सुमति—ये सन् १७८५ ई० में थे, इनके पिता का नाम ईश्वरदास था। कुवलयानंद के आधार पर दोहा-शैली में इन्होंने "अलंकार चंद्रोदय" नामी अलंकार-विवेचना का एक साधारण ग्रंथ रचा।

गंजन—ये काशी-वासी गुजराती ब्राह्मण थे। सं० १७८६ में इन्होंने दिल्ली-नरेश मुहम्मदशाह के वज़ीर कमरुद्दीन ख़ाँ के नाम पर, जिन्होंने इनका बडा आदर-सत्कार किया था, "कमरुद्दीन ख़ाँ हुलास" नामी रस-विवेचना का एक ग्रंथ बनाया। इसमें रस-भाव-भेद-विवेचन के साथ षट् ऋतु का विस्तृत और अच्छा वर्णन किया गया है। इसी में इन्होंने अपना पूरा परिचय भी दिया है और अपने प्रपितामह मुकुरराय कवि की बड़ी प्रशंसा की है।

ग्वाल कवि के समान इन्होंने अमोरी भोग-विलास की ऋतु सम्बन्धी सामग्री का ख़ूब वर्णन किया है। इनकी भाषा साधारण है और भावुकतामयी प्रतिभा भी स्वल्प है।

कुमारमणि भट्ट—इनकी जीवनी अज्ञात है। सं० १८०३ में इन्होंने "रसिक रसाल" नामी एक सुन्दर रीति-ग्रंथ रचा, जिससे ज्ञात होता है कि ये हरिवल्लभ के सुपुत्र थे। सरोज में इन्हें गोकुल का रहने वाला लिखा है। रचना साधारण है।

शिवसहायदास—ये जयपुर-निवासी थे, सं० १८०६ ई० में इन्होंने "शिव चौपाई" और "लोकोक्ति रसकौमुदी" नामी दो पुस्तकें लिखीं। द्वितीय में लोकोक्तियों को समीचीनता से प्रयुक्त करते हुए नायिका-भेद लिखा गया है। रचना साधारण ही है।

रूपसाहि—ये पन्ना-निवासी कायस्थ थे। सं० १८१३ में इन्होंने "रूप-विलास" नामी एक पुस्तक लिखी, जिसमें पिंगल, अलंकार और नायिका-भेद आदि का सूक्ष्म और साधारण विवेचन दोहों में किया गया है।

ऋषिनाथ—ये प्रसिद्ध ठाकुर कवि के पिता और सेवक कवि के प्रपितामह असनी के बंदीजन थे। काशिराज के दीवान सदानंद और रघुवर के आश्रय में रह कर इन्होंने दोहाशैली को प्रधानता देते हुए "अलंकार-मणि-मंजरी" नामी एक सुन्दर पुस्तक सं० १८३१ में लिखी। इनका रचना-काल सं० १७६० से १८३१ तक माना गया है। कविता साधारणतया अच्छी है।

बैरीसाल—ये असनी के ब्रह्मभट्ट थे, इनके वंशधर अब तक वहीं हैं। सं० १८२५ में इन्होंने "भाषाभरण" नामक एक अलंकार-ग्रंथ दोहा शैली को प्रधानता देते हुए लिखा। रचना इनकी साधारण है।

दत्त—ये माढ़ी, प्रान्त कानपुर के ब्राह्मण थे और चरखारी-नरेश राजा ख़ुमानसिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने सं० १८३० के आस-पास "लालित्य लता" नामी एक अलंकार की पुस्तक लिखी। ये सुकवि और पंडित जान पड़ते हैं।

हरिनाथ (नाथ)—ये काशी के गुजराती ब्राह्मण थे। सं० १८२६ में इन्होंने "अलंकार दर्पण" नामी एक साधारण और छोटी सी पुस्तक लिखी। इसमें विशेषता यह है कि प्रथम कई अलंकारों के लक्षण कई दोहों में एक साथ रख दिये गये हैं, फिर क्रमानुसार उनके उदाहरण कवित्तों में साथ साथ दिये गये हैं।

मनीराम मिश्र—कन्नौज-निवासी इच्छाराम मिश्र के सुपुत्र थे। सं० १८२९ में इन्होंने छंद छप्पनी नामी पिंगल की एक अनूठी पुस्तक, "आनंद मंगल" नामी भागवत के दशमस्कंध के अनुवाद की पुस्तक रची। रचना साधारण है।

महाराज रामसिंह—ये नरवलगढ़ के राजा भावुक और प्रवीण कवि थे। इन्होंने १—अलंकार दर्पण (अलंकार ग्रंथ) २—"रस निवास" (सं० १८३९) और ३—रसविनोद (सं० १८६०) नामी पुस्तकें लिखीं।

थान कवि—ये निहालराय के सुपुत्र और चंदन कवि के भानजे थे, डौंडिया खेरे (ज़िला रायबरेली) में रहते थे। सं० १८४८ में इन्होंने चंडरा (बैसवारा) के रईस दलेलसिंह के नाम से "दलेल प्रकाश" नामी एक विविध विषयक ग्रंथ रचा, जिसमें बिना किसी क्रम के, गण-विचार, रसभाव-भेद, अलंकार, गुण दोषादि कई विषयों की विवेचना की है, संगीत और चित्रकाव्य की भी कुछ विवेचना की है। इससे इनकी बहुज्ञता सी तो प्रगट होती है पर पटुता नहीं। रचना इनकी सुन्दर, भाषा मंजुल, ललित और मधुर है, कला-कौशल भी इनकी पद तथा शब्द-योजना में अच्छी है। अमत्ता छंद आदि भी इन्होंने अच्छे लिखे हैं। प्रतिभा इनकी अच्छी जान पड़ती है।

जसवन्तसिंह द्वितीय—ये तेरवाँ (कन्नौज) के बघेल वंशीय क्षत्रिय राजा और साहित्य-प्रेमी थे। रचना-काल इनका

सं० १८५६ के आस-पास कहा गया है। सालहोत्र और शृंगार शिरोमणि (शृंगार रस की रचना) दो पुस्तकें उन्होंने रचीं।

ब्रह्मदत्त—(ब्राह्मण) काशी-नरेश महाराज उदितनारायण के अनुज श्री दीपनारायण के आश्रय में रहते थे। सं० १८६७ में "विद्वद्विलास" और "दीप प्रकाश" नामी दो अलंकार-ग्रंथ इन्होंने रचे। रचना सरल, सरस और प्रौढ़ जान पड़ती है।

इन साधारण कवियों के अतिरिक्त अब हम इस काल के उन कवियों तथा उनकी रचना पर सूक्ष्म प्रकाश डालेंगे जिन्होंने विविध विषयक रचनायें की हैं।

जयकाव्य—इस काव्य का जो रूप हमें अपने प्रारम्भिक काल में प्राप्त होता है, वह इस काल में नहीं मिलता, उसमें भक्ति काल से अब तक देश-काल आदि के प्रभाव से परिवर्तन हो गया था, अब रासो-रचना-शैली का अभाव या लोप हो चुका था। इसके स्थान पर मुक्तक काव्य के ही एक विशेष रूप में काव्य-कला तथा अलंकारादि की प्रधानता के साथ **वीर-स्तवन-काव्य** उठ चला था। यह वीर पुरुष-प्रशंसा का एक रूप है। इसके कई रूपान्तर हो गये, जिनमें से मुख्य दो हैं:—१—**वीर देव स्तवन-काव्य** जिनमें वीर कार्य करने वाले देवताओं की प्रशंसा तथा उनके कार्यों आदि का वर्णन किया जाता है २—**वीर पुरुष-स्तवन-काव्य** जिसमें वीर पुरुषों तथा उनके कार्यों का प्रशंसात्मक वर्णन किया जाता है। इसमें प्रायः इस बात का ध्यान विशेष रूप से रक्खा जाता है कि वे वीर-पुरुष देश-प्रसिद्ध नायक और समाज के पूज्य हितकारी ही रहें। जैसे छत्रशाल, शिवाजी, राणा प्रताप आदि। इसमें कवियों ने यह रूपान्तर किया कि वे अपने आश्रय-दाता राजाओं आदि की प्रशंसा करने लगे। इससे यह केवल स्तवन-काव्य ही रह गया और इसमें वास्तविकता, स्वाभाविकता तथा उपयुक्तता की मात्रा न रह सकी। इसमें भी युद्ध-वीरता और

दान-वीरता को प्रधानता दी गई, विशेषता रही दान-वीरता की ही।

ख्याति उन्हीं पुस्तकों को प्राप्त हो सकी जिनमें देश-प्रसिद्ध और लोक-प्रिय राजा-नेताओं के वीर कार्यों का वर्णन प्रशंसा के साथ किया गया है। वे पुस्तकें, जिनमें ख़ुशामद के लिखे कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा की है या तो लुप्त हो गईं, या यों ही पड़ी रहीं और प्रसिद्धि न पा सकीं। जनता ने उन्हें न अपनाया। इनमें से कुछ तो प्रौढ़ और सुन्दर रचनायें हैं, किन्तु उनमें उक्त बात होने से कवि का प्रयास कुछ स्वल्प स्वार्थ-सिद्धि के सिवा और व्यर्थ ही सा गया। कुछ ऐसी रचनायें इस-लिये ठहर सकीं चूँकि वे रीति-ग्रंथों के अनुसार लिखी गई थीं और उनमें काव्य-शास्त्र के विषयों या अलंकारादि के लक्षण दिये हुए हैं और उदाहरणों में प्रशंसा की गई है*। इनकी गणना रीति ग्रंथों में भी होती है। कुछ रचनायें स्वतंत्र और पृथक् रूप से पुस्तका-कार हैं। इस प्रकार की रचनाओं में से परम प्रधान रचनाओं—शिवाबावनी, छत्रशाल दशक, हिम्मतबहादुर-विरुदावली तथा शिवराज भूषण आदि तथा उनके रचयिताओं का विवेचन हम कर ही चुके हैं।

यहाँ हम उन रचनाओं का उल्लेख करना चाहते हैं जो इनसे इतर हैं और युद्ध आदि के आधार पर वीर काव्य की शैली के आभास पर लिखी गई हैं:—

१—**जंगनामा**—प्रयाग निवासी श्रीधर या मुरलीधर (जन्म-सं० १७३७) कृत एक सुन्दर रचना है, इसमें फ़र्रुख़सियर और जहाँदार शाह के युद्ध का वर्णन है। श्रीधर जी की अन्य रचनाओं "नायिका भेद, चित्र काव्य आदि का उल्लेख स्व० बा० राधाकृष्ण दास ने किया है।

* जैसे शिवराजभूषण।

२—हम्मीरहठ—श्री ग्वाल कवि कृत (सं० १८८१ में) एक और काव्य कहा जाता है, इसके विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता।

३—छत्रप्रकाश—यह मऊ (बुंदेलखंड) के रहने वाले गोरे-लाल पुरोहित उपनाम लाल कवि का रचा हुआ है।

यह एक प्रकार से चरित-काव्य है और महाराज छत्रि-शाल की आज्ञानुसार दोहा चौपाई शैली में विस्तार के साथ लिखा गया है। इसमें छत्रशाल का सं० १७६४ तक का वृत्तान्त है अतः या तो इस समय लाल का देहान्त हो गया होगा या यह ग्रंथ अधूरा ही है। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक महत्व भी रखता है, इसकी घटनायें सच्ची और संवत आदि भी ठीक हैं।

आलोचना—यह ग्रंथ काव्य दृष्टि से प्रौढ़ और उत्तम है, ओज गुण भी इसमें ख़ूब है, वर्णन एवं प्रबंध-रचना भी इसमें सुव्यवस्थित, सुसंगठित और मार्मिक है। इसमें कवि की कल्पना संयत तथा प्रतिभा कौशल पूर्ण है, उसमें स्वाभाविकता और सबलता है। वाग्वैचित्र्य और चमत्कार-चातुर्य अरुचिकर मात्रा में नहीं पाये जाते। इसमें देश-दशा का भी कहीं २ चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा या अवधी नहीं वरन् मिश्रित और चलती हुई बुंदेलखंड की साधा-रण भाषा से प्रभावित हुई भाषा है।

इस ग्रंथ में बुंदेल-वंशोत्पत्ति, चंपतराय की विजय का वर्णन उनका उद्योग और प्रबल पराक्रम, अंत में उनके राज्य का मुग़लों के अधिकार में जाना और छत्रशाल का धीरे २ उसका उद्धार कर मुग़लों को पराजित करने में समर्थ होना सविस्तार लिखा गया है।

लाल कवि ने "विष्णु विलास" नामी एक नायिका-भेद की पुस्तक बरवा छंद में लिखी और रहीम की शैली का अनुसरण किया है।

४—हम्मीर रासो—यह गौड़ ब्राह्मण बालकृष्णात्मज जोध-राज का रचा हुआ है। इसे हम अवश्य ही रासो-श्रेणी में रख सकते हैं। सं० १८७५ में राजा चन्द्रभान चौहान के अनुरोध से इसकी रचना हुई थी।

आलोचनात्मक दृष्टि से यह प्राचीन छप्पय पद्धति के आधार पर प्रबंध-काव्य के रूप में मिलता है। देश-प्रसिद्ध तथा लोक-प्रिय वीर हम्मीर देव का जो सम्राट पृथ्वीराज के वंशज थे और जिन्होंने सुलतान अलाउद्दीन को कई बार हराते हुए वीर-गति से स्वर्गारोहण किया था, चरित्र इसमें लिखा गया है।

यह काव्य बहुत ही ओज-पूर्ण और प्रौढ़ है, भाषा इसकी चंद्र आदि प्राचीन कवियों की पुरानी भाषा के अनुकरण में दिखलाई पड़ती है। कहीं कहीं काव्य के लिये इसमें कल्पित घटनायें भी दी गई हैं और युद्ध का कारण राजनीतिक रूप में न देकर प्रेम-प्रसंग के रूप में दिया गया है।

५—सूदन कवि—ये मथुरा के माथुर-चौबे वसंत जी के सुपुत्र थे और भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कुमार सुजान-सिंह के आश्रय में रहते थे। उन्हीं के नाम पर इन्होंने उनके ऐश्वर्य-पूर्ण चरित्र का चित्रण करते हुए प्रबंध-काव्य का एक सुन्दर ग्रंथ "सुजान चरित्र" नाम से लिखा।

सुजानसिंह की वीरता इतिहास के पृष्ठों तथा जनता के हृत्पट पर सदा के लिये अंकित ही है, सूदन को जब ऐसा वीर लोक-प्रिय नायक मिल गया तब उनका काव्य क्यों न सुन्दर होता।

"सुजान-चरित्र" एक वृहद् ग्रन्थ है, जिसमें सं० १८०२ से १८१० तक की घटनाओं का वर्णन है, अतः यह ग्रन्थ इस समय के पश्चात् ही समाप्त हुआ होगा। सूदन का रचना-काल इसी-लिये सं० १८२० के लगभग तक माना गया है। यह ग्रन्थ ऐति-हासिक महत्व भी रखता है, क्योंकि इसमें इतिहास की सच्ची

घटनाओं का वर्णन किया गया है और सुजानसिंह की वीरता की प्रशंसा भी यथास्थान की गई है, इस प्रकार यह वीर पुरुष स्तवन-काव्य के रूप में है।

इसकी रचना-शैली बहुत कुछ वीर-काव्य की प्राचीन शैली की ही तरह है, कई प्रकार की ओजस्विनी छंदों का उपयुक्त उपयोग इसमें किया गया है। हाँ प्रधानता कवित्त-शैली को ही दी गई जान पड़ती है। पदावली भी बड़ी ही वीर रसोपयुक्त अर्थात् परुषावृत्ति के अनुकूल और ओजपूर्ण है। बहुधा निरर्थक शब्दों का भी प्रयोग केवल ओज बढ़ाने और ज़ोर लाने के लिये किया गया है। निरर्थक ध्वन्यात्मक या नादसूचक शब्दों का जाल सा भी प्रायः युद्धादि के वर्णनों में बनाया गया है। टवर्ग, संयुक्त वर्ण और घोषवान या महाप्राण वर्ण ख़ूब रक्खे गये हैं, कहीं कहीं अनुस्वारयुक्त वर्णों एवं शब्दों का भी ख़ूब प्रयोग किया गया है।

भाषा इसकी एक सी नहीं वरन् कई रूपों में पाई जाती है। भिन्न भिन्न प्रकार की ठेठ बोलियों और भाषाओं का भी प्रयोग किया गया है। अतएव भाषा की इस अनेकरूपता से काव्य की चारुता में अन्तर आ गया है। बहुत से स्थलों पर गढ़ंत और तोड़े मरोड़े शब्दों का भी मनमाना प्रयोग किया गया है। साधारणतया भाषा का झुकाव ब्रजभाषा की ही ओर विशेष रूप से जान पड़ता है। पद-विन्यास अलंकृत और सजीव है। रचना को सानुप्रासिक भी ख़ूब बनाया गया है।

वर्णन-शैली इसकी विस्तार की ओर अधिक चलती है यहाँ तक कि उससे कहीं कहीं अरोचकता और उन्मनता सी होने लगती है। सामग्री का वर्णन प्रायः काव्य की मर्यादा से परे हो जाता है और प्रबंध की समीचीन सीमा का भी उल्लंघन कर जाता है। यदि वस्तुओं तथा पदार्थों आदि की अनीप्सित नामा-

वली तथा उनकी विस्तृत विवेचना, जिससे कवि की बहुज्ञता मात्र का ही परिचय प्राप्त होता है, न होती तो काव्य वास्तव में अति प्रशस्त हो जाता। कवि में युद्ध, उमंगोत्साह पूर्ण भाषणों, हृदय के वीर भावों को उत्कर्ष के साथ चित्रित करने की प्रतिभामयी क्षमता अच्छी प्रतीत होती है, किन्तु इसे सफलता केवल अनुपयुक्त प्रगल्भता और प्राचुर्य प्रियता आदि के कारण नहीं मिल सकी।

इस काव्य में सात अध्याय हैं, जिन्हें 'जंग' की संज्ञा दी गई है। इसमें भिन्न भिन्न प्रकार की छंदें रक्खी गई हैं। सब बातों पर विचार करने से ग्रंथ समादरणीय और उत्तम ठहरता है। सूदन को इसीलिये हम उत्तर कला-काल के वीर-काव्यकारों में अच्छा स्थान देते हैं।

सूदन और उनके सुजान-चरित्र के पश्चात् इस काल में वीर-काव्य का और कोई कवि तथा उसका काव्य ऐसा नहीं जँचता कि उसका यहाँ उल्लेख किया जाय। इसके पश्चात् देश-काल की परि-स्थितियों में ऐसा परिवर्तन हुआ कि इस प्रकार के काव्य की रही सही सत्ता एवं महत्ता भी लुप्तप्राय हो गई।

पौराणिक कथा या प्रबन्ध-काव्य—इस श्रेणी में हम उन रचनाओं को लेते हैं जो पौराणिक कथ ओंके आधार पर प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखी गई हैं। इस काल में कवियों ने महाभारत और कुछ अन्य प्रसिद्ध तथा प्रधान पुराणों की कथाओं को संस्कृत से लेकर या तो अनुवादित कर दिया या उन्हीं के आधार पर अपनी स्वतंत्र रचनायें कर दीं। यहाँ हम सूक्ष्म रूप से प्रधान २ कवियों की मुख्य २ ऐसी ही रचनाओं का उल्लेख कर देते हैं:—

१—कुलपति मिश्र ने, जिनकी विवेचना हम प्रथम ही कर चुके हैं, सं० १७२७ में "द्रोणपर्व" की रचना की, जो साधारण-तया अच्छी रचना है।

२—विष्णु पुराण—भिखारी दास जी ने विष्णु पुराण का अनुवाद भाषा में दोहा-चौपाई वाली प्रबन्ध-काव्य की शैली में किया, यह उनकी सफल रचना नहीं कही जा सकती, हाँ साधारणतया अच्छी है।

आनन्द मंगल—कन्नौज निवासी इच्छाराम मिश्र के सुपुत्र मनीराम ने दशमस्कंध भागवत के अनुवाद रूप में इसकी रचना की।

४—सवलसिंह चौहान ने, जिनकी जीवनी निश्चित रूप से नहीं ज्ञात हुई (सरोज में इन्हें चंदागढ़ का और कभी २ सवल गढ़ का राजा कहा गया है) महाभारत की सम्पूर्ण कथा दोहों-चौपाइयों में लिखी है, यह ग्रंथ सं० १७१८ और १७८१ के बीच में पूर्ण हुआ। इसकी रचना साधारण श्रेणी की ही ठहरती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कालिदास के ऋतुसंहार का अनुवाद किया और रूप विलास तथा एक पिंगल-ग्रंथ भी रचा।

५—छत्रसिंह—बटेश्वर के निकट अंटरे नामी गाँव के श्रीवास्तव कायस्थ थे। अमरावती के कल्याणसिंह इनके आश्रय-दाता थे। सं० १७५७ में इन्होंने "विजय मुक्तावली" नामी पुस्तक लिखी, जिसमें केशवदास की विविध छंदात्मक शैली से महाभारत की कथा स्वतंत्र रूप में लिखी गई है। रचना को देख कर ज्ञात होता है कि ये सत्कवि थे। भाषा में ओज और प्रसाद है, कविता सुन्दर है।

६—गुमान मिश्र—महोबा-निवासी गोपाल मणि के पुत्र तथा दीपसाहि, खुमान कवि और अमान के भाई थे। पिहानी के नवाब अकबर अली ख़ाँ के आश्रम में इन्होंने सं० १८०० में श्री हर्ष कृत नैषध महा काव्य का नाना छंदात्मक शैली से अनुवाद किया तथा कृष्ण चंद्रिका (सं० १८३८) और छंदाटवी (पिंगल) रचे। अतः इनका रचना-काल १८०० सं० से १८४० तक जानना चाहिये।

नैषधानुवाद इनका प्रसिद्ध और प्रकाशित हो चुका है। उसमें केशवदास की भाँति इन्होंने शीघ्रता से छंदें बदली हैं और संस्कृत की वर्णिक वर्त्तों को प्रधानता दी है, दोहा-चौपाई आदि सभी छंदें इसमें आ गई है।

आलोचना—इनकी रचना समलंकृत, कला-कौशल और चमत्कार पूर्ण है। परिसंख्या अलंकार का विशेष उपयोग किया गया है। अस्तु इससे कवि की साहित्य-मर्मज्ञता और काव्य-कला-कुशलता का पूरा परिचय मिलता है।

इस अनुवाद में एक विशेष बात यह है कि जहाँ मूल भाव साधारण और सुलझे हुए स्पष्ट हैं वहाँ तो अनुवाद में भी बहुत सरसता, स्पष्टता और सुन्दरता आई है, किन्तु जहाँ मूल में कुछ जटिलता है वहाँ अनुवाद में भी अस्पष्ट, जटिल और उलझा सा हो गया है। या तो कवि ने जान-बूझ कर संस्कृत का अनुसरण करते हुए ऐसा किया है या अनुवाद करने में वह कम सफल हो सका है।

संस्कृत से हिन्दी में इस समय जहाँ २ जिन २ ने अनुवाद किया है सर्वत्र सब में यही बात या कमी पाई जाती है। सम्भवतः इसका कारण यह था कि इस समय तक जो मधुर व्रजभाषा काव्य-क्षेत्र में विकसित हुई थी वह सब भावों को प्रकाशित करने की पूर्ण क्षमता न रखती थी, उसमें सरल रसव्यंजना की तो क्षमता थी किन्तु एतदेतर न थी।

तो भी गुमान की भाषा बहुत ही प्रौढ़, सुव्यवस्थित भावपूर्ण तथा सरस है। पदावली सानुप्रासिक, अलंकृत और ज़ोरदार है। वाक्य-विन्यास भी सुसंगठित और संयत है, कहीं २ विभक्तियों का अरोचक लोप पाया जाता है निष्कर्षतः गुमान जी एक उच्च श्रेणी के सुकवि ठहरते हैं।

पं० सरजूराम—इन्होंने सं० १८०५ में "जैमिनि पुराण"

भाषा नामी एक कथा-काव्य लिखा। इनकी जीवनी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। यह पुराण दोहा-चौपाई वाली शैली में ही विशेष रूप से लिखा गया है, कहीं २ कुछ और छंद भी रख दिये गये हैं। इसमें ३६ अध्याय हैं और बहुत सी कथायें—संक्षिप्त रामायण, सीता-त्याग, लवकुश-युद्ध, युधिष्ठिर का राजसूययज्ञ, मयूरध्वज तथा चंद्रहास आदि की कथायें भी आई हैं। रचना अच्छी और गंभीर है। भाषा में अवधी प्रधान है, ढंग वही गोसाईं जी का सा है, पदावली प्रौढ़, भाव-रसपूर्ण तथा अलंकृत है। वाक्य-विन्यास भी संयत और सुसंबद्ध है।

हरनारायण—इन्होंने "माधवानल-कामकंदला" (सं० १८१२) और "बैताल पचीसी" दो कथा काव्य लिखे। रचना इनकी सुन्दर और समलंकृत है। भाषा भी बड़ी ही प्रौढ़, सुव्यवस्थित, सानुप्रासिक और प्रसाद गुण पूर्ण है। इनके कवित्तों की गति पद्माकर के कवित्तों की गति सी ही है। पदावली, सुसंचित, भाव-पूर्ण और मधुर है।

ब्रजवासीदास—ये वल्लभीय संप्रदाय के वृन्दावन-निवासी भक्त कवि थे। सं० १८२७ में इन्होंने "ब्रजविलास" नामी एक कथा-काव्य दोहा-चौपाईवाली शैली से रचा। साधारण लोगों में इसका अच्छा प्रचार है। काव्य भी इनका साधारण श्रेणी का ही है। यह ग्रंथ सूरदास के ही ग्रंथ पर समाधारित है, भाव और शब्दावली आदि भी सूर से ले लिये गये हैं। कवि इसे स्पष्ट लिखता है—"उक्तियुक्ति सब सूरहि केरी। "कृष्ण की भिन्न २ लीलाओं का (जन्म से मथुरागमन तक) वर्णन किया गया है। भाषा इसकी साधारण सुव्यवस्थित और सरल ब्रजभाषा है, निरर्थक शब्द नहीं, अतः पदावली साफ़-सुथरी है। विषय की संकीर्णता से इसमें जीवन के अनेक रूपों का गम्भीरता और

भावपूर्णता से चित्रण नहीं है। प्रेमात्मक लीलाओं का ही चित्रण विशेष रूप से किया गया है। रचना साधारण तथा सुन्दर ही है।

गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव—इन तीनों ने मिलकर महाभारत और हरिवंश पुराण का विविध छंदात्मक शैली से सुचारु अनुवाद किया। इसमें लगभग २००० पृष्ठ हैं। इसमें सुन्दर छंद अच्छे व्यवस्था से रक्खे गये हैं, छंद शीघ्र नहीं बदलते। कवित्त, सवैया, दोहा-चौपाई आदि सभी प्रचलित छंद हैं। रचना साहित्यिक श्रेणी की और सुन्दर है। इसमें काव्य-कौशल और मधुरता है। इसकी भाषा इसके विस्तार को देखते हुए बहुत ही सफल और एक सी है, कहीं भी वह शिथिल नहीं होने पाई।

यह महाग्रंथ लगभग ५० वर्षों में (सं० १८३० से प्रारम्भ होकर सं० १८८४ में) समाप्त हुआ। काशी के महाराज उदित-नारायणसिंह की आज्ञा से इसकी रचना हुई, यह अब तक काशि-राज के यहाँ रखा हुआ है।

प्रथम दो कवि तो कविवर रघुनाथ बंदीजन के सुपुत्र और पौत्र थे, तीसरे जहानपुर (भरतपुर राज्य) के बंदीजन थे, अपनी विमाता से रुष्ट होकर काशी चले आये थे और उक्त कवियों के यहाँ रहते थे।

गोकुलनाथ ने चेत चंद्रिका नामी अलंकार का साधारण ग्रंथ गोविन्द-सुखद विहार, राधाकृष्ण-विलास (सं० १८५८), नाम-रत्नमाला (कोष सं० १८७०), अमर कोष भाषा (सं० १८७०), कविमुख मंडन, सीताराम गुणार्णव, राधा-नखशिख नामी ग्रन्थ और लिखे। राधाकृष्ण-विलास रसविषयक ग्रन्थ है।

सीतारामगुणार्णव-अध्यात्म रामायण का अनुवाद है, इसकी रचना साधारण सी ठहरती है। कवि-मुख-मंडन में भी अलंकारों

का विवेचन है। इनका रचना-काल सं० १८४० से १८७० तक माना गया है। महाभारत के जिस अंश का अनुवाद जिसने किया है उसमें उसका नाम स्पष्ट दिया हुआ है।

गोकुल जी रीति-ग्रंथ और प्रबंध-काव्य दोनों प्रकार की प्रचुर रचना करने वाले एक उच्च कोटि के विद्वान कवि ठहरते हैं, इनकी समता का और दूसरा कवि इस काल में नहीं हुआ।

ख़ुमान—चरख़ारी (बुंदेलखंड) के राजा विक्रमसाहि के आश्रय में ये रहते थे, ये बंदीजन थे। इनकी १० पुस्तकों—१—अमर-प्रकाश (सं० १८३६), २—अष्टजाम (सं० १८५२), ३—लक्ष्मण-शतक (सं० १८५५), ४—हनुमान-नखशिख, ५—हनुमान पंचक, ६—हनुमान पचीसी, ७—समर सार (युद्ध-यात्रा के मुहूर्तादि का विचार), ८—नृसिंह-चरित्र (सं० १८७६ में एक कथा-काव्य) ६—नृसिंह पचीसी और नीति-निधान का पता लगा है। इनका रचना-काल सं० १८३० से १८८० तक माना गया है। ये अपना उपनाम "मान" रखते थे। लक्ष्मणशतक कवित्त शैली की एक सतसई पुस्तक है, इसकी रचना बड़ी ही ओज-पूर्ण और फड़कती हुई है। वीररस का इसमें प्राधान्य है क्योंकि इसमें लक्ष्मण और मेघ-नाद का युद्ध है, अतः यह एक वीररस का खंड काव्य ठहरता है।

पदावली प्रौढ़, भावपूर्ण, ओजस्विनी और स्पष्ट है, भाषा व्यवस्थित तथा ज़ोरदार है। शब्दावली सानुप्रासिक और चुनी हुई है। उसमें काव्य-कौशल तथा चमत्कृत चातुर्य भी है, वर्ण मैत्री और पद-मैत्री भी अच्छी है। कवित्तों की गति भी बड़ी ही फड़कती हुई और चोखी है, पद्माकर के कवित्तों की गति से टक्कर लेती है। वीरदेव-स्तवन काव्य भी इन्होंने लिखा, जिसे कदाचित् गो० तुलसीदास ने प्रारम्भ किया था। हनुमान जी के सम्बन्ध में इन्होंने ३ पुस्तकें रचीं, हनुमान-स्तवन गो० तुलसी-दास ने भी ख़ूब लिखा है।

चंद्रशेखर—ये मुअज़्ज़माबाद (फ़तेहपुर) के सुकवि पं० मन्नोराम के सुपुत्र थे और सं० १८५५ में उत्पन्न हुए थे। कुछ दिनों तक दरभंगा में और ६ वर्ष तक जोधपुर-महाराज श्रीमानसिंह के यहाँ रह कर अंत में पटियाला-नरेश कर्मसिंह के यहाँ जीवन भर तक रहे, सं० १९३२ में इनका देहान्त हुआ। राजा नरेन्द्रसिंह के आदेश से इन्होंने अपना वीर-काव्य-ग्रंथ " हम्मीर हठ " लिखा।

आलोचना—हम्मीरहठ वीर रस का एक उत्कृष्ट काव्य है इसमें जिस समीचीनता तथा उत्कर्ष के साथ वीरोचित उमंगोत्साह-व्यंजक भाषण काव्य-कौशल से रक्खे गये हैं वैसे अन्य वीर काव्यों में नहीं। वर्णन-शैली भी बड़ी ही मार्मिक तथा मर्यादा-पालित है, उसमें वस्तुओं आदि की विशद सूची के अनावश्यक या अनीप्सित विस्तार से अरोचकता और त्रुटि नहीं आ सकी। प्रसंग या प्रबंध का विधान मौलिक न होकर परम्परानुकूल ही है इससे इसमें चर्वितचर्वणम् सा आ गया है। चरित्र-चित्रण भी इसमें अच्छा किया गया है। वीर-काव्य की रूढ़ियाँ भी इसमें ज्यों की त्यों ही पाई जाती हैं।

इसमें प्रतिनायक को रामायण के रावण के समान प्रतापी दिखलाकर नायक का प्रताप उस पर विजयी होने से नहीं दिखलाया गया, वरन् प्रतिनायक को डरपोक और कायर सा भी कहीं कहीं कहा गया है।

इस ग्रंथ की भाषा परिपक्व, प्रौढ़ और ज़ोरदार है, उसमें भावगम्यता, व्यंजकता और स्पष्टता है। वाक्य-विन्यास सुव्यवस्थित और संयत है, पदावली सुसम्बद्ध, स्तुत्य, युक्त और मार्मिक है। शब्द-संगठन सानुप्रासिक होता हुआ भी अस्वाभाविक और अरुचिकर नहीं प्रतीत होता। अलंकारादि रसभावोत्कर्षक ही रक्खे गये हैं। शृंगार रस का जहाँ प्राधान्य है, वहाँ की रचना

सरस, मधुर और रसोपयुक्त है, वहाँ भी मार्दव और प्रसाद गुण पूर्ण लालित्य के साथ पाये जाते हैं। अतएव यह ग्रंथ साहित्य में अच्छे स्थान के पाने का अधिकारी है और कवि को पूर्ण गौरव देता है।

इसके अतिरिक्त इन्होंने १—विवेक-विलास, २—रसिक-विनोद, ३—हरिभक्ति-विलास, ४—नखशिख, ५—ताजक ज्योतिष, ६—गुहपंचाशिका, ७—वृन्दावनशतक, ८—माधवी वसंत नामी पुस्तकें और लिखीं, जो साधारणतया अच्छी कही जा सकती हैं।

कथा-काव्य का भक्ति सम्बन्धी रूप हमें कृष्णलीला-काव्य तथा राम-काव्य में मिलता है, अस्तु हम इनका भी संक्षिप्त विवरण यहाँ दे देते हैं।

कृष्ण-लीला-काव्य—जिस प्रकार रसात्मक काव्य की रचना में नखशिख, नायक-नायिका-भेद और षट्ऋतु आदि को, जो रस-पद्धति के अंग-प्रत्यंग मात्र हैं और उसी के अन्दर वर्णित होते चले आये थे, कवियों ने अलग लेकर उन पर स्वतंत्र रचनायें कर दी हैं उसी प्रकार कथा या प्रबंध-काव्य से कवियों ने कुछ सुन्दर वर्णन (विशेष घटनाओं के) चुन चुन कर अलग निकाल लिये और स्वतंत्र रूप से उनकी रचनायें कीं। ऐसी रचनाओं में वस्तुओं का वर्णन बड़ी विशदता के साथ हुआ करता है, यह विस्तृत वर्णन कहीं कहीं साहित्यिक वर्णन-सीमा से परे होकर अरुचिकर सा हो जाता है। कृष्ण के बाल और तरुण जीवन की भिन्न २, सरस तथा सुन्दर घटनाओं को चुनकर कवियों ने लीलाओं के नाम से स्वतंत्र रूप में लिखा है। इन्हें हम **वर्णनात्मक लीला** काव्य की श्रेणी में रख सकते हैं। दानलीला, मान-लीला जल-क्रीड़ा, बन-बिहार, झूला, होली-वर्णन, आदि इसी कोटि की रचनायें हैं। इनमें काव्य-कौशल, साहित्यिक-सौष्ठव और

सौंदर्य अच्छे रूप में नहीं पाया जाता। इस प्रकार की रचनायें करने वालों में कुछ ही कवि प्रधान समझे जाते हैं:—

१—**चाचा हितवृन्दावनदास**—पुष्करक्षेत्र के निवासी गौड़ ब्राह्मण थे, सं० १७६५ में उपन्न हुए और गो० हितरूप (राधावल्लभीय) के शिष्य हो गये। तत्कालीन गो० जी के ये गुरुभ्राता थे, अतः लोग इन्हें "चाचा जी" कहते थे। ये गो० नागरीदास के भाई बहादुरसिंह के आश्रय में रहते थे, वहाँ राजगृह-कलह देख ये वृन्दावन में आकर रहने लगे और वहीं इन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

इनका रचना-काल सं० १८०० से १८४४ तक ठहरता है। सूर के समान इनके लिये भी यह प्रसिद्ध है कि इन्होंने एक लाख पद और छंद लिखे। २०००० के लगभग पद मिलते हैं। इनकी कविता में कृष्णलीला ही भक्तिभाव के साथ प्रधान है। इनकी रचनायें अप्रकाशित ही हैं, हाँ संग्रह ग्रंथों में कुछ रचनायें मिलती हैं, छत्रपुर के राजकीय पुस्तकालय में बहुत सी रचनायें सुरक्षित हैं।

नखशिख, अष्टयाम, समय-प्रबन्ध* छद्मलीला आदि कृष्ण-काव्य के अनेक प्रसंगों की स्वतंत्र रचना इन्होंने की। लीलाओं का वर्णन विचित्र है, उनमें वाग्वैचित्र्य और व्यापार-योजना बड़े ही मार्मिक कौशल और चातुर्यचमत्कारमयी कल्पना की व्यंजना के साथ पाया जाता है।

२—**मंचित कवि**—ये मऊ (बुंदेलखंड) के निवासी थे, इन्होंने सं० १८३६ के आसपास में कृष्ण-चरित्र पर दो पुस्तकें लिखीं:—

(१) **सुरभीदानलीला**—यह सरस रचना है, इसमें सुरभी-

---

*जिस प्रकार लीला काव्य-रचना की पद्धति भक्त कवियों ने प्रचुरता से प्रचलित कर दी, उसी प्रकार यह समय-प्रबंध (Time table) रचना-पद्धति भी की।

दानलीला, बाल-लीला, यमलार्जुन-लीला आदि का विस्तृत वर्णन सार छंद में है। भाषा साधारण किन्तु शुद्ध, सुगठित व्रजभाषा है। कहीं कहीं वह संस्कृतमयी और अनुप्रासपूर्ण है।

(२) कृष्णायण—यह तुलसीदास की रामायण का अनुकरण है, कहीं कहीं पदावली तक का अनुकरण है, इसकी रचना प्रथम से कुछ ऊन जँचती है।

(३) कृष्णदास—मिर्ज़ापुर-निवासी एक भक्त थे। सं० १८५३ में इन्होंने माधुर्यलहरी नामक एक ४२० पृष्ठों की विविध छंदात्मक शैली में कृष्ण-लीला (चरित्र) सम्बन्धी सुन्दर रचना की। भाषा आदि बातें इसमें साधारण ही हैं।

कृष्ण-काव्य

इस कला-काल में भी कृष्ण भक्त कवियों ने प्राचीन परिपाटी के अनुसार कृष्ण-काव्य की परम्परा को चलाते रहने के विचार तथा भक्ति के कारण कृष्ण-काव्य की रचनायें की हैं। ऐसे साधारण कवि बहुत से हुए हैं जिन्होंने स्फुट रचनायें की हैं। किन्तु यहाँ वे उल्लेखनीय नहीं, केवल प्रधान २ भक्त कवियों को ही हम लेते हैं:—इनमें से हम कुछ को तो भक्त कवि और कुछ को **प्रेमी कवि** कहते हुए पृथक् पृथक् कर सकते हैं। भक्त कवियों में तो भक्ति का और प्रेमी कवियों में प्रेम का प्राधान्य पाया जाता है। कुछ भक्त कवियों ने वृन्दावन और व्रज-प्रदेश की प्राकृतिक छटा का भी चित्रण करते हुए स्तवन किया है, किन्तु उनकी इन रचनाओं मे प्रकृति-निरूपण एवं चित्रण का स्वाभाविक रूप नहीं पाया जाता। इस समय का कृष्ण-काव्य कुछ कथा काव्य या लीला-काव्य सा होता हुआ वर्णनात्मक ढंग का हो गया था और उसमें प्रेम-वर्णन भी आ गया था। हाँ रहा वह मुक्तक के ही प्राधान्य से पूर्ण।

कृष्ण-काव्यकारों में हम घनानंद को सर्वोच्च स्थान देते हैं, वास्तव में इनकी सी मुक्तक-रचना अन्य कवि की नहीं हो सकी। घनानंद की सी शुद्ध, सरल, सुव्यवस्थित (साहित्यिक एकरूपता तथा क्षमता के साथ स्वाभाविकता) और साफ़ ब्रजभाषा अन्य किसी भी कवि की नहीं हो सकी। इन्हीं से इसे निश्चित स्थैर्य और संस्कार प्राप्त हुआ है।

१—घनानन्द का जन्म सं० १७४६ में और देहान्त (नादिरशाही में .कत्ल से) सं० १७९६ में हुआ। ये जाति के कायस्थ और दिल्ली के मुग़ल बादशाह के मीर मुन्शी थे। ये अच्छे गायक भी थे। सुजान नामी वेश्या पर अनुरक्त थे। एक बार दरबार में बादशाह की आज्ञा से सुजान के आने पर उसी की ओर मुँह कर के और बादशाह की ओर पीठ करके इन्होंने अपने गान से सब को मुग्ध कर दिया। बादशाह इनके गान से तो .खुश हुआ, किन्तु इनकी अशिष्टता (असभ्यता) से क्रोधित हो कर उसने इन्हें निकाल दिया। सुजान ने इनके कहने पर भी इनके साथ चलने से इन्कार कर दिया, अस्तु, इन्हें विराग हो गया। ये वृन्दावन में आकर निम्बार्क संप्रदाय में साधु हो गये। इनमें कृष्ण-भक्ति और ब्रज-वृन्दावन के प्रति अति प्रीति थी।

सं० १७९६ में नादिरशाह के सैनिक इनका पता पाकर धन की आशा से इनके पास गये और " ज़र " कह कर इनसे धन माँगने लगे। इन्होंने इसे उलट कर 'रज' कहते हुए धूल उठा उन पर डाल दी, बस उन्होंने इन्हें मार डाला। उस समय भी इन्हें सुजान का स्मरण हुआ, जैसे एक कवित्त से प्रगट है।

आलोचना—घन-आनंद प्रेम की मूर्ति और रस से संसिक्त थे, इनकी समस्त रचना प्रेम रस से परिप्लावित है। इन्होंने वियोग श्रृङ्गार ही विशेष रूप से उठाया है, क्योंकि ये थे भी वियोग-रोगी और अपनी प्रेमिका "सुजान" के अनन्य प्रेमी। इनकी कविता में

प्रत्यक्ष अनुभूति की मर्म-स्पर्शिनी व्यंजना भरी-पूरी है। इनके भाव सभी भुक्तभोगी के होते हुए सर्वथा स्वाभाविक, गंभीर, कोमल और प्रेम पूर्ण हैं। इन्हें विप्रलंभ शृङ्गारात्मक मुक्तक काव्य का प्रधान कवि मानना चाहिये। इनमें प्रेम की मार्मिक पीर थी, प्रेम इनका सच्चा था, इसीसे इनकी रचना उससे सराबोर है।

घन-आनंद की भाषा शुद्ध ब्रज-भाषा है, उसमें कहीं भी रंच-मात्र मिलावट, शिथिलता और रूपान्तर नहीं। वह प्रौढ़ और माधुर्य पूर्ण है, साथ ही सर्वथा स्वाभाविक, सरल और स्पष्ट भी है। पदावली बड़ी ही मनोरम, मधुर व मृदुल है, उसमें मर्म-स्पर्शिनी शक्ति, सरसतामयी व्यंजकता और स्वाभाविक अनुभूति है। अनु-प्रासादि अलंकारों से वह समलंकृत नहीं, फिर भी अपनी सुन्दर स्वच्छता एवं सरस भाव-गम्यता से मुग्धकारिणी है। वाक्य-विन्यास खूब सुसंगठित, सुव्यवस्थित और स्पष्ट है। शब्द-संगठन भी संयत और समीचीन है।

इन्होंने सर्वत्र "सुजान" को संबोधित किया है, शृङ्गार-पक्ष में इस शब्द से नायक का और भक्ति-पक्ष में भगवान कृष्ण का भी अर्थ लिया जा सकता है। रसखान ने भी इनकी सी भाषा का अच्छा उपयोग किया है।

घन-आनंद के रचे हुए १—सुजान सागर, २—विरहलीला, ३—कोकसार, ४—रसकेलिवल्ली, ५—कृपाकांड, ६—सवा चार सौ कवित्त-सवैये और कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी एक बड़ा ग्रंथ (जो छत्रपुर के राजकीय पुस्तकालय में है) मिलते हैं, इस ग्रन्थ में प्रिया-प्रसाद, गोकुल-विनोद, कृष्ण-कौमुदी, वृन्दावन मुद्रा और प्रेम-पत्रिका आदि अनेक विषयों की सुन्दर रचनायें हैं। विरह-लीला में छंद तो फ़ारसी के हैं पर भाषा वही ब्रज की है।

भक्त नागरीदास—ये कृष्णगढ़-नरेश राजा सावंतसिंह हैं, इनका जन्म पौष १२ सं० १७५६ में हुआ। ये बाल-काल से ही

बड़े वीर थे, १३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने बूँदी के हाड़ा-नरेश जैतसिंह को मारा। सं० १८०४ में ये दिल्ली के दरबार में थे, वहीं इन्हें राज्याधिकार मिला, किन्तु जोधपुर-नरेश की सहायता से इनके भाई बहादुरसिंह राजा हो चुके थे, तब इन्होंने मरहठों की सहायता से अपना राज्य फेर तो लिया, किन्तु उससे इन्हें विरक्ति हो गई और ये विरक्त हो वृन्दावन में रहने लगे। वल्लभीय सम्प्रदाय में हो कर ये पंचम भक्तराज हुए। इनके साथ इनकी उपपत्नी "बनीठनी जी" भी, जो कविता करती थीं, रहती थीं।

इनका रचना-काल सं० १७८० से १८१९ तक माना गया है, सं० १८१४ की आश्विन-कृष्ण १० को इन्होंने अपना राज्य अपने पुत्र सरदारसिंह को देकर विरक्ति ली। इसके पूर्व ये कृष्ण-भक्ति और ब्रज-लीला-सम्बन्धी कई रचनायें कर चुके थे। कृष्णगढ़ में इनकी छोटी-बड़ी ७३ पुस्तकें हैं। अस्तु, कह सकते हैं, कि कृष्ण-भक्त कवियों में इतनी प्रचुर रचना इस काल में और किसी ने भी नहीं छोड़ीं। यदि सब पुस्तकें संग्रहीत हों तो ५ या ७ बड़े आकार की पुस्तकें बन जावें। प्रायः एक एक विषय पर छोटी २ पुस्तकें पृथक् कर दी गई हैं, जिनमें १० या २५ छंदें हैं, इनमें पिष्ट-पेषण ही हैं, भक्त होने से साहित्यिक मौलिकता आदि की ओर इनका विशेष ध्यान न था।

इनकी शैली और भाव-व्यंजना में कहीं कहीं अच्छी नूतनता और सुन्दरता है। फ़ारसी ढङ्ग के शृङ्गार एवं प्रेम का भी कहीं कहीं आभास मिलता है। पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैये, अरिल्ल और रोला आदि कई सुन्दर छंदों का भी इन्होंने उपयोग किया है।

भाषा इनकी साधारण और स्वाभाविक है, हाँ बड़े छंदों में उसका वह चलता हुआ रूप नहीं है।

हंसराजबक्शी—ये श्रीवास्तव कायस्थ थे और सं० १७९९ में पैदा हुए थे। इनके पूर्वज पन्ना राज्य में मंत्री थे, ये पन्ना-नरेश

अमानसिंह के दरबारी थे। व्रज की व्यास-गद्दी के "विजय सखी महात्मा से इन्होंने दीक्षा ली। ये सखी-भाव की उपासना करते थे। इससे इन्होंने रचना में भी माधुर्य भक्ति को प्रधानता दी है। १—सनेह-सागर, जिसकी नौ तरंगों में कृष्ण को विविध लीलायें सार छंद में वर्णित हैं, २—विरह-विलास, ३—रामचंद्रिका (राम-काव्य), ४—बारहमासा (सं० १८११) चार पुस्तकें इनकी मिलती हैं। इनमें से सनेह-सागर प्रधान है। परिचित और वास्तविक व्यापारों के आधार पर भाव-विकास अच्छा किया गया है। भाव-पोषक कल्पना भी संयत रूप में है।

भाषा रस-स्निग्ध, मृदुल और साधारण है, पद-विन्यास में लालित्य और सुव्यवस्था है, स्वाभाविकता इसमें सर्वत्र पाई जाती है, शब्द-संगठन सानुप्रासिक होता हुआ भी मर्यादा-पालित और भाव-पोषक है। निरर्थक, शिथिल और रूपान्तरित शब्द नहीं पाये जाते, अतएव भाषा बहुत ही कमनीय ठहरती है।

अलबेलीअलि—विष्णु स्वामीय संप्रदाय के महात्मा "बंशीअली" के ये शिष्य थे, बस इतना ही इनके विषय में ज्ञात होता है। रचना-काल इनका १८ रवीं सदी के अंतिम काल में ठहरता है। ये संस्कृत और हिन्दी दोनों में सुन्दर रचना करते थे। श्रीस्तोत्र (संस्कृत में) "समय-प्रबंध-पदावली" जिसमें ३१३ भाव-पूर्ण पद हैं, इनकी सुन्दर रचनायें हैं।

भगवतरसिक—सखी-संप्रदाय के महात्मा ललितमोहिनी-दास के ये शिष्य थे, परम विरागी और निर्लोभी भक्त कवि थे इनका रचना-काल सं० १८३० से १८५० तक कहा जा सकता है।

इन्होंने अपनी साम्प्रदायिक भक्ति को प्रधानता देते हुए बहुत से पद, कवित्त, छप्पय, कुंडलियाँ आदि में रचना की, जिनमें भक्ति और शुद्ध प्रेम के सुन्दर भाव भरे हुए हैं। ये थे एक परम

प्रेम-योगी और प्रेमोपासक। भाषा सरल, स्पष्ट और चलती हुई ब्रजभाषा है, रचना भी साधारणतया सुन्दर और सरस है।

श्रीहठी—श्रीहितहरिवंश की शिष्य-परंपरा में ये एक बड़े विद्वान और काव्य-कला-कुशल भक्त कवि हुए हैं। इनकी जीवनी का पता नहीं चलता। सं० १८३७ में "राधासुधाशतक नाम से इन्होंने ११ दोहों और १०३ कवित्त-सवैयों का एक सुन्दर ग्रंथ लिखा। इसमें काव्य-कौशल, चमत्कार-चातुर्य और पांडित्य भी अच्छा था, इसीसे रचना में भी ये गुण पाये जाते हैं। रचना चारु चोखी और अनोखी है। पदावलो रसभावोपयुक्त, सुसम्बद्ध और ललित है। भाषा परिमार्जित तथा सुव्यवस्थित ब्रज भाषा है।

रसिक गोविन्द—इनके जीवन वृत्त का पता नहीं, थे ये एक अच्छे कृष्ण भक्त, इनमें वर्णन-शक्ति और कल्पना-कुशलता अच्छी थी। भाषा भी इनकी परम प्रौढ़, समलंकृत, मधुर और मृदुल है। पदावली सुव्यवस्थित, भावमयी और सरस है, शब्द-मैत्री भी चारु चोखी है। इनकी कवि-प्रतिभा का "जुगुलरस माधुरी" नामी पुस्तक से अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इसमें इन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षादि चित्रोपम तथा सादृश्यमूलक अलंकारों से वृन्दावन की सुषमा का उत्कृष्ट वर्णन किया है। कृष्ण-भक्ति के एक अंग के रूप में ही वृन्दावन-सौंदर्य देखा गया है।

इन्होंने १—अष्टदेश भाषा, २—गोविन्दानन्द घन, ३—पिंगल, ४—समय प्रबंध (भक्त के काल-विभाजन-काव्य की शैली से), ५—कलियुग रासो (सं० १८६५), ६—श्रीरामायण-सूचनिका नामी पुस्तकें और लिखीं। अतः हम इन्हें सुयोग्य कवि कह सकते हैं।

—:*:—

राम-काव्य

इस काल में राम-काव्य पर भी कतिपय कवियों ने रचनायें कीं। कला-काल के उत्तर समय में इस प्रकार के कवि जितने हुए उतने और पहिले नहीं हुए, यद्यपि राम-काव्य के इन कवियों में से कोई भी ऐसी सफलता नहीं पा सका, जैसी श्री गो० तुलसीदास और केशवदास को मिली है, तथापि इन लोगों ने अपनी इन रचनाओं से राम-काव्य की परिपाटी को प्रगतिशील कर दिया और उसके साहित्य की भी न्यूनाधिक श्रीवृद्धि की।

जिस प्रकार कृष्ण-काव्य के कवियों ने कृष्ण की विविध लीलाओं को लेकर इस काल में स्वतंत्र रचनायें खंड काव्यों के रूपों में की हैं उसी प्रकार राम-काव्य के कवियों ने भी किया है। इनमें से कई ने वीर पुरुष-स्तवन या वीर देव-स्तवन-काव्य श्री हनुमान जी की स्तुति करते हुए लिखा है।

इन कवियों में भी दो मुख्य श्रेणियाँ हैं, कुछ लोगों ने तो संस्कृत के रामायण (वाल्मीकीय) और अध्यात्मादि का अनुवाद किया है, कुछ ने इनके आधार पर स्वतंत्र रूप से रचनायें की हैं और कुछ ने मूल कथा लेकर भिन्न २ छंदों में उसे संक्षिप्त रूप देकर छोटी २ पुस्तकें लिखी हैं।

राम-काव्य पर यद्यपि रचनायें बहुत हुई हैं पर उनमें से बहुत ही कम ऐसी हैं जिनमें साहित्यिक पुट पर्याप्त रूप में पाई जाती हो। अतः हम यहाँ केवल प्रधान २ कवियों का सूक्ष्म विवेचन देकर आगे चलते हैं।

महाराज विश्वनाथसिंह—रीवाँ-राज के प्रसिद्ध नरेश थे, सं० १७७८ से १७६७ तक इन्होंने राज्य किया। ये परम भक्त, विद्यानुरागी, कुशल कवि और विद्वानों के उदार आश्रयदाता थे। विद्वानों ने प्रसन्न हो कर बहुत से ग्रंथ इनके ही नाम से

रच दिये हैं, तो भी इनकी रची हुई पुस्तकें इनकी प्रतिभा को प्रकाशित करने के लिये पर्याप्त हैं। इनकी भक्ति श्रीरामचन्द्र में ही विशेष थी। इनकी प्रतिभा बहुन्मुखी थी, इसी से इन्होंने कितने ही विषयों पर सुरचनायें की हैं। कबीर साहब तथा उनके मत पर भी इनकी बड़ी आस्था थी। इनके सुपुत्र राजा रघुराजसिंह हिन्दी के परम प्रसिद्ध कवि हैं।

आलोचना—इन्होंने कई रचना-शैलियों से रचनायें की हैं, मुख्यतया इन्होंने कबीर, जायसी, तुलसीदास तथा कुछ कृष्ण-काव्य की शैलियों का विशेष उपयोग किया है। इनकी उत्तम साहित्यिक रचना राम-काव्य विषयक है। भजन और अष्टक शैली में भी इन्होंने थोड़ी २ पुस्तकें रचीं। नीति-काव्य, नाटक तथा टीका-रचना भी की हैं। व्रजभाषा में स्वतंत्र तथा मौलिक नाटक इन्हीं का सर्वाङ्ग पूर्ण माना गया है और भारतेन्दु बाबू ने इनके "आनंद रघुनंदन नाटक" को हिन्दी का प्रथम साहित्यिक स्वतंत्र नाटक माना है। बीजक और विनय पत्रिका की टीकायें भी इनकी अच्छी हैं। संत कवियों और कबीर का अनुकरण करते हुए इन्होंने साखी, रमैनी, शब्द आदि को भी रचना की है। जायसी का अनुकरण करते हुए अखरावट के समान इन्होंने "ककहरा" (क आदि वर्णों को लेकर उन पर उपदेश-ज्ञान पूर्ण बातें कहना) लिखा। संगीतात्मक रचनायें भी इन्होंने की हैं।

इनकी रचना विशेषतया वर्णनात्मक तथा उपदेशात्मक ही है। भाषा इनकी साधारण और स्पष्ट है, उसमें व्रजभाषा का प्राधान्य है, हाँ अवधी की भी पुट पाई जाती है।

जनकराजकिशोरीशरण—ये अयोध्या के एक वैरागी थे, इनकी पूरी जीवनी ज्ञात नहीं, सं० १७९७ में ये वहाँ थे। संस्कृत और हिन्दी दोनों में इन्होंने रचनायें कीं। भक्ति, ज्ञान

और रामचरित का इनकी रचना में प्राचुर्य-प्राधान्य है। राम-सीता के शृङ्गार और ऋतु-विहार आदि के वर्णन बहुत हैं। हिन्दी की रचनायें साधारणतया अच्छी हैं। भाषा इनकी पूर्णतया अवधी न होकर (जैसा होना चाहिये था) व्रजभाषा-प्रधान ही है।

भगवंतरायखीची—असोथर (ज़िला फतेहपुर) के ये एक काव्य-प्रेमी उदार राजा थे। इनके यहाँ कवियों का बड़ा सम्मान होता था। "सरोज" में इनकी रची हुई सातो कांड रामायण (कवित्त-शैली में) का उल्लेख है; परन्तु यह ग्रंथ प्राप्त नहीं होता। हनुमान जी की प्रशंसा में इनके ५० कवित्त मिले हैं और खोज में "हनुमत पचीसी" (सं० १८१७) भी प्राप्त हुई है। रचना इनकी ओजस्विनी और उत्कृष्ट है। इससे ज्ञात होता है कि ये अच्छे कवि थे। पदावली प्रौढ़, अलंकृत और परिपक्व है, भाषा सुव्यवस्थित, फड़कती हुई और परिमार्जित व्रजभाषा है।

मधुसूदनदास—ये माथुर चौबे थे। इन्होंने सं० १८३९ में गोबिन्ददास के अनुरोध से "रामाश्वमेध" नामी एक विशद प्रबंध-काव्य रचा। यह ग्रंथ पद्मपुराण की कथा के ही आधार पर रचा गया है और इसमें रामचंद्र के अश्वमेध यज्ञ का सांगोपांग वर्णन है। रामायण का इसे परिशिष्ट कहना असंगत न होगा।

आलोचना—रामायण की शैली का अच्छा अनुकरण किया गया है, वर्णन इसमें रोचक, विशद और प्रौढ़ है। दोहों-चौपाइयों की प्रधानता है, हाँ बीच २ में गीतिका आदि छंदों का उसी प्रकार उपयोग किया गया है जैसा रामचरित मानस में। रचना बहुत कुछ गो० तुलसी की रचना से मिल जाती है कहीं २ भाषा-मर्मज्ञ थोड़ा दोष सा भी देख सकते हैं, अवधी भाषा की पूरी प्रधानता है। प्रबन्ध-रचना-कौशल उच्च कोटि का है। जहाँ

साधारण भाषा स्फुटित की गई है, वहाँ तो कुछ ऊनता आ गई है, नहीं तो भाषा सर्वत्र प्रौढ़, परिमार्जित और सुव्यवस्थित साहित्यिक रूप में ही है। पद-विन्यास में सौष्ठव, मैत्री और सुव्यवस्था है। लालित्य तथा प्रसाद गुण भी अच्छे रूप में पाये जाते हैं। शब्दावली भी सुन्दर, सुसंगठित और भावोपयुक्त है। अलंकारादि का भी अच्छा प्रयोग पाया जाता है।

मनियारसिंह—ये काशी-निवासी क्षत्रिय थे, इनकी जीवनी अज्ञात है। इन्होंने देव-पक्ष की रचनायें की हैं—"महिम्न भाषा (संस्कृत के आधार पर) सौंदर्यलहरी (देवी की स्तुति सम्बन्धी रचना) हनुमत छबीसी (पचीसी के आधार पर २६ छंदों की रचना की एक नई पद्धति में) सुन्दर कांड (रामायण के आधार पर) नामी रचनायें इनकी मिलती हैं। भाषा इनकी साधारणतया अच्छी है। पदावली सानुप्रासिक, परिमार्जित और ओजपूर्ण है, कहीं तो इन्होंने अपना पूरा नाम और कहीं केवल "यार" ही रक्खा है।

गणेशकवि—ये गुलाब कवि के सुपुत्र थे और काशी-नरेश श्री उदितनारायणसिंह के यहाँ रहा करते थे। इन्होंने वाल्मीकीय रामायण के कुछ हिस्सों (बालकांड सम्पूर्ण और किष्किंधाकांड के ५ अध्यायों) का पद्यानुवाद "वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश" नाम से सं० १८५७ के आस-पास में किया। रचना इनकी सुन्दर, सरस और प्रौढ़ है, पदावली परिमार्जित, समलंकृत और सुसम्बद्ध है। भाषा सुव्यवस्थित, संयत और स्पष्ट ब्रजभाषा है।

ललकदास—ये लखनऊ के रहने वाले महंत जान पड़ते हैं। इन पर बेनी कवि ने कई फबते हुए भँडौवे रचे थे। सं० १८६० और १८८० में ये अपने शिष्यों के साथ घूमते-फिरते थे। इन्होंने "सत्योपाख्यान" नामी एक खंड-काव्य विस्तार से

लिखा, जिसमें रामचन्द्र जी के जन्म से विवाह तक की कथा विशद रूप से कही गई है। इसे कथा-काव्य न कह कर केवल वर्णनात्मक काव्य ही कहना चाहिये, ऐसा ही उद्देश्य भी जान पड़ता है, क्योंकि इसमें जन्म-बधाई, बाललीला, होली, जल-क्रीड़ा, झूला, विवाहोत्सव आदि का वर्णन बड़े विस्तार-ब्योरे के साथ किया गया है। सम्भवतः कृष्णकाव्य के वर्णनात्मक भक्त कवियों से प्रभावित होकर ही उनका अनुकरण कवि ने किया है। महाराज रघुराजसिंह ने भी ऐसा किया है। यह प्रबंध-काव्य की दोहे-चौपाई वाली रचना-शैली में लिखा गया है। भाव संस्कृत और हिन्दी दोनों के कवियों से लिये गये हैं, अतः इसमें मौलिकता का एक प्रकार से अभाव ही है। रचना साधारणतया अच्छी है। भाषा में अवधी की ही प्रधानता जान पड़ती है।

नवलसिंह (कायस्थ)—ये झाँसी के निवासी थे और समथर-नरेश श्री हिन्दूपति के आश्रय में रहते थे। इन्होंने भिन्न भिन्न शैलियों से भिन्न भिन्न विषयों पर कई पुस्तकें रचीं, जिन में से बहुत सी तो बहुत ही छोटी छोटी हैं, विशेष प्रधानता इन्होंने राम-काव्य-विषयक रचना को दी है, जिसमें भक्ति और ज्ञान की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इनकी जीवनी तथा रचनाओं के सम्बन्ध में विशेष नहीं कहा जा सकता क्योंकि विशेष ज्ञात ही नहीं हो सका। खोज से इनकी जो रचना मिली है वह प्रौढ़ और सुन्दर जँचती है। इनका रचना-काल सं० १८७३ से १९२६ के आस-पास तक माना जा सकता है। इन्होंने कृष्ण-काव्य सम्बन्धी "रासपंचाध्यायी" भी लिखा, आल्हारामायण (एक नवीन शैली की रचना) अध्यात्मरामायण (अनुवाद) रूपक रामायण, सीतास्वयंवर, रामविवाहखंड, मिथिलाखंड (खंड-काव्य सम्बन्धी) आदि कई पुस्तकें इन्होंने बनाई हैं।

गिरिधरदास—हिन्दी संसार के प्रसिद्ध महाकवि भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र के ये पिता और काशी के रईस कवि थे। इनका असली नाम बा० गोपालचंद्र था, गिरिधर, गिरिधारन और उक्त नाम तो इनकी रचनाओं में उपनामों के ही रूप में मिलते हैं।

इनका जन्म पौष-कृष्ण १५ सं० १८९० में हुआ। इनके पिता बा० हर्षचन्द्र काशी के प्रसिद्ध रईस थे। इन्हें ११ वर्ष का ही छोड़ कर इनके पिता मर गये। इन्होंने अपने आप से संस्कृत और हिन्दी में प्रौढ़ योग्यता प्राप्त की और एक बहुत मूल्यवान तथा विशाल पुस्तकालय "सरस्वती-भवन" के नाम से अपने यहाँ तैयार किया। इनका समय कवियों और विद्वानों की मंडली और काव्य-चर्चा में ही बीता करता था।

इनकी ४० पुस्तकों का उल्लेख भारतेन्दु बाबू ने किया है, किन्तु उनके दौहित्र बा० ब्रजरत्नदास ने १८ स्वावलोकित पुस्तकों की सूची दी है।

इन रचनाओं से इनकी प्रतिभा बहुन्मुखी और प्रौढ़ प्रतीत होती है। भिन्न भिन्न शैलियों से इन्होंने भिन्न विषयों पर उत्तम रचनायें की हैं। कृष्ण और राम सम्बन्धी कथा-काव्य, मुक्तक, प्रबन्धात्मक, वर्णनात्मक रीति ग्रंथ, भक्ति-सम्बन्धो, पद्य-अनुवाद, यात्रा, स्तोत्र, नीतिकाव्य आदि मुख्य विषयों की रचनायें सुन्दर हैं। कवित्त, सवैये, दोहा-चौपाई आदि कई शैलियों का उपयोग सफलता के साथ इन्होंने किया है।

गर्गसंहिता आदि भक्तिमार्ग की रचनायें तो साधारण, सरल और सरस भाषा तथा शैली (छंदादि) में की गई हैं और जरासंध-वध महाकाव्य (जो अपूर्ण और ११ सर्गों तक ही है) आदि काव्य-कला के ग्रंथों की रचनायें काव्य-कौशल, चातुर्य-चमत्कार और भाषा-सौष्ठव के साथ, सानुप्रासिक शैली से की गई हैं।

अतः इनकी रचनाओं में कला-पक्ष की प्रधानता विशेष रूप से पाई जाती है। भाषा सर्वथा साहित्यिक व्रजभाषा है। पदावली परमोत्कृष्ट, भावोचित, व्यंजना पूर्ण, सुसंगठित और सुव्यवस्थित है। शब्द-संचयन मैत्रीपूर्ण, सुन्दर और परिमार्जित है। रसात्मिकता का समावेश कम पाया जाता है।

जरासंधवध महाकाव्य, भारतीभूषण (अलंकार-ग्रंथ) भाषा व्याकरण (पिंगल-ग्रंथ) रसरत्नाकर (रसग्रंथ) मत्स्य, बाराह, नृसिंह, बावन, परशुराम, राम, बलराम (कृष्णचरित ४७०१ पदों में), बुद्ध, कल्कि नामी अवतारों की कथायें, गर्गसंहिता (कृष्णचरित-काव्य), वाल्मीकीय रामायण (सातो कांड का पद्यानुवाद), छंदार्णव, नीति, अद्भुत रामायण और नहुष नाटक मुख्य रचनायें हैं।

इनके अतिरिक्त ग्रीष्मवर्णन, लक्ष्मीनखशिख, ककारादि, सहस्रनाम, गयायात्रा, गया, संकर्षण, राम, कालिका-स्तवन-सम्बन्धी अष्टक (आठ छंदों की रचनायें), दनुजयी, शिव, गोपाल, भगवत, श्रीराम, श्रीराधा-स्तवन-सम्बन्धी स्तोत्र, वार्ता संस्कृत, द्वादशकमल और कीर्तन आदि स्फुट और छोटी छोटी रचनायें हैं। संस्कृत में स्तोत्रों का बाहुल्य है, उन्हीं का अनुकरण करते हुए इन्होंने उक्त स्तोत्र प्रायः सभी प्रधान देवताओं एवं अवतारों पर लिखे हैं। इतने स्तोत्र कदाचित् हिन्दी के और किसी भी कवि ने नहीं लिखे। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि इस समय में प्रायः सभी मुख्य देवताओं (अवतारों) तथा देवियों की उपासना ख़ूब ज़ोर से देश में प्रचलित हो गई थी। कवि लोग भी भिन्न २ देवी-देवताओं की बन्दना-सम्बन्धी रचनायें किया करते थे। प्रमुख अवतारों की कथायें भी इन्होंने पुराणों के आधार पर लिखीं, यह भी अन्य किसी कवि ने नहीं किया। इन्होंने हिन्दी में महाकाव्य लिखने का प्रयत्न किया और

एक सुन्दर नाटक लिखकर नाटक-रचना का मार्ग प्रदर्शित किया, जिसकी इनके सुपुत्र भारतेन्दु बाबू ने बड़े श्रम से श्रीवृद्धि की।

२७ वर्ष की ही अवस्था में ये इतनी रचनायें कर चुके थे, इसी से इनकी प्रतिभा, पटुता और उत्साह पूर्ण साहित्य-सेवा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

नीति और स्फुट काव्य

इस काल में नीति-सम्बन्धी रचनायें भी ख़ूब हुईं। कई कवियों ने दोहा (सतसई) वाली शैली से नीति-सम्बन्धी बातें उक्ति-वैलक्षण्य और वाग्वैचित्र्य के साथ चमत्कार-चातुर्य सूचक कला-कौशल की पुट देते हुए कही हैं। इनमें कविता का प्राण (रस—"रसात्मकं वाक्यम् काव्यम् के अनुसार) नहीं, काव्य-कला के कौशल से इनका कलेवर अवश्य ही सुन्दरता से रचा गया है। हाँ कहीं २ तथ्यकथन के साथ मार्मिक अनुभूति की भी व्यंजना अच्छी पाई जाती है। इस प्रकार के कवियों को हम "चमत्कारवादी सूक्तिकार" कह सकते हैं।*

नीति काव्य की दोहात्मक शैली रहीम आदि के समय से

---

*केवल कुछ सहृदय कवियों को ही छोड कर, जो अपनी कल्पना एवं प्रतिभा से अन्योक्ति आदि के द्वारा लौकिक पक्ष से अलौकिक की ओर जाते हुए भगवत्भक्ति, प्रेम, संसार से विरक्ति आदि का चित्रण करते हैं शेष लोग बोधवृत्ति को ही जागृत करने का प्रयत्न करते हुए कल्पना-भावनादि-रहित केवल तथ्य-कथन ही को उद्देश्य-रूप में रख कर कुछ स्वल्प चमत्कार-चातुर्य या वाग्वैचित्र्य के साथ (जो उनकी बात को स्पष्ट रूप से हृदयंगम करने में सहायक हो) रचनायें करते हैं। इनका लक्ष्य उपदेश देते हुए तथ्य-कथन के द्वारा बोधवृत्ति को ही जगाना रहता है, मनोवृत्ति को ये उत्तेजित तथा इसके उद्रेक कराने का प्रयत्न नहीं करते।

चली आ रही थी, इस काल में भी वही शैली रही, साथ ही कुछ कविवरों ने इस काव्य के क्षेत्र में कुंडलिया-शैली का नवीन पद्धति का संचार-प्रचार कर दिया। अस्तु इन प्रधान शैलियों में नीति-काव्य की रचनायें होने लगीं।

जहाँ तक हम समझते हैं नीति-काव्य की आवश्यकता देश को इसलिये पड़ने लगी, चूँकि मुसलमानों के राज्य में लोगों को राज्य से इस विषय की न तो शिक्षा ही मिलती थी और न लोगों को सुपथ पर चलाने के लिये कोई सर्वसाधारण, सर्वमान्य या व्यापक व्यवस्था ही बनाई गई थी और उसके आधार पर न कोई विधान ही जनता के सन्मुख रक्खा गया था। मुसलमानों की नीति हिन्दुओं के लिये उपयुक्त तथा मान्य न थी, अतएव हिन्दू-जनता अपने नीति-विधान का मार्ग स्वतंत्र रूप से रखने के लिये वाध्य थी। गाँवों में पंचायत-पद्धति चल रही थी और गाँव के पंच लोग नीति के अनुसार जनता को व्यवहारोचित पथ दिखलाते थे। यही विशेष कारण था कि जनता को नीति की आवश्यकता पड़ी। नीति-ग्रंथ संस्कृत भाषा में थे, उनके ही आधार पर कुछ न्यूनाधिक परिवर्तन-परिशोधन के साथ नीति-काव्य की रचना हो चली।

चूँकि जनता बहुत समय से ही राजनीति से सर्वथा पृथक् और परे रहती चली आई थी, केवल अपने क्षत्रिय-राजाओं के ही लिये उसे उसने छोड़ दिया था, इसीलिये उसे केवल सामाजिक तथा लौकिक व्यावहारिक नीति की आवश्यकता थी, अतएव इसी नीति की रचनायें विशेष प्राचुर्य के साथ हुईं। राजनीति की रचनायें प्रथम तो हुईं ही नहीं और यदि किसी ने कुछ प्रयत्न भी किया तो बहुत ही स्वल्प और असफलता से।

नीति-काव्य की उक्त दो रचना-शैलियों के प्रधान कवि वृंद, और गिरिधर कवि हुए हैं। इस व्यावहारिक नीति के अतिरिक्त

कुछ कवियों ने कृषि-सम्बन्धी बातों को भी लेकर इसी काव्य का अनुकरण करते हुए एक कृषि-नीति-काव्य भी रचा है, घाघ ऐसे कवियों में प्रधान हैं।

वृन्द कवि—ये मेडता (जोधपुर) के निवासी और कृष्ण गढ़-नरेश राजा राजसिंह के गुरु थे। इनके वंश वाले अब तक वहीं रहते हैं। सं० १७६१ में इन्होंने "वृन्द सतसई" नाम की एक सुन्दर नीति-सम्बन्धी रचना दोहों में की।

इनकी शैली रहीम और तुलसी की शैली के समान है। भाषा साधारण, सरल और स्पष्ट है, इस प्रकार की रचना के लिये इसी प्रकार की चलती हुई भाषा सर्वथोचित होती है क्योंकि इस प्रकार की रचना साधारण जनता के ही उपयोग के लिये की जाती है।

वृन्द की भाषा, स्वच्छ और सुव्यवस्थित है। वाक्य-विन्यास सरल और सुबोध है। उपमा, उदाहरण, दृष्टान्त आदि उपयुक्तोपयोगी अलंकारों का ही प्रयोग किया गया है, शब्दालंकार तो हैं ही नहीं और यदि कहीं कुछ हैं भी तो बहुत ही सूक्ष्म और साधारण या स्वाभाविक रूप में ही। यहाँ कलापक्ष प्रधान नहीं, तथ्य-कथन ही प्रधान है। कहीं २ स्वानुभूति की व्यंजना का भी आभास मिलता है। उक्ति-वैचित्र्य इतना सुन्दर और चमत्कार-पूर्ण नहीं जितना रहीम में है। रचना उपयुक्तोपादेय और साधारणतया अच्छी है।

खोज में "शृङ्गार शिक्षा (सं० १७४८) और भाव पंचाशिका" नामी इनकी दो रसविषयक पुस्तकें और प्राप्त हुई हैं।

बैताल कवि—ये बंदीजन थे और राजा विक्रम साहि के दरबार में रहते थे। यदि ये राजा चरखारी-नरेश 'विक्रम सतसई' आदि के रचयिता तथा ख़ुमान आदि में आश्रयदाता हैं तो इनका समय सं० १८३९ और १८८६ के मध्य में है, किन्तु सरोज में

इनका जन्म-सं० १७३४ दिया हुआ है, अतः यह विषय निश्चित नहीं रह जाता।

इन्होंने गिरिधर कविराय के समान कुंडलिया-शैली में लोक-नीति के काव्य की सुन्दर रचना की है। विक्रम जी को प्रत्येक छंद में सम्बोधित किया गया है।

भाषा इनकी भी साधारण, सुबोध, स्पष्ट और व्यावहारिक है। हाँ उसमें सबलता तथा प्रभावोत्पादकता अवश्य है, अन्योक्ति तथा दृष्टान्तादि साधारण तथा विषयोचित अलंकारों का कहीं २ उपयोग किया गया है। पदावली सीधी-सादी और सरल है। तथ्य-कथन ही यहाँ प्रधान है, उक्ति-वैचित्र्य नहीं। कहीं २ बात कहने के ढंग में अनूठापन भी झलकता है।

इनकी कुंडलिया छंद वैसी नहीं जैसी गिरिधर की है। इनमें प्रथम दोहे के चतुर्थ पद की पुनरावृत्ति तथा पंचम चरण में कवि नाम या उपनाम भी नहीं पाया जाता। अतः यह विशेषता अवलोकनीय है। आदि के शब्द की भी आवृत्ति अन्त में नहीं पाई जाती।

गिरिधर कविराय—ये कदाचित् भाट थे, इनकी जीवनी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। सरोज में इनका जन्म-सं० १७७० लिखा है, अतः इनके रचना-काल का १८०० के पश्चात् ही अनुमान किया जाता है। नीति-विषयक कुंडलियों में जितनी ख्याति इनको प्राप्त हुई है उतनी और किसी भी कवि को नहीं हुई। इनकी कुंडलियाँ इतनी प्रचलित और व्यापक हैं कि प्रायः पढ़े और बेपढ़े सभी को दो चार कुंडलियाँ या उनके चरण याद हैं। इसका कारण इनकी साधारण शैली, सीधी-सादी भाषा और अनुभूत तथ्य-कथन है।

भाषा इनकी साफ़-सुथरी, सुव्यवस्थित और चलती हुई है। सरलता के साथ उसमें स्पष्टता और धारावाहिकता भी है। भाव

सीधे-सादे, अनुभवगम्य, उपयोगी और व्यापक हैं। इनमें स्वाभाविकता तथा तथ्यता है। वाक्य-विन्यास भी सरल और सुव्यवस्थित है। पदावली में अनुप्रास-यमकादि-सम्बन्धी कला-कौशल का कलापूर्ण अभाव ही है (artful avoidence of art) वाग्वैचित्र्य, चमत्कार-चातुर्य तथा अलंकार-कौशल भी नहीं, केवल बात को पुष्ट करने वाले दृष्टान्त तथा अन्योक्ति आदि कुछ थोड़े ही से अलंकार कहीं कहीं पाये जाते हैं। अतएव ये स्पष्टवक्ता पद्यकार ही कहे जा सकते हैं।

इन्होंने लोक-व्यवहार सम्बन्धी और गार्हस्थ्य-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली उपयोगी बातों को प्रधानता दी है, अतः रचना में उपयोगिता की पूरी मात्रा आ गई है।

इन्होंने कुंडलिया का वह शुद्ध रूप रक्खा है, जिसमें दोहे के चतुर्थ पद की आवृत्ति और पंचम चरण में कवि नाम अवश्य रहता है तथा आदि के शब्द का प्रयोग फिर अंत में होता है।

गिरिधर की स्त्री भी कुंडलिया लिखने में ख़ूब अभ्यस्त थीं, इन्होंने भी गिरिधर जी के ही नाम से "साईं शब्द आदि में रखते हुए (जिसी से इनकी रचना इनके द्वारा होने की सूचना मिलती है) बहुत सी सुन्दर कुंडलियाँ लिखी हैं और गिरिधर की कुंडलियों से मिला दिया है।

सम्मन—ये सं० १८३४ में मल्लावाँ (हरदोई प्रान्त) में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए। इन्होंने भी वृन्द कवि के समान नीति के दोहे लिखे, जो बहुत प्रचलित हैं। स्त्री पुरुष सभी इनको याद करते हैं, इनके कथन में मार्मिकता और सबलता भी है। भाषा सीधी-सादी और सुबोध है। अलंकारों का प्रयोग (विशेषतया शब्दालंकारों का) शून्य ही सा पाया जाता है, तथ्य-कथन की स्पष्टता ही प्रधान है। इनका रचना-काल सं० १८६० से १८८० तक माना गया है। दोहे में भी ये अपना नाम रखते थे।

"पिंगल-काव्य भूषण" नामी एक रीति-ग्रंथ भी इन्होंने रचा, किन्तु वह प्रसिद्ध तथा प्रचलित न हो सका।

दीनदयाल गिरि—पाठक-वंश में इनका जन्म शुक्रवार वसंत पंचमी सं० १८४६ में काशी के गयाघाट मुहल्ले में हुआ। ५ या ६ वर्ष के ही ये थे कि इनके माता-पिता इन्हें महन्त कुशा-गिरि को सौंप कर चल बसे। ये उन्हीं के साथ रहे और संस्कृत तथा हिन्दी में सुयोग्य कवि हो गये। बाबू गोपालचन्द्र (भारतेन्दु बाबू के पिता) से इनकी मैत्री थी। भावुकता और सहृदयता इनमें ख़ूब थी। सं० १९१२ में इन्होंने कुंडलिया-शैली में "अन्योक्ति कल्पद्रुम" नामी एक सुन्दर ग्रंथ, जो अपने ढङ्ग का हिन्दी-साहित्य में अकेला ही ग्रंथ माना जाता है, बनाया, जिसमें अन्योक्ति-अलंकार के द्वारा लोक-नीति, ज्ञान तथा भक्ति-वैराग्य आदि की बातें बड़ी मार्मिकता, व्यंजकता और कला-कुशलता के ही साथ कही गई हैं। इनकी रचना में भावुकतामय हृदय-पक्ष और कला-पक्ष दोनों का समावेश पाया जाता है, किन्तु दोनों का सम्मिश्रण नहीं है। यथावश्यकता ही कला-कौशल को स्थान दिया गया है, हाँ भाव-व्यंजकता सर्वत्र ही है।

भाषा पर इनको अच्छा अधिकार प्राप्त था। इनकी भाषा सर्वथा प्रौढ़, परिपक्क, सुव्यवस्थित और स्पष्ट है। जहाँ काव्य-कला का प्राधान्य है, वहाँ वह गंभीरता, गूढ़ता तथा सजावट की ओर झुक जाती है। उसमें अलंकृत या सानुप्रासिक सुसंगठित पदावली अर्थालंकारों के चातुर्य-चमत्कार के साथ पाई जाती है। जहाँ भाव-पक्ष प्रधान है और तथ्य-कथन मात्र है वहाँ भाषा साधारण, स्वच्छ और सुबोध है। कहीं कहीं भाषा पूर्वीय हिन्दी से भी प्रभावित हुई मिलती है और कहीं कहीं व्याकरण की भी कुछ त्रुटियाँ तथा असम्बद्धता सी मिलती हैं।

यमक, श्लेष, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, उत्प्रेक्षा आदि के

कठिन और कला-कौशल-सूचक चमत्कार भी इनमें पाये जाते हैं। भाव तो प्रायः संस्कृत के ग्रंथों से ही लिये गये हैं किन्तु वे मौलिक ढङ्ग से ढाले जाकर नवीन व स्वतंत्र रूप में रक्खे गये हैं।

इनकी अन्य रचनायें हैं १—अनुरागबाग, जिसमें श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का कवित्त-शैली में सरस वर्णन है और जो लीला-काव्य का एक सुन्दर ग्रन्थ है सं० १८८८ में रचा गया, २—वैराग्य-दिनेश (सं० १९०६) एक प्रौढ़ और कला-पूर्ण काव्य है, इसमें एक ओर तो ऋतुओं की प्राकृतिक छटा का चित्रण किया गया है और दूसरी ओर ज्ञान और वैराग्य की मार्मिक बातें कही गई हैं, यह श्री गोस्वामी जी के मानसान्तर्गत वर्षा और शरद् के वर्णन का अनुकरण सा ही है। ३—दृष्टान्त-तरंगिणी (सं० १८५९) नीति-काव्य का दोहा-शैली में (वृन्द्र सतसई के समान) एक सुन्दर पुस्तक है। ४—विश्वनाथ-नवरत्न एक स्तोत्र सा है, उसमें विश्वनाथ महादेव की स्तुति की गई है।

इस प्रकार इनका रचना-काल सं० १८७९ से १९१२ तक माना जा सकता है।

स्फुट काव्य—इस प्रसंग में केवल यही कहा जा सकता है कि इस काल में कुछ कवि ऐसे भी हुए जो प्रेमी (प्रेम के पुजारी) और परम भावुक थे, उन्होंने प्रेमात्मक शृंगार पर स्फुट (मुक्तक शैली से) रचनायें की हैं, न तो कोई विशेष ग्रंथ ही उन्होंने रचा और न किसी शैली को उठा कर काव्य ही किया। रस पूर्ण सुन्दर प्रेम की मर्मस्पर्शिनी व्यंजना के साथ मधुर, मंजुल और मृदुल भाषा में रस उन्होंने प्रेम की पीर का गंभीर चित्रण ललित कवित्त-सवैयों में किया है।

इसी प्रकार कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने दोहावाली सतसई शैली से रचनायें की हैं और इस प्रकार मुक्तक शृंगार

काव्य की वृद्धि की है, यहाँ सूक्ष्म रूप से हम उनमें से प्रधान २ कवियों का परिचय दे रहे हैं।

१—**बनवारी**—ये सं० १६६० से १७०० के बीच में थे, इन्होंने महाराज जसवंतसिंह के बड़े भाई अमरसिंह की प्रशंसा की है और शृंगार रस की मुक्तक कविता लिखी है। रचना सुन्दर और चमत्कृत जान पड़ती है। यमक को ये विशेष प्रधानता देते है। भाषा भी साधारणतया सुन्दर, सरल और स्पष्ट है।

२—**गोविन्दसिंह**—इनके जन्म और देहान्त के सम्वत १७२३ और १७६५ हैं। ये सिक्ख सम्प्रदाय के महापराक्रमी दसवें या अंतिम गुरु हैं। इन्होंने कई शिष्यों को व्याकरण, दर्शन और साहित्यादि का अध्ययन करने के लिये काशी भेजा और हिन्दू धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता की रक्षा के लिये कई युद्ध करते हुए सब प्रकार पूर्ण और सफल प्रयत्न किया। तिलक और जनेऊ की महत्ता प्राणों से भी अधिक दिखलाई। सांप्रदायिक निर्गुण-उपासना के साथ ये सगुण-उपासना को भी बहुत मानते थे।

१—सुनीति प्रकाश, २—प्रेमसुमार्ग, ३—बुद्धि सागर, ४—सर्व मोह प्रकाश तथा ५—चंडी-चरित्र आदि कई अच्छी पुस्तकें इन्होंने लिखीं। भाषा इनकी प्रौढ़ और साहित्यिक व्रजभाषा है। पदावली ओजस्विनी और अलंकृत है। चंडी-चरित्र इनकी विशेष सराहनीय रचना है। इसमें दुर्गासप्तशती की कथा बड़ी रोचकता से लिखी गई है।

३—**रसनिधि**—ये दतिया के ज़मींदार पृथ्वीसिंह थे। सं० १९१७ में ये विद्यमान थे। विहारी की सतसई का अनुकरण करते हुए इन्होंने "रतनहज़ारा" नामी शृङ्गार रस के दोहों का एक सुन्दर ग्रंथ बनाया। इनके स्फुट दोहों का भी संग्रह हो

गया है। खोज में अरिल्ल और माझी नामी पुस्तकें और मिली हैं।

हज़ारा में कहीं २ विहारी के भाव और वाक्य भी इन्होंने रख लिये हैं। फ़ारसी के भाव और आशिकी शायरी के शब्द भी इन्होंने लिखे हैं, कहीं २ तो ऐसा करने से साहित्यिक शिष्टता और सुरुचि को भी धक्का पहुँचा है। साधारणतया भाषा और रचना सुन्दर है।

४—**बोधा**—राजापुर, प्रान्त बाँदा के निवासी सरयूपारी ब्राह्मण थे। इनका नाम बुद्धिसेन था, बालकाल में ही ये अपने संबंधियों के साथ, जिनका वहाँ बड़ा मान-सम्मान था, पन्ना चले गये। पन्ना-नरेश इन्हें प्यार से बोधा कहने लगे, बस तभी से इनका यही नाम विख्यात हो गया।

हिन्दी के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत और फ़ारसी का भी ज्ञान था। सरोज में इनका जन्म-सं० १८०४ लिखा है। इनका रचनाकाल सं० १८३० से १८६० तक कहा जाता है।

आलोचना—इनकी रचना से स्पष्ट हो जाता है कि ये बड़े ही प्रेमी और रसिया थे। दरबार की सुभान या सुबहान नामी एक वेश्या से इनका अनुराग हो गया, इस पर इन्हें ६ मास के लिये देश-त्याग का दंड मिला, इसी समय में इन्होंने "विरह-वारीश" नामी एक विप्रलंभ शृङ्गार की सुन्दर पुस्तक लिखी और वापस आकर उसके कुछ छंद महाराज को सुनाये, महाराज ने प्रसन्न हो इनसे माँगने को कहा। इन्होंने "सुभान अल्लाह" कहा और सुभान इन्हें मिल गई। "इश्क़नामा" नामी इनकी एक दूसरी पुस्तक भी प्रेम पूर्ण और सुन्दर रचना है।

इन्होंने केवल प्रेमोन्मत्त होकर मुक्तक कविता ही लिखी है। इनकी रचना में "प्रेम का पीर" का बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी व्यंजना

के साथ चित्रण पाया जाता है। प्रेम का बड़ा ही सुन्दर और सरस निरूपण मिलता है।

भाषा इनकी साधारण या चलती हुई तथा बामुहाविरा है, सरसता और स्पष्टता उसकी प्रत्येक पंक्ति में भरी हुई है। कहीं २ फ़ारसी के पद भी इसमें मिलते हैं किन्तु उपयुक्त तथा उचित रूप से। पदावली सरस, कोमल और ललित है। वाक्य-विन्यास, सुव्यवस्थित, भाव-पूर्ण और सुन्दर है। कहीं २ पूर्वीय हिन्दी तथा प्रान्तीय प्रयोग के भी रूप पाये जाते हैं।

५—रामचन्द्र—इनके विषय में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं, मनियारसिंह के "चाकर अखंडित श्री रामचन्द्र पंडित के" इस पद से ज्ञात होता है कि ये विद्वान पंडित और उनके गुरु थे। इस प्रकार इनका समय सं० १८४० के आस-पास ठहरता है। इनकी केवल "चरणचंद्रिका" नामी पुस्तक ही प्राप्त होती है। इसमें पार्वती जी के चरणों की प्रशंसा या स्तुति, शक्ति, सौंदर्य, शान्ति और विभूति के साथ अति रुचिर और अनोखे ढंग से की गई है। इससे ये देवी-उपासक या शाक्त ज्ञात होते हैं।

भाषा इनकी प्रौढ़, परिपक्व, गंभीर और लाक्षणिक है। पदावली सुन्दर, सरस और सानुप्रासिक है। कहीं २ कवित्त की पंक्तियाँ १५ और १६ की यति से भी हैं।

ठाकुर—साहित्य-क्षेत्र में इस नाम के ३ सुकवि हुए हैं, दो तो असनी (फतेहपुर) के ब्रह्मभट्ट थे, तीसरे बुंदेलखंड के कायस्थ थे। तीनों की रचनायें ऐसी समान हैं कि अन्तर का ज्ञात करना कठिन होता है। तीसरे ठाकुर की भाषा में बुंदेलखंडी कहावतें, मुहाविरों आदि की पुट होने से कुछ भेद स्पष्ट हो जाता है।

ठाकुर (प्रथम असनीवाले) सं० १७०० के आस-पास हुए, इनका हाल ज्ञात नहीं। कोई रचना भी इनकी नहीं मिलती।

चलती हुई, साफ़-सुथरी और स्पष्ट भाषा में कुछ प्रेम भरे साधारण कवित्त-सवैये मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ये उमंगी और रसिक कवि थे।

ठाकुर (द्वितीय असनीवाले) ऋषिनाथ कवि के सुपुत्र और और सेवक कवि के पिता थे। इनके पूर्वज देवकीनंदन गोरखपुर ज़िले के कुलीन ब्राह्मण पयासी के मिश्र थे। उन्होंने मझौली-नरेश के यहाँ विवाहोत्सव पर भाटों की तरह कविता-पाठ कर दान ले लिया, अतः जातिच्युत कर दिये गये, तब उन्होंने असनी के नरहरि भाट की कन्या से विवाह कर लिया और वहीं वे भाट होकर रहने लगे। अस्तु ठाकुर भी भाट ही कहलाये।

सं० १८६१ में अपने आश्रयदाता काशीराज के सम्बंधी देवकीनंदन जी रईस के नाम से "सतसई वरनार्थ" या देवकीनंदन टीका (विहारी सतसई पर) लिखी।

इनकी रचना भी प्रेम-पूर्ण, सरस और सुन्दर भाषा में स्फुट रूप से पाई जाती है।

ठाकुर (द्वितीय-कायस्थ) ये बुंदेलखंड के लाला ठाकुरदास हैं। इनके पूर्वज (पितामह खंगराय) काकोरी (लखनऊ) के मंसबदार थे। इनके पिता गुलाबराय ओरछा-नरेश के मुसाहब के यहाँ ब्याहे थे, वहीं वे किसी कारण से आ बसे। सं० १८२३ में वहीं ठाकुरदास का जन्म हुआ। ये अच्छे कवि निकले। जैतपुर और बिजावर के राज-दरबारों में इनका अच्छा मान था। ये, बुंदेलखंड की अन्य रियासतों में भी आया-जाया करते थे। बाँदे के गो० हिम्मत बहादुर के यहाँ भी ये रहे, वहाँ इनकी और पद्माकर की अच्छी नोंक-झोंक होती थी।

ये बड़े ही दिलेर, साहसी, निडर और स्पष्टवक्ता थे। इनका रचना-काल सं० १८५० से १८८० तक माना गया है। इनकी कोई विशेष पुस्तक नहीं मिलती, हाँ स्वर्गीय लाला भगवानदीन

जी ने इनकी रचनाओं का एक संग्रह "ठाकुरठसक" नाम से निकाला है।

ठाकुर के पुत्र दरियावसिंह और पौत्र शंकरप्रसाद भी कवि थे। ठाकुर की रचना में स्वाभाविकता, अनुभूति-संगत-भाव व्यंजना तथा हार्दिक उमंग का सच्चा अनुभव पाया जाता है। इससे इनकी उदारता, भावुकता तथा सहृदयता का परिचय प्राप्त होता है। इन्होंने प्रेम-निरूपण के साथ ही साथ लोक-व्यापार तथा व्यवहार के अनेक अंगों का चित्रण किया है, इसीसे इनके छंद लोक-प्रिय हुए हैं। ये रचना-स्वातंत्र्य के अनुयायी या पोषक थे।

भाषा इनकी सुव्यवस्थित, सर्वसाधारण, मुहावरेदार और स्पष्ट है। शब्दाडंबर और अनुप्रासादि सम्बन्धी कला-कौशल का कृत्रिम रूप तथा अलंकारादि की अरोचक कारीगरी उसमें नहीं। पदावली साफ-सुथरी और सुसंगठित होती हुई प्रचलित शैली की है। लोकोक्तियों का सुन्दर, उपयुक्त तथा भावोचित उपयोग ने उसकी स्वाभाविकता को और भी बढ़ा देता है। काव्य-शास्त्र की रूढ़ियों या रीतियों ही का अंधे की भाँति पालन करना इनकी दृष्टि में कवि-कर्म न था।

रामसहाय—चौबेपुर (बनारस) के निवासी लाला भवानीदास कायस्थ के सुपुत्र थे और काशी-नरेश उदितनारायणसिंह के आश्रय में रहते थे। इनका कविता-काल सं० १८६० से १८८० तक कहा जाता है। इन्होंने विहारी और जायसी दो महाकवियों का अनुकरण करते हुए "रामसतसई" और ककहरा (अखरावट के आधार पर) नामी पुस्तकों की रचना की।

रामसतसई में इन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई और यह प्रसिद्ध भी ख़ूब हुई। इसके दोहे बहुत कुछ विहारी के दोहों के समीप पहुँचते हैं। उनमें सरस उद्भावना अच्छी है, यद्यपि उनमें विहारी के समान हावों-भावों की मर्मस्पर्शिनी और

रुचिर व्यंजना का चारु चित्रण, चेष्टाओं और भावनाओं का सजीव तथा साकार रूप और भाषा का सौष्ठव नहीं पाया जाता। भाषा भी वैसी सुन्दर और सरस नहीं, उसमें उतनी कोमलता तथा स्पष्टता भी नहीं। लालित्य और माधुर्य गुण भी उतने प्रौढ़ नहीं। फिर भी यह सतसई अन्य ऐसी ही सतसइयों से कहीं बढ़कर है।

इसके अतिरिक्त १—वाणीभूषण (अलंकार का ग्रंथ) २—वृत्त तरंगिणी (सं० १८७३ में रची हुई पिंगल की पुस्तक) तथा ३—ककहरा नामी ३ पुस्तकें इनकी और हैं।

ककहरा में भी इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है, यद्यपि वैसी नहीं जैसी जायसी को अखरावट में मिली है।

कविवर पजनेस पन्ना के रहने वाले थे और वृत्तान्त इनका ज्ञात नहीं। इनका रचना-काल सं० १९०० के आस-पास कहा जाता है। इनके स्फुट कवित्त-सवैये भी मिलते हैं। ब्रज-भाषा के शृङ्गारी कवियों में इनको भी अच्छा स्थान दिया जाता है। सरोज में इनकी "मधुप्रिया" तथा नखशिख नामी दो पुस्तकों का उल्लेख किया गया है।

इनकी रचनाओं का एक संग्रह "पजनेस-प्रकाश" नाम से छप चुका है, जिसमें १२७ कवित्त-सवैये हैं।

आलोचना—इनकी भाषा प्रौढ़, सुव्यवस्थित तथा सानुप्रासिक या चमत्कार-चातुर्य-पूर्ण है। शब्द-कौशल इनका बहुत ही प्रिय जान पड़ता है। भाषा में कोमलता, मधुरता तथा सरसता कुछ न्यून मात्रा में ही है; क्योंकि इन्होंने प्रतिकूल वर्णत्व शब्द-शैली या वर्ण-मैत्री का ध्यान नहीं रक्खा और शृङ्गार रस की मधुर रचना में भी परुषा वृत्ति के टवर्गीय वर्ण कठोर और सामासिक पद रख दिये हैं। इन्होंने फ़ारसी के भी शब्द तथा पद या वाक्य रख दिये हैं। इनके अंग-वर्णन

वाले कवित्तों से इनके नखशिख लिखने का अनुमान होता है। कहीं २ भाषा कुछ भद्दी और अरोचक होती हुई कर्ण कटु सी भी हो गई है, तौ भी इनकी पदावली सुसंगठित और सुव्यवस्थित है, शब्द-संचयन अपने ढंग का अनूठा है, वाक्य-विन्यास भी संयत और प्रौढ़ है। सब बातों पर विचार करके हम इन्हें पद्माकर के समान अच्छा स्थान देते हैं।

द्विजदेव—ये अयोध्या-नरेश महाराज मानसिंह हैं। रचना इनकी पद्माकर के ही समान प्रसिद्ध और सुन्दर है। उसमें सरसता, सुन्दरता और मधुरता अच्छी है। इनका ऋतु-वर्णन बहुत ही मनोरंजक और फबीला है। शृङ्गार की मुक्तक-रचना करनेवाले कवियों में इनका स्थान ऊँचा है। इनके भतीजे भुवनेश जी (श्री त्रिलोकीनाथ, जिन्होंने अयोध्या-नरेश श्री ददुआ साहब से राज्य के लिये मुक़द्दमा लड़ा था) ने इनकी दो पुस्तकें—"शृङ्गार बत्तीसी" (३२ छंदों की एक नवीन रचना-शैली तथा "शृंगार लतिका" और बताई हैं।

इनकी भाषा शुद्ध, स्वच्छ और प्रौढ़ ब्रजभाषा है, अनुप्रासादि का उपयोग बहुत ही स्वाभाविक और संयत रूप में किया गया है। हार्दिक अनुभूति के साथ ही साथ स्वाभाविकता और मौलिकता का अच्छा निर्वाह किया गया है, हृदय-तत्व की प्रधानता से ऋतु-वर्णन सजीव तथा मर्मस्पर्शी हो गया है, सच्ची उमंग और साकार प्रकृति-चित्रण भी ख़ूब मिलता है।

मुसलमान कवि

इस काल में मुसलमान कवियों ने सुन्दर रचनायें की हैं, यद्यपि वे सब स्फुट रचनाओं के ही रूप में हैं। इधर की ओर उर्दू भाषा और उसके साहित्य की रचना का कार्य मुसलमानों ने बड़े ज़ोर-शोर से उठाया था और सफलता के साथ उर्दू के मुसलमान

शायर गुरु-शिष्य परंपरा के साथ संगठन करके प्रतिदिन अग्रसर होते जा रहे थे। नवाबों और शाही दरबारों में उर्दू शायरी और शायरों को खूब प्रोत्साहन दिया जा रहा था, बड़े बड़े मुशायरे होते थे, जिससे उर्दू-शायरी की दिन दूनी श्री-वृद्धि हो रही थी। यही कारण है कि मुसलमानों ने इधर की ओर हिन्दी-रचना के क्षेत्र में पूर्ववत् कार्य करना कम कर दिया था। हिन्दुओं को भी उन्होंने अपनी ओर खींचना प्रारम्भ कर दिया था, कितने ही प्रतिभावान हिन्दू-कवि उर्दू में शायरी करने लगे थे।

इस काल के मुख्य मुसलमान कवियों का सूक्ष्म विवेचन दे कर हम आगे बढ़ते हैं:—

१—अलीमुहिब खाँ (प्रीतम)—खाँ साहब आगरा-निवासी थे, इनकी जीवनी का और पता नहीं लगता। खाँ साहब ने इस शृङ्गार-प्रधान कला-काल में मनोरंजक हास्यरस की एक छोटी सी धारा बहाई। हास्यरस की रचना करना सरल नहीं, वरन् अभ्यास और चातुर्य-साध्य है। हास्य में वाग्वैचित्र्य, कल्पना-कौशल और चातुर्य की बड़ी आवश्यकता रहती है, रचना के लिये वस्तु-चयन में भी बड़ी मार्मिक दृष्टि और अनुभव की आवश्यकता होती है। इसमें आलम्बन का ही प्राधान्य रहता है उद्दीपन को उतनो प्रधानता तथा प्रबलता नहीं प्राप्त होती, कभी २ वाक्-चातुर्य और कल्पना-कौशल के कौतुक से ही हास्य का उद्रेक होता है।

शृङ्गार की भाँति हास्य के भी शिष्टता और अशिष्टता के आधार पर दो रूप हो जाते हैं। साहित्यिक रचना में शिष्ट या सभ्यतापूर्ण हास्य को ही प्रधानता दी जाती है, यदि उसमें भद्दी अश्लीलता और ग्रामीणता आ गई तो वह सर्वथा नष्ट हो जाता है। गाम्भीर्य और संकेतात्मक गूढ़ भाव ही इसमें आपेक्षित होता है। इसकी पदावली लाक्षणिक और व्यंजनामयी ही होनी

चाहिये। इस प्रकार का हास्य हमारे हिन्दी-साहित्य में बहुत ही कम पाया जाता है। कवियों ने प्रायः हास्योचित आलंबन का ही वर्णन किया है, जिसमें वाग्वैचित्र्यादि उक्त बातें बहुत ही कम पाई जाती हैं।

कहना चाहिये कि हिन्दी में वर्णनात्मक हास्य तो है किन्तु भावात्मक तथा वाग्वैचित्र्यात्मक हास्य नहीं है। हास्य रस के प्रकाशन में कथन-शैली तथा पदावली की विलक्षणता भी अपनी विशेष महत्ता रखती है। इसके लिये साधारण, चलती हुई और मुहावरेदार स्पष्ट भाषा ही उपयुक्त ठहरती है।

प्रीतम साहब ने हास्योचित आलम्बन "खटमल" को उठाकर कल्पना-कौतुक के साथ साधारण भाषा में सुन्दर रचना की है। यद्यपि इन्होंने केवल २२ कवित्त ही लिखे हैं और "खटमल बाईसी" नामी एक छोटी ही सी पुस्तक रची है तथापि इससे एक सुन्दर मार्ग अन्य कवियों के लिये बना दिया है। इनकी और कोई भी दूसरी रचना नहीं प्राप्त होती।

आलम — ये वास्तव में मुसलमान न थे, वरन् हिन्दू (ब्राह्मण) थे, शेख़ नामी एक रँगरेजिन के प्रेम में फँसकर (आलम और शेख़ के प्रेम की कथा देखो कविता कौमुदी में) और उसके साथ विवाह करके मुसलमान हो गये और जातिच्युत कर दिये गये। इनके एक लड़का भी हुआ, जिसका नाम जहान था। आलम औरंगज़ेब के द्वितीय पुत्र मुअज़्ज़म के यहाँ रहते थे।

आलम ने "माधवानल कामकंदला" नाम की एक प्रेम-कहानी लिखी और प्रेमात्मक कथा-काव्य की परम्परा को इस कला-काल में पुनर्जागृत किया। आलम बड़े ही प्रेमी और रसिक जीव थे, काव्य-कला के अनुरागी और गुणग्राहक थे, इसी से प्रेरित होकर इन्होंने शेख़ से विवाह किया। आलम ने रीति-बद्ध काव्य तो नहीं लिखा, किन्तु प्रेम-पूर्ण शृङ्गारात्मक मुक्तक

काव्य ख़ूब लिखा है। इनकी कविताओं का एक संग्रह "आलम-केलि" के नाम से प्रकाशित भी हुआ है। इनकी रचना में प्रेम की पीर और उसकी मर्मस्पर्शिनी हार्दिक अनुभूति की मार्मिक व्यंजना ख़ूब भरी हुई है। इनकी पदावली प्रेमोन्मत्तकारिणी है, उसमें मधुरता, मृदुलता और ललित मंजुलता है। वह प्रगट करती है कि कवि अपने विषय में सर्वथा डूबा हुआ है, इसी दृष्टि से इन्हें रसखान और घनानंद की कक्षा में स्थान दिया जा सकता है।

आलम की भाषा साधारण, चलती हुई और सरस है, उस से प्रसाद और माधुर्य गुण छलके पड़ते हैं। वह सजीव और साकार सी है। उसमें शब्दाडम्बर तथा अनुप्रासादि का कला-कौशल नहीं, वरन् उसमें कलापूर्ण कला का निराकरण पाया जाता है। पदावली सुसम्बद्ध और लालित्यमयी है। कहीं २ 'कीन' 'दीन' आदि पूर्वीय हिन्दी के भी रूप आ गये हैं। फ़ारसी का भी कुछ प्रभाव उस पर जान पड़ता है। वाक्य-विन्यास कहीं २ कुछ अव्यवस्थित सा भी जान पड़ता है। शृङ्गार की परम्परा के अनुसार कहीं २ भारतीय प्रेम-परम्परा को बाधा पहुँचाने वाले इश्क़ के भाव भी आ गये हैं, यह उनके मुसलमान हो जाने तथा मुसलमानों के सम्पर्क-सम्बन्ध में रहने का फल जान पड़ता है। इन्होंने रेखता (या उस समय की काव्य में व्यवहृत होने वाली उर्दू) में भी रचना की है, किन्तु वह इतनी सुन्दर नहीं, जितनी व्रजभाषा की रचना है।

वास्तव में आलम एक प्रतिभावान सुकवि जान पड़ते हैं। सच्ची उमंग और लगन से इनकी रचना की उत्पत्ति हुई है, हृदय-तत्व ही इनमें प्रधान है। इसी से इनकी रचना हृदयहारिणी और चुटीली भी है।

हम लिख ही चुके हैं कि इस काल में प्रतिभावान मुसलमान कवि उर्दू-काव्य-रचना की ओर झुक गये थे और इसी से बहुत थोड़े मुसलमान कवियों ने हिन्दी में रचनायें की हैं। इन दो प्रधान कवियों के अतिरिक्त और भी कई मुसलमान कवि हुए हैं, किन्तु वे इतने उल्लेखनीय नहीं हैं।

नाटक— इस कलाकाल में नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी कोई भी ग्रंथ नहीं बना, यह हम प्रथम ही दिखा चुके हैं, इसका यह भी एक मुख्य कारण जान पड़ता है कि इस काल में भी कोई मौलिक हिन्दी नाटक नहीं लिखा जा सका। जो नाटक इस समय में लिखे गये वे प्रायः संस्कृत-नाटकों के अनुवाद थे, उन पर समाधारित थे और उन्हीं की छाया के ही रूप में थे। हम यह भी बतला चुके हैं कि इस काल में भी ब्रजभाषा का प्राधान्य रहा, काव्य-क्षेत्र में तो वही व्यापक और सर्वमान्य भाषा रही, गद्य-क्षेत्र में भी इसी का प्रयोग विशेष रूप से होता रहा। उर्दू भाषा का विकास हो रहा था और उसी के साथ उसे उत्पन्न

---

* रसलीन—ये बिलग्राम (ज़ि० हरदोई) के सैयद ग़ुलाम नबी थे। इन्होंने अपने पिता का नाम बाकर लिखा है। ये सूक्तकार कवि थे, श्रृङ्गार रस के आंगिक श्रृङ्गार के अलंकृत वर्णन की शैली से इन्होंने अंग-दर्पण (सं० १७९४) नामी एक सुन्दर पुस्तक लिखी, जिसमें नायिका के अंगों का वर्णन उपमा-उत्प्रेक्षा आदि चमत्कृत अलंकारों के द्वारा चारुता से किया गया है। इसके अतिरिक्त सं० १७९८ में इन्होंने "रसप्रबोध" नामक एक ग्रंथ दोहा-शैली में लिखा, जिसमें रस, भाव षटऋतु, बारहमासा नायिका-भेद आदि विषयों का निरूपण ११५५ दोहों में किया गया है। दोहा-रचना में ही इन्होंने अपने को सीमित रक्खा है और उक्तिवैचित्र्य तथा चमत्कार की ही ओर विशेष ध्यान दिया है।

इनकी दोनों पुस्तकें अपने २ ढंग की अनूठी हैं, तो भी दूसरी को प्रथम की अपेक्षा कम ख्याति मिली है। —सम्पादक

करने वाली खड़ी बोली का भी संचार हो चला था, किन्तु बहुत ही संकीर्ण और साधारण रूप में, अस्तु नाटक भी इस समय प्रायः व्रजभाषा में ही लिखे गये। इस काल के प्रधान नाटकों का सूक्ष्म उल्लेख हम यहाँ कर देना उचित समझते हैं।

१—**देवमाया-प्रपंच**— महाकवि देव कृत, एक कल्पित तथा दार्शनिक पुट के साथ चारित्रिक (Moral or Ethical) नाटक है। इसमें अन्योक्ति (Allegory) की प्रधानता है। इस में ६ अंक हैं और यह अर्ध नाटक सा ही है, कविता की भी प्रचुरता है। इसमें सद्धर्म और माया के युद्ध का वर्णन किया गया है, अंत में सद्धर्म की विजय हुई है। देखो मिश्रबंधुकृत "हिन्दी नवरत्न" पृ० २२४।

२—**हनुमन्नाटक**—राम कवि (जन्म-सं० १७०३) कृत संस्कृत के हनुमन्नाटक का अनुवाद है। इन्हीं का "शृङ्गार सौरभ" नामी नायिका-भेद सम्बन्धी एक सुन्दर ग्रंथ भी है।

३—**शकुन्तला नाटक**—नेवाज कवि ने सं० १७३७ में गद्य-पद्यमय चम्पूशैली से संस्कृत के इसी नाम के नाटक का अनुवाद सा लिखा।

४—**माधोविनोद नाटक**— सोमनाथ कृत सं० १८०६ में, "मालती माधव" नामी संस्कृत के नाटक पर समाधारित जान पड़ता है, इसमें प्रेम-प्रबन्ध ही प्रधान है।

५—**आनंद रघुनन्दन नाटक**— रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह-कृत, एक सुन्दर रामचरित्र-प्रधान नाटक है। भारतेन्दु बाबू ने इसे ही हिन्दी का सर्वाङ्ग-पूर्ण प्रथम नाटक माना है। पद्य-प्राचुर्य के साथ इसमें संवाद भी व्रजभाषा-गद्य में हैं, छंद-विधान और पात्र-व्यवस्था भी सुन्दर है।

६—**प्रबोधचन्द्रोदय नाटक**—विविध छंदात्मक शैली से संस्कृत के इसी नाम के नाटक का व्रजवासीदास-कृत अनुवाद है।

७—नहुष नाटक—भारतेन्दु बाबू के पिता बा० गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदास कृत एक सुन्दर नाटक है, जिसमें नाटक का वास्तविक रूप पाया जाता है। इंद्र के राज्यच्युत होने, नहुष के इन्द्र होने और फिर इन्द्र के अपने स्थान पर आने की कथा के आधार पर यह लिखा गया है।

इनके पश्चात् भारतेन्दु बाबू ने नाटक-रचना का अच्छा विकास-प्रकाश किया और नाटक-रचना की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे।

विहार में भी इसी समय नाटक-रचना का अच्छा कार्य हुआ है विद्यापति के ही समय से वहाँ संस्कृत के आधार पर नाटकों का अनुवाद तथा मौलिक लेखन न्यूनाधिक रूप से चला आया है। मुख्य २ नाटक यहाँ के हैं—१—गौरी-परिणय (सं० १७८० लाल झा कृत) २—प्रभावती हरण (भानुनाथ झा कृत) ३—ऊषा-हरण (हर्षनाथ झा कृत)

अनुवाद और टीकायें—इस काल में अनुवाद का कार्य भी ख़ूब हुआ। संस्कृत के ग्रंथों, जैसे कुवलयानन्दादि अलंकार या काव्य-शास्त्र के रीति सम्बन्धी ग्रंथों, रामायण, महाभारत, पुराण, नाटक, ज्योतिष, आदि के अनुवाद कई आदमियों ने किये, जिनका वर्णन हम यथा स्थान करते आये हैं। साथ ही इस समय में टीका-रचना का कार्य भी अच्छे रूप में हुआ और भाषा-भूषण, विहारी-सतसई तथा कुछ अन्य ग्रन्थों की टीकायें लिखी गईं, कुछ संस्कृत-ग्रंथों की भी टीकायें लिखी गई हैं। इनका भी विवरण हम यथा-स्थान करते आये हैं।

प्रेमात्मक सूफ़ी काव्य—इस काल में इस काव्य की धारा बहुत ही हीन और क्षीण दशा को प्राप्त होती गई और अंत में लुप्तप्राय सी ही हो गई। केवल कुछ ही कवियों ने इस प्रकार के काव्य की रचना की, उनमें से किसी को अच्छी सफलता नहीं

प्राचुर्य से देश की संस्कृति (cultural condition) काव्य-प्रभावित हो गई थी सारा समाज (स्त्री और पुरुष दोनों का) काव्य-रसिक और शृंगार-प्रिय हो गया था। स्त्री-समाज भी इससे पूर्णतया प्रभावित हो रहा था, किन्तु चूँकि शृंगारात्मक काव्य की रचना उसके उपयुक्त तथा अनुकूल नहीं होती, अतएव उसने इसे छोड़ ही दिया था।

२—समस्या-पूर्ति की प्रथा इस काल में विशेष रूप से प्रचलित हो गई थी और सभी जगह के प्रायः सभी कवि इसमें भाग लेने लगे थे। प्रवीणरायें तथा शेख़ आदि के विषय में समस्या-पूर्ति करने की जनश्रुतियाँ इसे पुष्ट करने के लिये ज्वलन्त रूप में प्रर्याप्त हैं।

इस काल में स्त्रियों के काव्य-रचना-क्षेत्र में अग्रसर न होने का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि इस समय में मुग़ल-साम्राज्य ख़ूब बढ़ा-चढ़ा हुआ था, उसके प्रभाव से शृंगार रस का ख़ूब प्रसार-प्रचार हुआ और विलासिता की भी बड़ी बढ़ती हुई। फलतः स्त्री-समाज का स्वातंत्र्य सुरक्षित न रह सका। मुसलमानों के दुराचारों तथा दुर्व्यवहारों के साथ ही साथ उनकी पर्दा-प्रथा के प्रभाव से हिन्दू-समाज में भी पर्दा-प्रथा का प्राधान्य पूर्ण प्रचुर या प्रबल प्रचार हो गया। स्त्रियाँ अब दरबारों के कवि-सम्मेलनों तथा तीर्थादि में भक्त कवियों के सम्पर्क से सर्वथा वंचित सी ही रहने लगीं और फलतः उनकी काव्योचित संस्कृति (भावुकता, कल्पना, सहृदयता, योग्यता आदि की समिष्टि) विनष्ट होने लगी, यहाँ तक कि वे इस से सर्व प्रकारेण विहित ही हो गईं।

आलम जैसे प्रेमी और रसिक कवियों तथा इसी प्रकार की प्रेमोपासिका, सहृदया या काव्यरसिका स्त्रियों ने प्रेमवश्य हो स्वच्छंदता के साथ अपने २ धर्मों और सामाजिक नियमों को त्याग अपने प्रेमी-प्रेमिकाओं के धर्मादि को ग्रहण कर लिया, इससे

भी जनता तथा समाज सशंकित हो उठी और उसने स्त्रियों को काव्य में किसी प्रकार भी भाग लेने से रोकने की पूरी सुदृढ़ व्यवस्था चला दी। इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियाँ काव्य-रचना-क्षेत्र से दूर हो गईं। अस्तु, इन प्रधान कारणों से स्त्री-लेखिकायें इस काल में अच्छा कार्य न कर सकीं। जिन थोड़ी सी स्त्रियों ने इस समय रचना-कार्य किया है उनमें से केवल दो-चार ही उल्लेखनीय ठहरती हैं। इन्होंने प्रायः भक्ति-विषयक (विशेष-तया कृष्ण-भक्ति विषयक) रचनायें की हैं। हाँ दो एक काव्य-रसिका तथा प्रेमोपासिका स्त्रियों ने कुछ प्रेमात्मक मुक्तक रचनायें भी की हैं। इन्हीं का सूक्ष्म परिचय हम यहाँ दे देते हैं:—

१—सुन्दरीकुमारी बाई—(सन् १७६०—१७९८) रूप-नगर और कृष्ण गढ़ के नरेश राजा राजसिंह राठौर की पुत्री थीं। इनके वंश में कई सुकवि हो चुके हैं। इसीसे ये भी सुन्दर रचना कर लेती थीं, इनकी बहुत सी रचनायें यत्र-तत्र पाई जाती हैं। सभी में प्रायः कृष्ण-भक्ति का प्राधान्य है।

२—शेख—यह जाति की रँगरेजिन थी, इसी के प्रेम में फँसकर आलम जो ब्राह्मण से मुसलमान हो गये थे। यह बड़ी काव्य-रसिका तथा सहृदया थी और सुन्दर रचना भी कर लेती थी। इसमें सुकवियों की सी कल्पना, प्रतिभा और चतुरता थी। इसमें हाज़िरजवाबी भी खूब थी। "आलम केलि" नामी पुस्तक में इसकी बहुत सी रचनायें पाई जाती हैं। यह समस्या-पूर्ति भी अच्छी कर लेती थी।

३—रतनकुँवरि—(जन्म सं० १८४२) ये राजा शिवप्रसाद "सितारे हिन्द" की मातामही थीं। इन्होंने भक्ति विषयक कृष्ण-काव्य लिखा है; इनके बहुत से पद सुने जाते हैं। कृष्ण-भक्तों के चरित्र लिखकर इन्होंने "प्रेमरतन" नामी एक सुन्दर पुस्तक बनाई।

गद्य—यह तो पूर्ण रूप से स्पष्ट ही है कि इस काल में भी व्रजभाषा का ही साहित्य (विशेषतया काव्य) के क्षेत्र में पूर्णतया प्राधान्य रहा। यही एक हिन्दी का मुख्य रूप था जिसे सर्व-मान्य और व्यापक बनाकर साहित्योचित प्रौढ़ता और शिष्टता, सौष्ठव और सुसंस्कार के साथ प्राप्त हुई थी और जो सब के लिये मान्य ठहरा था। अवधी भाषा का भी विकास-प्रकाश हुआ था और साहित्य (काव्य) के क्षेत्र में उसका भी संचार-प्रचार हो गया था, किन्तु उसे वह गौरव और सर्वमान्य सौष्ठव न प्राप्त हो सका जो व्रजभाषा को प्राप्त हुआ था। अस्तु, इस काल में भी व्रजभाषा ही साहित्यिक रचना की व्यापक भाषा रही और उसके सामने अवधी आदि अन्य भाषाओं को साहित्य में प्राधान्य-प्रावल्य न प्राप्त हो सका।

हम यह भी दिखला चुके हैं कि मुसलमानों के प्रभाव से हिन्दी का वह रूप, जो पश्चिमोत्तरीय प्रान्तों में प्रचलित था, विकसित होता हुआ एक ओर तो उर्दू या (फ़ारसी-प्रभावित) रेखता बन गया और दूसरी ओर अपने स्वाभाविक रूप में चलता हुआ खड़ी बोली के नाम से जनसाधारण में प्रचलित रहा। मुसलमानों ने (मुग़लों ने) इस बात का पूरा प्रयत्न किया और उसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए, कि वे हिन्दी के किसी एक विशेष रूप को उठाकर उसे अपनी फ़ारसी के आधार पर ढाल कर स्वतंत्र भाषा में रूपान्तरित करके राज-काज के लिये प्रचलित कर लें, बिना ऐसा किये उनका अपनी हिन्दू-प्रजा के साथ सम्बन्ध रखते हुए काम करना असम्भव ही सा था।

धार्मिक प्रचार के लिये भी मुसलमानों ने हिन्दी के एक रूप (अवधी) को उठाकर (व्रजभाषा के विरोध में) उसे विकसित करना प्रारम्भ किया था। जायसी और कबीर ने इसीलिये अवधी तथा पूर्वीय हिन्दी को उठाया था। कबीर को तो सफलता न मिली

किन्तु जायसी की उठाई हुई अवधी विकसित होकर साहित्यिक भाषा में तुलसी आदि के श्रम से रूपान्तरित हो साहित्य-क्षेत्र में एक स्वतंत्र भाषा के समान आ उपस्थित हुई, किन्तु पश्चात् काल में इसे ब्रजभाषा के सामने दब ही जाना पड़ा।

शाही दरबार में उधर खड़ी बोली उठाई जाकर विकसित की जा रही थी। उसे साहित्यिक तथा सभ्य या शिष्ट जनोचित भाषा में रूपान्तरित किया जा रहा था और फ़ारसी की उचित पुट देते हुए उसे एक स्वतंत्र राजभाषा बनाया जा रहा था। इसमें यथेष्ट सफलता मिली और रेखता या उर्दू भाषा बन भी गई। हिन्दुओं ने इसे देखकर खड़ी बोली के शुद्ध या प्राकृत रूप को उठाया उसे और फ़ारसी के प्रभाव से मुक्त रखते हुए तथा कुछ २ संस्कृत के साँचे में ढालते हुए स्वतंत्र रूप में खड़ी बोली के नाम से आगे विकसित किया।

हमारे साहित्य-क्षेत्र में इस समय काव्य की ही पूर्ण प्रधानता रही, अस्तु ब्रजभाषा का ही पूरा प्राधान्य एवं प्रचुर प्राबल्य रहा। गद्य-रचना का कार्य केवल कुछ ही लेखकों के द्वारा उठाया जाकर ज्यों का त्यों ही पड़ा रह गया और वृद्धि को न प्राप्त हो सका, क्योंकि उस समय की परिस्थितियों के प्रभाव से यह कार्य असम्भव ही ठहरा।

चूँकि खड़ी बोली को मुसलमानों ने अपना सा करके उठाया था, इसलिये प्रायः हिन्दू (कट्टर) लोग उसे व्यवहृत न करते थे विशेषतया साहित्यिक रचनाओं में। उसी समय "न वदेत् यावनीम् भाषाम् , न गच्छेत् यवन-मंदिरम्" जैसी धारणा प्रवलतर होकर चतुर्दिक् फैल रही थी, सम्भवतः यही कारण था कि खड़ी बोली का प्रयोग तब हिन्दी-साहित्य के विशाल क्षेत्र में प्राचुर्य के साथ न हो सका। केवल कुछ ही लोगों ने, जिनका सम्पर्क-सम्बन्ध शाही दरबारों से ही विशेष था, खड़ी बोली का

प्रयोग किया है, इन महानुभावों में से गंग, जटमल आदि मुख्य २ लेखकों का परिचय हम प्रथम ही दे चुके हैं। यह भी हम दिखला चुके हैं कि ख़ुसरो आदि ने खड़ी बोली का उपयोग काव्य-क्षेत्र में भी प्रारम्भ किया, किन्तु उनका अनुकरण अन्य हिन्दू-लेखकों या कवियों ने नहीं किया। हाँ मुसलमानों ने अवश्य किया और हिन्दी बोली को फ़ारसी के साँचे में ढालते हुए तथा उससे प्रभावित करते हुए उन्होंने इसे उर्दू या रेखता के रूप से साहित्यिक भाषा बना कर अपनी शायरी में व्यवहृत किया और उर्दू-साहित्य तथा उर्दू भाषा को स्वतंत्र रूप से विकसित या विवर्धित करके हिन्दी भाषा तथा साहित्य से पृथक् ही सा कर लिया।

हिन्दी के जिन दो-चार कवियों ने खड़ी बोली का कहीं कुछ प्रयोग किया है, वहाँ उसे फ़ारसी से प्रभावित रूप में और मुसलमानों के ही सम्बन्ध में किया है। अस्तु अब स्पष्ट हो गया होगा कि खड़ी बोली का इस समय में कैसा रूप तथा प्रयोग-प्रचार था। साथ ही यह तो स्पष्ट ही है कि हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में व्रजभाषा का ही एक सुदृढ़ साम्राज्य था। इस समय में गद्य तो उठा ही नहीं वह काव्य के सामने चुपचाप एक कोने में ही पड़ा रहा। जो कुछ गद्य इस समय में दो चार लेखकों के द्वारा लिखा भी गया है वह व्रजभाषा का ही गद्य है। व्रजभाषा के गद्य का भी इस समय प्राचुर्य-प्राबल्य नहीं हुआ, केवल कुछ ही लेखकों ने गद्य का उपयोग प्रायः टीकाओं, नाटकों तथा अनुवादों आदि के ही लिखने में किया है।* इस प्रकार के लेखकों में से प्रधान लेखकों का उल्लेख हम सूक्ष्म में यों कर सकते हैं:—

* टीकायें, नाटक तथा अनुवाद भी प्रायः प्रथम पद्यमय ही हुआ करते थे। उत्तर कला-काल में अवश्य ही इनमें गद्य का प्रयोग किया जाने लगा था।

१—नेवाज—इन्होंने अपने शकुंतला नाटक में पद्य के साथ ब्रजभाषा के गद्य को भी स्थान दिया है।

२—सूरत मिश्र—इन्होंने "संस्कृत की वैताल पंचाविंशति का ब्रजभाषा-गद्य में "वैताल पच्चीसी" के नाम से अनुवाद किया।

३—राजा विश्वनाथसिंह ने अपने आनंद रघुनंदन नाटक में संवाद ब्रजभाषा गद्य में लिखे हैं।

इन लोगों के अतिरिक्त और भी कई टीकाकारों ने ब्रजभाषा के गद्य का प्रयोग अपनी टीका-टिप्पणियों में किया है, किन्तु वे विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। गद्य-काल का उदय एवं विकास आगे होने जा रहा था, किन्तु अभी तक उसके पूर्व रूप का नितान्त अभाव सा ही था, कला-काल के अवसान तक में खड़ी बोली के गद्य का नाम भी हमारे हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में उचित रूप से न आया था। हाँ काव्य-रचना में रघुनाथ जैसे दो चार कवियों ने अवश्य कहीं २ खड़ी बोली का उपयोग किया था। अस्तु

इस काल में एक विशेष बात देखने या ध्यान देने का यह है कि हमारे यहाँ के कई राजाओं ने भी काव्य-रचना की है और हिन्दी भाषा तथा हिन्दी-साहित्य की वृद्धि करने में बहुत सफलता पूर्वक कार्य किया है, जिससे जनता को अच्छा उत्साह प्राप्त हुआ और राजाओं को रचना-कार्य में सहयोग देते हुए देखकर उसे इस कार्य में और भी दिलचस्पी हुई। यथा-स्थान हम ऐसे राजाओं तथा उनके रचना-कार्यों का यथोचित विवरण दे चुके हैं।

संत कवि

यहाँ हमें अब संक्षेप से संत कवियों के भी सम्बन्ध में कुछ मुख्य तथा आवश्यक बातों का लिख देना उचित तथा उपादेय जान पड़ता है। यह तो ज्ञात ही है कि कबीर की एक विशाल शिष्य-परम्परा उत्तरीय भारत में प्रचलित हो गई थी। कबीर के

बहुत से ऐसे शिष्य थे, जिन्होंने कबीर का अनुकरण करते हुए शब्द, रमैनी, साखी आदि की रचनायें कीं, ये सब साधारण श्रेणी की ही रचनायें है, न तो इनमें भाषा-सौष्टव ही है, न काव्य-कौशल ही और न भावोत्कर्ष ही है। अपनी परम्परा के आधार पर ये लोग प्रायः उन्हीं विषयों और विचारों आदि का परम्परा-गत भाषा-पद्धति और शैली (छंदादि सम्बन्धी रचना-शैली) से पिष्टपेषण ही करते हैं। प्रायः प्रत्येक संत गुरु-महिमा, गुरु-भक्ति-नाम-महात्म, मायाछल, सत्य नाम, भक्ति-महिमा और विराग आदि से सम्बन्ध रखने वाली बातों का अपनी रचनाओं में बारबार राग अलापता है। कुछ स्वल्प शान्ति और वैराग्य की पुट देते हुए ये लोग प्रायः अपनी डफली में अपना ही न्यारा राग बजाते रहते हैं।

ये लोग प्रायः मूर्ख और निरक्षर-भट्टाचार्य ही होते रहे, इसीसे इनकी रचना तथा विचार-धारा ऐसी न हो सकी कि वह सहृदय विद्वत्समाज को आकृष्ट कर सकती। केवल निम्न श्रेणी के ही लोग इनके संकीर्ण क्षेत्र में रहते रहे और इनकी बानी से कुछ शान्ति प्राप्त करते रहे।

इनके कारण समाज के चारित्रिक आदर्शों और कर्तव्यों को भी धक्का पहुँचा है। यह अवश्य है कि इनके प्रभाव से निम्न श्रेणी के लोग हिन्दू धर्म के भीतर ही बने रहे और उससे पृथक् होकर बाहर न जा सकें।

कबीर ने जिस प्रकार अपना एक नया मार्ग चला कर अपनी शिष्य-परंपरा के द्वारा कबीर-पंथ की जड़ जमा दी थी, उसी प्रकार उसके शिष्यों ने भी अपने अपने व्यक्तित्व को प्रधानता दे कर अपने अपने नामों से अपनी अपनी शिष्य-परंपराओं को प्रचलित करते हुए अपने अपने स्वतंत्र पंथ चला दिये और इस प्रकार बहुत से पंथ निम्न श्रेणी के लोगों में प्रचलित हो गये। यह सदा ध्यान में रखने की बात है कि इन लोगों में विद्या-

विवेक आदि का पूर्ण आभास ही सा रहता था और इसीलिये इनकी रचनायें निम्न श्रेणी की ही होती थीं, उनको साहित्य में स्थान न दिया जा सका। यद्यपि इन संतों की वानियों का एक बहुत विशद् आगार जिसे हम "संत-साहित्य" कह सकते हैं, हमारे यहाँ मौजूद हैं, तथापि वह विशेष उल्लेखनीय नहीं।

कबीर के ही सिद्धान्तों के आधार पर पंजाब में नानक का एक स्वतंत्र पंथ "सिक्ख धर्म" के नाम से प्रचलित हो गया, जिसके देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार नानक की गद्दी के मुख्य मुख्य गुरु महात्माओं ने, सैनिक जीवन के तत्वों का समावेश कर सैनिक धर्म में रूपान्तरित कर दिया। इस धर्म का मुख्य ग्रंथ ग्रंथसाहब (षष्ट गुरु अर्जुनसिंह संग्रहीत सन् १६०४ सन् १५६३-१६७०) है जिसमें नानक, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन, तेजबहादुर आदि की शिक्षायें हैं और भक्तों—जैसे नामदेव, कबीर आदि की प्रशंसा के पद हैं।

इसकी भाषा पंजाबी मिश्रित और उसी के साँचे में ढली हुई प्राचीन ब्रजभाषा है। दशमगुरु गोविंदसिंह (सन् १६७५-१७०८) ने सैनिकता को प्राधान्य दे कर खालसा की स्थापना की। यह ब्रजभाषा में रचना करने वाले थे। यही एक ऐसा प्रधान पंथ हुआ जिसकी सत्ता एवं महत्ता गौरवपूर्ण कही जाती है।

इसके अतिरिक्त यद्यपि कई और पंथ चले पर उन्हें इतनी सफलता न प्राप्त हुई और न उनके द्वारा हिन्दी-साहित्य की ही स्तुत्य श्रीवृद्धि हुई। दादूदयाल तथा उनके दादू-पंथ का उल्लेख हम कर ही चुके हैं। इनकी शिष्य-परंपरा में सुन्दरदास (सन् १६२०-५०) एक अच्छे संत कवि हुए, जिनका विवरण हम दे चुके हैं। इनके बाद निश्चलदास का नाम उल्लेखनीय है।

लालदास (मृत्यु सन् १६४८) अलवर वाले ने एक लाल-

दासी-पंथ चलाया और कबीर के समान रामभजन पर ज़ोर देते हुए बानी लिखी।

वीरभान ने सन् १६५८ में साधू-पंथ चलाया और कबीर, नानक तथा दादू के आधार पर शब्द और साखी शैली से उपदेश काव्य की रचना की।

धरनीदास—(जन्म-सं० १६५६) माँझी (ज़ि० छपरा) के कायस्थ थे, इन्होंने सत्यप्रकाश और प्रेम-प्रकाश नामी दो साधारण ग्रंथ लिखे और एक पंथ चलाया।

यारीसाहब—(१६६८--१७२३ ई०) सूफ़ी मुसलमान थे, इन्होंने तथा इनके शिष्य केशव, बुल्ला साहब और आगे शिष्य-परम्परा में दरियावसाहब (बिहार और मारवाड़) आदि ने सूफ़ी ढंग की रचनायें हिन्दी में कीं, जो साधारण श्रेणी की हैं।

चरनदास (१७०३-१७८२ ई०) धूसर बनिया थे, १७३० में इन्होंने अपना एक पंथ चलाया, जिसका आधार कबीर-पंथ ही है। मूर्तिपूजा-निषेध और ऐसी ही कुछ साधारण विशेषतायें आपने रक्खीं। भागवत और भगवद्गीता का इन्होंने अनुवाद किया। सहजोबाई और दयाबाई दो प्रसिद्ध स्त्री-लेखिकायें इनकी शिष्या या चेलियाँ थीं। इनके पंथ में स्त्रियों को भी स्थान दिया जाता है। उक्त दोनों स्त्रियों ने भक्ति-पूर्ण रचनायें की हैं, दयाबाई ने १७५१ ई० में दयाबोध लिखा।

शिवनारायण—गाज़ीपुर-वासी राजपूत हैं, १७३४ ई० में इन्होंने अपने नाम का एक पंथ चलाया जिसमें निर्गुण-उपासना की प्रधानता है। कहा जाता है, बादशाह मुहम्मदशाह, इनके पंथ में हो गये थे। इन्होंने १७ पुस्तकें लिखीं।

ग़रीबदास ने (१७१७-१७८४ ई०) कबीर-पंथ के आधार पर अपने नाम से एक पंथ चलाया और गुरु ग्रंथ साहिब नामी एक

ग्रंथ २४००० साखियों और चौपाइयों का, जिनमें ६००० साखियाँ कबीर की हैं, रचा। ये छुरनी (ज़ि० रोहतक) के वासी थे।

रामसनेही ने एक पंथ चलाया और साधुओं को रक्खा इनके तीसरे शिष्य (१७७६ ई० में) दूलहराम ने १०००० शब्द ४००० साखी लिखीं।

सत्यनामीपंथ—इसकी जीवनी ज्ञात नहीं, जगजीवनदास ने १७५० ई० के लगभग इसे पुनर्जीवित किया। निर्गुण-उपासना की इसमें प्रधानता है। पर फिर अवतारवाद भी इसमें आ गया। इसमें जातिच्युत लोगों का ही प्राधान्य रहा। मुख्य ग्रंथ इसके महाप्रलय, ज्ञान-प्रकाशादि हैं।

इसी प्रकार और भी बहुत से छोटे-मोटे सम्प्रदाय या पंथ चले जिनके संतकवि कुछ हिन्दी में रचनायें करते रहे, जिनको साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता।

समाचारपत्र—इस काल में समाचारपत्र या अख़बार का कार्य बंद हो गया। प्रथम मुग़ल बादशाहों की ओर से नगरों में शाही ख़बरें लिखी जाकर सुनाई जाती थीं, इन्हीं को अख़बार कहा करते थे। मुग़ल-सम्राट औरंगज़ेब की नीति ऐसी थी कि इतिहास और अख़बार का कार्य बंद ही सा हो गया। उसके बाद देश में दूसरी ही दशा आ गई, मरहठों का ज़ोर बढ़ा और उनके हमले होने लगे, मुग़ल-साम्राज्य गिरने लगा, देश में अशान्ति की लहर उठी। यद्यपि इसका प्रभाव साधारण जनता पर विशेष रूप से न पड़ा, तौभी इतना प्रभाव अवश्य पड़ा कि साहित्य को कुछ शिथिलता के साथ चलना पड़ा। इस काल में समाचारपत्रों का कोई निश्चित विवरण नहीं प्राप्त होता, अस्तु उनके विषय में कुछ कहा भी नहीं जा सकता।

चतुर्थ अध्याय

आधुनिक काल

(सं० १९०० से आज तक)

परिवर्तन या पूर्वाधुनिक काल

(सं० १८५७ से १९५७ तक)

देश की राजनैतिक दशा

हमारे इस काल के प्रारम्भ होते २ देश की राजनैतिक दशाओं में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया था और होता भी जा रहा था। इसके पूर्व ही मुग़ल-साम्राज्य का, जिसमें हमारा सारा हिन्दी-प्रदेश आ जाता है, पतन हो चुका था, दिल्ली और आगरे की महत्ता-सत्ता विनष्ट ही सी हो चुकी थी। दक्षिण देशीय महा महाराष्ट्र-साम्राज्य, जिसकी नींव सन् १६७४ ई० में छत्रपति श्री शिवाजी महाराज ने सुदृढ़ रूप से डाल दी थी, उत्तरोत्तर उत्कर्ष के साथ इतना प्रबल हो उठा था कि उसका प्रभावातंक समस्त भारत में छा गया था, मुग़ल-साम्राज्य भी उसका लोहा मानता था। १८हवीं शताब्दी में (सन् १७६१ में) इसे एक विदेशीय आक्रमण के रोकने में कुछ थोड़े रूप से पराजित सा होना पड़ा और तनिक समय के लिये इसका प्रताप कुछ न्यून सा पड़ गया, किन्तु फिर शीघ्र ही इसकी शक्ति बढ़ गई और यह सबल हो गया। किन्तु उस विशाल महाराष्ट्र-साम्राज्य के कई भाग पृथक् २ होकर स्वतंत्र राज्यों के रूप में हो गये, जिससे एक पूर्ण शक्ति विभक्त होकर निर्बल हो गई।

यह तो ज्ञात ही है कि सन् १७०० ई० से प्रारम्भ कर अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपना एक छोटा सा राज्य बना लिया था, जिसके अन्दर बम्बई, मद्रास और बंगाल के भाग थे। यह राज्य उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त कर चला और इस समय तक में यह विस्तृत होकर भारत के बहुत बड़े भाग तक फैल गया। हमारे हिन्दी-प्रदेश का भी भाग इसके ही अन्दर आ गया। सन् १८१८ के बाद तो लगभग समस्त उत्तरीय भारत में एक सुदृढ़ बृटिश साम्राज्य बन गया। केवल ग्वालियर, राजपूताना आदि के कुछ राज्य रह गये, किन्तु वे भी इसके आधीन हो गये।

मुग़ल-साम्राज्य के पतन से भारतीय राजनैतिक दशा में हेर-फेर तो अवश्य हुआ, किन्तु उसका कोई बहुत बड़ा प्रभाव साहित्य-रचना पर न पड़ा। हाँ, इतना प्रभाव अवश्य पड़ा कि इसका कार्य कुछ विशेष वृद्धि-समृद्धि के साथ न होने लगा। उर्दू-साहित्य के ऊपर इसका प्रभाव अवश्यमेव गहरा पड़ा, दिल्ली से चलकर वह लखनऊ में आश्रय पा सका और अब उसकी वह शान-शौकत न रह गई। स्थानान्तर से उर्दू भाषा तथा उस की रचना-शैली आदि में भी बहुत परिवर्तन हो गया। फ़ारसी भाषा को तो मुग़ल-साम्राज्य के पतन से बहुत ही गहरा धक्का पहुँचा। उर्दू के उत्थान से उसमें शिथिलता आ ही गई थी। उर्दू के उठाने तथा बढ़ाने के लिये मुग़ल एवं मुसलमान लोग बाध्य ही थे, क्योंकि यही एक ऐसी भाषा बन रही थी, जिसके ही द्वारा मुग़ल-दरबार, उसके राज-कार्य तथा कर्मचारियों को साधारण जनता के साथ व्यावहारिक सम्बन्ध के सूत्र से सम्बद्ध किया जा सकता था; क्योंकि उर्दू में फ़ारसी और हिन्दी (राज-भाषा तथा देश भाषा) दोनों के तत्व सन्निहित थे। मुग़ल-साम्राज्य के पतन तथा अंग्रेज़-साम्राज्य एवं उनकी भाषा अंग्रेज़ी

के उद्योत्थान से, जो उत्तरोत्तर होता जा रहा था, तो वह लुप्त-प्राय सी ही हो चली। अस्तु, उर्दू और हिन्दी दोनों इस समय अपने २ क्षेत्र में सामान्य प्रगति से बराबर चलती ही रहीं, हाँ उनमें सबलता तथा द्रुतगति की प्रगतिशीलता कुछ ऊनता से ही रही।

इस समय के राजनैतिक परिवर्तन का बहुत बड़ा प्रभाव हमारी हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य पर पड़ा। लार्ड डलहौज़ी के समय में बृटिश इण्डिया या अंग्रेज़ी राज्य का विस्तार इतना बढ़ गया कि उसके अन्दर लगभग समस्त भारत ही आ गया। इसके पूर्व लार्ड विलियम बेंटिंग के समय में इस राज्य के प्रभाव से सामाजिक तथा देश-रक्षा के लिये सुधार सम्बन्धी कई विधान बन चुके थे। सती-प्रथा, कन्या-हत्या, आदि बुरी प्रथायें, जिनकी अब अनावश्यकता थी, न्याय-विधान से बंद कर दी गईं और डकैती आदि अत्याचारों की भी इति कर दी गई। इसका प्रभाव यह पड़ा कि देश में अब शान्ति, निश्चिन्तता (निर्भीकता) तथा जाग्रति की लहरें उठने लगीं। साहित्य-रचना की प्रगति को भी इससे बहुत कुछ सहारा मिला। यात्रायें अब विशेष रूप से होने लगीं, जिससे प्रान्तों में सम्पर्क-सम्बन्ध की भी वृद्धि हुई और उसके प्रभाव से भिन्न २ प्रान्तों की भाषाओं, उन की शैलियों तथा साहित्य की प्रगतियों से लोग परिचित और उनसे प्रभावित होने लगे। हिन्दी भाषा-भाषी लोगों पर भी इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। बंगाल के सम्पर्क से हिन्दी-साहित्य को बहुत लाभ पहुँचा।

लार्ड डलहौज़ी के समय से रेल, तार, टिकट (डाक-विभाग के कार्य) की व्यवस्था की गई, जिससे देश में सम्पर्क-सम्बन्ध की वृद्धि हो गई और जीवन में नवीन जाग्रति आ गई। जिस मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार एवं प्रचार से अंग्रेज़ी तथा पाश्चात्य

देशों के साहित्यों में प्राचुर्य, प्राबल्य तथा प्रस्तार-प्रचार के साथ ही साथ नवीन विकास प्रकाश आने लगा था, उसी का प्रचार जब से यहाँ भी हुआ तब से यहाँ के साहित्य में भी नवजीवन तथा बल-विकास आ गया। पुस्तकें अब अधिक सुलभ होने लगीं, उनमें अब समय, धन, श्रम, सभी कुछ कम लगने लगा और स्वल्प मूल्य, थोड़े समय तथा थोड़े श्रम से ही बहुत सी पुस्तकें सुविधानुसार सभी स्थानों में (रेल से पहुँचाई जाकर) सरलता से सबको प्राप्त होने लगीं। इसी का यह प्रभाव है कि आज हमारे साहित्य का यह उत्थान तथा प्रकाश-प्रचार हो सका है।

जिस प्रकार मुसलमानों की सभ्यता, भाषा तथा उसके साहित्य का प्रभाव हमारी संस्कृति (सभ्यता) भाषा तथा उसके साहित्य पर पड़ा था, उसी प्रकार शासक अंग्रेज़ जाति के साथ सम्पर्क होने से उसकी संस्कृति (सभ्यता Culture and Civilisation), भाषा और उसके साहित्य का प्रभाव हमारी संस्कृति (सभ्यता) भाषा और साहित्य पर पड़ने लगा। सब से प्रथम अंग्रेज़ों की भाषा आदि का प्रभाव उत्तरीय भारत के बंगाल नामी प्रांत की ही भाषा आदि पर पड़ा और चूँकि बंगाल हमारा पड़ोसी है, अतः शीघ्र ही अंग्रेज़ी प्रभाव, जैसे ही अंग्रेज़ी राज्य बढ़ कर हमारे प्रान्त में फैल गया, हमारी भी भाषा आदि पर पड़ चला।

जिस प्रकार अंग्रेज़ी सभ्यता की बहुत सी बातें हमारे देश में प्रचलित हो गईं उसी प्रकार अंग्रेज़ी भाषा तथा उसके साहित्य की भी बहुत सी बातें हमारी भाषा और हमारे साहित्य में आ गईं। अंग्रेज़ी के अनेकों शब्द, उसके साहित्य की कतिपय रचना-शैलियाँ और वाक्य-विन्यासादि के ढंग हमारी भाषा में प्रचलित हो गये। अंग्रेज़ी साहित्य में गद्य का बहुत

प्राधान्य है, अस्तु हिन्दी साहित्य में भी इस साहित्य के प्रभाव से गद्य का प्राधान्य हो गया। अंग्रेज़ी साहित्य की ही देखादेखी हिन्दी में भी नाटक, कथा, उपन्यासादि विविध-विषयक रचनाओं का विकास-प्रकाश हो चला, इन सब के लिये गद्य की ही पूर्ण आवश्यकता होती है, अतः गद्य-रचना की ओर हिन्दी-साहित्य-सेवियों का ध्यान विशेष समाकर्षित हुआ और उन्होंने गद्य को उठाकर, उसे साहित्योचित क्षमता देते हुए विकसित करने का कार्य बड़ी लगन तथा धुन से प्रारम्भ कर दिया।

अब तक साहित्य के लिये गद्य का कोई भी एक सुविनिश्चित और सुव्यवस्थित (व्याकरण के नियमों से नियंत्रित या सुविधान-संयत) व्यापक रूप स्थिर होकर सर्वमान्य न हो पाया था, अतः प्रथम विद्वानों को इसी कार्य में अपनी शक्ति को लगाना पड़ा। ऐसा होने से यह अवश्य हुआ कि काव्य-रचना का कार्य कुछ शिथिल होकर गौण सा हो गया। अब काव्य की आवश्यकता भी वैसी न थी, बहुत बड़े परिमाण में उसकी रचना इस समय तक में हो चुकी थी। अब तो नवीन परिस्थितियों के प्रभाव से गद्य की ही पूर्ण आवश्यकता थी।

जब अंग्रेज़ों का साम्राज्य यहाँ अच्छी तरह स्थापित हो गया, तब उन्हें यह आवश्यकता पड़ी कि वे यहाँ की भाषाओं (हिन्दी, उर्दू और फ़ारसी आदि) से यथोचित परिचय प्राप्त करें और यहाँ के लोगों को अपनी अंग्रेज़ी भाषा से परिचित करा के अपनी सहायता (राज्य-कार्य में) के लिये तैयार करें। विना ऐसा किये हुए राज्य का कार्य सुचारु रूप से चल ही नहीं सकता इसीलिये अंग्रेज़ी सरकार की ओर से स्कूलों और पाठशालाओं के खोलने की व्यवस्था की गई। कलकत्ते में सब से प्रथम फोर्ट विलियम कालेज के नाम से एक बड़ा स्कूल अंग्रेज़ों को देशी भाषाओं के सीखने के लिये खोला गया और उसमें पंडित

तथा मोलवी लोग इस कार्य के लिये नौकर रक्खे गये। अस्तु शिक्षा के लिये पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता सामने आई, जिसकी पूर्ति के लिये हिन्दी और उर्दू की पुस्तकें उन्हीं पंडितों और मोलवियों से तैयार कराई गईं। जब अंग्रेज़ों को यह ज्ञात हुआ कि सरकारी नौकरी में हिन्दुस्तानी लोग अंग्रेज़ी की अपेक्षा अधिक सरलता, अल्पव्ययता तथा सुविधा से कार्य कर सकते हैं तब उन्होंने हिन्दुस्तानियों के लिये अंग्रेज़ी सीखने के लिये स्कूल और कालेज खोले। इस प्रकार शिक्षा का प्रचार-प्रस्तार हो चला और देश में हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी की शिक्षा का प्राधान्य-प्राचुर्य तथा प्राबल्य होने लगा। अंग्रेज़ी-शिक्षा से देश की संस्कृति तथा उसके साहित्य आदि पर भी नवीन प्रभाव पड़ने लगा। अस्तु कहना चाहिये कि इस शिक्षा-कार्य तथा पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में नवीन जाग्रति और गद्य की उन्नति उपस्थित कर दी। ज्यों २ इन दोनों का उत्तरोत्तर विकास-विवर्धन होता गया, त्यों ही त्यों हिन्दी और उर्दू के गद्य-साहित्य का भी क्रमशः विकास-प्रकाश होता गया।

इसी काल में अंग्रेज़ों के द्वारा यहाँ मुद्रणयंत्र और मुद्रण-कला का भी प्रचार हुआ, क्योंकि इसकी भी अतीव आवश्यकता हुई। शासन तथा व्यापारादि सम्बन्धी सभी आवश्यक कार्यों तथा शिक्षा-प्रचारादि के लिये मुद्रण यंत्र और कला दोनों बड़े प्रधान सहायक और साधन हैं। इसी के साथ अख़बार या समाचार पत्र की भी सत्ता-महत्ता स्थापित हुई। शासक और शासित दोनों को समाचार पत्रों की उपयोगिता तथा आवश्यकता ज्ञात हुई और समाचार पत्रों की उत्पत्ति तथा क्रमशः वृद्धि-समृद्धि होने लगी। हिन्दी भाषा के गद्य (और कुछ कुछ काव्य तथा साहित्य) को भी इनसे अपने विकास-प्रकाश में बहुत बड़ी

सहायता प्राप्त हुई। सब से प्रथम कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज से ही मुद्रण-कला का श्रीगणेश हुआ, फिर उसमें व्ययाधिक्य तथा बुरी छपाई से असफलता प्राप्त होने पर सन् १८३७ ई० में एक लीथोग्राफ़ी प्रेस दिल्ली में स्थापित किया गया। इसके उपरान्त इस मुद्रण-कला के कार्य में उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि तथा उन्नति ही होती गई, विज्ञान के प्रभाव से इसका सुचारु विकास होता गया और मुद्रण सम्बन्धी नवीन विधानों तथा यंत्रों के आविष्कारों से प्रेस का काम दिन दूना चढ़ता और बढ़ता गया। जिससे समाचारपत्र, मौलिक तथा अनुवाद ग्रंथ (संस्कृत और अंग्रेजी आदि भाषाओं के साहित्य से) तैयार हो होकर प्रचलित होने लगे। गद्य-रचना के क्षेत्र में अनेक विषयों के अंकुर निकल कर पल्लवित और पुष्पित होने लगे।

इसी काल में एक सब से अधिक प्रभावशाली और प्रधान आन्दोलन देश में उठा, जिसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य और भाषा-गद्य की वृद्धि-समृद्धि पर सबसे अधिक पड़ा। यह आन्दोलन धार्मिक रूप में हुआ है। इसके पूर्व हम कुछ राजनैतिक आन्दोलनों की चर्चा करना उचित समझते हैं, क्योंकि यहाँ हम राजनैतिक परिवर्तनों को ही प्राधान्य देते आये हैं।

सन् १८५७ ई० में राजनैतिक क्षेत्र में एक विशाल विप्लव की लहर उठी, जिसका प्रभाव बंगाल, विहार, युक्त प्रान्त और कुछ २ मध्य हिन्द पर भी ख़ूब पड़ा। यह राजनैतिक क्रान्ति (ग़दर) के रूप में उठा, किन्तु इसमें सफलता न मिल सकी, सरकार ने इसे दबाकर फिर सुख-शान्ति पूर्ण शासन-कार्य स्थापित कर दिया। इस आन्दोलन का हमारे हिन्दी-साहित्य पर कोई भी विशेष प्रभाव न पड़ सका क्योंकि यह बहुत ही अल्पकालीन था।

इस आन्दोलन के पश्चात् सुख-शान्ति की सुन्दर समीर का सेवन करता हुआ देश ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और अन्य उप-

योगी कार्यों में सम्पूर्ण शक्ति के साथ लग गया। देश में सामाजिक, धार्मिक और जातीय सुधार के आन्दोलन अवश्यमेव होते रहे, जिनसे भाषा-साहित्य का विकास-प्रकाश ही होता रहा, कुछ काल के उपरान्त राजनैतिक क्षेत्र में एक नवीन तरंग राष्ट्रीय भाव के साथ उठ चली, इसके प्रभाव से समस्त भारतीय (अखिल भारतवर्षीय) कांग्रेस या राष्ट्रसमिति की स्थापना हो गई और सारे देश में राष्ट्रीय (National) तथा राजनैतिक (Political) जाग्रति हो चली, फलतः हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रवर्धन और गद्य का विशद विकास होने लगा। साथ ही साहित्य में भी राष्ट्रीय तथा नैतिक भावों (देश-प्रेम, भाषा-प्रेम, राष्ट्रीय-भक्ति, आदि से संबंध रखने वाले विचारों) का उदय हो गया।* इस आन्दोलन को देश के धार्मिक आन्दोलन से बहुत बड़ी शक्ति और जाग्रति प्राप्त हुई है। कह सकते हैं कि यह उसी का एक विशेष रूप है।

इस राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख प्रमुख अंगों के आधार पर इसी के अन्तर्गत अन्य कई आन्दोलन, यथा स्वदेशी-प्रचार आदि, देश में प्रचलित हुए, जिनके प्रभाव से देश में समाचारपत्रों और हिन्दी-गद्य का विकास-प्रचार बड़ी द्रुत गति एवं वेग-बल से हो गया। साथ ही राष्ट्रीय नेताओं तथा महापुरुषों के जीवन-चरित्रों से भी साहित्य के एक विशेष अंग की पूर्ति होने लगी।

—:*:—

धार्मिक दशा

यह तो स्पष्ट ही हो चुका होगा कि मुग़ल-काल में पौराणिक भक्ति-धर्म के साथ ही साथ कबीर आदि के द्वारा

---

*वीर काव्य तथा जयकाव्य का तो पूर्ण लोप हो गया। उनके स्थान पर अब राष्ट्रीय (देश-प्रेम) काव्य का, जो प्रायः मुक्तक काव्य के ही रूप में पाया जाता है, प्राधान्य-प्राचुर्य हो गया। —सम्पादक

चलाये जाने वाले व्यक्तित्व प्राधान्य पूर्ण कतिपय पंथ, जिनका उल्लेख हम प्रथम ही कर आये हैं, विशेषतया निम्न श्रेणी की जनता में प्रचलित हो गये थे, यद्यपि इन सब में भक्ति और प्रेम के मूल तत्व सन्निहित थे, तथापि इनके रूप व्यक्तित्व प्राधान्य तथा तत्कृत रुचि या मत-पार्थक्य के कारण पृथक् पृथक् ही बन गये थे। मुसलमानों के प्रभाव से भी यहाँ की धार्मिक परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था। अब अंग्रेज़ों के मिशनरी लोग भी अपना क्रिश्चियन धर्म यहाँ फैलाने लगे थे।

कला-काल में धार्मिक दशा की ओर लोगों ने बहुत ही कम ध्यान दिया था और उस समय इसकी कुछ विशेष आवश्यकता भी न थी, क्योंकि उसके पूर्ववर्ती भक्ति-काल में धार्मिक परिस्थिति को सुधारने के लिये पर्याप्त प्रचार-कार्य हो चुका था। कला-काल में इसीलिये इस ओर विशेष ध्यान न दिया गया, इसका फल यह हुआ कि भक्ति-काल में प्रचलित होने वाले सुन्दर धार्मिक-सिद्धान्तों में बहुत कुछ त्रुटियाँ तथा अनीप्सित बातें आ गईं। यह अवश्य हुआ कि वे मूल सिद्धान्त कुछ न कुछ चलते तो अवश्य रहे, किन्तु कुछ रूपान्तर के ही साथ। अस्तु, इस समय में फिर धार्मिक जाग्रति के लिये नवीन आन्दोलनों की आवश्यकता हुई। भक्ति काल के पश्चात् धार्मिक क्षेत्र में बेपढ़े-लिखे या निरक्षर-भट्टाचार्यों का प्राचुर्य-प्राबल्य विशेष रूप से हो चला, संतों, साधुओं और उन भक्तों का माया-जाल बिछ चला, जो ज्ञानानुभव से पूर्णतया परे थे और केवल राम, कृष्ण-गोविन्द या शिव शिव की रट लगा कर साधारण जनता को अंधकूप में डालते हुए ठगने में पूरे पटु थे। इन्हीं लोगों के कारण अंध-विश्वास तथा उसके सहचर अन्य दोषों का घना घटाटोप देश और समाज पर छा गया और पापाचार की वृद्धि हो चली। देश और समाज की यह दुरावस्था देखकर विद्वानों

का ध्यान धार्मिक तथा सामाजिक सुधार की ओर आकृष्ट होने लगा।

इसी समय महर्षि दयानन्द जी का धार्मिक-आन्दोलन उठा और आर्यसमाज की स्थापना होकर उसके द्वारा धार्मिक सुधार का कार्य बड़े बल-वेग से प्रारम्भ किया गया। स्वामी जी तथा उनकी आर्यसमाज ने देश एवं समाज में नवीन जीवन का संचार कर दिया, जाग्रति की एक नवीन ज्योति जगा दी और ज्ञान की नई प्रभा प्रस्तारित कर दी, स्वामी जी ने देश में प्रचलित सभी मत-मतान्तरों, पंथों तथा संप्रदायों आदि का खंडन तीव्र आलोचक की भाँति करते हुए अपने प्राचीन वैदिक-धर्म का चारों ओर सभाओं और व्याख्यानों आदि के द्वारा पूर्ण प्रचार किया। धार्मिक-प्रचार के लिये, जैसा हम प्रथम ही दिखला चुके हैं, सदैव प्रत्येक धर्म-प्रचारक को जनसाधारण की सामान्य बोल-चाल सम्बन्धी भाषा का ही सहारा लेना पड़ता है। ऐसा ही बुद्ध भगवान ने किया था, ऐसा ही जैनमत-प्रचारकों ने किया था और यही स्वामी जी ने भी किया, क्योंकि जब तक जनसाधारण की बोली या उसके विकसित रूप वाली परिष्कृत भाषा का उपयोग न किया जावे तब तक धार्मिक प्रचार पूर्ण रूप से सफल होकर व्यापक और विस्तृत नहीं हो सकता।

यही विचार कर स्वामी जी ने हिन्दी भाषा के उस रूप का उपयोग किया, जिसे हम खड़ी बोली कहते हैं; क्योंकि यही भाषा उस समय व्यापक और सर्वसाधारण के उपयुक्त समझी जाने लगी थी। इसी भाषा को स्वामी जी ने उठाकर धार्मिक-साहित्य की रचना में प्रयुक्त किया और "सत्यार्थ प्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका" आदि कई स्तुत्य ग्रंथ गद्य में लिखे और खड़ी बोली के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रस्तार किया।

इस आन्दोलन का प्रभाव देश तथा समाज की धार्मिक और

सामाजिक स्थिति पर तो पड़ा ही, हिन्दी और संस्कृत साहित्य पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। लोगों का ध्यान संस्कृत-साहित्य की ओर फिर समाकृष्ट हो गया और उसके अध्ययन तथा परिशीलन का कार्य उमंगोत्साह के साथ होने लगा, लोग उसके रत्नों का अन्वेषण करके प्रकाश करने लगे। संस्कृत-ग्रंथों के हिन्दी भाषा में नवीन अनुवाद हो चले, जिससे दोनों साहित्यों का प्रकाश-प्रचार बढ़ गया। संस्कृत का पठन-पाठन भी बढ़ चला, जिससे विद्या का प्रचार-प्रस्तार होने लगा और संस्कृत के साहाय्य से हिन्दी भाषा का भी विकास और परिमार्जन हो चला। हिन्दी अब परिष्कृत, शिष्ट सौष्टवपूर्ण होती हुई गंभीर, सम्पन्न और प्रौढ़ होने लगी। उच्चकोटि के साहित्य की रचना के योग्य जो क्षमता भाषा में होनी चाहिये, वह हिन्दी में संस्कृत के आधार या साहाय्य से ही अब आ चली।

स्वामी जी के खंडन, मंडन और व्याख्यान आदि का भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, साहित्य में समालोचना (खंडन-मंडनात्मक शैली से) का विकास-प्रकाश हो गया और तर्कपूर्ण विवेचनात्मक रचना-शैली भी चल निकली। गद्य में वाग्वैचित्र्य, व्यंजनापूर्ण कथन-कौशल तथा वर्णन या विवेचन-चातुर्य का संचार हो चला और हास्यरस की भी पुट आने लगी।*

स्वामी जी ने शास्त्रादि के अन्य गंभीर विषयों की ओर भी जनता, विशेषतया पठित समाज का ध्यान आकर्षित किया, जिससे विविध गंभीर विषयों का भी प्रकाश हिन्दी में हो चला और गद्य में विषय-विवेचन-क्षमता तथा गंभीरता आदि के गुण आने लगे। इस प्रकार कह सकते हैं कि स्वामी जी तथा उनके आन्दोलन से हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य का बहुत बड़ा उपकार एवं विवर्धन हुआ, एतदर्थ ये दोनों उनके चिर ऋणी या आभारी रहेंगे।

---

* हिन्दी में धार्मिक तथा सामाजिक पत्र-पत्रिकायें भी निकलने लगीं।

अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य से प्रभावित हो कर बंगला भाषा तथा उसके साहित्य ने अच्छा विकास और उत्थान प्राप्त कर लिया था। जब बंगालियों को अंग्रेज़ी नौकरियों एवं व्यापारादि के कारण युक्त प्रान्त में आना पड़ा और युक्त प्रान्तीयों को बंगाल में जाना पड़ा और इस प्रकार दोनों जातियों का सम्पर्क हुआ, तब दोनों की भाषाओं और उनके साहित्यों में पारस्परिक अदान-प्रदान हो चला, दोनों परस्पर प्रभावित हो चले, फलतः बङ्गाली साहित्य तथा भाषा की बहुत सी बातें हिन्दी-साहित्य और भाषा में और हिन्दी की बहुत सी बातें बंगला में आ उपस्थित हुईं। बङ्गला भाषा में नाटकों तथा उपन्यासों का अच्छा साहित्य था जिसे देख कर हिन्दी-सेवियों ने अपनी भाषा की इस कमी के पूर्ण करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। यह प्रयत्न विशेष रूप से तो अनुवाद के ही आधार पर हुआ और मौलिक रचना के आधार पर बहुत कम हुआ।

बङ्गला-काव्य का भी प्रभाव यहाँ के कवियों पर ख़ूब पड़ा और उसी के अनुकरण में यहाँ भी काव्य-रचना होने लगी। बङ्गला के कुछ छंद उनकी रचना-शैली, वहाँ की काव्य-परम्परा या पद्धति की कुछ रूढ़ियाँ हिन्दी में भी व्यवहृत होने लगीं। संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता या प्रचुरता साहित्यिक बङ्गला भाषा में बहुत पाई जाती है, उसी की देखादेखी हिन्दी में भी संस्कृत-शब्दावली का प्राधान्य तथा प्राचुर्य हो चला। बङ्गालियों की दुर्गा तथा काली आदि देवियों की उपासना का प्रचार यहाँ भी हो गया और साहित्य में उनके स्तवन-सम्बन्धी काव्यों की भी रचनायें हो चलीं। इनका खंडन स्वामी जी ने ख़ूब किया, जिससे उपासना का बल-वेग कुछ कम हो गया।

मुसलमानों के कारण जो पीर, ग़ाज़ी आदि की पूजा देश की हिन्दू-जनता में प्रचलित हो गई थी उसका भी बड़े ही तीव्र

रूप से स्वामी जी ने खंडन करके निषेध किया और धीरे २ उसका भी प्रचार कम हो चला। नीच जातियों में इसी प्रकार जो प्रेत, पिशाचादि की पूजायें होने लगी थीं, उनका भी लोप स्वामी जी के प्रताप से धीरे २ होने लगा और इस प्रकार धार्मिक जाग्रति हो चली, जिससे अंध-विश्वास का अंधकार दूर होने लगा। इसी प्रकार क्रिश्चियन धर्म के बढ़ते हुए प्रचार में भी पूर्ण शिथिलता स्वामी जी के ही प्रताप से आ गई। देश की चारित्रिक दशा के सुधार की ओर भी स्वामी जी ने पूरा ध्यान दिया और मनुस्मृति के आधार पर कर्तव्याकर्तव्यों की शिक्षा लोगों को दी। इनके प्रतिवाद से सगुण-साकार ब्रह्म की उपासना पर भी कुछ प्रभाव पड़ा और उसकी व्यापकता एवं मर्यादा में कुछ न्यूनता या संकीर्णता सी आ चली। इन सब बातों से धार्मिक काव्य-रचना की प्रगति में अच्छी शिथिलता का संचार हो गया। *

* यह बात स्मरण रखने के योग्य है कि जिस प्रकार भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से भक्ति-काव्य का प्राचुर्य-प्रचार हुआ था उसी प्रकार इस आर्य्यसमाज के आर्य या वैदिक धर्म के आन्दोलन से धार्मिक काव्य का प्रचार-प्राचुर्य नहीं हुआ, कारण इसका यह था कि यह समय गद्य के प्राधान्य का ही समय था तथा इस धर्म के प्रचारकों में कवि न थे, वरन् व्याख्यानदाता तथा गद्य-लेखक ही विशेष रूप से कार्य करते थे। साथ ही यह धर्म या मत ज्ञान, विवेक तथा तर्क को प्राधान्य देता था, न कि प्रेम और भक्ति को, अतः इसमें बुद्धितत्व या बोध-वृत्ति का ही प्राबल्य था। हृदय-तत्व या मनोवृत्ति का नहीं। इसीसे कवि लोग अपनी कविताओं के द्वारा इसमें कुछ भी सहयोग न दे सकते थे, क्योंकि यह उनके लिये नीरस और अनुपयुक्त सा ही ठहरता था।

भक्ति-आन्दोलन की देखादेखी आगे चल कर कुछ आर्य-समाजियों ने अपने वैदिक धर्म तथा सामाजिक सुधारों के प्रचारार्थ संगीत से अवश्यमेव सहायता ली और गानों के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रभाव जनता

सामाजिक दशा—देश की सामाजिक दशा में भी मुसलमानों के प्रभाव से बहुत कुछ रूपान्तर हो गया था। समाज में बहुत सी बुराइयाँ आ गई थीं, जिससे समाज गिरती जा रही थी। यद्यपि समाज में अभी तक संगठनात्मक शक्ति मौजूद थी, तथापि वह अपने उस प्रौढ़ रूप में न रह गई थी, वरन् उसमें भी हीनता आने लगी थी और इसीसे वैमनस्य तथा पार्थक्य की भावनायें बढ़ चली थीं। कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञान के अभाव से सामाजिक परिस्थिति और भी शोचनीय होती जा रही थी। बाल-विवाह, आदि की कुप्रथायें प्रचलित हो गई थीं, जिससे बाल-वैधव्यादि भयंकर परिणाम हो रहे थे। स्त्री-समाज में पर्दा-प्रथा का ऐसा चलन हो चुका था कि उससे उसकी संस्कृति और शिक्षा आदि का विकास सर्वथा बन्द ही हो गया था। बिलासिता के प्रभाव से व्यभिचार का भी ज़ोर बढ़ रहा था। स्वामी जी ने इन सब बुराइयों की ओर भी अपना मुख्य ध्यान दिया और इनके दोष तथा कुपरिणामादि दिखलाते हुए इनके त्यागने का उपदेश किया। उनके उपदेश से इनके प्रचार में भी बहुत कुछ कमी हो गई।*

मुसलमानों के प्रभाव से हिन्दू-समाज के पहिनावे-ओढ़ावे, शिष्टाचार तथा आचार-विचार आदि में जिस प्रकार रूपान्तर हो गया था, उसी प्रकार अब अंग्रेज़ों के प्रभाव से भी होने लगा था। अंग्रेज़ों के व्यापार से देश की आर्थिक दशा में भी परिवर्तन हो चला था।

पर डालने लगे। आगे चल कर पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा ही इस समाज में सर्वश्रेष्ठ कवि हुए, जिन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक भावों का अपने काव्य में समावेश किया।

* इससे अशिष्ट शृंगार-काव्य में भी जनता की कुरुचि हो गई और ऐसे काव्य में शिथिलता आ चली।

इन सब परिवर्तनों से काव्य में वेश-भूषा तथा ऐसी ही अन्य बातों का वर्णन जो प्रथम सर्वथा सत्य था, अब केवल कवि-परम्परा कृत या काल्पनिक और रीति-रूढ़ि सा ही समझा जाने लगा। सामाजिक शिष्टता, सभ्यता तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाली अन्य व्यावहारिक बातों के तथ्य-कथन सम्बन्धी काव्य का भी यही हाल हुआ।

नवीन शासक तथा शासन-पद्धति के प्रभाव से राज-दरबारों तथा नवाबी या शाही मजलिसों में भी बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया था। राजाओं तथा बड़े आदमियों पर तो साधारण जनता की अपेक्षा, अंग्रेज़ों, उनके साहित्य, उनकी भाषा तथा सभ्यता आदि का प्रभाव अधिक शीघ्र और बल-वेग से पड़ा था, अतः अब राज-दरबारों में हिन्दी तथा उर्दू के काव्य-साहित्य का वह मान-सम्मान तथा स्थान न था जो इस समय के पूर्व रहा था। हाँ केवल कुछ ही राज-दरबार ऐसे बचे थे जहाँ अभी हिन्दी काव्य-साहित्य की चर्चा न्यूनाधिक रूप में होती जाती थी। यह अवश्य था कि अब राज-दरबार साहित्य-रचना के केन्द्रों के रूप में न रह गये थे। प्रथम राज-दरबारों में कवि-काव्य-परीक्षा तथा मनोरंजनार्थ समस्या-पूर्ति सम्बन्धी काव्य-कला-कौशल* हुआ करता था, अब वह भी शिथिल होता हुआ लुप्तप्राय सा हो चला था। हाँ यह कार्य (समस्या-पूर्ति) अब कवियों तथा काव्य-रसिकों के ही द्वारा विशेष २ स्थानों में स्थापित की गई कवि या काव्य-समाजों में ही विशेष रूप से होने लगा था, जो फिर परिस्थिति के प्रभाव से शनैः शनैः अति हीन दशा को प्राप्त हो गया।

---

* इस सम्बन्ध में देखिये श्री रसाल जी की "समस्या-पूर्ति" शीर्षक लेख माधुरी में या "समस्या पूर्ति-प्रकाश" नामी पुस्तक। —सम्पादक

अस्तु, अब हम निष्कर्ष रूप में यों कह सकते हैं कि इस काल में धार्मिक आन्दोलन के साथ ही साथ सामाजिक सुधार सम्बन्धी आन्दोलन भी महर्षि दयानंद जैसे परम दूरदर्शी नेताओं के द्वारा उठाये गये और सामाजिक दशा के सुधारने का प्रयत्न किया गया। इसका भी प्रभाव हमारी हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य पर पड़ता गया और धीरे धीरे बढ़ता हुआ भाषा और साहित्य की वृद्धि करता गया। सामाजिक कुरीतियों को उठाकर लेखकों ने गल्प, नाटक, उपन्यास आदि की रचना प्रारम्भ कर दी, जिससे गद्य-काव्य की कमी दूर हो चली। मुद्रण यंत्रों तथा समाचार पत्रों ने इन सब के प्रचार-प्रस्तार में बहुत बड़ी सहायता दी है। सामाजिक साहित्य में गद्य का ही प्राधान्य रहा, कुछ थोड़ा सा सामाजिक साहित्य पद्य में भी लिखा गया है।

साहित्य-रचना-केन्द्र—हम प्रथम ही यह देख चुके हैं कि परिस्थितियों तथा आन्दोलनादि के प्रभावों से भिन्न २ कालों में साहित्य-रचना के केन्द्र जनता की रुचि तथा देश-काल की आवश्यकता का पूर्ण अध्ययन करके तदनुकूल विचार-धारा को प्राधान्य देते हुए रचना करने वाले प्रधान कवियों तथा विद्वानों के स्थानों और साहित्य-रचना को प्रोत्साहन प्रदान करने वाले राजा-महाराजाओं के राजदरबारों में रहते रहे हैं। अब देश, काल तथा परिस्थितियों में नवीन रूपान्तर एवं परिवर्तन हो चुका था, साथ ही विचार-धारा भी बहुत कुछ बदल गई थी, अस्तु, इन परिवर्तनों के प्रभाव से भाषा एवं साहित्य में भी पर्याप्त रूप से परिवर्तन एवं रूपान्तर हो चला था, इसीलिये साहित्य-रचना के कार्यों और केन्द्रों में भी हेर-फेर होना अनिवार्य हो गया था।

प्रथम आन्दोलनों तथा केन्द्रों के कारण भाषा में यह प्रभाव पड़ा था कि उनसे सम्बन्ध रखने वाली भाषायें ही उठाई जाकर साहित्योचित बनाई जाती और प्रचलित की जाती थीं। उनमें

प्रान्तीयता की पुट ख़ूब रहती थी। सम्पर्क-सम्बन्ध की संकीर्णता तथा उनका प्रस्तार करने वाले साधनों की अविद्यमानता से भाषा तथा साहित्य का प्रस्तार विस्तृत रूप में न हो सकता था, उसका एक निश्चित साहित्यिक रूप, प्रान्तीय बोलियों की विशेषताओं से अप्रभावित हुए बिना, चारों ओर फैलकर सर्वमान्य एवं व्यापक न हो सकता था। यद्यपि व्रजभाषा को इसका अपवाद होकर विस्तृत रूप से विकसित होने और फैल कर व्यापक होने का अच्छा सुअवसर और सौभाग्य प्राप्त हुआ था, क्योंकि उसके भक्त कवि भक्ति-काव्य के प्रचार के साथ तीर्थ-यात्रादि के साधनों से उसका भी प्रचार-प्रस्तार करते थे और कवि लोग भिन्न २ राजदरबारों में घूम घूम कर भी यही कार्य करते थे, फिर भी उसमें प्रान्तीय बोलियों का प्रभाव पड़ता ही था और इसी से उसका साहित्योचित एक निश्चित रूप स्थिर होकर प्रचलित न हो पाता था।

अब यह बात न थी, क्योंकि अब रेल-तार आदि के प्रचार से सम्पर्क-सम्बन्ध की सीमा ख़ूब विस्तृत हो रही थी और छापेखानों तथा अख़बारों के कारण भाषा का एक रूप चारों ओर देश में फैल सकता था। हाँ, यह अवश्य था कि इस प्रकार भाषा की न्यूनाधिक रूप से, एकरूपता का प्रचार होते हुए भी गद्य की रचना-शैलियों में अवश्यमेव वैभिन्न्य रहता था किन्तु यह बात भाषा और साहित्य के लिये जीवनप्रद तथा सफलता के साथ विकास-कारिणी ही है।

यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय जान पड़ती है कि अब रचनाओं के केन्द्र तो निश्चित न रह सके, हाँ रचनाओं के प्रकाशन-केन्द्र अवश्यमेव निश्चित हो गये। जहाँ जहाँ प्रेस खुलते गये, वहीं वहीं प्रकाशन-कार्य होने लगा और वहीं वहीं पुस्तक-प्रकाशन के केन्द्र बनते गये। प्रेस खोलने के लिये धन की आवश्यकता थी

अतएव धनीजन ही प्रेस-अध्यक्ष और प्रकाशक हो चले। कलकत्ता, मुम्बई, दिल्ली, अजमेर, इलाहाबाद, बनारस और लखनऊ आदि में धीरे धीरे हिन्दी-ग्रंथ-प्रकाशन के केन्द्र हो गये। स्वामी जी के खंडन-मंडन से लोगों को प्राचीन ग्रंथों के खोजने तथा उनका अवलोकन कर प्रमाण रूप में रखने की आवश्यकता तथा इच्छा हुई। अतएव पुस्तकों एवं ग्रंथों की माँग बढ़ने लगी। इसे और भी अधिक बल मिला, अंग्रेज़ों के खोज-विभाग (Indian Antiquary Research Department) से, अंग्रेज़ लोग खोज करने में बड़ी दिलचस्पी रखते हैं और प्राचीन पुस्तकों की ख़ूब खोज करते हैं। उनके प्रभाव से प्राचीन ग्रंथों की खोज में बड़ी सराहनीय सफलता तथा उत्साहोत्सुकता से कार्य हुआ। फलतः अनेक प्राचीन संस्कृत-ग्रंथ खोज कर प्रकाशित किये गये और सुचारु रूप से छापे गये। इन ग्रंथों को सुबोध करने के लिये इनके भाषानुवाद भी प्रकाशित किये गये। बम्बई के श्री वेंकटेश्वर और निर्णय-सागर नामी प्रेसों तथा लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस ने इसमें बहुत बड़ा स्तुत्य कार्य किया और अनेक प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों का (मूल तथा भाषानुवाद रूप में) प्रकाशन कर पुनरुद्धार किया, जिससे प्राचीन ग्रंथों तथा साहित्य की सुरक्षा तथा विशद वृद्धि हुई और देश में ज्ञान का आलोक फैल गया।

यह हम लिख ही चुके हैं कि अंग्रेज़ी सरकार ने शिक्षा-विभाग खोल कर तथा शिक्षा-प्रस्तार के लिये पाठ्य पुस्तकों का विधान बनाते हुए उसके द्वारा देश और जनता में हिन्दी का विकास-प्रकाश बढ़ाया। पाठ्य पुस्तकों के प्रभाव से गद्य की वृद्धि में बहुत बड़ी सहायता मिली, उसका रूप निश्चित होने लगा तथा वह साहित्योचित होता हुआ व्याकरणानुकूल तथा सुव्यवस्थित हो चला। शिक्षा-विभाग के प्रभाव से साहित्य में विविध विषयों की पुस्तकों का भी उदय होने लगा। विद्वान लोग गणित, भूगोल,

इतिहास, विज्ञान आदि विषयों की पुस्तकें तैयार करने लगे। इससे गद्य तथा भाषा में विविध विचारों को प्रस्फुटित तथा प्रकाशित करने की क्षमता या शक्ति आने लगी। वह व्यापक तथा विशद हो चला और विविध विषयोपयुक्त भिन्न भिन्न शैलियों के प्रभाव से उसमें परिष्कृत, परिमार्जित तथा प्रौढ़ विकासमय जीवन आ गया।

पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन-कार्य प्रथम सरकार की ही ओर से पथ-प्रदर्शन के रूप में किया गया और सरकारी प्रेसों में हिन्दी तथा उर्दू के विद्वानों से पुस्तकें तैयार कराई जा कर छापी गईं। इसके उपरान्त यह कार्य क्रमशः देश के दूसरे प्रकाशकों के ऊपर छोड़ा जाने लगा। प्रथम कलकत्ते से पाठ्य पुस्तकों की रचना तथा उनके प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हुआ, फिर क्रमशः प्रयाग, लखनऊ आदि अन्य स्थानों में भी यह कार्य होने लगा। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि खड़ी बोली के गद्य का कार्य इस प्रान्त से न प्रारम्भ हो कर सर्वप्रथम कलकत्ते से ही प्रारम्भ हुआ है। पं० लल्लुलाल और सदल मिश्र ही को खड़ी बोली के गद्य के प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त है। मो० इंशाअल्ला ख़ाँ भी इन्हें सहयोग देने के लिये प्रशंसा के पात्र माने जाते हैं। हाँ खड़ी बोली के ठेठ रूप को प्रचलित करने में ख़ाँ साहब ही सर्वप्रथम प्रवर्तक के रूप में माने जा सकते हैं। इन्हीं के प्रभाव से लखनऊ को हिन्दी-गद्य रचना के केन्द्र बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद, राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेन्दु-बाबू हरिश्चन्द्र आदि के कारण बनारस और प्रयाग को हिन्दी-साहित्य के केन्द्र होने का अवसर मिला है।

स्वामी दयानन्द जी सरस्वती के ही कारण अजमेरादि में हिन्दी का प्रचार-प्रस्तार हुआ और वहाँ हिन्दी के केन्द्र बन सके। सत्यार्थ-प्रकाशादि ग्रंथ यहीं से प्रकाशित हुए हैं।

अब तो साहित्यिक केन्द्रों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती हुई विशेष बड़ी संख्या हो गई है। सभी प्रधान नगरों में हिन्दी-साहित्य के बड़े बड़े केन्द्र उत्पन्न हो कर कार्य करने लगे हैं।

इस गद्य-काल के पूर्वार्ध काल में, जब हिन्दू राजाओं और नव्वावों के यहाँ से हिन्दी (तथा उर्दू) काव्य-साहित्य तथा कवियों आदि का समाज उखड़ गया था, कवियों ने भिन्न २ स्थानों में अपने मंडल स्थापित कर लिये थे और उनके द्वारा काव्य-प्रचार तथा उसकी श्री-वृद्धि का कार्य किया जाने लगा था। इनमें कुछ वे रईस लोग भी, जिन्हें काव्य से प्रेम था, सहयोग देते थे। विसवाँ आदि स्थानों की कवि-समाजों तथा वहाँ के कवि-मंडलों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इन्होंने इस काज में अच्छा कार्य किया है। इनके द्वारा कवियों के वृत्तान्त जानने में बड़ी सहायता मिली है।

इस काल के उत्तर काल में, जब राष्ट्रीय जाग्रति के प्रभाव से हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य के प्रति लोगों का प्रेम बढ़ा और उसकी सेवा करने का भाव प्रबल हुआ, हिन्दी भाषा तथा साहित्य की उन्नति के लिये कई संस्थायें खुलीं, जिनमें से दो संस्थायें विशेष प्रधान और उल्लेखनीय हैं : १—काशी नागरी-प्रचारिणी सभा और २—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन नामी संस्था। इन दोनों ने हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रचार तथा उनकी उन्नति बहुत सराहनीय सफलता के साथ की है। दोनों ने व्रज भाषा के प्राचीन साहित्य का उद्धार करते हुए नवजात खड़ी बोली के नव साहित्य का अच्छा प्रचार किया है। हाल ही में अभी "रसिक-मंडल" नामी एक संस्था व्रजभाषा तथा उसके काव्य की उन्नति के लिये प्रयाग में खुली है, यही एक ऐसी प्रधान संस्था कही जा सकती है जिसके द्वारा समय-सम्मानित व्रज भाषा का प्रचाराभ्युदय किया जा रहा है। इसके साथ

सभी गण्यमान्य कवियों एवं विद्वानों की प्रोत्सोहिनी सहानुभूति भी है।

—:*:—

विचार-धारा

यह काल एक विशेष प्रकार का परिवर्तन-काल कहा जा सकता है। इस काल में गद्य का ही पूर्ण प्राधान्य हुआ, हाँ उसके साथ ही साथ काव्य भी चलता रहा, किन्तु गौण एवं साधारण रूप में ही। चूँकि देश, समाज, भाषा, साहित्य एवं सभ्यता आदि पर अंग्रेज़ों का प्रभाव पड़ रहा था, इससे विचार-धारा में भी परिवर्तन होने लगा था, अंग्रेज़ी शिक्षा तथा नवीन आन्दोलनादि से जो जाग्रति हुई थी, उसके फल-स्वरूप में विचार-धारा भी भिन्न २ विषयों की ओर प्रवाहित हने लगी थी। नवीन विषय-वारि का उसमें संचार हो चला था।

जिस प्रकार सागर में प्रविष्ट होने से पूर्व नदी की धारा कई शाखाओं में विभक्त हो जाती है उसी प्रकार नवीन-साहित्य-रचना के समुद्र में प्रवेश करने से पूर्व विचार-धारा भी कई विषयों की शाखाओं में परिणत हो चली थी। यह भाषा तथा साहित्य का विकास-प्रकाश-काल था और विकास-वाद के सिद्धान्तानुसार विचार-धारा का बहुन्मुखी होते हुए विविध विषयों की ओर अग्रसर होकर भिन्न २ शाखाओं में विभक्त होना अनिवार्य ही था। यही बात है कि इस काल में भिन्न भिन्न विषयों की रचनायें होने लगीं।

यह हम दिखला ही चुके हैं कि इस काल के उत्तर काल में राष्ट्रीय भाव तथा देश-भाषा या राष्ट्र भाषा हिन्दी और उसके साहित्य के अभ्युत्थान का विचार बड़े बलवेग से चारों ओर फैल चले। इसका एक फल यह भी हुआ कि विद्वानों का ध्यान हिन्दी-साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति करने की ओर भी समा-

कृष्ट हो चला और वे लोग विविध विषयों की पुस्तकों से अपने हिन्दी-साहित्य के भंडार की श्री-वृद्धि करने लगे। जहाँ तक हम समझते हैं यही विचार ऐसा प्रधान हुआ और इसी की प्रेरणा का यह फल हुआ कि आज हमारा हिन्दी-साहित्य इस उन्नत दशा को प्राप्त हो गया है। इस समय में रेल आदि सम्पर्क-प्रवर्धक साधनों के सुलभ हो जाने से हिन्दी-भाषा भाषियों का सम्पर्क बंगालियों आदि अन्य प्रान्तीयों तथा अंग्रेज़ों आदि से ख़ूब हो चला था और दोनों एक दूसरे की भाषाओं तथा उनके साहित्यों से भी परिचित होने लगे थे, ऐसी दशा में हिन्दी-सेवियों को अपने साहित्य की संकीर्णता का ज्ञात होना तथा तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर अन्य साहित्यों की अपेक्षा इसकी हीन दशा का अनुभव होना अवश्यम्भावी था। अंग्रेज़ और बंगाली लोग इसके काव्योत्कर्ष को स्वीकार करते हुए भी इसके साहित्य को दीन, हीन तथा अकिंचन सा ही कहा करते थे, यह आत्म-सम्मानी हिन्दी-सेवियों को खल जाता था और इसी से उन्होंने विविध विषयों के ग्रंथों की रचना करके इस लांछन के दूर करने में तत्परता धारण कर ली थी। गद्य-रचना का अभाव देख कर वे अब इसी में पूर्ण बलवेग से लग गये थे और हिन्दी-साहित्य को ऊपर उठाकर अन्य साहित्यों की श्रेणी में सम्मानपूर्वक बिठाने में सफल हो रहे थे।

अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग भी हिन्दी की उपेक्षा करते थे, उसे भी दूर करने के भाव ने हिन्दी-सेवियों को पर्याप्त उत्तेजना प्रदान की।

इसका फल यह हुआ कि हिन्दी का गद्य-साहित्य तो अपने विविध अंगों की पूर्ति तथा उन्नति करता हुआ उत्तरोत्तर बढ़ता-चढ़ता गया किन्तु सब का ध्यान इसी की ओर लग जाने से काव्य-साहित्य शिथिल हो चला। यद्यपि इस समय में भी कवियों ने काव्य-रचनायें की हैं और प्रायः सभी पुरानी शैलियों को किसी न

किसी प्रकार न्यूनाधिक रूप में बनाये ही रक्खा है तथापि हम कह सकते हैं कि इस समय में काव्य-साहित्य का कोई भी सुन्दर तथा स्तुत्य कार्य न हो सका, कवि तो बहुत हुए, उन्होंने रचनायें भी बहुत कीं किन्तु वे सब हुए साधारण और रचनायें भी हुईं साधारण श्रेणी की ही। इस काल में केवल एक ही श्रेष्ठ महाकवि (भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र) हुआ जिसने इस काल के साहित्य की वास्तव में श्रीवृद्धि की और लज्जा रक्खी।

सब से प्रधान बात इस काल में यह हुई कि खड़ी बोली का प्रयोग काव्य में विशेष बलवेग के साथ किया जाने लगा और वह भी काव्य-भाषा बनाने का प्रयत्न कर चली। गद्य-रचना के क्षेत्र में तो उसका ही प्राधान्य सर्वमान्य होकर स्थापित हो ही चुका था, अब काव्य-रचना के क्षेत्र में भी वह अपना स्थान निश्चित करने का उद्योग कर चली। सरकारी शिक्षा-विभाग के स्कूलों तथा उनकी पाठ्य पुस्तकों के प्रवर्धन-प्रचार से खड़ी बोली व्यापक और सर्वसाधारण भाषा हो चली और व्रजभाषा जो साहित्य की सर्वप्रधान तथा व्यापक भाषा थी, जनता के परिचय-क्षेत्र से परे सी होने लगी, अतएव गद्य के समान काव्य के लिये भी यह उपयुक्त तथा उपादेय विचारी जाने लगी। विशेषतया उस समाज में जिसका सम्पर्क-सान्निध्य उर्दू और अंग्रेज़ी से बहुत विशेष था। काव्य में खड़ी बोली के प्रयुक्त किये जाने से एक लाभ यह अवश्य

नोट—ज्यों ज्यों खड़ी बोली का प्रचार-प्रस्तार समाचारपत्रों, पुस्तकों, व्याख्यानों आदि के द्वारा बढ़ता गया, त्योंही त्यों व्रज भाषा दूर होती गई और अपरिचित हो जाने से दुर्बोध, कठिन एवं कष्टसाध्य सी प्रतीत होने लगी, अतएव पठित समाज से वह परे सी हो चली। इसमें चूँकि कोई न तो सुन्दर व्याकरण ही था और न कोई पूर्ण कोष ही, जिनकी सहायता से लोग इसे सरलता के साथ शीघ्र सीख कर व्यवहृत कर सकें इसीसे प्रायः लोग इसका उपयोग न करने के लिये बाध्य-से हो चले। यह अवश्य है

हुआ कि वे लोग भी खड़ी बोली में काव्य-रचना करके हिन्दी की सेवा करने लगे, जो उर्दू भाषा तथा उर्दू व्यवहारी समाज से सम्बन्ध रखने वाले होकर उर्दू में ही अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रकाशन करना चाहते थे। खड़ी बोली चूँकि यह व्यापक सर्व-साधारण सी थी तथा उर्दू के साँचे में ढली सी थी उन लोगों के लिये सरल और सुसाध्य ठहरती थी, जो व्रजभाषा जैसी प्रौढ़ साहित्यिक भाषा से बहुत परे रहते थे और उसे कठिनता से व्यवहृत कर सकते थे। ऐसे ही कारणों से खड़ी बोली का प्रयोग काव्य में और भी बढ़ चला। समाचार पत्रों तथा पाठ्य पुस्तकों से इसके प्रचार-प्रवर्धन में बहुत बड़ी सहायता मिली। इतना होने पर भी व्रजभाषा और व्रजभाषा-काव्य के सामने खड़ी बोली और

कि साधारण जनता अपनी व्रजभाषा-प्रभावित संस्कृति (Culture) के आधार पर इसे तथा इसके काव्यामृतफल को उसी प्रकार परम श्रद्धा-प्रेम के साथ सब प्रकार अपनाये ही रही और प्राचीन शैली के अनुयायी तथा व्रज भाषा और तत्काव्य के पंडित जन इसका उपयोग एवं पठन-पाठन उसी प्रकार करते रहे। इसके सत्काव्य-माधुर्य ने भी इसकी बहुत बड़ी रक्षा की है और उसी के प्रभाव से लोग इसे तथा इसके काव्य-साहित्य को किसी भी प्रकार छोड़ नहीं सके। भक्त लोगों में इसका पूरा प्रचार और प्रभाव बना ही रहा, क्योंकि यही उनके पठनीय भक्ति काव्य की एक मात्र भाषा थी और इसीसे यही श्रद्धा और भक्ति की अधिकारिणी थी। खड़ी बोली में चूँकि अभी थोड़े ही समय से काव्य-रचना होने लगी थी और कुछ नये लोग, जो अंग्रेज़ी और उर्दू से ही विशेष परिचित और प्रभावित थे, नये ढंग से (जिससे साधारण जनता अपनी चिरस्थापित संस्कृति के कारण परिचित न थी) इसमें काव्य-रचना करने लगे थे, अतः उनकी रचनायें केवल साधारण श्रेणी की ही रहती थीं। काव्य-मर्मज्ञ पंडित जन अभी तक खड़ी बोली से पूर्ण परिचित न थे और व्रज भाषा में ही रचना करते जा रहे थे।

उसके काव्य को सफलता न मिल सकी, उसका प्रचार, प्रस्तार तथा प्रभाव न बढ़ सका, जनता उसे स्वीकार न कर सकी, क्योंकि उसे इसमें वैसा सौंदर्य, माधुर्य, लालित्य, वैचित्र्यपूर्ण चमत्कृत-चातुर्य और प्रौढ़ प्रतिभा-पूर्ण सरस मनोरंजक कला-कौशल न मिल सका। हाँ, नई रोशनी के सज्जनों में, जो व्रजभाषा से दूर थे, अवश्य ही समाचारपत्रादि के प्रभाव से खड़ी बोली के काव्य का कुछ प्रचार-प्रस्तार हो सका, किन्तु वे लोग भी व्रजभाषा-काव्य के समझ जाने पर इसे साधारण श्रेणी में ही स्थान देते रहे। समाचार-पत्रों और खड़ी बोली के नव कवियों ने व्रजभाषा तथा उसके काव्य की उपेक्षा एवं अवहेलना करने के भाव को फैला कर उसे जनता की संस्कृति से निकाल कर दूर फेंकने तथा उसके स्थान पर अपने खड़ी बोली के काव्य को रखने का बड़ी आयोजन तथा सबल प्रयत्नशीलता से आन्दोलन और उद्योग किया, किन्तु सफलता बहुत ही कम हुई।

निष्कर्ष रूप में हम सकते हैं कि इस काल में देश और समाज की विचार-धारा कई मार्गों में प्रवाहित हो चली और उसमें विविध विषयों की सलिल-राशि भी आने लगी। जनता की रुचि में भी बहुरूपता आ गई और वह अंग्रेज़ी साहित्य तथा सभ्यता से प्रभावित होकर पाश्चात्य साँचे में ढलने सी लगी। सभ्यता-संस्कृति में भी रूपान्तर सा हो चला तथा इन पर समाधारित रहने वाले साहित्य में भी नवीनता आने लगी। लोगों का ध्यान साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति विविध विषय-सम्बन्धी ग्रन्थों से करने की ओर समाकृष्ट हो चला। प्रथम नाटकों, उपन्यासों और कहानियों की रचनाओं का ख़ूब प्रचार हुआ। मौलिकता तो इनमें कम रही, अनुवाद और छायानुवाद की प्रधानता विशेष रही। फिर गंभीर विषयों के लेखों की ओर लोगों का ध्यान गया और इसका कार्य भी हो चला। सामाजिक सुधार तथा राष्ट्रीयता के भावों का उत्तरोत्तर

उत्कर्ष एवं विकास-प्रकाश होता गया। वैज्ञानिक अध्ययन तथा शैली का प्रचार-प्राबल्य भी हो चला और भाषा-सौष्ठव, रचना-शैली का परिमार्जन तथा शिष्टाचार-विचार का भी प्राचुर्य हुआ।

भाषा और गद्य-विकास

इस काल में चूँकि गद्य का ही पूर्णतया प्राधान्य हुआ है, इसीलिये हम यहाँ प्रथम गद्य के ही विकास पर संक्षेप रूप से प्रकाश डालना उचित और उपादेय समझते हैं।

पूर्ववर्ती अध्यायों से यह स्पष्ट ही हो चुका होगा कि भक्ति-काल में उठने वाली व्रज भाषा उस काल के महा कवियों तथा अन्यान्य बहुत से सुकवियों के प्रयास से उत्तरोत्तर उत्कर्ष और परिमार्जन करती हुई साहित्योचित उन्नति के साथ पूर्णतया प्रौढ़, परिपक्व और परिष्कृत हो चुकी थी, पूर्व कला-काल में वह कला-कुशल कवियों के द्वारा अलंकारों से समलंकृत हो कर और भी अधिक सुन्दर, सरस और सुसज्जित हो गई। ऐसी दशा में यह समस्त भाषाओं से कहीं अधिक श्रीसमृद्धि-सम्पन्न और सुगुणालंकृत हो गई, अतः काव्य-क्षेत्र में इसे ही पूरा प्राधान्य तथा सम्मान प्राप्त हुआ।

उत्तरालंकृत काल में इसे अलंकारों से विशेष लाद दिया गया, जिससे इसकी स्वाभाविक सुन्दरता, रमणीयता आदि को कुछ धक्का पहुँचने लगा और इसमें कुछ भद्दापन सा भी दीखने लगा। साथ ही इसका उपयोग गद्य में सफलता के साथ न हो सका। बस यह एक काव्योचित तथा पद्योपयोगी भाषा ही रह गई। शृङ्गार रस-राशि से बहुत अधिक संसिक्त कर दिये जाने तथा लालित्य, मार्दव और कला-कौशल आदि गुणों से परिपूर्ण कर दिये जाने से इसमें वह बात न रह गई, जिसका होना गद्योचित साहित्यिक भाषा के लिये अनिवार्य है।

कला-काल के पश्चात् जब नव परिस्थितियों आदि के प्रभाव से गद्य की अनिवार्य आवश्यकता हुई तब इस काव्योचित अलंकृत व्रजभाषा से काम न चल सकते देख विद्वानों को एक दूसरी साहित्यिक गद्योचित भाषा का रूप निश्चित करना पड़ा। व्रजभाषा का उपयोग प्रथम भी गद्य में किया गया था और सफलता न मिली थी, यह देखते हुए भी कुछ लेखकों ने इस समय भी प्रथम व्रजभाषा का ही प्रयोग अपनी गद्य-रचनाओं में यह सोच कर किया कि गद्य-रचना में व्रजभाषा का सफल उपयोग इसलिये कदाचित् नहीं हो सका, चूँकि ऐसा प्रायः पूर्व कालों में न तो कवियों ने ही किया और न किसी गद्य-लेखक ने ही; किन्तु इन लेखकों को भी इस प्रयत्न में सफलता न मिली क्योंकि व्रजभाषा में गद्योपयुक्त क्षमता रह ही न गई थी। यही देख कर कुछ अन्य गद्य-लेखकों ने खड़ी बोली का उपयोग गद्य-रचना में करना प्रारम्भ किया क्योंकि उन्होंने देखा कि इसी का एक विशिष्ट रूप, जिसे उर्दू का नाम दिया गया है और जो एक प्रकार से राष्ट्र (राज) भाषा सी हो रही है, गद्य में सफलता के साथ प्रयुक्त हो रहा है। अतएव यदि खड़ी बोली को उर्दू के साँचे में ढाल कर गद्य में प्रयुक्त किया जायगा तो अवश्य सफलता प्राप्त हो सकेगी। व्रजभाषा के समान अवधी भाषा भी काव्योपयुक्त भाषा सिद्ध हो चुकी है, अतएव वह भी गद्योचित भाषा बनने में असफल सिद्ध होगी। अन्य प्रान्तीय भाषायें अभी तक ग्रामीण रूप में ही हैं, उनमें साहित्योचित क्षमता न आ सकी और न उनका शिष्ट तथा सुष्टु रूप ही निश्चित हो सका है, अस्तु उनका उपयोग भी नहीं किया जा सकता। साथ ही अब इतना समय भी नहीं है कि किसी भाषा को उठाकर उसे प्रथम साहित्यिक भाषा का रूप दिया जावे और फिर उसको गद्योपयुक्त बना कर प्रयुक्त किया जावे, क्योंकि समय और समाज

की आवश्यकता और पुकार ऐसी है कि शीघ्रातिशीघ्र ही एक साहित्यिक रूप वाली गद्योचित भाषा उठाई जाकर गद्य-रचना का कार्य पूर्ण वल-वेग से चला दिया जावे । पत्र पत्रिकाओं, गद्य-ग्रंथों तथा शिक्षा-विभाग के द्वारा खोले गये स्कूलों में पाठ्य पुस्तकों का जो कार्य प्रारम्भ होकर चलने लगा है वह इसके लिये न तो रोका ही जा सकता है और न स्थगित ही किया जा सकता है । उसके लिये तत्काल एक गद्योचित साहित्यिक भाषा का होना अनिवार्य ही है । अस्तु, इन लोगों ने खड़ी बोली को ही उर्दू के साँचे में ढाल कर गद्य-लेखन में प्रयुक्त करते हुए साहित्यिक एकरूपता के देने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया और ब्रजभाषा को काव्य-रचना के लिये ही छोड़ दिया ।* बस खड़ी बोली और उसके

*चूँकि इस काल के पूर्व उत्तर-कलाकाल में उर्दू भाषा, फ़ारसी भाषा के स्थान पर राजदरबार की भाषा हो गई थी और उसका प्रयोग-प्रचार सभ्य तथा शिष्ट समाज में ख़ूब हो गया था, अतः अंग्रेज़ों ने भी यही देख कर उर्दू को ही प्रथम विशेष रूप से प्रधानता दी और उसे अदालत या कचहरी की भाषा मान ली । यह देखकर हिन्दी-हितैषी तथा राष्ट्रीय नेता लोग खड़ी बोली को समुन्नत तथा प्रचलित करते हुए राष्ट्रीय तथा साहित्यिक भाषा बनाने का अथक प्रयत्न कर चले । खड़ी बोली को उर्दू के साँचे में ढाल कर तथा उसे और उर्दू को एक रूप में करते हुए उसे साहित्यिक तथा व्यापक रूप से व्यावहारिक भाषा बना चले । अस्तु, इसके दो मुख्य रूप हो गये १—साहित्यिक जो उच्च कोटि की संस्कृत भाषा से प्रभावित रक्खा गया, क्योंकि साहित्य-रचना में संस्कृत-साहित्य पर ही समाधारित होकर चलना अनिवार्य ही सा ठहरा, साथ ही अपनी जातीय महत्ता और सत्ता भी, बिना भाषा को जातीय संस्कृत भाषा के आधार पर रक्खे, बनाये रखना असंभव था, २—व्यावहारिक व्यापक रूप, जिसमे उर्दू, अंग्रेज़ी तथा कुछ अन्य प्रान्तीय या देशज भाषाओं से भी सहायता ली गई और जिसे राष्ट्रीय तथा

गद्य-साहित्य का विकास-प्रकाश बल-वेग से दिन-प्रति-दिन नवोन्नति के साथ होने लगा।

खड़ी बोली तथा उसके गद्य-साहित्य के प्रचार में अंग्रेजी सरकार से भी बहुत बड़ी सहायता मिली। अंग्रेज़ी सरकार ने अपनी महत्ता-सत्ता तथा सुविधा-सरलता के लिये अंग्रेज़ी को तो प्रधान राजभाषा करके मुग़लों की राजभाषा फ़ारसी को उठा दिया। फ़ारसी के रखने से व्यवहार में कठिनाई पड़ती थी। हाँ उर्दू इस कठिनाई के दूर करने में बहुत दूर तक उपयुक्त ठहरती थी, किन्तु वह उर्दू नहीं, जिसे मुसलमानों ने फ़ारसी से पूर्णतया प्रभावित करके उसी के साँचे में ढाल उच्चकोटि की अपनी एक स्वतंत्र साहित्यिक एवं जातीय भाषा के रूप में निश्चित सा कर लिया था, वरन्

प्रयोगात्मक साधारण भाषा का रूप दिया गया, इसका उपयोग साधारण साहित्य-समाचार पत्रों आदि में ही उचित तथा उपादेय ठहरा।

कुछ समय के उपरान्त कुछ लोगों ने खड़ी बोली का प्रयोग काव्य में भी करना प्रारम्भ कर दिया और यह मत स्थिर किया कि ब्रजभाषा चिर-प्रचलित, प्रधान, प्रौढ़, काव्योपयुक्त भाषा होती हुई भी, एक देशीय, विशेष रूपिणी, संकीर्ण, प्राचीन तथा उच्च कोटि की साहित्यिक होने से सर्वत्र सब के लिये सुबोध और सुप्रयुक्त नहीं है यह बात खड़ी बोली में ही है, वह सर्वत्र प्रचलित और सुबोध है, अतः काव्य का उसी में रचा जाना उचित और उपादेय है। यह होने पर भी ब्रजभाषा ही काव्य की प्रधान भाषा बनी रही।

नोटः—खड़ी बोली से पूर्व उसके एक रूप विशिष्ट की उन्नति उर्दू के रूप में हुई है। औरंगज़ेब के समय से मुसलमान ने इसमें फ़ारसी की पदावली, शैली आदि का सम्मिश्रण करके इसे फ़ारसी शैली के काव्य में भी प्रयुक्त कर चले थे। इसे वे लोग रेख़्ता के नाम से पुकारते थे। इसी का विकास-प्रकाश होकर उर्दू भाषा और उसका साहित्य तैयार हुआ है।

—सम्पादक

वह उर्दू राज-व्यवहार तथा साधारण कारबार के लिये उपयोगी जँचती थी, जो हिन्दी या खड़ी बोली के ही रूप में हो कर (उसी से प्रभावित या उसी के साँचे में ढली सी हो कर) व्यापक और व्यावहारिक रूप में प्रचलित हो रही थी। अस्तु, इस प्रकार की हिन्दी या खड़ी बोली को सरकार ने साधारण राज-भाषा स्वीकार कर लिया। इसी के साथ ही विचारवान् अंग्रेज़ देश की परम प्रचलित तथा परंपरागत साहित्यिक हिन्दी, उसके साहित्य तथा नवप्रचलित उच्च कोटि की साहित्यिक खड़ी बोली का भी सीखना, उठाना और स्फुट रखना उचित और उपयोगी समझते थे और उसके लिये सहायता भी करते थे। अंग्रेज़ों ने हिन्दी और उसके साहित्य की सेवा भी बहुत की है, जिसके लिये हिन्दी-संसार उन्हें धन्यवाद दे सकता है।

सरकार ने यह देख कर कि ब्रजभाषा और अवधी, साहित्यिक भाषायें होते हुए भी, व्यापक और व्यावहारिक भाषायें नहीं हैं, उसी खड़ी बोली को उठाया जिसका प्रचार-प्रस्तार अब तक में बहुत बढ़-चढ़ गया था। दिल्ली के मुग़ल-साम्राज्य के पतन से जिस प्रकार वहाँ के धनी तथा शिष्ट लोग उर्दू भाषा लेकर पूर्वीय प्रान्तों में आ बसे और वहाँ उन्होंने उसे फैलाया, उसी प्रकार पश्चिमीय प्रान्तों के व्यापारी आदि भी अपनी खड़ी बोली लेकर पूर्वीय प्रान्तों में व्यापारादि के लिये आ बसे, उनसे ही इसका प्रचार-प्रस्तार सब प्रान्तों के शहरों या नगरों में हो गया था। यह उनके घरों की ठेठभाषा के ही रूप में थी, विद्वान लेखकों ने इसे साहित्यिक रूप दिया है। संस्कृत के रंग-ढंग से परिष्कृत होकर उच्च कोटि की वर्तमान साहित्यिक खड़ी बोली इसी हिन्दी से चली है। इस के ठेठ रूप का प्रयोग प्रथम कालों में कुछ कवियों ने अपनी गद्य-पद्य दोनों प्रकार की रचनाओं में भी किया था, किन्तु ब्रजभाषा के सामने यह उस समय ठहर न सकी थी।

इसके पूर्व कि हम खड़ी बोली के गद्य का ऐतिहासिक विकास संक्षेप से यहाँ लिखें, हम उसका पूर्ववर्ती अन्य भाषाओं के गद्य का कुछ विवरण दे देना उचित समझते हैं और यह लिखना भी उपयोगी समझते हैं कि उन भाषाओं की गद्य-शैलियों का क्या, कैसा तथा कितना प्रभाव पड़ा। यह तो ज्ञात ही है कि हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में व्रजभाषा का गद्य विद्यमान था, यद्यपि उसका प्रौढ़, परिपक्व तथा साहित्योचित निश्चित रूप स्थिर न हुआ था, तथापि उसमें गद्य-ग्रंथ लिखे जा चुके तथा जाते थे। हम व्रजभाषा-गद्य में लिखे गये वार्ता आदि ग्रंथों की चर्चा प्रथम कर ही आये हैं। यह भी हम दिखला चुके हैं कि यह गद्य सब प्रकार के विषयों का विवेचन सफलता के साथ न कर सकता था। उसकी पदावली तथा शैली आदि विविध विषयों के लिये उपयुक्त तथा पर्याप्त न थी। उसमें काव्योचित क्षमता ही विशेष मात्रा में थी अतएव वह गद्य-काव्य के लिये कुछ उपयुक्त अवश्य हो सकती थी। साधारण गद्य के लिये नहीं।

हिन्दी गद्य के पूर्व संस्कृत भाषा का गद्य भी उपस्थित था, उसका उपयोग भी संस्कृत-साहित्य में किया गया था, किन्तु उसका भी विकास तथा परिमार्जन ऐसा न हुआ था तथा उसे भी वह रूप न प्राप्त हुआ था जिसका प्रयोग सभी प्रकार के विषयों की रचनाओं में सफलता के साथ किया जा सकता हो। मुद्रण-यंत्रादि की अविद्यमानता तथा ऐसे ही कुछ अन्य अनिवार्य कारणों से संस्कृत साहित्य में भी पद्यात्मक रचना-पद्धति की गद्य-रचना की अपेक्षा विशेष प्रधानता रही थी। केवल कुछ ही गद्य-काव्य सम्बन्धी कथा-ग्रंथों तथा टीका-टिप्पणियों आदि में गद्य का प्रयोग किया गया था जाता था। निबन्ध, लेख तथा अन्य विषयों की विवेचनादि का एक प्रकार से अभाव ही था। अल्प स्थान, अल्प प्रयास (श्रम) तथा स्वल्पव्य-

यादि के साथ विद्या को कंठाग्र करके चिरस्थायी करने के विचार से संस्कृत में सूत्र और पद्यात्मक शैलियों का ही प्रचार-प्राचुर्य किया गया था, उनके सामने गद्य का प्रचार-प्राबल्य हो ही न सका।

संस्कृत के आचार्यों ने गद्य के रूपों का विवेचन करके कुछ विशेष नियम अवश्य बनाये थे, किन्तु वे प्रायः गद्य-काव्य पर ही घटित होते थे। विविध विषयोचित गद्य का रूप कदाचित् निश्चित न किया गया था। गद्य-काव्योचित संस्कृत-गद्य में सामासिक पद-प्राचुर्य, विशेषण-बाहुल्य तथा अलंकृत वाक्य-विन्यास को ही विशेषता दी गई थी। इस शैली का प्रभाव हमारे उच्च कोटि के साहित्यिक गद्य पर अवश्यमेव कुछ अंशों में पड़ा है। यह अवश्य है कि यह शैली हिन्दी-साहित्य में भी प्रायः गद्य-काव्य तथा अत्यंत गंभीर साहित्यिक विषयों की रचनाओं में ही वर्ती जाती है।

खड़ी बोली के गद्य की अपेक्षा उर्दू-गद्य अवश्यमेव कुछ अच्छी दशा में था, क्योंकि उर्दू के राज-भाषा हो जाने से उसके गद्य में विविध विषयोचित क्षमता तथा व्यावहारिक रूपता अवश्यमेव आ गई थी। यही देख कर उर्दू की जननी खड़ी बोली को उठाकर तथा उसे बहुत कुछ उर्दू-गद्य के साँचे में ढालकर हमारे लेखकों ने हिन्दी-गद्य को प्रचलित किया है। * जब से अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों ने हिन्दी-गद्य में लिखना प्रारम्भ किया तब से उसमें अंग्रेज़ी-गद्य का प्रभाव पड़ने लगा और वह अंग्रेज़ी-गद्य की

* हमारे यहाँ की सतुकान्त गद्य शैली सम्भवतः उर्दू की "मुक़फ़्फ़ा इबारत" के आधार पर उठी थी। इसी प्रकार उर्दू-गद्य का प्रभाव हिन्दी-गद्य पर और कई रूपों में भी पड़ा है। स्थानाभाव से हम यहाँ पूर्ण विवेचन नहीं दे सकते। देखो हमारी 'गद्य-काव्यालोक' नामी पुस्तक।

भाँति स्पष्ट, सरल, स्वाभाविक तथा प्रवाहपूर्ण हो चला। अब यह देख चुकने पर हम गद्य के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टिपात करते हैं।

गद्य में ग्रंथ लिखना, जहाँ तक पता चलता है, सब से प्रथम महात्मा गोरखनाथ ने ही प्रारम्भ किया था। अतः हम कह सकते हैं कि गद्य का प्रारम्भ सं० १४०० के पश्चात् से ही हुआ है, क्योंकि यही समय महात्मा गोरख तथा उनके ग्रंथों का है।* गोरखनाथ की भाषा प्रान्तीय भाषा से पूर्ण प्रभावित तथा प्राचीन व्रजभाषा सी जान पड़ती है।

इसके पश्चात् हमें कृष्ण-भक्ति-काल में गद्य के कई ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें दोनों वार्तायें प्रधान हैं। इनकी भाषा पूर्णरूपेण व्रजभाषा ही है और शैली पंडिताऊ तथा समझाने वाली हो सरल है। इनके उपरान्त और भी कई पुस्तकें गद्य में लिखी गईं किन्तु सब में व्रजभाषा तथा उसकी विशेष शैली की ही पूरी प्रधानता रही है।

यह अवश्य हुआ है कि व्रजभाषा-गद्य का पूरा प्रचार-प्राचुर्य न हो सका, उसे व्रजभाषा-काव्य ने दबा रक्खा, इसीलिये व्रजभाषा-गद्य निखर-बिखर कर सर्वत्र प्रचलित हो व्यापक रूप से साहित्योचित क्षमता तथा एकरूपता के साथ निश्चित तथा स्थिर न हो सका, उसका प्रयोग प्रायः टीका-टिप्पणियों में ही संकीर्णता के साथ सीमित सा हो गया, अतः उसका वह रूप, जो वार्ता आदि में मिलता है, बदल गया और टीकोचित (संस्कृत-टीका-शैली के

* गोरखनाथ एक सिद्ध और प्रसिद्ध तांत्रिक तथा योगी थे, ज्ञान और योग पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा था, कुछ ग्रंथ तो स्वतः उनके ही रचे हैं किन्तु कुछ श्रुति-परंपरा के आधार पर उनके शिष्यों को गोरख के नाम से संग्रहीत या रचित जान पड़ते हैं। कुछ की भाषा में राजपूतानी रूप भी पाये जाते हैं। वर्णन-शैली भी प्राचीन पंडिताऊ (कथम्भूती) ही है।

आधार पर) रूप चल पड़ा। यह रूप जटिल, अव्यवस्थित और अनगढ़ सा होकर दुर्बोध ठहरता था, इसीलिये इसका विकास-प्रचार न हो सका और न इसका साहित्य ही बन सका। साहित्यिक रूप प्राप्त कर व्यापकता से प्रचलित होना इसके लिये सर्वथा असम्भाव्य सा हो गया। इसकी यही दशा खड़ी बोली-गद्य के प्रारम्भ तक रही, अस्तु इसे उठाया भी न जा सका।

ख़ुसरो ने १४हवीं शताब्दी में खड़ी बोली को लेकर कुछ रचना की थी, जिसे देख कर दरबारी शायरों ने उर्दू और उर्दू-साहित्य की उन्नति की। मुसलमान लोग खड़ी बोली को प्रथम ही से अपनाकर अपने साथ चारों ओर ले जा रहे थे बस इसी प्रकार उसका प्रचार होता रहा और थोड़े ही समय में वह शिष्ट समाज तथा बाज़ार की व्यावहारिक भाषा सी होकर सर्वत्र फैल भी गई।

अकबर के समय में गंग कवि ने "चंद छंद बरनन की महिमा" नामी एक पुस्तक खड़ी बोली-गद्य में लिखी और सं० १६८० में जटमल ने भी गोरा बादल की कथा इसी में लिखी। इन दोनों की खड़ी बोली अपने देशी रूप में ही है, जिसमें संस्कृत के शब्द आधुनिक भाषा के ही समान आते हैं। हाँ इनके साथ ही उसमें कुछ फ़ारसी के भी शब्द मिलते हैं, जिससे उसके शिष्ट भाषा होने का पता चलता है। इसका प्रचार हिन्दू-लेखकों में इसलिये न हो सका, चूँकि यह मुसलमानों के ही द्वारा विशेष रूप से उठाई, अपनाई और प्रयुक्त की गई थी। जहाँ कहीं किसी अच्छे कवि ने इसका उपयोग किया है वहाँ प्रायः उसने इसे मुसलमानों के ही प्रसंग में रक्खा है। यह होते हुए भी यह समाज में व्यावहारिक भाषा के समान चलती ही रही और इसीलिये अंग्रेज़ों ने इसी को पसंद कर के अपनाया।

अंग्रेज़ों के शिक्षा-विभाग की पाठ्य पुस्तकों की रचना के पूर्व इस भाषा में दो पुस्तकें—(१) सुखसागर (भागवत का अनु-

वाद रूप) मुं० सदासुखलाल की और (२) रानी केतकी की कहानी मो० इंशाअल्ला खाँ की, बन चुकी थी, इसीलिये खड़ी-बोली के वर्तमान रूप के प्रवर्तकों में इन दोनों लेखकों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बृटिश सरकार ने अपने शिक्षा-विभाग के द्वारा पाठ्य पुस्तकों की विधान इनके बाद ही प्रचलित किया है।

सं० १८६० में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्राइस्ट ने हिन्दी (खड़ी बोली) और उर्दू को स्वतंत्र तथा पृथक् भाषायें जानकर अपने कालेज के पं० लल्लूलाल और सदल मिश्र से 'प्रेम सागर' और नासिकेतोपाख्यान नामी दो पाठ्य पुस्तकें लिखाईं। चूँकि दोनों महाशय हिन्दी (व्रजभाषा) साहित्य के पंडित थे, अतः दोनों की भाषा में व्रजभाषा की पर्याप्त पुट है। हाँ मिश्रजी की भाषा में लल्लू जी की अपेक्षा व्रजभाषा की मात्रा कम है और खड़ी बोली का ही प्रभाव विशेष है। दोनों ने कथायें ही (गद्य काव्यांग) लिखीं, अस्तु दोनों को अपनी भाषा कुछ अलंकृत रूप में अवश्य रखनी पड़ी है। हाँ लल्लू जी ने सतुकान्त (मुकफ़्फ़ा) शैली को प्रधानता दी है और कुछ पंडिताऊ रीति का भी अनुकरण किया है।

अतः कहना चाहिये कि गद्य का प्रारम्भ वस्तुतः १—मुं० सदासुखलाल २—मो० इंशा खाँ ३—पं० लल्लूलाल ४—सदल मिश्र चार सज्जनों ने ही किया है।

१—मुं० सदासुख लाल—उर्फ़ "नियाज़" दिल्ली-निवासी, (जन्म सं० १८०३, मृत्यु सं० १८८१) उर्दू और फ़ारसी के अच्छे शायर और लेखक थे। सं० १८५० के लगभग में ये कम्पनी के नौकर थे। ६५ वर्ष की आयु में नौकरी छोड़ ये चुनार से आकर प्रयाग में रहने लगे। संस्कृत से प्रभावित खड़ी बोली का जिसे उर्दूवाले 'भाषा' कहते थे, उर्दू के कारण कम चलन देख, इन्होंने "सुख-सागर" नामी ग्रन्थ उसी भाषा में लिखा और इनकी भाषा का रूप देशी व्यावहारिक होता हुआ भी संस्कृत-गर्भित है, जिससे ज्ञात

होता है कि ये इसे संस्कृत के आधार पर साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न करते थे। अतः इनकी भाषा गंभीर और संयत भी है।

२—मो० इंशासाहब—उर्दू के एक प्रसिद्ध शायर तथा अरबी फ़ारसी के विद्वान थे। इनके पिता काश्मीर से आकर दिल्ली में शाही हकीम हुए और फिर मुर्शिदाबाद के नवाब के यहाँ चले आये। यहीं इंशा पैदा हुए और पढ़-लिख कर शायर बने। इंशा, नवाब शिराजुद्दौला के मारे जाने पर दिल्ली में शाह आलम द्वितीय के यहाँ रहे, वहाँ से (दिल्ली-पतन के पश्चात्) वे लखनऊ में आकर नव्वाब सआदत खाँ के यहाँ बड़े आदर से रहे। एक मज़ाक पर नवाब ने इनका वेतन आदि बंद कर दिया, अतः ये अपनी अंतिम अवस्था में दुख के साथ रहे। सं० १८७५ में इनकी मृत्यु हुई। सं० १८५५ और १८६० के भीतर इन्होंने "उदयभान-चरित या रानी केतकी की कहानी" ठेठ खड़ी बोली (व्यावहारिक या फ़ारसी और संस्कृत के प्रभावों से रहित) * हिन्दी के देशीय रूप में लिखी। इसमें यद्यपि इंशा ने बहुत सँभाल कर हिन्दी का प्रयोग किया है तथापि वाक्य-विन्यास में कहीं २ फ़ारसी-शैली का प्रभाव पड़ ही गया है। यह अवश्य है कि इंशा की ठेठ हिन्दी चलती हुई, मुहावरेदार और चटकीली है। कहीं २ मुकफ़्फ़ा शैली भी उसमें पाई जाती है, अनुप्रासों का भी कौशल अच्छा मिलता है, यह उनकी शायरी का ही प्रभाव जान पड़ता है। इनकी वर्णन-शैली भी देशी और दिलचस्प है।

---

* प्रथम मुसलमान लोग संस्कृत शब्दयुक्त, साहित्यिक हिन्दी को तो (न कि ब्रजभाषा को, जो साहित्यिक काव्य-भाषा थी) भाषा और अरबी-फ़ारसी मिश्रित हिन्दी को उर्दू कहा करते थे। इसे सदैव ध्यान में रखना चाहिये। इंशा ने इसीलिये भाषा और उर्दू को छोड़ ठेठ देशी हिन्दी में कहानी लिखने की बात कही है। —सम्पादक

३—**लल्लूलालजी**—(जन्म-सं० १८२० मृत्यु-सं० १८८२) आगरे के निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। हिन्दी भाषा के ये कवि भी थे और उर्दू भी काफ़ी जानते थे। सं० १८६० में इन्होंने फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष की आज्ञा से हिन्दी (ब्रजभाषा-प्रधान) गद्य में "प्रेम सागर" लिखा, जिसमें भागवत के दशमस्कंध की कथा है। इनकी भाषा का रूप ठेठ देशी, घरेलू या व्यावहारिक नहीं और उसमें फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं का प्रभाव भी नहीं, ब्रजभाषा से वह अवश्य प्रभावित है। मुं० सदासुख की भाषा के समान इनकी भाषा संस्कृत-गर्भित और शिष्ट भी नहीं। संभवतः इन्होंने गंग कवि की ही भाषा को अपने सामने रक्खा है, किन्तु गंग के समान इन्होंने फ़ारसी आदि भाषाओं के साथ ही प्रचलित शब्द भी नहीं रक्खे। उसमें मुकफ़्फ़ा पद्धति या सतुकान्त सानुप्रासिक शैली का पूर्ण प्रभाव पाया जाता है, मुहावरों का उपयोग यद्यपि नहीं है तो भी लोकोक्तियों का प्रयोग अवश्य किया गया है।

लल्लू जी ने उर्दू, खड़ी बोली, ब्रजभाषा और हिन्दी में भी पुस्तकें लिखीं, जिन में से बैताल पचीसी, शकुन्तला नाटक, माधवानल और सिंहासन बत्तीसी प्रसिद्ध हैं और उर्दू में हैं। सं० १८६९ में इन्होंने हितोपदेश की नीति-विषयक कहानियाँ ब्रजभाषा-गद्य में लिखीं और सभा-विलास तथा माधव-विलास नामी ब्रजभाषा के दो संग्रह-ग्रंथ भी तैयार किये। इन्होंने एक प्रेस "संस्कृत प्रेस" के नाम से सं० १८८१ में पेंशन लेकर खोला, जिसे वे कलकत्ते से आगरे ले आये थे।

४—**सदल मिश्र**—ये विहार-निवासी और फ़ोर्टविलियम कालेज में नौकर थे। लल्लू जी की भाँति इन्होंने भी कालेज के अध्यक्ष की आज्ञा से पुस्तकें लिखीं। इनका नासिकेतोपाख्यान प्रेमसागर के ही साथ लिखा गया था। इनकी भाषा न तो ब्रज-

भाषा से ही प्रभावित है और न काव्य भाषा शैली से ही। उसमें पूर्वीय हिन्दी के पद अवश्य पाये जाते हैं। भाषा को व्यावहारिक तथा साफ़-सुथरी रखने का इन्होंने अवश्यमेव अच्छा प्रयत्न किया है। कहीं २ व्रजभाषा के प्रचलित शब्द या पद आ भी गये हैं, किन्तु फ़ारसी आदि भाषाओं को सर्वथा ही सफलता के साथ दूर रक्खा गया है। उक्त मुंशी जी की भाषा के समान इनकी भाषा में भी आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी का ही पूरा आभास प्राप्त होता है, यद्यपि इनकी भाषा उतनी साधु और संस्कृत-गर्भित नहीं है।

उक्त चारों लेखकों ने आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी को उठाया है, अतः वे ही इसके प्रवर्तक माने जाते हैं, किन्तु यदि वास्तव में यह श्रेय प्रथम किसी को दिया जा सकता है तो मुंशी सदासुख -जी को ही, क्योंकि इन्होंने ही सब से प्रथम यह कार्य (आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी में गद्य-रचना करने का) उठाया था।

स्मरण रखना चाहिये कि यह समय, जब ये चारों सज्जन आधुनिक खड़ी बोली के गद्य का रूप स्थिर कर रहे थे, रीति या कला-काल का अंतिम समय ही था। इस समय में इन लोगों ने खडी बोली का बीजारोपण ही किया था, इसका विकास-प्रकाश आगे चल कर राजा शिवप्रसाद तथा लक्ष्मण सिंह के द्वारा ५० या ५५ वर्षों के पश्चात् ही किया गया था। सं० १९१४ (सन् १८५७) के बलवे के पश्चात् से ही, जब अन्य नवीन बातों का उदय हुआ, गद्य-परंपरा का भी प्रारम्भ एवं विकास हुआ है।

उक्त प्रवर्तकों की उठाई हुई गद्य-शैली को लेकर ईसाइयों ने अच्छा कार्य किया। वे इसे सर्वसाधारण तथा व्यापक जान कर अपने धर्म-प्रचार के लिये बरतने लगे और इसी में बाइबिल का अनुवाद कर चारों ओर वितरित करने लगे। अतः कह सकते हैं कि इस गद्य के प्रचार-प्रस्तार में सरकार के शिक्षा-विभाग के साथ ईसाइयों के इस धर्म-प्रचार ने भी अच्छा भाग लिया है

ईसाई लोग फ़ारसी और संस्कृत से प्रभावित होने वाले हिन्दी के रूपों (उर्दू और भाषा) को छोड़ कर उक्त मुंशी जी तथा मिश्र जी की ही भाँति साधारण देशी या ठेठ हिन्दी को ही उठाया था, क्योंकि यही व्यावहारिक तथा सामान्य भाषा थी।

ईसाइयों ने "सीरामपुर" आदि स्थानों में अपने केन्द्र एवं प्रेस स्थापित करके पाठ्य-पुस्तकों का भी कार्य किया क्योंकि इनकी माँग १८६० के लगभग से ही प्रारम्भ हो गई थी।

कलकत्ते और आगरे की स्कूल-बुक-सोसाइटियों ने सं० १८६४ से १९१९ तक भिन्न भिन्न विषयों (इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्यादि) की कई पुस्तकें * प्रकाशित एवं प्रचलित कीं। इनके पश्चात् ही देश में अन्य प्रेस खुले और दूसरे प्रकाशक पाठ्य

---

*सं० १८९४ में इंगलैंड का इतिहास सं० १८९६ में मार्शमैनकृत "प्राचीन इतिहास" कथासार नाम से (पं० रतनलाल द्वारा अनुवादित) जे० जे० मूर साहब से संम्पादित कराके आगरे की सुसाइटी ने प्रकाशित किये। इनकी भाषा शुद्ध पंडिताई शैली की हिन्दी है, जिसमें ब्रजभाषा की भी पुट है। सं० १८९७ में "भूगोल-सार" (पं० ओंकार भट्ट कृत) और सं० १९०४ में "रसायन प्रकाश" (पं० बद्रीलाल शर्मा कृत) आगरे से और प्रकाशित हुए।

सं० १९०३ में "पदार्थविद्यासार" आदि कई वैज्ञानिक पुस्तकें कलकत्ते की सुसाइटी के द्वारा प्रकाशित की गईं, सं० १८९७ में आजमगढ़ रीडर प्रयाग के मिशन प्रेस से निकलीं। भूचरित्र-दर्पण, भूगोल-विद्या, जंतु-प्रबंध, विद्यासार, मनोरंजक वृत्तान्त, विद्वान-संग्रह आदि पुस्तकें आर्फेन प्रेस मिर्ज़ापुर से शेरिंग साहब के द्वारा संपादित होकर सं० १९१२ से १९१९ तक में निकलीं।

इनके अतिरिक्त ईसाई लोग ऐसी पुस्तकें भी छापते तथा बाँटते रहे जिनमें ईसाई धर्म के भजन, नीति-उपदेश और खंडन-मंडन रहते थे।

पुस्तकें प्रकाशित करने लगे। समाचार-पत्रों का भी अब प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था, बंगाल से अंगरेज़ी और बँगला के कई पत्र निकलने लगे थे। यह देख कर राजा शिवप्रसाद ने सं० १६०२ में काशी से "बनारस अख़बार" प्रकाशित किया।

यहाँ यह लिखना भी उचित जान पड़ता है कि इस समय सरकार ने खड़ी बोली का वह रूप, जो अरबी फ़ारसी से प्रभावित हो कर उर्दू कहलाता था, अदालतों में प्रचलित कर दिया था, जिससे लोग जीविका और मान-मर्यादा के विचार से उसका सीखना आवश्यक समझते थे। इसकी प्रधानता पाठशालाओं एवं स्कूलों में भी विशेष थी, इसीलिये पठित-समाज में इसका विशेष प्रचार-प्राचुर्य था। यह केवल धार्मिक प्रभाव ही था जिसके कारण हिन्दी का पठन-पाठन इस समय होता जा रहा था। सूर और तुलसी की रचनाओं ने हिन्दी को ख़ूब रक्षित रक्खा है। यह अवश्य था कि साधारण जनता की संस्कृति में व्रजभाषा तथा ठेठ देशी हिन्दी का पूरा प्राबल्य था। हिन्दी तो वही कहलाती थी जो उर्दू होती हुई भी नागरी अक्षरों में लिखी जाती थी और शिष्ट समाज में प्रचलित थी। इसी को लेकर राजा शिवप्रसाद ने पाठ्य पुस्तकें तैयार की थीं।

शिक्षा-विभाग में भी अन्य विभागों के समान उस समय मुसलमानों का ही प्राधान्य-प्राचुर्य था। वे लोग यह कहते हुए कि अदालतों आदि में उर्दू भाषा का ही प्रचार है, तब हिन्दी के पढ़ाये जाने की आवश्यकता ही क्या है, भाषा या संस्कृत प्रभावित तो हिन्दी हिन्दुओं की धार्मिक भाषा है क्योंकि उसी में उनकी धार्मिक पुस्तकें रामायण आदि लिखी हुई हैं, साथ ही वह गँवारी बोली है, शरीफ़ लोग उर्दू ही बोलते हैं, हिन्दी का सदैव विरोध किया करते थे। उन्हें सदा यह डर रहता था कि कहीं हिन्दी के प्रचार से उन्हें हिन्दी न पढ़ना पड़े और उर्दू दब न जाय।

राजा शिवप्रसाद—(जन्म-सं० १८८०, मृत्यु सं० १९५२) काशी के एक प्रसिद्ध वैश्य कुल में उत्पन्न हुए। सिक्ख-युद्ध में सरकार की सहायता करके ये शिक्षा-विभाग में इंसपेक्टर हुए। इन्हें राजा तथा सी० एस० आई० की उपाधियाँ मिलीं। ये हिन्दी के परम हितैषी और पक्षपाती थे। मुसलमान अधिकारियों के घोर विरोध करने पर भी इन्होंने यह दिखलाते हुए कि उर्दू जन-साधारण तथा काव्य-साहित्य की भाषा नहीं, हिन्दी ही देश की व्यापक और व्यावहारिक भाषा है, उस में देश का वह वास्तविक साहित्य है जो नागरी वर्णमाला के समान छोड़ा नहीं जा सकता अतएव हिन्दी को शिक्षा-विधान में अवश्य ही उर्दू के ही समान स्थान मिलना चाहिये, हिन्दी की पूरी रक्षा की और उसे प्रारम्भिक शिक्षा-विधान में स्थान दिलाया। हाँ उन्होंने यह अवश्य स्वीकार किया कि चूँकि अदालती भाषा उर्दू है और इसका प्रचार पठित तथा शिष्ट समाज में विशेष है, इसलिये इसकी भी शिक्षा अवश्य दी जावे। साथ ही उन्होंने हिन्दी और उर्दू के इस झगड़े को साफ़ करने के लिये दोनों को मिलाकर एक उभयनिष्ठ भाषा का, जिसे लोग हिन्दोस्तानी कहा करते हैं, प्रचार करना चाहा। ऐसा करने में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

राजा साहब ने कई पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं, * जिनमें से

राजासाहब की पुस्तकें:—वर्णमाला, बालबोध, विद्यांकुर, वामा-मनरंजन, हिन्दी व्याकरण (कदाचित् सर्वप्रथम व्याकरण है), भूगोलहस्तामलक (छोटा भूगोल भी), इतिहासतिमिर-नाशक, मानवधर्मसार, सिक्खों का उदय और अस्त, स्वयंबोधउर्दू, राजा भोज का सपना, वीर सिंह का वृत्तान्त आदि।
—सम्पादक

* राजासाहब के समान पंजाब में वहाँ के विश्वविद्यालय के संस्थापक श्री बा० नवीनचन्द्रराय ने भी शिक्षा-विभाग में रह कर हिन्दी-

कुछ तो संग्रहीत ही हैं, हाँ कुछ उनकी ही रचनायें हैं। इन्हीं के समय से खड़ी बोली का विकास-प्रकाश अपने अच्छे रूप में प्रारम्भ होता है। इनका मत था कि हिन्दी को हमें उस रूप में रखना है जिसका प्रचार साधारणतया सर्वत्र पाया जाता है, जिसमें फ़ारसी आदि के केवल वेही शब्द आते हैं जो हिन्दी में सब तरह हिलमिल कर व्यापक हो चुके हैं, इसी प्रकार संस्कृत के भी ऐसे ही शब्दों या पदों को लिया गया है जो साधारण तथा प्रचलित हैं। ऐसा विचार रखते हुए भी इनकी हिन्दी वास्तव में हिन्दी न होकर एक प्रकार से उर्दू ही कही जा सकती है।

राजा साहब ने प्रथम जो पुस्तकें लिखीं उनकी भाषा तो हिन्दी (संस्कृत प्रभावित शुद्ध भाषा) है किन्तु जो बाद में लिखीं उनकी भाषा उर्दू या उर्दू से पूर्णतया प्रभावित हिन्दी है। उनका उद्देश्य यह अवश्य था कि भाषा सर्वथा चलती हुई ठेठ हिन्दी ही रहे, जिसमें फ़ारसी और संस्कृत के लोक-प्रचलित शब्द भी स्वतंत्रता से आ सकें, किन्तु वे प्रायः उर्दू की ही ओर झुक जाया करते थे।

राजा साहब ने अपने "गुटका" की भाषा तो संस्कृत मिश्रित ठेठ और साधारण हिन्दी ही रक्खी है, किन्तु सं० १६१७ के बाद से वे उर्दू की ही ओर विशेष झुकने लगे, कदाचित् यह उर्दू-शिक्षित समाज तथा अंग्रेज़ अधिकारियों के सम्पर्क का ही प्रभाव था। इतिहास, भूगोल आदि की उनकी सभी पुस्तकें उर्दूपन लिये हुए हैं।

प्रचार (स्त्री-शिक्षा-प्रचार भी) का सराहनीय कार्य किया। उर्दू एवं फ़ारसी वाले पंजाब जैसे प्रान्त में उन्होंने उर्दू रहित शुद्ध हिन्दी का प्रचार किया। एतदर्थ उन्होंने स्वयमेव पाठ्य पुस्तकें लिखीं और दूसरों से लिखवाईं भी। राजा साहब के समान इन्होंने उर्दू से हिन्दी को प्रभावित नहीं होने दिया।

—सम्पादक

इन्होंने कुछ कविता भी लिखी। ये जैनधर्म के मानने वाले थे। सं० १६०२ में इन्होंने "बनारस अख़बार" भी निकाला, जिसकी भाषा भी विशेषतः उर्दू ही रही, हाँ कहीं कहीं उसमें संस्कृत के भी शब्द—धर्मात्मा आदि आ जाते थे। राजासाहब ने, कुछ भी हो, हिन्दी का अच्छा हित किया है।

हम प्रथम ही लिख चुके हैं कि ईसाई लोग साधारण देश-भाषा हिन्दी के द्वारा ही अपने ईसाई-धर्म का प्रचार चारों ओर प्रबलता के साथ कर रहे थे, मुसलमान भी पूर्ववत् अपने पैग़म्बरी एकेश्वरवाद का उपदेश देकर देश के साधारण लोगों को खींचना चाहते थे। यह देख कर स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने वैदिक-धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया, अस्तु मतमतान्तर सम्बन्धी आन्दोलन भी शिक्षा-प्रचार के साथ चलने लगा। स्वामी जी ने भी ठेठ हिन्दी (संस्कृत से प्रभावित शिष्ट भाषा, जिसे वे आर्य भाषा कहते थे) उठाई और उसी में सं० १६२० से घूम २ कर शास्त्रार्थ करना, व्याख्यान देना तथा ग्रंथ-रचना प्रारम्भ कर वैदिक-धर्म का सिक्का जमाने, ईसाई आदि धर्मों का आतंक हटाते हुए हिन्दी का बड़ा हित एवं प्रचार किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

इस महर्षि का शुभ जन्म सं० १८८१ में औदीच्य ब्राह्मण श्री अंबाशंकर जी के यहाँ (मोरवी शहर काठियावाड़ में) हुआ। इनका नाम मूलशंकर रक्खा गया। इनके पिता ने इनके २१ वर्ष के हो जाने पर विवाह का विचार किया, किन्तु ये छिपकर अपने घर से भाग गये।

शुद्ध चेतन नाम से ब्रह्मचारी होकर श्री पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास ले इन्होंने अपना नाम दयानन्द रक्खा। कृष्णशास्त्री से व्याकरण पढ़, श्री योगानन्द स्वामी और दो अन्य महात्माओं

से योग सीख इन्होंने आबूपर्वत पर उसका अभ्यास किया। ३० वर्ष की अवस्था में ये हरिद्वार गये और हिमालय पर्वत पर घूमते हुए विद्वान महात्माओं से विद्यायें सीखते रहे। सं० १६१७ से १६२० तक इन्होंने मथुरा में स्वामी विरजानन्द शास्त्री के यहाँ विद्याध्ययन कर उन्हीं के उपदेश से लोक-सुधार का कार्य प्रारम्भ किया। चैत्र शु० ५ सं० १६३२ को बम्बई के गिरगाँव में डा० मानिकचंद जी की वाटिका में इन्होंने सर्वप्रथम आर्य-समाज की स्थापना की और फिर देश के सभी प्रसिद्ध नगरों में इनके रचे हुए २८ नियमों के अनुसार आर्य-समाजें खुलीं, जिनसे आर्य या वैदिक धर्म का प्रचार बड़े बलवेग से हो चला। इनके खंडन से अन्य मत वाले कुपित हो गये थे, अतः एक षड्यंत्र के कारण २६ सितम्बर सन् १८८३ (सं० १६४०) को इन्हें दूध के साथ काँच पीसकर पिला दिया गया। ये अजमेर चले गये और वहीं कार्तिक कृ० १५ सं० १६४० को इन्होंने शरीर-त्याग कर दिया। भारत में इस महामहर्षि-मार्तंड से जैसा प्रतिभा-प्रकाश एवं नवधर्माभ्युत्थान का जीवनालोक आया है वैसा अन्य किसी भी महात्मा के कारण नहीं आ सका। भारत के विश्वविख्यात रत्नों भगवान बुद्ध, स्वामी शंकराचार्य के साथ इनकी भी गणना होती है।

इनके कारण संस्कृत और हिन्दी की बहुत बड़ी उन्नति तथा श्रीवृद्धि हुई है। वेदों का पुनरुद्धार तो महर्षि के ही स्तुत्य प्रयास से हुआ है। इनकी जितनी भी स्तुति की जाय थोड़ी ही है। आधुनिक काल में तो स्वामी जी ही संसार के समस्त महानुभावों में अग्रगण्य ठहरते हैं। भारत की वर्तमान जाग्रति तथा उन्नति का सूत्रपात वास्तव में इन्हीं ने किया था, अस्तु इन्हीं को सब से प्रथम उसका समस्त श्रेय दिया जाना चाहिये।

हिन्दी को राष्ट्रभाषोचित तथा परमोपयोगी समझकर स्वामी

जी ने उठाया और उसी में व्याख्यान देते हुए वैदिक धर्म का प्रचार किया। स्वामी जी ने हिन्दी में कई ग्रंथ-रत्नों की रचना की, जिनमें सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, संस्कार विधि और यजुर्वेद भाष्य (अपूर्ण) प्रधान हैं।

स्वामी जी के कारण तार्किक वाद-विवाद तथा व्याख्यान देने की शक्ति का संचार देश में ख़ूब हो गया। आलोचना में भी अच्छी जागृति आई। आर्य-समाज की देखादेखी सनातन धर्मावलम्बियों ने भी भारत धर्म (सनातन धर्म) महामंडल की स्थापना की। समाज और मंडल दोनों ने गुरुकुल और ऋषिकुल खोले तथा धर्म, भाषा, विद्या, साहित्य (संस्कृत और हिन्दी दोनों के) आदि की बहुत बड़ी उन्नति तथा प्रचार-प्रवृद्धि की। इन संस्थाओं ने स्कूल, कालेज, अनाथालय, कन्या-पाठशाला आदि संस्थायें खोल कर देश का सुधार तथा हित किया है।

स्वामी जी की हिन्दी, संस्कृत-गर्भित, साधु एवं प्रौढ़ है। गुजराती होकर भी स्वामी जी ने बड़ी ही परिष्कृत तथा प्रबल भाषा लिखी है। इन्हीं के प्रभाव से देश में संस्कृत मिश्रित हिन्दी का प्रबल प्रचार विशेष हुआ है। इस प्रौढ़ हिन्दी को विद्वानों ने अपनाया और प्रचलित एवं परिमार्जित कर उन्नत किया तथा उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा में रूपान्तरित भी किया है।

अब कहना चाहिये कि जिस समय राजा शिवप्रसाद उर्दूपन वाली हिन्दी का प्रयोग पाठ्य पुस्तकों में करके उसे प्रचलित कर रहे थे उसी समय स्वामी जी तथा अन्य विद्वान संस्कृतमयी साधु एवं प्रौढ़ हिन्दी (खड़ी बोली) का भी प्रचार व्याख्यानों एवं अन्य ग्रन्थों आदि के द्वारा कर रहे थे। इन्हीं का अनुकरण करते हुए अन्य हिन्दी-हितैषियों ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

राजा लक्ष्मणसिंह—ये उन हिन्दी-हितैषियों एवं प्रवर्तकों में हैं, जिन्होंने हिन्दी-गद्य के वर्तमान साहित्यिक तथा प्रौढ़ रूप को

स्थिर किया और उसकी नींव उस समय में डाली जब राजा शिवप्रसाद जी की पाठ्य पुस्तकों के द्वारा उर्दू-प्रभावित हिन्दी का प्रचार प्रचुरता से हो रहा था तथा शिष्ट समाज में उर्दू का ही ज़ोर था। राजा साहब को स्वामी जी की हिन्दी आदर्श रूप में प्राप्त हुई और उन्होंने विचार कर यह देखा कि देश की संस्कृति-परम्परा को (cultural tendency), जिस पर देश का साहित्य समाधारित है और रहता है, छोड़कर साहित्य की भाषा चल नहीं सकती। देश की प्रकृति के ही अनुसार भाषा की प्रकृति चलती है और साहित्य भी उसी का अनुसरण करता है। अस्तु देश तथा साहित्य के लिये उसी हिन्दी को उठाना उचित तथा उपादेय है जिसमें संस्कृत-शब्दों का उचित समावेश हो, ऐसी ही भाषा देश में साहित्यिक भाषा का रूप रखती हुई चली आई है, न कि उर्दू या फ़ारसी-प्रभावित हिन्दी, जिसपर विदेशीय प्रकृति के प्रभाव की पुट लगा दी गई है। उर्दू या फ़ारसी-गर्भित हिन्दी देश की प्रकृति तथा संस्कृति के अनुकूल कदापि नहीं हो सकती। संस्कृत भाषा का प्रभाव हिन्दी और उसके साहित्य से कदापि दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि बहुत समय से यह प्रभाव चला आकर अब अटल हो चुका है। हिन्दी भाषा में जिस प्रकार संस्कृत के शब्द एवं पद (न्यूनाधिक रूपरूपान्तर के साथ) आकर सर्वथा प्रचलित हो उसी के हो गये हैं, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य में भी संस्कृत-साहित्य के भावादि भी पूर्णतया अविच्छिन्न रूप से मिल गये हैं। हिन्दी-साहित्य एक प्रकार से संस्कृत-साहित्य की परम्परा का विस्तार एवं विकास मात्र होकर उसी पर सर्व प्रकार समाधारित है। ऐसी दशा में हिन्दी भाषा को संस्कृत से प्रभावित तथा उस पर समाधारित होना अनिवार्य ही ठहरता है। जाति, राष्ट्र तथा संस्कृति की स्वतंत्र सत्ता भाषा पर ही निर्भर रहती है, यदि भाषा विदेशीय भाषाओं से प्रभा-

वित होते २ रूपान्तरित हो जावेगी तो उक्त सभी सत्ताओं का नाश होना सम्भव है, इसलिये भाषा को सदैव विदेशीय प्रभाव से रक्षित रखना ही आवश्यक है।

यही बातें ध्यान में रखकर **राजा लक्ष्मण सिंह** हिन्दी-क्षेत्र में आये। उन्होंने अपने ग्रंथों को सामने रखकर संस्कृतमयी भाषा का साहित्यिक साधु रूप उपस्थित किया और भावी या वर्तमान साहित्यिक-गद्य का आभास दिया।

राजासाहब का जन्म सं० १८८३ में हुआ था। ये आगरे के निवासी थे। सं० १९१३ में ये डिप्टी कलेक्टर हुए और इन्हें सं० १९२७ में सरकार ने राजा की उपाधि दी। इन्होंने सं० १९१८ में "प्रजाहितैषी" नामक एक पत्र आगरे से निकाला और सं० १९१९ में "कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तल" का खड़ी बोली में अनुवाद प्रकाशित किया। हिन्दी-संसार में इसका सरस, विशुद्ध और सुन्दर भाषा के कारण बड़ा समादर हुआ। राजा शिवप्रसाद ने भी इसके कुछ अंश को अपने गुटके में रक्खा। इसे देखकर भाषा-गद्य का रूप भी बहुत कुछ स्थिर हुआ।

सं० १९३२ में हिन्दी-प्रेमी फ्रेडरिक पिनकाट साहब ने इसे इङ्गलैंड में छपवाया, वहाँ भी इसका बड़ा समादर हुआ और

राजा साहब ने हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में यों लिखा है:—

"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी २ हैं, हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोल-चाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फ़ारसी के, परन्तु यह कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी-फ़ारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं, जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे हों।"

—सम्पादक

यह सिविल सर्विस के पाठ्यक्रम में रखा गया। सं० १६५३ में इसकी पुनरावृत्ति में राजा साहब ने संस्कृत के मूल श्लोकों का भी अनुवाद व्रजभाषा छंदों में कर दिया और संवादों को गद्य में रक्खा। छंद भी इनके इसमें बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं।

सं० १६३४ में इन्होंने रघुवंश का, मूल श्लोकों के साथ सरल, ललित और शुद्ध खड़ी बोली में अनुवाद किया, जिसमें उर्दू फ़ारसी के शब्द नहीं आ सके। सं० १६३८ एवं १६४० में मेघदूत का अनुवाद चौपाई, दोहा, घनाक्षरी, सवैया, शिखरिणी, छप्पय, कुंडलिया आदि भिन्न २ छंदों में किया। चौपाई आदि की भाषा तो प्रायः अवधी (जैसे तुलसीदास की है) और घनाक्षरी आदि की व्रजभाषा है। इससे स्पष्ट है कि राजा साहब काव्य के लिये अवधी एवं व्रजभाषा को ही उपयुक्त मानते थे। सं० १६५३ में इनका स्वर्गवास हुआ। गद्य-प्रवर्तकों में इनका विशेष स्थान मानना चाहिये।

पंजाब में आर्यसमाज तथा वैदिक धर्म का प्रचार करने वाले **पं० श्रद्धाराम जी फुल्लौरी** ने (सं० १६२०) भी हिन्दी का बहुत प्रचार तथा हित किया। व्याख्यानादि से तो जो प्रचार इन्होंने हिन्दी भाषा का (धर्मप्रचार के साथ) किया वह तो किया ही, अपनी पुस्तकों के द्वारा भी इन्होंने हिन्दी-गद्य का अच्छा विकास-प्रकाश किया। कभी कभी ये स्वामी जी के किसी किसी सिद्धान्त से बाहर भी चले जाते थे।

इन्होंने " सत्यामृत प्रवाह " आत्मचिकित्सा (सं० १६२४ में अध्यात्म विषयक पुस्तक), तत्त्वदीपक, धर्मरक्षा, उपदेश-संग्रह (व्याख्यानों का), शतोपदेश (दोहों में), अपना जीवन-चरित्र और 'भाग्यवती' नामी एक उपन्यास सं० १६३४ में लिखा। सम्भवतः यही सब से प्रथम प्रौढ़ उपन्यास है। ये बा० हरिश्चन्द्र के समकालीन थे और उन्हें देश में हिन्दी भाषा का एक अच्छा

लेखक मानते थे, जैसा इन्होंने स्वयमेव अपने जीवनावसान के दिन कहा था।

गद्य-विकास

इस प्रकार अब तक खड़ी बोली—गद्य के श्रीगणेश का कार्य हुआ। अब वह समय आ गया जब उसमें नवीन जीवन की ज्योति का संचार हो। अब तक तो उसका केवल शैशव काल ही रहा और उसे सुढंग से प्रगतिशील करने का ही कार्य उसके गुरुजन लोग करते रहे। भारतेन्दु बाबू ने अब यह देखा कि खड़ी बोली का गद्य अब शैशव से आगे बढ़कर कुमारावस्था या किशोरावस्था में पदार्पण करने योग्य हो रहा है, अब इसका वह समय है जब इसमें नव जीवन की स्फूर्ति डालनी चाहिये। यही विचार कर उन्होंने इसका नव विकास प्रारम्भ कर दिया। कहना चाहिये कि भारतेन्दु ने हिन्दी-साहित्य तथा खड़ी बोली के गद्य में युगान्तर कर दिया।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र—भाद्र शु० ७ सं० १६०७ को इनका जन्म काशी जी में अग्रवाल वैश्य बा० गोपालचन्द्र उपनाम "गिरधरदास" के यहाँ हुआ था। इनके पिता बड़े ही सम्पन्न और अच्छे कवि थे, हिन्दी का प्रेम उनमें ख़ूब था। भारतेन्दु बाबू ने ११ वर्ष तक पढ़कर जी न लगने से पढ़ना बंद कर दिया। हाँ फिर आगे इन्होंने स्वाध्याय से कई भाषाओं और विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। स्वदेशानुराग तथा स्वभाषा हिन्दी का प्रेम इनमें ख़ूब ही भरा हुआ था। इनका स्वभाव हास्य-प्रिय, कौतुकी और उदार था। कवियों तथा पंडितों का आदर-सत्कार भी ये ख़ूब किया करते थे। सं० १६४१ में इनका स्वर्गवास हो गया।

इनमें विलक्षण प्रतिभा थी, जिसका उदय १७ वर्ष की ही अवस्था से हो चला और जिसने हिन्दी-साहित्य और हिन्दी (खड़ी बोली) की अच्छी श्री-वृद्धि की। दोनों इनके चिरऋणी

रहेंगे। इन्होंने छोटी-बड़ी सब मिलाकर कुल १७५ पुस्तकें रचीं, जिनके संग्रह ६ भागों में खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर से प्रकाशित हुए हैं।

इनमें काव्य-कुशलता, नाटक-निपुणता तथा लेखन-पटुता भी बहुत थी। हिन्दी में नाटक-रचना का प्रौढ़ कार्य इन्हीं ने उठाया और उसका प्रचार-प्रसार भी खूब किया। नाट्य-शास्त्र पर भी इन्होंने सब से प्रथम सुव्यवस्थित रूप से एक पुस्तक लिखी। इनका हृदय बड़ा ही सरस, कोमल और प्रेमी था, इसका पता इनकी रचनाओं से चलता है।

गद्य की भाषा को इन्हीं ने प्रौढ़, परिमार्जित तथा निश्चित रूप देते हुए चलती हुई और स्वच्छ बना दिया। उनके इस रूप को सभी आदमियों ने स्वीकार करके उन्हें **गद्य का प्रधान प्रवर्तक** मान लिया। जिस प्रकार उन्होंने उक्त ५ गद्य-प्रवर्तकों के पंडिताऊ-पन, व्रज एवं पूर्वीय पुट तथा सानुप्रासिक रीति को भाषा-गद्य से दूर किया, उसी प्रकार राजा शिवप्रसाद के उर्दूपन को भी हिन्दी-गद्य से अलग कर दिया। भाषा को चलता हुआ रूप देते हुए भी इन्होंने उसमें बोलचाल की पुट एवं प्रान्तीयता नहीं आने दी।

व्रजभाषा का भी इन्होंने पर्याप्त संस्कार किया और उसके शब्द-भंडार से कुछ प्राचीन घिसे घिसाये-शब्द दूर कर नवयुग के नवीन भावपूर्ण शब्द उठा कर रख लिये। जिस प्रकार उन्होंने साहित्योचित भाषा का रूप स्थिर कर उसका संस्कार किया उसी प्रकार साहित्य की प्रगति को भी नवीन मार्ग पर अग्रसर किया और विचार-धारा के प्रवाह को भी नवीन क्षेत्रों की ओर घुमा दिया। देश, काल तथा परिस्थिति आदि के परिवर्तित रूपों को देख कर उन्होंने उन्हीं के अनुकूल साहित्य-रचना के नवीन मार्ग दिखलाये। नवीन विचार-धारा, भावों, भावनाओं एवं रुचि आदि का समावेश करके उन्होंने साहित्य-रचना में भी रूपान्तर कर

दिया। कहना चाहिये कि इस प्रकार उन्होंने देश एवं समाज के नवीन जीवन और प्राचीन साहित्य के अन्तर या विच्छेद को दूर कर एक ऐसे नवीन रचना-रूप का उदय कर दिया, जिसमें देश, जाति के नव जीवन का पूरा प्रतिविम्ब दिखलाई पड़े। इन्हीं बातों से भारतेन्दु बाबू का स्थान हिन्दी-साहित्य में बहुत ही ऊँचा माना जाता है।

सं० १६२२ में जगन्नाथ-यात्रा करके उन्होंने बंग-भाषा तथा बंगला-साहित्य से परिचय प्राप्त किया और उससे प्रभावित होकर देश, समाज, इतिहासादि सम्बन्धी **नाटकोपन्यास-साहित्य** का उदय एवं विकास हिन्दी में भी प्रारम्भ किया। सं० १६२५ में उन्होंने "विद्यासुन्दर नाटक" बंगला से हिन्दी में अनुवादित किया। इसी प्रकार अन्य नाटकों का भी अनुवाद किया और कुछ नाटक मौलिक रूप में भी रचे। अस्तु नाटकोपन्यास का मुख्य प्रवर्तक इन्हीं को मानना चाहिये।

साहित्यिक पत्रिकाओं का जन्म भी भारतेन्दु बाबू के ही समय से तथा उन्हीं के प्रयत्न-प्रभाव से हुआ है। इसी साल उन्होंने "कवि-वचन-सुधा" (प्रथम सर्वथा पद्य-काव्यात्मक रूप में, फिर गद्य-पद्य दोनों रूप में) हरिश्चन्द्र मैगज़ीन (सं० १६३० में फिर हरिचन्द्र-चंद्रिका के रूप से) के ८ अंक निकाले। इसी में हिन्दी गद्य का प्रौढ़ परिष्कृत रूप मिलता है। बाबू साहब ने नई हिन्दी का सच्चा उदय सं० १८७३ से ही माना है।

भारतेन्दु बाबू के प्रभाव एवं प्रोत्साहन से (साथ ही उनके द्वारा साहित्यिक पत्रिकाओं के उदय से भी) कतिपय सुयोग्य लेखक गद्य-साहित्य की श्री-वृद्धि करने लगे और हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य का सम्मान-संचार सुपठित समाज में भी होने लगा। अंग्रेज़ी, फ़ारसी और संस्कृत के सुयोग्य विद्वान भी इनकी ओर समाकृष्ट हो कर इन्हें अपनाने लगे।

भारतेन्दु बाबू के समय में हिन्दी-गद्य तथा उसके लेखकों में

एक बात विशेष रूप से देखने योग्य है और वह यह है कि हिन्दी-गद्य में किसी दूसरी भाषा का प्रभावाभास भी नहीं है, उसमें न तो अंग्रेज़ी के ही पदों या मुहावरों का अनुवाद पाया जाता है और न संस्कृत या फ़ारसी के ही मुहावरों का। हिन्दी-गद्य उस समय अपने वास्तविक रूप में ही था। यह कुछ काल के उपरान्त ही हुआ है, जब अंग्रेज़ी तथा संस्कृत के विद्वान लोग हिन्दी में लिखने लगे कि हिन्दी-गद्य में अंग्रेज़ी आदि के पदों एवं मुहावरों—जैसे भाग लेना (to take part) प्रकाश डालना (to throw light upon), जीवन-होड़ (struggle for existence) येन केन प्रकारेण (जैसे तैसे) आदि—का अनुवाद करके नवीन पदों या मुहावरों का समावेश किया गया हो। इसी प्रकार बंगला भाषा के मुहावरों आदि का भी समावेश हिन्दी में विशेषतया उसी समय से हुआ है जब बंगला-उपन्यासादि का अनुवाद ऐसे लोग करने लगे जिन्हें हिन्दी से पूर्ण परिचय न प्राप्त हुआ था।

भारतेन्दु बाबू ने जिस प्रकार नाटकों का नवीन मार्ग (जिसमें न तो प्राचीन नाट्यशास्त्र-सम्मत जटिलता ही थी और न बंगला-नाटकों के समान अंग्रेज़ी नाटकों का ही पूरा रूप एवं प्रभाव था, जिससे विदेशीय रूपान्तर का रंग उन पर चढ़ा हो) दिखलाया उसी प्रकार **उपन्यास** (सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक या देशानुरागात्मक एवं पौराणिक आदि) **इतिहास-रचना** आदि के मार्ग भी उन्होंने दिखलाये। इसी प्रकार देश-समाजादि की परिवर्तित विचारधारा, रुचि, जीवन-प्रगति आदि का समावेश साहित्य में करते हुए भी उन्होंने व्रजभाषा-काव्य की प्राचीन परम्परा एवं पद्धति (कवित्त सवैया वाली मुक्तक काव्य-शैली जिसमें शृङ्गार रस एवं भक्ति-प्रेम का प्राधान्य रहता है) भी सुरक्षित तथा जारी रक्खी। अपनी प्राचीन परम्परा को लेते हुए एक नव प्रवर्तक होकर उन्होंने नवीन भाव-भावनादि को रचना-

रस में इस प्रकार मिला दिया कि वे उसमें सर्वथा पचकर साहित्य के विकसित अंग ही से जान पड़ने लगे।

जिस प्रकार उन्होंने गद्य और पद्य दोनों के साहित्य की वृद्धि की उसी प्रकार उन्होंने अपने अन्य मित्रों को भी ऐसा करने के लिये प्रोत्साहित किया। इन्हीं के समय से ही सुयोग्य साहित्य सेवी, कवि और गद्य-लेखक भी हो चले। इस प्रकार उनके ही समय में लेखकों और कवियों का एक ऐसा अच्छा सुसंगठित समाज या मंडल बन गया, जिसने हिन्दी-गद्य तथा साहित्य के नव विकास में कार्य किया। भारतेन्दु बाबू के ही समय में **पत्र-पत्रिकाओं** (समाचार पत्रों एवं साहित्यिक पत्रिकाओं) का भी अच्छा प्रकाश-प्रचार हो चला था।

इस समय के गद्य-विकास में हम निम्नांकित विशेषतायें पाते हैं, जिनका प्रभाव समाज और साहित्य दोनों पर बहुत गहरा पड़ा है:—

१—शुद्ध खड़ी बोली का सुव्यवस्थित, परिमार्जित, प्रौढ़ एवं संयत रूप है, जिसमें शिष्टता, व्यापक व्यावहारिकता तथा स्वाभाविकता ख़ूब पाई जाती है।

२—गद्य-रचना में सजीवता, स्पष्टता और रसवत्ता के साथ ही साथ स्निग्ध धारावाहिकता भी है।

३—भाषा सब प्रकार अपने वास्तविक रूप में ही है। उसमें अन्य भाषाओं के मुहावरे आदि नहीं, अर्थात् अन्य भाषाओं का प्रभाव या रंग उस पर नहीं पड़ा।

४—विषयानुकूल उसमें शैली का वैचित्र्य एवं पार्थक्य भी अच्छी मात्रा में पाया जाता है।

५—भाषा-गद्य साहित्योचित एकरूपता की ओर पूर्णरूप से झुकता है, वह नियम-नियंत्रित सा भी जान पड़ता है।

६—मुहावरों के उपयोग या समावेश से उसमें चलतापन तथा सारल्य भी अच्छा आ गया है।

७—व्यंग्य एवं भाव पूर्ण होता हुआ वह रोचक और मनोरंजक भी ठहरता है। साथ ही उसमें उमङ्ग, उत्साह, चांचल्य, एवं स्वातंत्र्य भी है।

यहीं हम यह भी दिखला देना चाहते हैं कि इसी समय से भाषा-गद्य के प्रायः दो मुख्य रूप हो जाते हैं।

१—साधारण— जो प्रायः सब के लिये सुबोध है और जिसमें बोल-चाल की सरल व्यावहारिक पदावली रहती है और फ़ारसी-अरबी के अति प्रचलित शब्द भी—यद्यपि बहुत ही कम रहते हैं। यह साधारण साहित्य तथा समाचारपत्रादि के लिये अति उपयुक्तोपादेय हैं।

२—साहित्यिक—जिसका प्रयोग उच्च कोटि की ही साहित्यिक रचना में किया जाता है और जिसमें संस्कृत-पदावली का विशेष समावेश पाया जाता है, क्योंकि बिना इसके काम ही नहीं चलता। इसमें गांभीर्य, अर्थ-गौरव एवं वैचित्र्य की भी पर्याप्त पुट रहती है। वाक्य-विन्यास भी कुछ दीर्घाकार एवं जटिल सा रहता है।

इन दोनों के साथ ही एक शैली और भी इसी समय में विकसित हुई है, जिसे हम **भावावेशात्मक औपन्यासिक शैली** कह सकते हैं। इसमें वाक्य छोटे २, सरल, स्पष्ट एवं रस-भाव-पूर्ण रहते हैं, पदावली भी साधारण और प्रायः व्यावहारिक ही होती है, हाँ जहाँ कहीं वस्तु-वर्णन या तथ्य-निरूपण होता है वहाँ भाषा कुछ उन्नत अवश्य हो जाती है।

भारतेन्दु बाबू में इन सभी शैलियों के रूप पाये जाते हैं और यह उनकी प्रधान प्रधान पुस्तकों के देखने से स्पष्ट ही हो जाता है। वैदिकीहिंसा, कर्पूर मंजरी, सत्यहरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत-

दुर्दशा* अंधेरनगरी, प्रेमयोगिनी आदि पुस्तकें उदाहरणार्थ ली जा सकती हैं।

साहित्य-वृद्धि

भारतेन्दु के समय से गद्य-लेखकों की वृद्धि प्रारम्भ हो गई, उनके ही समय में एक लेखक-मंडल सा बन गया था, जिनमें उपाध्याय पं० बद्रीनारायण चौधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बा० तोताराम, पं० बालकृष्ण भट्ट, ला० श्रीनिवासदास, ठा० जगमोहनसिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० केशवदास भट्ट, पं० भीमसेन शर्मा आदि मुख्य थे। इन सज्जनों ने हिन्दी (खड़ी बोली) गद्य में उपन्यास, नाटक, गद्य-काव्य, निबंध आदि विविध विषयक रचनायें कीं और कई समाचार पत्रों के द्वारा हिन्दी भाषा तथा साहित्य का प्रचुर प्रचार किया। इन लोगों के कारण हिन्दी-गद्य की विविध शैलियों का भी उदय-प्रकाश हुआ, अस्तु इन लोगों को गद्य-साहित्य में विशेष स्थान दिया जाता है।

सं० १९५७ के आस-पास से हिन्दी-गद्य-क्षेत्र तथा साहित्य क्षेत्र में एक नवीन रूपान्तर या उत्थान (विकास) का प्रारम्भ होता है। इस समय तक में हिन्दी-गद्यको पर्याप्त स्थिरता एवं व्यापकता प्राप्त हो चुकी थी, उक्त लेखकों ने अपनी मनोरंजक रचनाओं से हिन्दी-गद्य को प्रिय बनाते हुए, उसे परिमार्जित तथा शिष्ट

---

* यह मौलिक कहा जाता है, किन्तु श्रीयुत पं० नर्मदेश्वर उपाध्याय एम० ए०, एलएल० बी० ऐडवोकेट प्रयाग से मुझे यह सप्रमाण ज्ञात हुआ है कि इसके पूर्व उनके चाचा श्री पं० बद्रीनारायण जी चौधरी "प्रेमघन" ने एक नाटक लिखा था जिस पर यह आधारित कहा जा सकता है, वह नाटक उनके पास है, मुझे उन्होंने उसकी एक प्रति भेंट भी की है।—रसाल

करके साहित्योचित, उपयोगी और सुन्दर कर दिया था। पठित समाज (संस्कृतज्ञ, फ़ारसीदाँ आदि) भी इस को अपना कर हिन्दी-हित करने में सहयोग देने लगा था। हाँ अंग्रेज़ी भाषा के विद्वान लोग जो प्रथम इससे कुछ दूर या खिंचे से रहते थे; किन्तु अब वे भी इस ओर आकृष्ट होने लगे थे, क्योंकि उन्होंने यह देख लिया था कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा होने के योग्य है तथा वह भी अंग्रेज़ी की भाँति अपनी विशेष स्वतंत्र सत्ता एवं महत्ता रखती है। उसमें सुन्दर, सरस तथा उत्तम काव्य-साहित्य तो है ही, गद्य-साहित्य भी पर्याप्त रूप से तैयार होता हुआ, अपने विकास-प्रकाश की प्रबल प्रगति से अपनी भावी उन्नति की पूर्ण आशामयी सूचना देता है। अस्तु अब उच्च शिक्षा-प्राप्त सुयोग्य लोग भी हिन्दी को अपना कर उसमें कार्य करने लगे थे। वे संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ी से तो पूर्ण परिचित होते हुए विद्वान तो होते थे, किन्तु हिन्दी से कम परिचित होकर अच्छे हिन्दी-लेखक न होते थे। तौ भी उन्हें प्रोत्साहित करके हिन्दी-हित में लगाये रखने के लिये पर्याप्त प्रशंसा मिल जाती थी।

संस्कृत और अंग्रेज़ी के विद्वानों ने हिन्दी को अपना कर जहाँ उसकी वृद्धि में सहयोग दिया, वहाँ अपनी हिन्दी रचनाओं से उसके गद्य-क्षेत्र में संस्कृत, अंग्रेजी तथा फ़ारसी आदि का प्रभाव डाल कर भाषा में रूपान्तर तथा परिवर्तन सा उपस्थित कर दिया, जिससे भाषा कुछ बिगड़ चली। इनका अनुकरण अन्य हिन्दी-लेखक भी करने लगे और उक्त गड़बड़ी बढ़ती गई। इसी प्रकार, जैसा लिखा गया है, बंगला भाषा के उपन्यासादि के अनुवादों से भी बंगला भाषा के बहुत से शब्द, पद, प्रयोग (मुहावरे) आदि भी शब्दशः अनुवादित होकर हिन्दी में आ घुसे, जिनसे भाषा अपने विशुद्ध रूप से परे हो चली, किन्तु इसके साथ ही इस प्रकार हिन्दी में बहुत से प्रसंग और भावादि के अनुकूल

उपयुक्त सुन्दर संस्कृत-शब्द भी, जिनका प्रयोग बंगला में विशेष रूप से होकर प्रचलित हो चुका था, आ गये। इससे उतनी गड़बड़ी हिन्दी में न हुई जितनी अंग्रेज़ी आदि के प्रभाव से हुई।

अस्तु, कहना चाहिये कि इस समय में हिन्दी के क्षेत्र में दो विशेषतायें आ गईं:—१—संस्कृतज्ञों तथा बंगला-पुस्तकों के अनुवादकों के द्वारा हिन्दी में संस्कृत भाषा का परिष्कृत एवं सुन्दर पद-विन्यास आ गया और उससे मिश्रित होकर हिन्दी-गद्य की एक विशिष्ट शिष्ट परम्परा चल पड़ी। २—अंग्रेज़ी में सोचने वाले सुयोग्य लेखकों के द्वारा जो अंग्रेज़ी में उदय होने वाले विचारों का अनुवाद कोष की सहायता से हिन्दी में किया करते थे, हिन्दी में अंग्रेज़ी के कुछ पद-विन्यास का अनुवादित रूप तथा उसकी भावभंगी या शैली का ढंग भी आ गया। विराम आदि चिह्नों का प्रयोग भी हिन्दी में बढ़ चला। साथ ही उन लेखकों के द्वारा, जिन्हें हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों का अच्छा ज्ञान था, हिन्दी में विचार-विशदता, भावप्रकाशिनी शक्ति तथा विविध विषयोपयुक्त अभिव्यंजन-प्रतिभा भी आ चली। भाषा में सघन सांकोचन तथा संगुफन के साथ विचारों को व्यक्त करने तथा सूक्ष्म एवं संनिहित भावों को समाकृष्ट करने की प्रणाली भी बढ़ चली।

गद्य के पूर्व नवोदय काल में व्याकरण के नियमों पर विशेष ध्यान न दिया गया था, क्योंकि वह समय इस कार्य का न था वरन् गद्य के प्रचार तथा रूप-निश्चय करने का ही था। भाषा की स्वच्छता पर भी कुछ उपेक्षा की दृष्टि रहती थी, यद्यपि भाषा लोक-प्रयोगों (मुहावरों) के ही अनुकूल रक्खी जाकर विशुद्ध हिन्दी ही रहती थी। अब इस काल में जब कि एक प्रकार से भाषा-गद्य का रूप निश्चित सा हो गया तथा उसमें विशद-विकास एवं परिमार्जन भी हो चुका था, भाषा को व्याकरणानुकूल तथा स्वच्छ

रखने का प्रचार-प्रयत्न किया जाने लगा, क्योंकि साहित्यिक भाषा के लिये व्याकरणानुकूल रहना अनिवार्य ही है, अन्यथा उसमें एकरूपता एवं स्थिरता नहीं रह सकती। बहुत दिनों तक तो भाषा की अस्थिरता तथा शिथिलता चलती रही। श्रद्धेय पं० महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी ने "सरस्वती" नामी मासिक पत्रिका के द्वारा आलोच्य पुस्तकों की भाषा पर तीव्र आलोचनायें कर तथा उसमें व्याकरण तथा प्रयोग-सम्बन्धी त्रुटियाँ दिखा २ कर भाषा को व्याकरण-संयत तथा स्वच्छ बना दिया। अस्तु, भाषा-व्याकरण की ओर भी अब लोगों तथा लेखकों का ध्यान खूब जाने लगा और उसके विषय में प्रबल एवं प्रचुर चर्चा (वाद-विवाद) भी होने लगी। पंडित **गोविन्द नारायण मिश्र** ने "विभक्ति विचार" नामी एक छोटी सी पुस्तक के द्वारा विभक्तियों को शब्दों में मिलाकर लिखने का समर्थन किया।

भाषा-व्याकरण की पुस्तकें प्रथम लिखी ही न जाती थीं और यदि लिखी भी जाती थीं तो प्रायः बहुत ही सूक्ष्म रूप में। प्रायः अंग्रेज़ लोग ही भाषा-व्याकरण पर विशेष ध्यान देते और उसका अध्ययन करके (क्योंकि वे उसके द्वारा हिन्दी-भाषा सीखते थे और उनके लिये भाषा-व्याकरण का सीखना अनिवार्य ही था, किन्तु हिन्दी भाषा-भाषियों के लिये, चूँकि वे भाषा से पूर्णतया बाल्यावस्था से ही उसे पैतृक सम्पत्ति सा पाकर परिचित रहते हैं, भाषा व्याकरण का अध्ययन गौण तथा व्यर्थ ही सा ठहरता है, उन्हें उसकी आवश्यकता भी उतनी नहीं पड़ती) उसके नियमादि का ज्ञान एवं अभ्यास प्राप्त करते थे। अस्तु व्याकरण की पुस्तकें भी प्रायः वे ही लोग (अपने तथा स्कूलों के विद्यार्थियों के लिये) विशेष रूप से लिखा करते थे। भाषा-भास्कर आदि पुस्तकें अंग्रेज़ी पादरियों की ही लिखी हुई हैं और बहुत दिनों तक स्कूलों के पाठ्य-क्रम में रही हैं।

इस काल में चूँकि लेखकों तथा हिन्दी-साहित्य-हितैषियों का ध्यान विविध-विषयों की गद्य-रचनाओं की ओर विशेष रूप से लगा रहा, इसलिये विषयों के अनुकूल भाषा-गद्य के क्षेत्र में भिन्न भिन्न प्रकार की **शैलियों** का भी उदय हो गया। भाषा में भी भावभंगी, विचार-प्रवाहानुकूलता, संयत एवं शिष्ट शुद्धतामयी स्वच्छता आने लगी। काव्य-भाषा के समान ही अब गद्य-भाषा में भी प्रसाद, ओज आदि गुणों का अच्छे रूप में समावेश हो चला। अस्तु, परिष्कृत, परिमार्जित और शुद्ध होकर भाषा उच्च-कोटि की होने लगी।

इस काल के अंतिम दिनों में खड़ी बोली, हिन्दी, नागरी, हिन्दोस्तानी एवं ठेठ हिन्दी आदि के सम्बन्ध में कुछ विवाद भी अच्छा छिड़ा, इससे भाषा के भिन्न भिन्न रूपों को निश्चय करके स्थिर करने में बड़ी सहायता मिली। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि भाषा के इन भिन्न भिन्न रूपों को लेकर लेखक गद्य-रचनायें भी कर चले, जिससे साहित्य की अच्छी वृद्धि हुई। यद्यपि अब तक पूर्ण रूप से भाषा के रूप निश्चित नहीं हो सके, तौभी इस सम्बन्ध में जो जटिल उलझन प्रथम थी वह अब बहुत कुछ सुलझ गई है।

उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा के रूप तथा उसकी मुख्य मुख्य शैलियाँ साधारण भाषा के रूप तथा उसकी शैलियों से पृथक् कर लिये गये हैं। इस काल की निबंध-रचना ने भी इसमें बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई है। कुछ लेखकों ने यदि शुद्ध संस्कृत पदावली से संयत एवं संगुफित साधु वाक्य-विन्यासात्मक गद्य-शैली का प्रचार किया, तो कुछ ने ठेठ हिन्दी का, कुछ ने हिन्दोस्तानी या साधारण हिन्दी का और कुछ ने सजीव समूर्त एवं चलती हुई भाषा का। साथ ही कुछ ने गद्यकाव्योचित अलंकृत भाषा का भी रूप सामने उपस्थित किया। इसका प्रभाव गद्य-काव्य पर तो

उतना न पड़ा जितना खड़ी बोली के पद्य-काव्य पर। सम्भवतः इसी को देख कर कवियों ने यह सोचा कि खड़ी बोली में भी सुन्दर काव्य लिखा जा सकता है। इस प्रकार अब गद्य-पद्य दोनों के क्षेत्र विशेष विस्तृत हो गये हैं।

हिन्दी (खड़ी बोली) गद्य पर इस प्रकार सूक्ष्म प्रकाश डाल चुकने पर अब हम प्रथम इस काल के कवि एवं उनके काव्य पर मार्मिक विवेचना लिखेंगे, उसके उपरान्त गद्य-साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों का सूक्ष्म विवरण देंगे। रचना-रीतियों तथा शैलियों आदि के भी सूक्ष्म परिचय हम उसी के साथ देने का प्रयत्न करेंगे।

आधुनिक काल

काव्य-साहित्य

यह प्रथम ही सूचित किया जा चुका है कि इस काल में गद्य के विकास-प्रकाश या प्रचार-प्रवर्धन की ओर बड़े बल-वेग से कार्य प्रारम्भ होकर चला, जिसके सामने पद्य-साहित्य की रचना का कार्य शिथिल पड़ गया। राज-दरबारों में अभी कवि लोग प्राचीन-पद्धतियों के अनुसार परम्परागत काव्य-रचना का कार्य न्यूनाधिक रूप से करते जा रहे थे। वहाँ अभी खड़ी बोली के गद्य का प्रवेश-प्रचार उस विशद रूप में बलवेग से न हुआ था जैसा वृटिश राज्य में हुआ था। राज्य-दरबारों में अभी व्रजभाषा (कुछ परिवर्तित रूप में) उसी प्राचीन परम्परा के साथ चली जा रही थी। अस्तु, वहाँ अभी पद्य-काव्य-रचना का ही कार्य मुख्यतया होता था, गद्य-रचना का उदय एवं विकास तो वहाँ अभी तक हुआ ही न था।

बृटिशराज्यगत हिन्दी-क्षेत्र में भी यत्र-तत्र प्राचीन काव्य-परम्परा चल रही थी। सभी प्रधान कवि व्रजभाषा में पुरानी पद्धतियों के अनुसार काव्य-रचनायें किया करते थे। कतिपय स्थानों में छोटे छोटे कवि-मंडल भी* स्थापित हो चुके थे, जिनके द्वारा कवि-सम्मेलनों तथा समस्यापूर्ति का आयोजन किया जाया करता था। कुछ काव्य-सम्बन्धी पत्र (जिनमें केवल कवितायें, विशेषतया समस्यापूर्ति सम्बन्धी रचनायें, ही रहती थीं) भी प्रकाशित किये जाते थे। इतना होते हुए भी सुकाव्य ग्रंथों की रचना का कार्य एक प्रकार से बंद ही सा था। यह अवश्य है कि कुछ व्रजभाषा काव्य-प्रेमी कवि या भक्तादि परम्परानुसार कुछ रचनायें करते जा रहे थे।

खड़ी बोली के गद्य का प्रचार-प्रवर्धन करने वाले तथा हिन्दी-साहित्य में नव जीवन का संचार करने वाले सज्जनों में से कुछ ऐसे भी थे, जो व्रजभाषा काव्य की शृंगारी परम्परा का पालन करते जा रहे थे। बहुत से सज्जन तो केवल व्रजभाषा-काव्य के रक्षित रखने में ही लगे हुए थे और कवि-समितियों तथा कविसम्मेलनों का आयोजन कर समस्या-पूर्तियों के द्वारा स्फुट मुक्तक काव्य की परम्परा चलाये जा रहे थे। अयोध्या, बनारस (भारतेन्दु बाबू के यहाँ) आदि स्थानों के भावुक राजाओं तथा रईसों के यहाँ कवियों को आदर-सत्कार तथा आश्रय प्राप्त होता था और काव्य-चर्चा चला करती थी। कह सकते हैं कि इस प्रकार इस समय में विशेष रूप से समस्या-पूर्ति के ही द्वारा

---

*काशी-कवि-मंडल, काशी-कवि-समाज, बिसवाँ-कवि-मंडल, रसिक-समाज कानपुर, हिन्दी कवि-समाज, फतेहगढ़-कवि-समाज, कालाकाँकर-कवि-समाज, प्रयाग-रसिक मंडल (अभी हाल से) निज़ामाबाद-कवि-समाज।

शृंगारात्मक मुक्तक काव्य का प्रचार पाया जाता है। उन समस्या-पूर्तियों में से बहुत सी तो अब प्राप्त ही नहीं, उनके साहित्य का बहुत बड़ा अंश लुप्त ही हो गया, हाँ कुछ थोड़ा सा अंश, जो काव्य सम्बन्धी सामयिक पत्रिकाओं तथा कुछ संग्रह-ग्रंथों में प्रकाशित हो चुका है, अवश्य प्राप्त होता है, जिसके देखने से ज्ञात होता है कि इस समय के समस्या-पूर्ति-कारकों में से कुछ में तो बड़ी ही सुन्दर प्रतिभा थी, जिसके द्वारा, यदि उसका उपयोग समस्यापूर्ति में न किया जाता, सत्काव्य-ग्रंथों की भी सृष्टि रची जा सकती थी। ऐसे ही कवियों की पूर्तियाँ सराहनीय एवं सुन्दर भी हैं। समस्या-पूर्ति एक प्रकार की कला है,* जिसका प्रचार बहुत प्राचीन काल से यहाँ बराबर न्यूनाधिक रूप में रहा है।

इसके द्वारा काव्य-रचना की शिक्षा प्राप्त होती है और कवि-प्रतिभा की एक प्रकार से शीघ्र परीक्षा सी भी हो जाती है। मनोविनोद तो होता ही है। हम कह सकते हैं कि इस काल में इस कला का अच्छा विकास एवं प्रचार हुआ। समस्या-पूर्ति की कुछ संग्रहीत पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं और इसके कारण बहुत से कवि भी तैयार हो गये। प्रोत्साहनादि के न प्राप्त होने से इस समय के कवि साहित्यिक तथा स्थायी सत्काव्यों की रचना न कर सके। कहा जा सकता है कि अब काव्य केवल मनोरंजन के ही लिये रह गया, कवि-सम्मेलनों आदि में (जो बहुत न होते थे) या तो कवियों को जनता से कोरी वाहवाही ही मिल गई या यदि बहुत हुआ तो कहीं किसी से एक आध स्वर्ण या रजत पद (दस पाँच रुपयों का) प्राप्त हो गया। ऐसी दशा में काव्य की उत्तम रचना कैसे हो सकती है, यह स्पष्ट ही है।

---

* देखो वात्स्यायन कामसूत्र में "कलाओं की सूची"। समस्या-पूर्ति के विषय में विशेष ज्ञान के लिये देखिये माधुरी १९८७ सं०।

समस्या-पूर्ति की प्रथा अब तक चली जा रही है किन्तु अब उसमें बहुत-कुछ रूपान्तर या परिवर्तन हो गया है। इसके बंद करने का भी एक ओर से बहुत बड़ा प्रयत्न हुआ और हो रहा है, किन्तु वह चली ही जाती है, हाँ उसकी दशा अब अच्छी नहीं वरन् शोचनीय ही है। इसी के साथ व्रजभाषा-काव्य को भी उठा देने का प्रयत्न हुआ और हो रहा है। खड़ी बोली के कवियों ने (जिन्हें पत्र-पत्रिकाओं से बड़ी सहायता प्राप्त हुई और हो रही है) इसका आन्दोलन प्रबल रूप में किया है, यद्यपि उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। काव्य-सम्बन्धी पत्र जो प्रथम निकलते थे, कुछ समय के उपरान्त बंद होने लगे (अब कुछ दिनों से 'सुकवि' जैसे दो-एक पत्र फिर निकलने लगे हैं) और समाचार-पत्रों तथा साहित्यिक पत्रिकाओं ने उनके स्थान ले लिये। इन में से बहुत कम—केवल दो ही एक ने व्रजभाषा-काव्य को स्थान प्रदान करने की उदारता या कृपा दिखलाई, नहीं तो सबों ने इसे हटाकर खड़ी बोली के नव काव्यांकुर को ही विकसित करने का उद्देश्य रखकर केवल उसी को अच्छा स्थान प्रदान किया, जिससे खड़ी बोली की कविता के प्रचार तथा विकास में बहुत बड़ी सहायता मिली। इसी प्रकार प्रकाशकों ने भी खड़ी बोली की काव्य-पुस्तकों को प्रकाशित करके उन्हें प्रचलित करने का पूरा प्रयत्न किया और व्रजभाषा की काव्य-पुस्तकों से अपनी दया-दृष्टि उठा सी ली। इतना होने पर भी व्रज-भाषा-काव्य जनता के हृदय से हट न सका, उसकी माधुरी रसना में रमी जमी ही रही, हाँ व्रजभाषा के नवकवियों तथा उनकी रचनाओं का प्रचार-प्रकाश अवश्य ही संकीर्ण होता हुआ घट गया। अब कुछ दिनों से व्रजभाषा तथा उसके काव्य का प्रचारोद्धार सुयोग्य काव्य-प्रेमियों, सहृदय भावुकों तथा उनके मंडलों के द्वारा किया जाने लगा है, जिससे आशा है कि व्रजभाषा-काव्य

फिर विकास प्रकाश प्राप्त कर सकेगा। प्रकाशकों ने भी अब व्रजभाषा के नवीन सत्काव्यों का प्रकाशन कर उसके प्रति उदारता एवं दया के भाव का दिखलाना प्रारम्भ किया है।

यहाँ यह भी लिखना उचित जान पड़ता है कि अब व्रज-भाषा, खड़ी बोली के प्रचुर एवं प्रबल प्रचार से, कुछ अनुबोध तथा अपरिचित सी होती जा रही है, अतः नवकवियों के लिये इसमें सफलतापूर्वक कविता लिखना यदि असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य हो रहा है, उन्हें चूँकि प्रथम इससे तथा इसकी काव्य-रचना-पद्धति से पूर्ण परिचय प्राप्त करना अनिवार्य ठहरता है (जैसा खड़ी बोली में नहीं) अतः वे इसे त्याग खड़ी बोली की ही शरण लेते हैं। अस्तु, करें वे खड़ी बोली ही में काव्य-रचना, किन्तु करें तो और करें तो सत्काव्य-रचना करें। साथ ही वे व्रजभाषा के विरोधी हो उसपर अनेक अन-र्गल तथा निराधार या निरर्थक आक्षेप करें और उसे तथा उसके काव्य (काव्यकार कवियों) के नष्ट करने का भी आन्दोलन न उठायें, यह अनुचित और निंद्य है। यह जानते हुए भी कि व्रजभाषा अब भी एक बोली जाने [illegible] (प्रांत विशेष में ही सही) जीवित भाषा है, जिसने इ[illegible] [illegible]हित्यागार रच रक्खा है, हम मान सकते हैं कि अब [illegible] साधारण के लिये अनुबोध तथा अपरिचित सी हो रही है, तो भी हम यही कहना चाहते हैं कि इसके हटाने का प्रयत्न न किया जावे, इसकी काव्य-रचना का विरोध कर उसे बंद करने का आन्दोलन न फैलाया जावे, (जो उसे अपना कर उसमें काव्य रचना करते हैं उन्हें बाधा न पहुँचा कर स्वतंत्रता के साथ अपना कार्य करने दिया जावे) वरन् उसे रक्षित रक्खा जावे और उसे सुबोध तथा परिचित बनाने का प्रयत्न किया जावे। उसे संस्कृत आदि के समान साहित्यिक भाषा मान कर ही सीखा-सिखाया जावे और

एतदर्थ व्रजभाषा-मर्मज्ञों से उसके व्याकरण तथा कोष-ग्रंथ तैयार कराये जावें।* यदि ऐसा न होगा तो हमारा सारा प्राचीन साहित्य निस्सार हो जायगा। अस्तु,

जिस काल का वर्णन हम कर रहे हैं उस काल में यद्यपि व्रजभाषा का अच्छा प्रचार था, पर्याप्त संख्या में उसके कवि थे और प्रायः सारी जनता उसे समझती तथा उससे परिचित थी, तथापि उसमें विशेष प्रकार का विकार एवं रूपान्तर आ गया, उसमें शुद्धता, स्वच्छता तथा एकरूपता न रह सकी वरन् अवधी बुंदेलखंडी एवं पूर्वीय भाषाओं की पुट लग गई। परिस्थिति आदि के अनुकूल न होने से (खड़ीबोली ही पर सब सुयोग्य सज्जनों के पूर्ण ध्यान देने से) किसी ने इसे शुद्ध, स्वच्छ तथा परिष्कृत कर एक निश्चित रूप में रखने का प्रयत्न भी न किया। श्रीयुक्त रत्नाकर जी ने अवश्य ही इसके अपवाद रूप में कार्य किया है।

इस समय तक में अवधी भाषा हिन्दी-काव्य के क्षेत्र से उठ ही सी गई थी, (व्रजभाषा ही एक सर्वमान्य, व्यापक तथा प्रधान काव्य-भाषा हो चुकी थी। हाँ उसने अपना प्रभाव व्रजभाषा पर कुछ डाल [illegible] था, विशेषतया उस व्रजभाषा पर, जिसका उपयोग अवध प्रान्तीय कवि किया करते थे। अब अवधी के स्थान पर खड़ी बोली ने काव्य-क्षेत्र में पदार्पण करना प्रारम्भ कर दिया था। अस्तु, अब हम काव्य-रचना तथा कवियों की ओर आते हैं।

---

* श्रीयुक्त रत्नाकर जी तथा श्रीयुक्त रसाल जी इसका प्रयत्न कर रहे हैं और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने भी इस ओर एक प्रस्ताव स्वीकृत कर, कार्य करने का निश्चय किया है। आशा है, शीघ्र ही कुछ न कुछ हो जावेगा। —सम्पादक

जय-काव्य

अंग्रेज़ी राज्य के सुस्थापन से अब देश में सब प्रकार सुख-शान्ति थी और देश-काल आदि की परिस्थितियों में नये ढंग से परिवर्तन हो गया था। अब वह समय, समाज तथा आवश्यकता न थी, जिस के लिये वीर-काव्य की रचना अनिवार्य ठहरती। अस्तु, इस काल में वीर-काव्य का सर्वथा लोप ही सा हो गया। हाँ, आल्हा की गान-प्रथा, पवाँरा (राजाओं और ज़मींदारों का सुयश-गान, जो प्रायः निम्न श्रेणी के लोगों में प्रचलित है) गान के साथ प्रचलित थी। आल्हा* बड़ा ही ओजपूर्ण और वीरभाव-पूर्ण उत्तेजक काव्य है। कहा जाता है कि चंद के समकालीन जगनिक बंदीजन ने इसकी रचना की थी, किन्तु वर्तमान आल्हा-काव्य की, (जो अभी थोड़े दिनों से प्रकाशित हो चला है; प्राचीनता का परिचय नहीं देता) यह भी कहा जाता है कन्नौज के किसी कवि ने रचना की थी, पर इसका भी कोई विशेष विवरण ज्ञात नहीं हो सका।

आल्हा-शैली से रामायण आदि की कथायें इस काल में साधारण लोगों के द्वारा रची गईं और उनमें से कुछ प्रकाशित भी हुई हैं, किन्तु उनमें काव्य के लक्षण बहुत ही न्यून हैं। यदि अच्छे कवि आल्हा का प्रवर्धन एवं विकास करके उसे साहित्यिक क्षमता दें तो अच्छा हो।

वीर एवं जय-काव्य की परम्परा भक्ति-काल से ही शिथिल होती आई और कला-काल में बहुत ही क्षीण दशा को प्राप्त होकर इस काल में लुप्तप्राय ही हो गई।

---

* आल्हा में महोबा-नरेश के वीर सैनिक आल्हा और ऊदल के युद्धों तथा वीर कर्मों का वर्णन है, पृथ्वीराज, जयचंद्र तथा कालींजर नरेश आदि के भी युद्धों का विवरण मिलता है, अस्तु इसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य की भी पुट है।

—सम्पादक

रचना-शैलियाँ

भक्ति-काल में, जैसा हम दिखला चुके हैं, कितने ही प्रकार की रचना-शैलियों का उदय एवं विकास हुआ और उनका प्रचार-प्रकाश भी ख़ूब हुआ। कला-काल में भी वे शैलियाँ न्यूनाधिक रूप में चलती रहीं। प्रधान शैलियों में १—पद-रचना, २—कवित्त-सवैयात्मक मुक्तक रचना, ३—प्रबंध-काव्यात्मक दोहा-चौपाई वाली, ४—दोहात्मक शतसई, ५—बरवात्मक, ६—कुंडलिया रचना विशेष उल्लेखनीय तथा व्यापक हुई हैं। कला-काल में नं० २, ४ और ६ की शैलियों का विशेष प्रचार एवं प्राधान्य रहा। इस काल में भी, यों तो उक्त सभी शैलियाँ कुछ न कुछ चलती ही रहीं, किन्तु विशेष प्रचार एवं प्राधान्य (प्राबल्य के साथ) रहा नं० २ और ६ की शैलियों का ही।

यह तो सदैव ही लिखने तथा ध्यान देने के योग्य बात है कि हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में मात्रिक छंदों की ही प्रधानता रही है। इन्हीं का प्रचार-प्राबल्य विशेष रूप से रहा है। कवित्त-सवैया, जो वर्णिक छंदें हैं, कला-काल में विशेषतया व्यापक और लोकप्रिय होकर प्रचलित रहीं। वर्णिक वृत्तों की ओर हिन्दी कवियों ने बहुत ही कम ध्यान दिया है, क्योंकि इनकी रचना में इतनी सुविधा नहीं होती जितनी मात्रिक वृत्तों में होती है। उच्चारण-सारल्य के साथ चलने वाली ब्रज-भाषा तथा अवधी में वर्णिक वृत्त कम उपयुक्त तथा उपयोगी ठहरते हैं। खड़ी बोली के शुद्ध संस्कृत रूप में वर्णिक वृत्त अति उपयुक्त तथा उपयोगी ठहरे, अतएव खड़ी बोली के कवि इनका भी प्रयोग कर चले। साथ ही वे नवीनता लाकर आकृष्ट करने के लिये बँगला-काव्य-रचना से प्रभावित होकर अन्य प्रकार की

छंदों का भी उपयोग करने लगे, जिसका सूक्ष्म विवरण हम वर्तमान काल में देंगे।

यहाँ अब हम यह दिखला देना चाहते हैं कि साहित्य के किन विशेष अंगों की पूर्ति किस प्रकार किन परम प्रधान कवियों के द्वारा की गई है। जय-काव्य के विषय में लिखते हुए हम कह चुके हैं कि इस काल में यह काव्य लुप्त ही हो गया, किसी भी प्रधान कवि ने इस पर अपनी लेखनी नहीं उठाई। अब हम भक्ति-काव्य तथा उसकी भिन्न २ रचना-शैलियों की ओर दृष्टिपात करते हैं :—

भक्ति-काव्य

राम और कृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त भक्तिकाल ही में अन्य देव एवं देवी आदि की भी भक्ति को लेकर कुछ कवियों ने **स्तवन** (संस्कृत के स्तोत्र-शैली के आधार पर) काव्य की रचना करना आरम्भ कर दिया था। कला-काल में भी यह परिपाटी चलती रही। इस काल में इसे कुछ विशेषता प्राप्त हो गई। राम-कृष्ण-भक्ति-काव्य कुछ शिथिल हो गया और यह कुछ प्रबल हुआ। इसका रूप प्रायः मुक्तक काव्य सा ही रहा और इसमें स्तुति तथा विनय की प्रधानता रही। कवियों ने किसी देवी या देवता की स्तुति एवं विनय करते हुए पाँच, आठ, पचीस एवं पचास छंदें लिखकर पंचक, अष्टक, पचीसी एवं पचासा आदि शैलियों से रचनायें कीं।

कृष्ण-काव्य—इस काव्य के लिये यह काल सर्वथा अनुपयुक्त था, स्वामी दयानन्द के खंडन से जनता की रुचि तथा विचार-धारा बहुत कुछ बदल गई थी, अब भक्ति-भाव का वह प्राचुर्य एवं प्राबल्य न रह गया था, इसीलिये इस काव्य की दशा और भी नितांत शोचनीय हो गई। कला-काल से ही इसमें

रूपान्तर एवं परिवर्तन हो चला था। श्रीकृष्ण एवं राधा (गोपियाँ) को काव्य-साधन के रूप में लेकर उनकी ही ओट में कवि लोग काव्य-कला-कौशल एवं कल्पना-प्रतिभा के प्रदर्शनार्थ मुक्तक शैली से (कवित्त एवं सवैया वाली) अपनी मानसिक वृत्तियों एवं भावनाओं का सरस कौतुक किया करते थे। अपने विचारों एवं मनोवेगों का इन पर समारोपण हुए काव्य-रचना करते थे। यही बात इस काल में भी विशेष रूप से देखी जाती है।

इसी प्रकार सरस कृष्ण-लीलाओं को लेकर कवि कला-काल से ही **लीलात्मक मुक्तक काव्य** (या खंड-काव्य) की सरस रचनायें कर चले थे, इस काल में भी यही परिपाटी न्यूनाधिक रूप से चलती रही। श्री ध्यानदास* (पृ० ११०८) देवीसिंह* (११०६) ,खुमानसिंह* (पृ० १११३) आदि ने लीलात्मक काव्य की अच्छी रचनायें कीं, किन्तु वे साधारण श्रेणी की ही हैं, अतः उल्लेखनीय नहीं ठहरतीं।

कृष्ण-काव्य की पद-शैली से भी कुछ रचनायें यत्रतत्र भक्तों के द्वारा की जाती रहीं, किन्तु उन रचनाओं में से बहुत ही कम

---

* काशी कवि (क० का० १६१५ सं०) (वि० पृ० ११११) ने गदर रायसो (भारतीय गदर पर) तो वीर रसात्मक वर्णन-काव्य लिखकर हास्य रसात्मक घूँसा रायसो और छछूँदर रायसो भी लिखे।

* लखनेश (पं० लछमण प्रसाद, रीवाँ-नरेश के मंत्रीसुत) रीवाँ-सेना के अध्यक्ष थे। इन्होंने "रसतरंग" नामी ११६ पृष्ठों का एक ग्रंथ कृष्ण-काव्य पर लिखा। यह केशव की विविध छंदात्मक शैली से रीति-ग्रंथों के ही समान लिखा गया है। सवैया-घनाक्षरी का प्राधान्य अवश्य है। कुछ चित्र-काव्य भी हैं। रीति-शैली और कथा-शैली दोनों का सामंजस्य है। इनके लक्ष्मी-चरित्र का भी पता चला है। —सम्पादक

ऐसी हैं, जिन्हें साहित्य में स्थान प्राप्त हो सकता है, प्रायः सब में ही चर्वितचर्वण-न्याय का ही प्राधान्य पाया जाता है। ये रचनायें इसीलिये बहुत ही साधारण कोटि की तथा अनुल्लेखनीय ही हैं। श्री ललित किशोरी साह कुन्दन लाल*, कृष्णदत्त पांडेय (वि० पृ० १०६७) रेवाराम (वि० पृ० १०७१) इच्छाराम (राधामाधव शतक लेखक) द्रौपदी विनय (त्रि० पृ० १०८२) गोपालराय भट्ट (त्रि० पृ० १०८४), जयदयाल (वि० पृ० १०९५) जिनराज महंत (वि० पृ० १०९६) आदि की भी रचनायें साधारणतया अच्छी हैं। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से भक्तों ने पद रचे हैं जो कृष्णानंद व्यास-संग्रहीत "रागसागरोद्भव और राग कल्पद्रुम" नामी संग्रह-ग्रंथों में पाये जाते हैं। वे विशेष उल्लेखनीय नहीं क्योंकि इनमें साहित्यिक पटुता नहीं पाई जाती। †

---

* ये लखनऊ के वैश्य थे, सं० १९१३ में वृन्दावन जाकर गोराधा गोविन्द से इन्होंने दीक्षा ली, सं० १९१७ में प्रसिद्ध साह जी का मंदिर बनवाया सं० १९३० में इनकी मृत्यु हुई। इन्होंने कई ग्रन्थ रचे, जिनमें समय प्रबन्ध, अष्टयाम (श्रीकृष्ण के हर एक घड़ी का शृंगार, कार्य तथा समय २ की उपासना एवं पूजा का वर्णन) श्री कृष्ण की प्रेमात्मक लीलायें (बाललीलायें नहीं) सरस, मधुर तथा कोमल व्रजभाषा में लिखी गई हैं। कहीं २ फ़ारसी एवं संस्कृत के भी पद आये हैं। खड़ी-बोली की पुट देते हुए भी इन्होंने कुछ रचना की है, कुछ कूट-काव्य भी रचा है। काव्य इनका सराहनीय है। मि० बं० वि० १०६१ भा० ३।

† महाराज विश्वनाथसिंह जू देव—रीवाँ-नरेश, प्रसिद्ध कवि राजा रघुराजसिंह के पिता थे। आप का जन्म सं० १८४६ में और राज्य-तिलक सं० १८९१ में हुआ। सं० १९११ तक आपने राज्य किया। आप राधावल्लभीय प्रियदास जी के शिष्य थे। आपने अपने पिता की भाँति अपने पुत्र को, कुछ अनबन होने के कारण राज्य सौंप दिया। आपका विवाह उदयपुर के महाराणा

भक्तिकाल में पवित्र स्थानों (विशेषतया राम एवं कृष्ण के जन्म-स्थानों एवं लीला-क्षेत्रों जैसे ब्रज, वृन्दावन, अयोध्या आदि) की महिमा भी गाई जाने लगी थी। इस काल में भी यह परिपाटी जारी रही, साथ ही इसका विकास भी किया गया और कवियों ने पवित्र ग्रंथों, तिथियों आदि की भी महिमा एवं स्तुति (प्रशंसा) सम्बन्धी रचनायें कीं। यह काव्य भी स्तवन-काव्य के ही रूप में पाया जाता है। मोहन कवि, चतुर्भुज मिश्र, गोपालदास, महेशदास आदि कवियों ने इस प्रकार की **महिमा-काव्य-रचना** अच्छी की है। भागवत, (दशमस्कंध विशेषतः) रासपंचाध्यायी, भ्रमर गीत तथा रास-लीला आदि के प्रसंग संस्कृत ग्रंथों से लेकर कई कविवरों के द्वारा अनुवादित भी किये गये। जीवनलाल (वि० पृ० १०२४ ऊषाहरण, दुर्गाचरित्र रामायण, गंगाशतक, अवतार माला, संहिताभाष्य रचयिता) लोने सिंह (ज०—सं० १८६२, कवि०-का० १६२० सं०, वि० पृ० ११५६) आदि ने इस ओर अच्छा कार्य किया है।

राधा-कृष्ण के नख-शिख, एवं उनके वसंत-विहारादिक विषयों पर भी कुछ कवियों ने साधारण रचनायें कीं, जो अनुल्लेखनीय ही हैं।

सरदार सिंह की राजकुमारी से हुआ। आप बड़े ही उदार और दानी थे, काव्य-मर्मज्ञ, कवि काव्य-प्रेमी तथा विद्वान थे। आप ने संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में बहुत से सुन्दर ग्रंथ रचे हैं, जिनमें से संगीत गीत रघुनंदन, परमतत्व, ध्यान मंजरी, विश्वनाथ प्रकाश, तत्वमस्यसिद्धान्त (हिन्दी में) राधावल्लभ भाष्य, सर्व-सिद्धान्त, आनंदरघुनंदन (द्वितीय) रामचन्द्राह्निक, धनुर्विद्या, आदि संस्कृत में विशेष उल्लेखनीय हैं। आप में राम-भक्ति भी अगाढ़ थी।

—सम्पादक

राम-काव्य

इस काल में कृष्ण-काव्य की अपेक्षा राम-काव्य की ओर लोगों का विशेष ध्यान गया और इसी से राम-काव्य की रचना कुछ विशेष हो सकी। राजा रघुराजसिंह, बाबा रघुनाथदास देवकवि (काष्ठजिह्वा), किशोरदास, जानकीचरण, रामगुलाम-द्विवेदी, हरवख़्शसिंह, किशोरी-शरण (रसिक) परमानन्द शुक्ल एवं व्रजचन्द्र आदि कवि इस क्षेत्र में, विशेष उल्लेखनीय हैं। राम-काव्य के मुख्यातिमुख्य कवियों का सूक्ष्म परिचय हम यहाँ दे देते हैं:—

महाराज रघुराजसिंह जू देव जी० सी० यम० आई० का नाम राम-काव्यकारों में बहुत विशेष उल्लेखनीय हैं। इस क्षेत्र में आप का स्थान भी बहुत ही ऊँचा है। आप रीवाँ-नरेश प्रसिद्ध कविवर राजा विश्वनाथसिंह जी के सुपुत्र और उत्तरा-धिकारी थे। आपका जन्म सं० १८८० में और पिता के देहावसान पर राज्य-तिलक सं० १६११ में हुआ। आपके १२ विवाह हुए। आप मृगया-प्रेमी और विद्या-व्यसनी थे। आप का स्वभाव उदार, सरल और सौम्य था। आप हिन्दी और संस्कृत दोनों के पूर्ण पंडित, भावुक, भक्त और सहृदय कवि थे। आपने छोटे-बड़े बहुत से ग्रंथ रचे, जिनमें से, सुन्दर शतक (सं० १६०३) विनयपत्रिका (तुलसी शैली से) (सं०१६०६) रुक्मिणी परिणय (सं० १६०६) आनंदाम्बुनिधि (१६१० सं०) भक्ति-विलास (१६२६) रामस्वयंवर (१६२६) रहस्यपंचाध्यायी, भक्तमाल, गद्यशतक, चित्रकूट-महात्म्य, मृगयाशतक, पदावली, रघुराजविलास, भागवतमहात्म्य, रामअष्टयाम (कृष्णअष्टयाम के समान) भागवतभाषा, रघुपति, गंगा शंभु, जगन्नाथ के शतक, हनुमत चरित्र, भ्रमर गीत, धर्म विलास, राज रंजन, परमप्रबोध, विनयमाला, राम-रसिकावली आदि मुख्य हैं। इनमें से कई ग्रंथ इनके आश्रय रहने वाले

रसिक नारायण, रसिकविहारी, श्रीगोविन्द, बालगोविन्द और रामचन्द्र शास्त्री के रचे हुए हैं।*

इन्होंने प्राचीन शैलियों में से कई में विविध छंदों के द्वारा रचनायें की हैं। भाषा आपकी अवधी, एवं बाघेली-मिश्रित व्रजभाषा है। ये राम-भक्त तो थे ही, कृष्ण-भक्ति को भी पुट इनमें थी। दास्य भाव से ये भक्ति करते थे। कविता आप की सुन्दर, सरस, सरल और सानुप्रासिक है। युद्ध, मृगया और भक्ति के विषयों पर आपने अच्छा लिखा है। राम-काव्य की विशद रचना आपने इस काल में की है, केशव के पश्चात् आप ही का राम-काव्य लोक-प्रिय एवं प्रसिद्ध हुआ है।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही—ये अयोध्या के रामघाट वाले प्रसिद्ध रामानंदी सम्प्रदाय (रामानुज संप्रदाय) के प्रसिद्ध महंत थे। देवीदास महंत के ये शिष्य थे। इन्होंने सं० १६११ में "विश्राम सागर" नामी एक विशद एवं सुन्दर ग्रंथ रचा। इसमें रायल आकार के ६१३ पृष्ठ और ३ खंड हैं। प्रथम खंड में पौराणिक कथायें, भक्ति (नवधा) शास्त्रीय बातें एवं भक्तवरों का वर्णन है, द्वितीय में श्रीकृष्ण-चरित्र (जन्म से रुक्मिणी-विवाह तथा प्रद्युम्नोत्पत्ति तक) तृतीय में सम्पूर्ण राम-चरित्र वर्णित है। कथात्मक काव्य का यह बहुत विशद तथा सुन्दर ग्रंथ है, ख्याति भी इसे अच्छी मिली है। तुलसीदास के ग्रंथों से इसमें बहुत बड़ी सहायता ली गई है। दोहा-चौपाई-शैली में यह ग्रंथ भक्ति-भाव से लिखा गया है। भाषा में अवधी की ही प्रधानता है।

---

* किसी २ कवि ने बारहमासा शैली से भी कृष्ण-सम्बन्धी रचनायें की हैं। —सम्पादक

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से साधारण कवियों ने राम-काव्य की न्यूनाधिक या साधारण रूप में रचनायें की हैं। देव कवि (काष्ठ जिह्वा) किशोरदास, जानकीचरण बलदेव प्रसाद, सीता-राम शरण (रूप कला) रामगुलाम द्विवेदी (मिर्ज़ापुर-निवासी, ये रामायण की खोज के लिये विशेष प्रसिद्ध हैं) हरबख़्शसिंह, किशोरीशरण (रसिक) परमानंद कायस्थ (इन्होंने बहुत सी अन्य विषयक पुस्तकें भी रचीं, वि०-पृ०-१२२७) राम चरण, व्रजचंद जैन आदि कुछ उल्लेखनीय हैं।

जिस प्रकार राधिका एवं कृष्ण का **नख-शिख** लिखा गया है उसी प्रकार **राम-सीता का भी नख-शिख** कतिपय कवियों ने लिखा, जिनमें से रस रंग (लखनऊ) " द्विजराज कवि आदि उल्लेखनीय हैं।

गो० तुलसीदास जी का अनुकरण करते हुए कुछ कवियों ने "जानकी मंगल" * हनुमान-स्तुति (महात्म्यादि) और चित्रकूट तथा अयोध्यादि की महिमा सम्बन्धी रचनायें की हैं, जो साधारण श्रेणी में भी नहीं रक्खी जा सकतीं।

पद्माकर के समान कतिपय कवियों ने "रामरसायन" नामी पुस्तकें रामायण के आधार पर रचीं, किन्तु किसी को भी सफलता नहीं मिली। इस काल में अध्यात्म और बाल्मीकीय रामायणों का भी प्राधान्य कुछ कम सा हो गया। हाँ अद्भुत रामायण की कुछ विशेषता रही, इसी के आधार पर कतिपय कवियों ने रहस्य रामायण, विचित्र रामायण, अद्भुत रामायण*

---

* नवलसिंह कृत (वि० पृ० १०६६ बलदेव प्रा० कृत (वि० पृ० १०७१),

* इसी प्रकार कुछ ने रुक्मिणी मंगल एवं पार्वती मंगल भी लिखे हैं, किन्तु सब साधारण ही हैं। रामद्विज (रामचंद्-कान्यकुब्ज जं०-

आदि की रचनायें कीं। ये सब प्रबंध-काव्य के ही रूप में प्रायः दोहा-चौपाई वाली शैली से ही लिखी गई हैं, किन्तु हैं सब केवल अति साधारण श्रेणी की ही। कोई भी कवि विशेष उल्लेखनीय नहीं ठहरता।

कतिपय कवियों ने गो० जी का अनुकरण करते हुए रामायणों की भी रचनायें की हैं, किन्तु खेद है कि किसी को भी सफलता का अंश भी नहीं मिल सका। कोई भी लोक में प्रचलित न हो सकी।

लीला-नाटक—इस समय में रास (कृष्ण, लीला और रामलीलाओं (जिनका प्रारम्भ न्यूनाधिक रूप में भक्ति-काल से ही हो चुका था) का भी प्रचार विशेष हो चला था। साथ ही अब आधुनिक शैली से नाटक भी खेले जाने लगे थे अतएव कुछ लोगों ने रामलीला नाटकों तथा कृष्ण लीला-नाटकों की भी रचनायें कीं*। लीलाकाव्य इस प्रकार अब नाटक में रूपान्तरित हो चला। इनका वर्णन नाटकों के ही अन्तर्गत होना चाहिये।

संस्कृत के राम-काव्य सम्बन्धी ग्रंथों का अनुवाद भी (पद्यों में) कतिपय कवियों ने किया। इस क्षेत्र में वाल्मीकीय रामायण ही प्रधान ग्रंथ आधार रहा। किसी २ ने सुन्दर अनुवाद किया है। कुछ ने केवल खंडानुवाद ही किया है। संतोषसिंह (वि० पू० १०६६) छत्रधारी (वि० पू० ११९०) हनुमानदीन मिश्र

सं० १६०७) ने जानकी मंगल लिखा (वि० पू० १२११) बलदेवदास (फतेहपुरकायस्थ) ने सं० १६३६ में जानकी-विजय नामी पुस्तक अद्भुत रामायण के आधार पर दोहा-चौपाई शैली से लिखी। कहीं २ गो० जी० के पद और भाव भी ले लिये हैं। रचना साधारण है। —संपादक

*लक्ष्मण (वि० पू० १०८८), ईश्वरीप्रसाद कायस्थ (वि० पू० ११०१) बच्चूलाल कायस्थ (वि० पू० १२३१) —संपादक

(वि० पृ० ११६६) आदि उल्लेखनीय हैं। खंडानुवाद में, भैरवदत्त त्रिपाठी (अयोध्या कांड) आदि कुछ अन्य कवियों ने कार्य किया है। किसी २ ने अध्यात्म रामायण, रामरहस्य और हनुमन्नाटक का भी अनुवाद किया है।*

रामायण-महात्म्य भी कुछ कवियों ने लिखा।† साथ ही विष्णु-सहस्र नाम के समान जानकी-सहस्र नाम आदि की रचनायें भी कुछ कवियों ने कीं। केशव के समान कुछ कवियों ने "रामाश्व-मेध" की भी रचना की।

हनुमान जी के सम्बन्ध में भी कतिपय कवियों ने पचासा, पचीसी, अष्टक, आदिक शैलियों से, **स्तवनात्मक मुक्तक** काव्य रचा। इसमें वीररस का अच्छा समावेश पाया जाता है और इसे हम वीर-स्तवन काव्य में ले सकते हैं।

गो० जी के समान कुछ कवियों ने कवितावली एवं दोहावली आदि की रचनायें की हैं। मानस तथा विनय पत्रिका आदि की साधारण टीकायें भी ने कुछ लिखी हैं। मथुराप्रसाद (लंकेश) ने रावण के सम्बन्ध में ही विशेष रचना करते हुए **रावण-काव्य** का उदय किया है, यथा—रावण दिग्विजय, रावण-वृन्दावन यात्रा, रावण शिव स्वरोदय तथा दोहावली आदि।

ज्ञानात्मक काव्य-साहित्य

भक्ति-काल में भक्ति-काव्य के सम्मुख ज्ञानात्मक-काव्य जिसे

---

* कृष्णसिंह कृत अध्यात्म रा० भाषा (वि० पृ० १०२१) रत्नहरि कृत रामरहस्य भाषानुवाद (वि० पृ० १०२८) रामकवि कृत हनुमन्नाटक (वि० पृ० १०६८) रामनाथ कवि कृत हनु० (वि० पृ० १२३२) गोविन्द कवि कृत हनुमन्नाटक (वि० पृ० १२१५)

† कुछ कवियों ने इसी प्रकार भक्तमाल जैसे कृष्ण काव्य के ग्रंथों की भी महिमा में काव्य-रचनायें की हैं।

कुछ रहस्यात्मक पुट के साथ कबीर आदि ने उठाया था, दब गया। वस्तुतः उसमें ज्ञानाभास मात्र ही था, ज्ञान न था, उसमें योग तथा दर्शनशास्त्र सम्बन्धी आध्यात्मिक साधारण शब्दों का ही समावेश किया गया था। ज्ञान के यथार्थ तत्वों एवं सिद्धान्तों का विचार न पाया जाता था, क्योंकि उस काव्य के रचयिता कवि विद्वान न थे। कला-काल में भी यह काव्य दबा ही रहा।

इस काल में स्वामी दयानन्द जी के आन्दोलन से अब शास्त्रीय ज्ञान सम्बन्धी वातावरण में अच्छी चैतन्यता आ गई थी और लोगों का ध्यान योग और शास्त्रीय आध्यात्मिक ज्ञान की ओर आकृष्ट हो चला था। अस्तु, कुछ कवियों ने ज्ञानात्मक काव्य की भी रचना प्रारम्भ कर दी।

इस काल में ज्ञानात्मक काव्य मुख्यतया दो रूपों में रचा गया, प्रथम तो शास्त्रीय सिद्धान्तों को लेकर उनके ही आधार पर आध्यात्मिक ज्ञान के तत्वों पर प्रकाश डालते हुए काव्य-रचना की गई, फिर उपनिषदों, शास्त्रों आदि का अनुवाद, भाषा में किया गया, उन पर टीका-टिप्पणियाँ भी लिखी गईं। इस कार्य में गद्य का ही पूरा प्राधान्य रहा। काव्य में तो इन ग्रंथों के सिद्धान्तों को ही आधार-रूप में लेकर कविता की गई।

इस प्रकार के ज्ञानात्मक काव्य-कारों में से राजा विश्वनाथ सिंह, उदयचंद ओसवाल (वि० पृ० १०६१) बनादास (वि० पृ० १०८६) शिवजीलाल (वि० पृ० ११५३) गुमानसिंह आदि उल्लेखनीय माने जा सकते हैं। इन्हीं के समान कुछ कवियों ने धर्म-विषयक तत्वों या सिद्धान्तों के आधार पर धार्मिक काव्य जिसमें सनातन धर्म की विशेष पुट है, रचा। रघुनंदन भट्टाचार्य (वि० पृ० ११६५) आदि उल्लेखनीय हैं।

शास्त्रों एवं उपनिषदों का अनुवाद तथा उन पर भाष्यादि लिखने का प्रारम्भ वास्तव में स्वामी दयानन्द जी से ही होता

है। इस क्षेत्र में आगे फिर कई विद्वानों ने अच्छा कार्य किया है। स्वामी तुलसीराम शर्मा, पं० लेखराम, पं० कृपाराम शर्मा (वि० पृ० १३०७) आदि विशेष प्रशंसा के पात्र ठहरते हैं।

प्रबंधात्मक कथा-काव्य

हम प्रथम ही इस प्रकार के काव्य का विभाजन दो मुख्य श्रेणियों में दिखला चुके हैं:—१—**पौराणिक कथा २—प्रेमात्मक काल्पनिक कथा**। इन दोनों का आवश्यक विवेचन भी हम प्रथम ही कर चुके हैं। प्रथम में धार्मिक आदर्शवाद की पर्याप्त पुट रहती है और कहीं २ उसमें ऐतिहासिक तथ्य भी अच्छा रहता है। द्वितीय में रहस्यवाद एवं आध्यात्मिक तत्व के साथ प्रेम और कल्पना की ही प्रधानता रहती है। इसे मुसलमानों ने प्रारम्भ कर विकसित करने का प्रयत्न किया; किन्तु इसका प्रचार-प्रकाश सफलतापूर्वक न हो सका। भक्ति एवं कला-कालों में यह पौदा सूख गया। अस्तु, इस काल में इसका दर्शन भी दुर्लभ हो गया।

प्रथम रूप का उदय पूर्व कालों में हुआ, किन्तु उचित मात्रा में उसका विकास न हो सका। इस काल में इसकी ओर लोगों का ध्यान गया और कतिपय कवियों ने इस काव्य की रचना की, यद्यपि उन्हें सराहनीय सफलता न प्राप्त हो सकी।

पुराणादि का खंडन स्वामी जी के द्वारा किये जाने पर तथा लोगों को उनका ज्ञान या परिचय न प्राप्त हो सकने से (क्योंकि पुराण संस्कृत में थे, जो अब केवल विद्वानों की संकीर्ण समाज में ही सुबोध ठहरती थी और साधारण जनता से परे थी) यह आवश्यकता जान पड़ी कि पुराणों का अनुवाद भाषा में कर दिया जाय, जिससे लोग उनसे परिचित हो सकें। अतएव कति-

पद्य कवियों ने कई पुराणों का अनुवाद कर डाला और कुछ ने उनके आधार पर कथा-काव्य की रचना भी कर दी।

पुराणों के अनुवादकों ने केवल मुख्य २ तथा धर्मादर्शपूर्ण ललित कथाओं वाले पुराणों को ही विशेषता दी है। भागवत एवं हरिवंश (रामायण भी, किन्तु वह पुराणों में नहीं है) आदि कृष्ण-सम्बन्धी पुराणों के अनुवाद प्रथम ही हो चुके थे। अतः अब कवियों ने नेमिनाथ पुराण, चंद्रप्रभा पुराण, विष्णु पुराण (गद्य-पद्य में), देवी भागवत, नृसिंह पुराण, पद्म पुराण (महेशदत्त शुक्लकृत वि० पृ० ११६५), जैमिनिपुराण (सूरजबली कृत वि० पृ० ११४२) भानुपुराण (दुरगाप्रसाद कृत वि० पृ० १२८६) हरिवंश पुराण (राजा रणजीत सिंह कृत वि० पृ० १२६८) आदि की रचना की। रचनायें साधारण श्रेणी की ही हैं, अतः प्रसिद्ध भी नहीं हैं।

इसी के साथ हम यहाँ यह भी दिखला देना चाहते हैं कि कुछ कवियों ने पुराणों से सुन्दर चरित्रों को चुन कर उन पर सुन्दर रचनायें करते हुए **चरित्र-काव्य** भी रचा है।

चरित्र-काव्य के ३ मुख्य रूप मिलते हैं:—१ **पौराणिक** (यथा ध्रुव, सुदामा, ऊषा, वामन, प्रह्लाद, प्रद्युम्न, हनुमान आदि पौराणिक पुरुषों के धार्मिक आदर्शमय चरित्र) २—**साधारण ऐतिहासिक मानव-चरित्र**—(यथा दयानंद, जयदेव, गौराङ्ग महाप्रभु आदि महात्माओं के चरित्र)—३—नवीन सभ्यता के आधार पर **कल्पित चरित्र-चित्रण** (यथा नवीन चरित्र आदि) जिनमें सामयिकता का भी आभास रहता है।

प्रथम प्रकार के लेखकों में पन्नालाल चौधरी (वि० पृ० १०६८) बख्तावरमल (वि० पृ० ११५३) आदि कुछ कवि उल्लेखनीय जँचते हैं, यद्यपि हैं ये भी साधारण श्रेणी के ही।

आगे चल कर चरित्र-काव्य के स्थान पर **जीवनचरित्रों** की रचनायें गद्य में लेखक लोग करने लगे और उसका लोप ही सा हो गया।

यहाँ यह भी कहना ठीक है कि कुछ कवियों ने सत्यनारायण आदि की कथायें भी हिन्दी में लिखी थीं, किन्तु वे उल्लेखनीय नहीं हैं।

हाँ पुराणों के साथ इस काल में महाभारत के भी कई अनुवाद कई कवियों के द्वारा रामायणानुवादों की देखादेखी किये गये। जिनमें से एक-दो ही सुन्दर कहे जाते हैं यद्यपि वे भी साहित्यिक दृष्टि से साधारण ही हैं और इसीलिये प्रचलित एवं प्रख्यात भी न हो सके।

केवल एक-दो कवियों ने ही जायसी की देखा-देखी पद्मावत तथा अखरावट (ककहरा या अक्षरी) आदि की सी रचना की है, किन्तु उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो पाई।

प्रेमात्मक कथा-काव्य का दर्शन इस काल में नहीं होता, क्योंकि इसी काल में उपन्यास-रचना का प्रचार-प्राचुर्य हो गया था और लेखकों का ध्यान इसी ओर विशेष लग गया था, उपन्यास-रचना ने कथा-काव्य एवं प्रेमात्मक काव्य को पूर्णतया साहित्य-क्षेत्र से उठा ही दिया।

इस काल में संस्कृत के स्तोत्रों की देखा-देखी कुछ कवियों ने दुर्गा-स्तोत्रादि की भी रचनायें कीं और गणेश, दुर्गा, अन्नपूर्णा, चंडी, आदि की स्तुति-सम्बन्धी काव्य अष्टक, पंचक, पचासा, शतक आदि शैलियों में रचा, जो साधारण श्रेणी का ही कहा गया है।*

नीति-काव्य

इस काल में भी कतिपय कवियों ने नीति-काव्य की रचना की है। कुछ कवियों ने तो चाणक्य-नीति एवं भर्तृहरि-नीति

---

* रामनाथ कवि (बूँदी) ने ऐसी बहुत सी रचना की है (वि० पृ० १२६६)।

शतकादि का अनुवाद किया और कुछ ने नीति के मूल सिद्धान्तों के आधार पर राज-नीति, लोक-नीति आदि की रचनायें की।

कला-काल में नीति-काव्य की रचना मुख्यतया दो शैलियों—१—दोहात्मक, २—कुंडलियात्मक से की गई है, इस काल में प्रायः प्रथम शैली को ही विशेष रूप से कवियों ने उठाया, क्योंकि वह कुछ अधिक सरल एवं सुविधामय ठहरती है। नीति-काव्यकारों में से जानकीप्रसाद (वि० पृ० १०५१) गुलाब कवि (वि० पृ० १०५५) राजा लक्ष्मण सिंह (विजावर वाले वि० पृ० १०६६) लक्ष्मण कवि (वि० पृ० १०८८) शिवसंपति सुजान (वि० पृ० १२८४) परमानंद कायस्थ (वि० पृ० ११२७) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक साधारण कवियों ने साधारण श्रेणी का नीति-काव्य लिखा है।

अलंकृत काव्य

कला-काल में अलंकृत-काव्य का उदय एवं विकास-प्रकाश बहुत विशद रूप में हुआ था। उस समय के कई कविवरों ने कई स्तुत्य एवं सुन्दर रीति-ग्रंथों की रचनायें कर दीं और एक प्रकार से इस प्रकार की रचनाओं की सर्वाङ्ग पूर्ति सी कर दी, अतएव अब आगे किसी कवि के लिये बहुत ही कम क्षेत्र रह गया। यद्यपि कला-काल में ही अलंकारादि के लक्षण-ग्रंथों की रचना-परंपरा का अंत सा हो गया था, तथापि उसका कुछ प्रभाव अब तक शेष रह गया था, जिसके कारण अब भी कुछ काव्य-कला-कुशल कवि रीति-ग्रंथ लिखते ही रहे।

इस काल में रीति-ग्रंथों के लिखने का जो कार्य हुआ वह विशेषतया संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद के रूप में एवं उनके आधार पर ही हुआ, उसमें मौलिकता बहुत ही कम पाई जाती है। इसीलिये कोई भी ग्रंथ विशेष प्रसिद्ध तथा प्रचलित न हो सका।

इस काल के गद्य-प्राबल्य ने भी इस पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला। पाठ्यक्रम में अलंकार या काव्य-शास्त्र के विषय का समावेश होना भी एक सहायक कारण इसकी रचना में रूपान्तर होने का कहा जा सकता है। रीति-ग्रंथों की रचना अब गद्य में होने लगी और उनमें विवेचना एवं ऐतिहासिक विकासादि के विवरण का भी प्राधान्य हो चला। इसके पूर्व प्रथम रीति-ग्रंथ, जैसा लिखा जा चुका है, दोहात्मक या छंदात्मक शैली से ही लिखे जाते थे। फिर उनमें टीका-टिप्पणी के स्थान पर गद्य का भी प्रयोग किया गया और रीति-ग्रंथ गद्य-पद्यमय भी हो चले। आगे चल कर उन में गद्य का ही पूर्ण साम्राज्य हो गया, केवल उदाहरणों में ही छंदों का दर्शन हो सका।*

अलंकृत काव्य भी शनैः शनैः कुछ हीन-क्षीण हो चला, खड़ी बोली-काव्य से उसके प्रचार-प्रसार को कुछ धक्का भी पहुँचा है। खड़ी बोली के कवि काव्य-कला तथा अलंकार-कौशल आदि की ओर प्रायः कुछ भी ध्यान नहीं देते, हाँ जो प्राचीन कला-काव्य-प्रेमी और प्रौढ़ ब्रजभाषा के कविवर हैं वे अवश्यमेव अब तक कला-कौशल-पूर्ण सत्काव्य लिखते जा रहे हैं।

यहाँ रीति ग्रंथकारों में से परमप्रधान का भी सूक्ष्म और मार्मिक परिचय दे कर हम अलंकृत-काव्यकारों में से मुख्य २ कविवरों का उल्लेख करना उचित समझते हैं।

रीति-ग्रन्थकार

सेवक—असनी-निवासी ठाकुर कवि के पौत्र और धनीराम के पुत्र थे। काशी के रईस बा० हरिशंकर के आश्रय में रहते

* इसका पूर्ण विवरण देखो "अलंकार पीयूष" (पूर्वार्धं) में।

—सम्पादक

थे। अपना परिचय इन्होंने एक सवैया में दिया है (वि० पृ० १०५०) इन्होंने नायिका-भेद, रस-भाव एवं अनुभाव आदि पर एक सुन्दर ग्रंथ—"**वाग्विलास**" नामक (१६८ पृ० का) रचा। इसके अतिरिक्त इन्होंने बरवै नखशिख, बरवै नायिका-भेद एवं ज्योतिष प्रकाश भी लिखे।

इनका सदय हृदय संतोषी और सरस था—"कवि 'सेवक' बूढ़े भये तौ कहा, पै हनोज है मौज मनोज ही की"—इनकी भाषा, मधुर, सरल और सुव्यवस्थित है। अपने ग्रंथों में इन्होंने गद्य के द्वारा शंका-समाधान भी किया है। इनके सवैये बहुत प्रसिद्ध हैं, कहीं २ चारु चमत्कार एवं चातुर्य भी अच्छा है। विशेषतया कविता इनकी साधारण श्रेणी की ही ठहरती है। इनके जन्म एवं मृत्यु सं० १८७२, १६३८ हैं।

गुलाबसिंह—इनका जन्म बूँदी में सं० १८८७ में हुआ। बूँदी-दरबार में ये राज-कवि थे। संस्कृत, डिंगल, प्राकृत और हिन्दी का इन्हें अच्छा ज्ञान था। इन्होंने २२ ग्रंथ रचे, व्यंगार्थ चंद्रिका (दो ग्रंथ) भूषण चन्द्रिका, बनिता भूषण (दो ग्रंथ) काव्य-नियम, ललित कौमुदी, लक्षण तो कौमुदी काव्यशास्त्र गुलाब सम्बन्धी, कोष, नाम चन्द्रिका, नामसिंधु कोष, कोषसम्बन्धी, नीतिसिंधु, नीतिमंजरी, नीति-चन्द्रिका वीत्यात्मक, कृष्ण-चरित्र, कृष्णलीला, रामलीला, सुलोचना, विभीषण-लीलायें, चरित्र एवं लीला काव्यात्मक, तथा मूर्खशतक रचे। इनके अतिरिक्त कुछ अष्टक और प्रेम, पावस आदि पर पचासे भी रचे।

इनकी कविता सरस और सुन्दर होती थी, भाषा भी अच्छी ही ठहरती है।

लेखराज (नंदकिशोर मिश्र) ये भगवन्त नगर के मिश्र सं० १८८८ में उत्पन्न हुए। ये धनी ज़मींदार थे और कवि-काव्य के बड़े ही प्रेमी थे। इनके अनुज बनवारी लाल भी काव्य-मर्मज्ञ

थे। इन्होंने 'रसरत्नाकर' (रस एवं नायिका-भेद) राधा-नख-शिख, गंगाभूषण, लघुभूषण (अलंकार-ग्रंथ, प्रथम में गंगा स्तुति भी है, द्वितीय में बरवै छंद में अलंकार है) रचे। इन्होंने काशी के (मणिकर्णिका घाट पर) शिवरात्रि सं० १९४८ में शरीर छोड़ा। इनकी रचना सरस और सुन्दर है, भाषा भी प्रौढ़ और मधुर है।

गदाधर भट्ट—प्रसिद्ध कविवर पद्माकर के पौत्र थे। जयपुर, दतिया आदि के महाराजाओं के यहाँ इनका अच्छा मान था। इन्होंने जयपुर-नरेश के लिये सं० १९४२ में कामांधक नामी एक नीति-ग्रंथ संस्कृत से अनुवाद करके रचा। अलंकार-चंद्रोदय, बानी, कैसर-सभाविनोद, छंदोमंजरी नामी ४ और ग्रंथ इन्होंने लिखे। इनकी रचना सुन्दर और सरस है, भाषा मधुर, स्वच्छ और सानुप्रासिक है। हाँ पद्माकर के टक्कर की रचना इनकी नहीं है। कहीं २ गद्यात्मक व्याख्या भी इन्होंने की है, हाँ भाषा सर्वत्र ब्रजभाषा ही रक्खी है।

लछिराम—सं० १८९८ में ये अमोढ़ (ज़ि० बस्ती) में पलटन राय के यहाँ उत्पन्न हुए। दस वर्ष से इन्होंने ईशकवि (लालाचक-सुलतानपुर) से काव्य सीखना प्रारम्भ किया, फिर ६ वर्ष के बाद अयोध्या-नरेश कविवर राजा मानसिंह के यहाँ जाकर काव्य-कला-कौशल उपार्जित किया। राजा साहब इन पर बड़ी कृपा रखते थे। यों तो ये अनेक राजाओं के यहाँ गये-आये किन्तु रहे राजा-बस्ती तथा अयोध्या-नरेश के ही आश्रय में। राजाबस्ती ने इन्हें एक गाँव एवं हाथी आदि भी दिया। इन्होंने कई सुन्दर ग्रंथ रचे, कुछ तो राजाओं के नाम पर भी हैं। प्रतापरत्नाकर (श्री अयोध्या-नरेश प्रतापनारायण सिंह के नाम से) प्रेम-रत्नाकर (राजा बस्ती के) लक्ष्मीश्वररत्नाकर (दरभंगा-नरेश के) रावणेश्वर कल्पतरु (राजा गिद्धौर के) महेश्वर

विलास, मुनीश्वरकल्पतरु (राव मल्लापुर के नाम से) महेन्द्रभूषण (राजा टीकमगढ़ के) रघुवीर-विलास, कमलानंद-कल्पतरु (राजापुनिया के) आदि मुख्य ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त मानसिंहाष्टक, रामचन्द्र भूषण, हनुमतशतक, सरयूलहरी, राम रत्नाकर, भी इन्हीं के रचे हैं। इनमें से कई ग्रंथ अलंकार, रस, भाव, आदि पर लिखे गये हैं।

इनकी ब्रजभाषा सुन्दर और सजी हुई है, प्रसाद और लालित्य भी इनकी रचना में अच्छा है। खोज से इनके प्रताप रस-भूषण और सियाराम-चरण-चंद्रिका का और पता चला है। रचना इनकी सराहनीय है।

द्विज बलदेव—मानपुर (ज़ि० सीतापुर) में कार्तिक बदी १२ सं० १८९७ में इनका जन्म कान्यकुब्ज-कुल में हुआ। इनके पिता का नाम ब्रजलाल था। इनके तीन विवाह, ६ पुत्र और ३ कन्यायें हुईं। इनके **गंगाधर** नामी पुत्र ने (द्विज गंग के नाम से शृंगार चंद्रिका, महेश्वर भूषण और प्रमदापारिजात सं० १९५१, ५४, ५७ में) अच्छे काव्य-ग्रंथ रचे, किन्तु सं० १९६१ में ३५ वर्ष के होकर वे मर गये।

बलदेव जी ने अपनी जिह्वा काट कर दासापुर की भक्तेश्वरी देवी पर चढ़ा दी थी, जिसको फिर इन्होंने रख छोड़ा। शेष जिह्वा फिर ठीक हो गई थी, हाँ कटने का चिह्न उस पर रह गया था। काशी-वासी स्वामी निजानंद से ३२ वर्ष की आयु में इन्होंने काव्य-शास्त्र पढ़ा, कविता ये प्रथम ही से करते थे। इनके समय के सभी प्रधान कवि इन्हें जानते-मानते थे। *

---

* श्रीभारतेन्दु, बंदनपाठकशास्त्री, सरदार, सेवक, लछिराम राजा रघुराजसिंह, रत्नाकर जी आदि प्रधान कवियों से इनकी बड़ी मैत्री थी।

—सम्पादक

ये कविता से ही जीविका चलाते थे, इन्होंने राजाओं से बहुत संपत्ति, हाथी, भूमि आदि पायी। इन्होंने १० ग्रंथ रचे जिनमें से प्रताप-विनोद (सं० १९२६ में १७९ पृष्ठ का पिंगल, अलंकार, रस, भाव, चित्र-काव्य का विवेचन पूर्ण ग्रंथ) ब्रज-राजविहार (सं० १९५४ का इटौंजा राजा इंद्रविक्रमसिंह के लिये २७० पृष्ठों का विविध छंदों में श्रीकृष्ण-कथा का ग्रंथ) और बलदेव विचारार्क (१०० पृ० का गद्य पद्यात्मक सं० १९६२ में रचित ग्रंथ सामयिक व्यवहारोपयोगी बातों पर स्वानुमति पूर्ण पुस्तक) विशेष उल्लेखनीय हैं। शेष तो कविताओं की संग्रह-पुस्तकें ही हैं। समस्यापूर्ति ये खूब करते थे।

ये आशुकवि थे और कहते थेः—"देइ जो समस्या तापै कवित बनाऊँ चट, कलम रुकै तौ कर कलम कराइये" इनके दो सुपुत्र पं० चक्रधर और पद्मधर हैं, ये भी सुन्दर रचनायें करते हैं। पद्मधर जी हमारे मित्र थे और हमारे यहाँ आया-जाया करते थे, खेद है अब वे नहीं हैं।

रसिकेश—(रसिकविहारी) का जन्म सं० १९०१ में हुआ, ये प्रथम पन्ना में दीवान रहे, फिर विरागी होकर कनक-भवन (अयोध्या) के महन्त हो गये। इन्होंने २६ ग्रंथ रचे, जिनमें से राम-रसायन (रामायणी कथा का ६०८ पृष्ठ का ग्रंथ) और काव्य-सुधाकर (पृ० १४७ में छंद, रस, भाव, अलंकारादि का ग्रंथ) स्तुत्य एवं सुन्दर हैं। आप की रचना चमत्कार पूर्ण है। हाँ भाषा में कुछ उर्दू की भी पुट है।

नंदराम—कान्यकुब्ज ब्राह्मण सालेह नगर (लखनऊ) के निवासी थे। इनके जन्म एवं मरण के सम्वत १८९४, एवं १९४४ के आस-पास हैं। इन्होंने "शृंगारदर्पण" नामी १५४ पृष्ठों का ग्रंथ सं० १९२९ में रस-भाव-भेद पर दोहा, सवैया, कवित्त एवं

(कहीं २) छप्पय छंदों में लिखा। रचना साधारणतः मधुर एवं निर्दोष है।

अब हम उन रीति-ग्रंथकारों का सूक्ष्म उल्लेख करते हैं जो अब तक वर्तमान हैं और जिन्होंने गद्य-पद्य या गद्य में ही विवेचना की है।

जगन्नाथ प्रसाद (भानु) का जन्म श्रावण शुक्ल १० सं० १९१६ को नागपुर (मध्यदेश) में हुआ। आप विलासपुर में ७००) मासिक पर असिस्टेंट बन्दोबस्त अफ़सर रहे। अब पेंशन पा रहे हैं। आप काव्य-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं। आपने छंद-प्रभाकर (पिंगल-ग्रंथ) काव्यप्रभाकर नामी दो प्रसिद्ध बड़े ग्रंथ रचे और काव्यांगों का सुन्दर स्पष्टीकरण गद्य (पद्यात्मक उदाहरणों से) में किया है। आप गद्य-पद्य दोनों के लिखने में कुशल हैं, संस्कृत, फ़ारसी, प्राकृत, अंग्रेज़ी, उड़िया मराठी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। इन्होंने कुल १० पुस्तकें लिखीं, उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त गुलज़ार सख़ुन (उर्दू) काव्यकुसुमांजलि, छंद-सारावली, हिन्दी-काव्यालंकार, अलंकार-प्रश्नोत्तरी, रसरत्नाकर, काव्य-प्रबंध आदि उल्लेखनीय हैं। सरकार ने आप को रायसाहब की उपाधि दी है।

कन्हैयालाल पोद्दार—आप मारवाड़ी और जयपुर-राज्य के निवासी हैं, अब मथुरा में रहते हैं। आपने काव्य-प्रकाश आदि दो एक संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर "अलंकार-प्रकाश (सं० १९५५ में) और फिर इसी को परिवर्धित कर के काव्य-कल्पद्रुम (सं० १९८० में) प्रकाशित कराया है। उदाहरण पद्य में और लक्षण (कुछ आवश्यक विवेचन के साथ) गद्य में दिये गये हैं। आप कुछ कविता भी करते हैं, किन्तु पूर्ण ज्ञान न होने से सदोष एवं अशुद्ध रचना भी कर जाते हैं। हाँ काव्य से प्रेम आप को बहुत है।

प्रो० लाला भगवानदीन—फतेहपुर प्रान्त के निवासी एक सुयोग्य विद्वान एवं कला-कुशल कवि हैं। उर्दू में भी आप अच्छी शायरी करते हैं। आप आजकल काशी-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक हैं। आपने कई पुस्तकें लिखी है और रामचंद्रिका, आदि कई ग्रंथों की टीकायें भी रची हैं। काव्य-शास्त्र के आप अच्छे मर्मज्ञ हैं। आप ने हिन्दी-शब्द-सागर के सम्पादन-विभाग में भी बहुत स्तुत्य कार्य किया है। आप की स्त्री भी सुलेखिका हैं। आपने अलंकार-मंजूषा और अलंकार-चंद्रिका (विद्यार्थियों के लिये) दो पुस्तकें अलंकार विषय पर अच्छी लिखी हैं।

मंजूषा में लक्षण भी पद्य में दिये गये हैं, हाँ उनका स्पष्टीकरण तथा आवश्यक टिप्पणियाँ गद्य ही में हैं। लाला जी का स्वभाव बड़ा ही सरस, सरल, उदार एवं मनोरंजन-प्रिय है।*

पं० रामशंकर शुक्ल (रसाल)—आप मेरे पूज्य बड़े भाई हैं। आप का जन्म सं० १९५५ की चैत्र-बदी २ को हुआ। हमारे पिता जी का शुभ नाम श्री पं० कुंजविहारी लाल जी शुक्ल हैं। हम कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। श्री रसाल जी एम० ए० पास कर कान्यकुब्ज-कालेज में प्रोफ़ेसर हुए। आपने प्रयाग-विश्वविद्यालय में अलंकार-शास्त्र पर सराहनीय अन्वेषण-कार्य किया। आप का निबंध यूनीवर्सिटी-स्टडीज़ में प्रकाशित किया गया है। आप हिन्दी-साहित्य और काव्य-शास्त्र के अच्छे मर्मज्ञ हैं और व्रज-भाषा के परम भक्त एवं सुकवि भी हैं। आप के प्रयत्न से "रसिक-

---

* हमें बड़े दुख से यह लिखना पड़ता है कि अभी हाल ही में लाला जी का देहान्त हो गया।

मंडल" स्थापित हुआ है जो व्रजभाषा-काव्य के प्रचार का अच्छा कार्य कर रहा है।

आपने "अलंकार-पीयूष, अलंकार-कौमुदी, रचना-विकाश एवं नाट्य-निर्णय" आदि कई सुन्दर तथा सराहनीय ग्रंथ लिखे हैं। महाकवि रत्नाकर-कृत ऊद्धव शतक संपादित कर रहे हैं और भी कई पुस्तकें सम्पादित कर चुके है, नंददासकृत रास पंचाध्यायी और भ्रमरगीत की टीका भी की है। आप "कान्यकुब्ज" पत्र के सम्पादक भी हैं।

"अलंकार पीयूष" जैसा इसके विषय में हिन्दी के सभी प्रमुख विद्वानों ने लिखा है, अपने विषय का अपूर्व ग्रंथ है और वैज्ञानिक या शास्त्रीय शैली से विशद विवेचना एवं गवेषणा के साथ लिखा गया है। ऐसा ग्रंथ इस विषय पर अब तक किसी भी भाषा में नहीं निकला। —सम्पादक "सरस"

अर्जुनदास केडिया—आप बनारस-निवासी मारवाड़ी हैं। आप सुकवि एवं काव्य-शास्त्र के ज्ञाता हैं। आपने इसी वर्ष "भारतीभूषण" नामी अलंकार विषयक (गद्य में) एक सुन्दर पुस्तक प्रकाशित कराई है। पुस्तक सराहनीय और योग्यता-पूर्ण है। इसमें बहुत से उदाहरण स्वरचित भी हैं, जिनसे केडिया जी की सुकविता का भी अच्छा परिचय प्राप्त होता है।* खेद है कि आप का भी अभी हाल ही में देहान्त हो गया है।

---

* हरिदास पन्ना (अलंकार दर्पण, रसकौमुदी सं० १८४७, १८९८ पृ० १०३) विहारी (भोजभूषण, रसविलास) हरिप्रसाद (अलंकार दर्पण वि० पृ० १०७९) चतुर्भुजमिश्र (कुबलयानंद का अनुवाद "अलंकार आभा") मुरारीदान (जसवंत यशोभूषण) रामनाथ (रसभूषण) राजा धीरसिंह (अलंकार मुक्तावली) भवानीप्रसाद पाठक (काव्य-शिरोमणि एवं काव्य-कल्पद्रुम लेखक पृ० ६९३) ।

छंद-शास्त्र या पिङ्गल

इन सब रीति-ग्रंथकारों के अतिरिक्त इस काल में और भी बहुत से कवियों ने अलंकार एवं काव्य-शास्त्र विषयक ग्रंथ रचे हैं, किन्तु वे सब प्रायः अभी अप्रकाशित ही पड़े हैं। बहुत से तो साधारण श्रेणी के ही हैं।* अलंकार एवं काव्य-शास्त्र के अतिरिक्त कुछ कवियों ने छंद-शास्त्र या पिंगल सम्बन्धी भी कुछ ग्रंथ लिखे, किन्तु कोई भी ग्रंथ सर्वाङ्गपूर्ण, विवेचनात्मक तथा प्रौढ़ न ठहरा इससे किसी को भी ख्याति न प्राप्त हो सकी। यह अवश्य है कि जितना कार्य जितने कवियों ने काव्य-शास्त्र में किया है उतना और उतने कवियों ने छंद-शास्त्र में नहीं किया।

संस्कृत के कवियों या आचार्यों ने पिंगल-ग्रंथों में छंद-लक्षण उसी छंद में दिये हैं, यही बात हिन्दी-कवियों ने भी प्रायः की है। हाँ इधर की ओर जिन दो-चार कवियों या लेखकों ने छोटी २ पुस्तकें इस विषय पर लिखी हैं उनमें लक्षण गद्य में ही स्पष्ट किये गये हैं।

पिंगल-ग्रंथकारों में से रघुबरदयाल (रायपुर-वासी सं० १६१२ में "छंद रत्नमाला" नामी १६२ छंदों का ग्रंथ लिखा) गदाधर भट्ट (पूर्वोल्लिखित-छंदो मंजरी-लेखक) गजराज उपाध्याय (वृत्तिहार पिंगल, वृत्तहार लेखक वि० पृ० १०६२) कन्हैयादास (छंद-पयोनिधि लेखक सं० १६४२ वि० पृ० १३०२) आदि उल्लेखनीय हैं। जगन्नाथ प्रसाद "भानु" का नाम यहाँ विशेष उल्लेखनीय है, इन्होंने "छंद

* किंकरसिंह (छंद प्रभाकरकार) चंद (पिंगलकार) हरिचंद (छंद स्वरूपिणी) बिहारीलाल (बृहतकल्पतरु, छंदार्णव, छंद-प्रकाश, वाणी-भूषण आदि के लेखक वि० पृ० ११०४, औध) (छंदानन्द, साहित्य-सुधा-सागरादि के लेखक वि० पृ० ११३२) मनोहर बल्लभ गो० कृत।

प्रभाकर" नामी एक वृहद् ग्रंथ लिखा है (पूर्वोल्लिखित) जो बहुत प्रसिद्ध है।

इस विषय को आधुनिक वैज्ञानिक शैली से लिखने का प्रयास अनुजवर श्री "रामचन्द्र शुक्ल" सरस ने किया है। इनका "सरस पिंगल"* यद्यपि है छोटी सी ही पुस्तक किन्तु नये ढंग से लिखी जाकर आकर्षक है। इसके अतिरिक्त पं० रामनरेशत्रिपाठी आदि कुछ दो-एक कवियों ने भी इस विषय पर छोटी २ पुस्तकें लिखी हैं किन्तु वे अनुल्लेखनीय ही हैं।

इस विषय पर विवेचनात्मक एवं शास्त्रीय पद्धति से लिखे गये एक विस्तृत ग्रंथ की आवश्यकता है।*

---

* हिन्दी सा०,सम्मेलन इंटरमीजियेट बोर्ड आदि ने इसे अपने पाठ्य-क्रम में स्थान दिया है।

* पूज्य रसाल जी ने एक "रसाल पिंगल" इसी ढंग से लिखा है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा। —सम्पादक

नोटः—१—अभी हाल ही में पूज्य श्री महामहोपाध्याय डा० गंगा नाथ जी झा (M. A. D. Lit, LL. D.) ने कविवर क्षेमेन्द्र के संस्कृत-ग्रंथ के आधार पर कवि-शिक्षादि सम्बन्धी "कवि-रहस्य" नामक एक सुन्दर तथा योग्यतापूर्ण पुस्तक लिखी है। झा महोदय हिन्दी के परम प्रेमी और विद्वान हैं, संस्कृत और अंग्रेज़ी के तो मर्मज्ञ हैं ही। आप प्रयाग-विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर हैं आप ही की कृपा से विश्वविद्यालय में हिन्दी को स्थान प्राप्त हुआ है। —लेखक

नोटः—२—रस विवेचना पर हिन्दी-गद्य में बाबूराम वित्थारया का "नवरस और श्री पं० कृष्ण विहारी मिश्र का हिन्दी में नव रस" विशेष उल्लेखनीय हैं, इस विषय पर अभी तक कोई भी वैज्ञानिक शैली से उत्तम ग्रंथ नहीं है। —सम्पादक

अलंकृत या कला-काव्य

इस काल में भी कतिपय सुकवियों ने कलापूर्ण काव्य प्राचीन पद्धति के अनुसार लिखा है। नख शिख,* नायक-नायिका-भेद, षटऋतु, आदि पर कई कवियों ने अच्छी रचनायें की हैं। ज्यों २ गद्य और खडी बोली-काव्य का प्रचार-प्रसार बढ़ा है त्यों ही त्यों इस प्रकार की रचनाओं की कमी होती गई है। इस प्रकार के काव्यकारों में से केवल कुछ ही सुकवि उल्लेखनीय हैं:—

गोबिन्दगिल्ला भाई—सिहोर (भावनगर) में श्रावण सुदी ११ सं० १६०५ में हुए। आप गुजराती हैं तौ भी हिन्दी के सुकवि हैं। आपने बहुत से विषयों पर अनेक ग्रंथ रचे, उनमें से नीति विनोद, षट्ऋतु, वक्रोक्ति विनोद श्लेषचंद्रिका समस्यापूर्ति-प्रदीप, शृङ्गार-सरोजिनी, शिखनखचंद्रिका, परब्रह्मपचीसी, भूषणमंजरी, अन्योक्ति-गोविन्द, गोबिन्द-हज़ारा, आदि मुख्य हैं। अलंकार-अंबुधि अपूर्ण हैं।

ललिताप्रसाद त्रिवेदी—मल्लावाँ (हरदोई) निवासी कान्यकुब्ज थे। कानपुर में अनाज की दूकान में मुनीम थे। इन्होंने रामलीला के लिये (विविध छंदात्मक) "जनक फुलवारी" "ख़्याल तरंग" (खोज से प्राप्त) दिग्विजय विनोद (नायिका-भेद) सं० १६३० में रचे। रचना सुन्दर और भाषा स्पष्ट और साधारण है।

सहजराम—सनाढ्य ब्राह्मण और बँधुवा सुलतानपुरी में सं० १६०५ में हुए थे। इन्होंने "प्रह्लाद चरित्र" (४५ पृष्ठ) एक सुन्दर

---

*प्रथम कवियों ने राम, कृष्ण, राधा आदि पर ही ऐसी रचनायें की थीं, अब कुछ कवियों ने हयग्रीव, हनुमान आदि अन्य देवताओं के भी नख-शिख लिखे। —सम्पादक

काव्य लिखा। गो० जी के समान दोहों-चौपाइयों में इन्होंने रामायण भी लिखी, जो खंडित है। रचना इनकी उत्कृष्ट और सराहनीय है।

अब हम यहाँ से नवीन या वर्तमान कवियों का सविवेचन उल्लेख करेंगे। इनमें से कुछ ने खड़ी बोली में भी सुन्दर रचनायें की हैं और नवीन विषयों एवं भावों का काव्य में समावेश किया है। बहुत से सुकवि ऐसे भी हैं जिन्होंने काव्य-रचना गौण रूप में की है, प्रधानतया वे गद्य-लेखक ही रहे हैं, क्योंकि उन्होंने गद्य-ग्रंथ विशेष रूप से अधिक लिखे हैं। ऐसे कवियों को हम गद्य-लेखक-कक्षा में ही रखते हैं।

शंकर कवि—असनी-निवासी सेवक कवि के ज्येष्ठभ्राता थे और काशी के रईस रामप्रसन्नसिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने कई पुस्तकें रचीं, जो अब तक प्राप्त नहीं हो सकीं। हाँ इनके स्फुट छंद मिलते हैं, जिनसे इनकी काव्य-प्रतिभा का पता लगता है। रचना इनकी सरस और सुन्दर है, भाषा भी परिपक्क और प्रौढ़ है, पदावली सुसम्बद्ध और अलंकृत है।

गणेशप्रसाद—कायस्थ थे, फ़रुखाबाद में हलवाईगीरी करते थे। इन्होंने फिसानयेचमन, बारहमासा, ऋतु-वर्णन, शिख-नख और छंद लावनी रचे। भाषा साधारण किन्तु सजीव है, रचना भी अच्छी है। इनका कविता-काल सं० १९०० से १९३० तक है।

नवीन—नाभा-नरेश के यहाँ थे। यहाँ इनका बड़ा आदर-सन्मान हुआ। नरेशाज्ञा से इन्होंने भाषा-साहित्य-सुधाकर, सरस रस, नेह निदान और रंगतरंग-चार ग्रंथ रचे। रचना इनकी नामी, प्रौढ़, सरस और सुन्दर है, भाषा अलंकृत और सानुप्रासिक है।

शंभुनाथ मिश्र—(कान्यकुब्ज ब्राह्मण) राना खजुरगाँव के यहाँ रहते थे, उनकी ही आज्ञा से सं० १९०१ में इन्होंने शिवपुराण

के चतुर्थ खंड का अनुवाद विविध छंदात्मक प्रबंध-काव्य की शैली से किया। रचना इनकी सराहनीय और ललित है।

शंकर सहाय शंकर—(जन्म-सं० १८६२) काव्य-कुब्ज ग्रा० दरियाबाद (बारहबंकी) के निवासी हैं। आप ज़िलेदार थे, अब पेंशन पाते हैं आपने "कविता-मंडन" नामी एक ३७८ छंदों का अलंकार-ग्रंथ रचा। रचना सुन्दर और सराहनीय है, स्वभाव बड़ा ही सौम्य और शिष्ट है।

मोहन—चरखारी-वासी थे। सं० १६१६ में शृंगारसागर की रचना इन्होंने बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से की। रचना सुन्दर और प्रौढ़ है।

लालविहारी मिश्र (द्विजराज)—लेखराज कवि (गंधौली, ज़िला सीतापुर) के पुत्र सं० १६१५ में हुए। सं० १६६२ में इनका देहान्त हुआ। इन्होंने कई सुन्दर ग्रंथ रचे, जिनमें से, श्रीरामचन्द्र एवं प्यारी जी का नखशिख, दुर्गास्तुति, नामनिधि, वर्णमाला (अखरावट शैली से) आदि मुख्य हैं। रचना इनकी सारगर्भित एवं सराहनीय है।

नाटक-रचना

पूर्ववर्ती कालों में हम, नाटक-रचना का जो कुछ भी थोड़ा-बहुत कार्य हुआ है, दिखला ही चुके हैं और इस विषय की सूक्ष्म विवेचना भी कर चुके हैं। यहाँ हमें अब यह दिखलाना है कि इस काल में इस ओर विशेष ध्यान दिया गया और पर्याप्त कार्य हुआ।

भारतेन्दु बाबू के पूर्व भी कई कवियों या लेखकों ने कई नाटक लिखे थे, किन्तु भारतेन्दु बाबू के समय से ही नाटक-रचना का विकास पूर्णरूप से नवीन प्रतिभा-प्रकाश के साथ

प्रारंभ होता हुआ माना जा सकता है। भारतेन्दु बाबू ने नाट्य-शास्त्र की रचना की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया और स्वयं एक पुस्तक इस विषय पर लिखी, किन्तु लोग प्रथम नाटकों की ही रचना में लग गये और उसके शास्त्रीय रूप का कार्य पड़ा ही रह गया। कुछ कालोपरान्त श्री पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस ओर ध्यान देते हुए नाट्य-शास्त्र नामी एक छोटी सी पुस्तक लिखी। अब तक इस विषय पर कोई भी उत्तम ग्रंथ नहीं लिखा गया। बा० श्यामसुन्दर दास ने अपनी साहित्यालोचन नामी पुस्तक के एक अध्याय में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।* इसी प्रकार दो-एक अन्य सुलेखकों ने भी इस विषय पर कुछ लेखादि लिखे हैं।

नाटक-रचना का कार्य इस काल में प्रथम अनुवाद-रूप में ही किया गया, भारतेन्दु बाबू ने इसमें नूतनता तथा मौलिकता का प्रादुर्भाव प्रारम्भ किया। अंग्रेज़ी और बङ्गला के साहित्यिक नाटकों से प्रभावित होकर कुछ लोगों ने उनके भी कुछ नाटकों का अनुवाद किया। इस प्रकार मौलिक नाटकों की श्री-वृद्धि विशेष रूप से न हो सकी। मौलिक नाटक की रचना का कार्य अब तक अच्छी तरह नहीं हो रहा।

हम दिखला चुके हैं कि सब से प्रथम नेवाज कवि ने श्री कालिदास कृत शकुन्तला नाटक के आधार पर एक नाटक

---

*इसी वर्ष पूज्यभ्राता 'रसाल' जी ने "नाट्य-निर्णय" नामी एक सुन्दर ग्रंथ इस विषय पर लिखा है। इसके लगभग २०० पृष्ठों में नाट्यशास्त्र, नाट्य-कला तथा नाटक रचना के ऐतिहासिक विकास पर मार्मिक प्रकाश डाला गया है, फिर काव्य-शास्त्र के रीति-ग्रंथों की भाँति नाट्य-शास्त्र के सभी आवश्यक नियम एवं सभी बातें विविध छंदात्मक रचना-शैली से रक्खी गई हैं। पुस्तक अग्रवाल प्रेस से प्रकाशित हुई है। —सम्पादक

लिखा, जिसमें नाटक के लक्षण पूर्ण रूप से नहीं पाये जाते। ब्रजवासी दास का 'प्रबोध चंद्रोदय' नाटक भी ऐसा ही है। केशवदास कृत 'विज्ञानगीता' नाटक तो नाटक, कहा हो नहीं जा सकता। ऐसा ही देव कवि का 'देव-माया-प्रपंच' नाटक भी है।

भारतेन्दु बाबु के अनुसार हिन्दी के सर्व प्रथम मौलिक नाटक राजा विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद रघुनन्दन' और उनके पिता गोपालचंद (गिरधरदास) कृत "नहुष नाटक" दो ही हैं। स्मरण रखना चाहिये कि इन नाटकों का गद्य ब्रजभाषा में ही है। इनके पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह कृत "शकुन्तला" (संस्कृत से अनुवादित) नाटक आता है।

सामाजिक, ऐतिहासिक तथा राजनैतिकादि नाटकों का उदय भारतेन्दु बाबू के ही समय से होता है। साथ ही नाटकों में अंग्रेज़ी एवं बँगला के नाटकों की शैलियों का प्रभाव, उनके कारण नवीन परिवर्तनादि भी आगे ही आते हैं।

भारतेन्दु के समय के ही आस-पास से चम्पू भांड तथा प्रहसनादि भी, जो नाटक या रूपक के भेदोपभेद हैं, लिखे जाने लगे, भारतेन्दु बाबू ने भी प्रहसनादि लिखे, किन्तु उनके पश्चात् इन सब की रचना-परंपरा सुचारु रूप से न चल सकी।

इस समय के उत्तर भाग में नाटकों के अभिनय भी नवीन रूप से होने लगे थे, देश के प्रधान २ नगरों में कई नाटक-कम्पनियाँ भी खुल गई थीं। इनमें जो नाटक खेले जाते थे वे प्रायः उनके ही साधारण पढ़े-लिखे आदमियों के द्वारा लिखे जाते थे, जिससे उनमें न तो साहित्यिक शालिमा हो थी और न उनकी भाषा ही शुद्ध हिन्दी रहती थी। उनमें उर्दू भाषा तथा उसके साहित्य की परम्परा का पूरा प्रभाव रहता था। अस्तु ऐसे नाटकों को साहित्यिक नाटकों में स्थान नहीं दिया जा सकता।

नाटकों का उन्नति के विशेष रूप से न हो सकने के मुख्य कारण कहे जा सकते हैं:—

१—सामयिक नाटक-कम्पनियों का हिन्दी के सुन्दर नाटकों के अभिनय से कुछ वैमुखीवृत्ति रखना और साधारण व्यक्तियों से ही उर्दू-प्रधान मामूली नाटक लिखा कर खेलना।

२—साहित्यिक दृष्टि से सुयोग्य लेखकों के द्वारा लिखे जाने वाले नाटकों का अभिनय-क्षमता से रहित होना, जिससे उनके प्रचार-प्रसार में बाधा पहुँचना और लेखकों का निरुत्साह हो-कर नाटक-रचना का परित्याग करना।

३—उपन्यासादि (गद्यकाव्यांगों) की रचना में ही लेखकों का सब प्रकार लग जाना और नाटक-रचना से कुछ उदासीन सा हो जाना।

४—नाटककारों को पर्याप्त प्रोत्साहन न प्राप्त होना।

इन उक्त मुख्य कारणों से मौलिक साहित्यिक नाटकों की हमारे साहित्य में विशेष न्यूनता रही। अब हम इस काल के उन मुख्यातिमुख्य नाटककारों का सूक्ष्म विवरण देते हैं, जिन्हों-ने सुन्दर साहित्यिक तथा अभिनयोचित नाटकों की रचनायें की हैं।

भारतेन्दु बाबू से पूर्व गणेश कवि (करौली-वासी थे मृत्यु-सं० १९११—"रसचन्द्रोदय" रस-ग्रंथ-लेखक) 'कृत कृष्ण भक्ति-चन्द्रिका नाटक' (भक्ति-प्रधान) लक्ष्मण कृत 'रामलीलानाटक' (लीला-सम्बन्धी) ईश्वरी प्रसाद * (कायस्थ कन्नौजी) कृत 'नाटक रामायण' और 'भाषाअनिरुद्ध नाटक', फ़तह लाल (जयपुर) कृत 'दशावतार' नाटक, केशवगिरिकृत 'प्रमोद नाटक' आदि लिखे तो गये थे, किन्तु इन्हें वास्तव में नाटक कहना ठीक नहीं जँचता।

---

* इन्होंने विहारी सतसई पर कुंडलियाँ लगाईं तथा व्याकरण-मुक्तावली नामी व्याकरण की एक पुस्तक भी लिखी।

भारतेन्दु जी (इनके पिता) के नाटकों का सूक्ष्म उल्लेख किया जा चुका है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने संस्कृत और बङ्गला के कुछ नाटकों का तो अनुवाद किया—जैसे कर्पूर-मंजरी, मुद्राराक्षस, धनंजयविजय विद्यासुंदर, पाखंडविमडन और सत्यहरिश्चन्द्र और कुछ मौलिक रूप से भी लिखे—जैसे—वैदिकी हिंसा, चन्द्रावली, भारतदुर्दशा, नीलदेवी, अंधेरनगरी, प्रेमयोगिनी, विषस्यविषमौषधम्—अस्तु उनके ही समय से नाटक-रचना के १—मौलिक और २—अनुवादित। ये दो मार्ग खुल गये।

भारतेन्दु के ही समय में तथा उनके पश्चात् भी कई अच्छे नाटक लिखे गये। फिर नाटक-रचना-परम्परा एक चारु प्रगति से चलने लगी। इस समय के नाटककार केवल नाटक ही न लिखते थे वरन् गद्य तथा पद्य में विविधविषयक रचनायें भी करते थे, कुछ तो पत्र-सम्पादन के द्वारा हिन्दी का प्रचार प्रस्तार भी बड़े बल वेग से कर रहे थे। इन लोगों ने अपनी बहुन्मुखी प्रतिभा से हिन्दी और हिन्दी-साहित्य का अतीवोपकार किया है।

बाबू तोताराम—सं० १९०४ में इनका कायस्थ-कुल में जन्म हुआ। कुछ दिन सरकारी नौकरी करके अलीगढ़ में वकालत प्रारम्भ कर इन्होंने अच्छा नाम और धन कमाया। कुछ दिन तक इन्होंने "भारतबन्धु" नामी एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला। इन्होंने "केटो वृत्तान्त नाटक" भी रचा, जो सुन्दर है। सं० १९५९ में इनका देहान्त हो गया।

लाला श्री निवासदास—अजमेर के वैश्य लाला मंगीलाल के पुत्र सं० १९०८ की कातिक सुदी परिवा को मथुरा में हुए। इनकी कविता भी बड़ी ही रसीली और सुन्दर होती थी। इन्होंने ३ नाटक १—तप्तासंवरण २—संयोगिता-स्वयंवर ३—रणधीर-प्रेम-मोहिनी रचे, जिनका हिन्दी-समाज में बड़ा आदर हुआ। अंतिम नाटक के तो अनुवाद उर्दू और गुजराती में भी हुए और वह

अभिनयोचित भी ख़ूब ठहरा। इनके अतिरिक्त इन्होंने "परीक्षा गुरु" नामक एक उपन्यास भी लिखा। यह शिक्षाप्रद तो है; किन्तु उतना अच्छा नहीं, जितने नाटक हैं। इनकी भाषा साधारण और मुहावरेदार होती हुई स्वच्छ और संयत है। हाँ, शैली कुछ अंग्रेज़ी-शैली से प्रभावित सी है। इनकी अकाल मृत्यु सं० १९४४ में हो गई।

राधाचरण गोस्वामी—सं० १९१५ में वृन्दावन में हुए। ये वल्लभ-सम्प्रदाय के गोसाईं थे। सं० १९३२ में इन्होंने 'कविकुल कौमुदी' नामक एक सभा स्थापित की और "भारतेन्दु" नामक एक मासिक पत्र भी निकाला। इनका रचा हुआ "सरोजिनी" नामक नाटक सुन्दर तथा सराहनीय है। विधवा-विपत्ति, बालविधवा, विरजा, सावित्री, यमलोक और स्वर्ग की यात्रायें, कल्पलता और मृण्मयी पुस्तकें भी आप की अच्छी हैं।

केशवराम भट्ट—महाराष्ट्र कुल में इनका जन्म सं० १९१० में हुआ। सं० १९३१ में इन्होंने "विहार बंधु" पत्र निकाला। इन्होंने विद्या की नींव, भारतवर्ष का इतिहास (बंगला से अनुवादित) रासेलस (अनुवाद), एक जोड़ अंगूठी, हिन्दी-व्याकरण और शमशाद सौसन तथा सज्जाद संबुल नामक दो नाटक लिखे। इनकी भाषा में उर्दू की अच्छी पुट है। इनका शरीरपात सं० १९६२ में हुआ।

देवकीनंदन त्रिपाठी—इन्होंने ११ पुस्तकें लिखीं जिनमें से ४ नाटक—वेलाचातक, प्रचंड गोरक्षा, गोवध-निवारण बाल-विवाह नामक—हैं, कुछ प्रहसन और कुछ स्फुट काव्य सम्बन्धी पुस्तकें और हैं (वि० पृ० १२२३)।

रतनचंद बी० ए०—जसवन्त नगर (इटावा) के निवासी थे। इन्होंने 'न्यायसभा', हिन्दी-उर्दू नामक दो सुन्दर नाटक लिखे। द्वितीय से यह ज्ञात होता है कि उस समय में हिन्दी-उर्दू का जो

विवाद छिड़ा था उसका ही चित्रण उसमें किया गया है और हिन्दी को राष्ट्र भाषा होने के योग्य सिद्ध किया गया है। इनकी रची हुई कांग्रेस सम्वाद, भ्रमजाल और चातुर्यतार्णव पुस्तकें भी देखने-योग्य हैं।

खड्ग बहादुर मल (राजकुमार)—खड्ग-विलास प्रेस बाँकीपुर के संस्थापक और एक रईस हैं। इस प्रेस ने हिन्दी की अच्छी सेवा की है। इन्होंने १४ पुस्तकें रचीं, जिनमें से ६ नाटक —महारस, बाल-विवाह-विदूषक, भारत-आरत, कल्पवृक्ष, हरतालिका, भारत ललना—हैं जो सुन्दर और सराहनीय हैं। इनके देखने से ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द (उनके आर्य-समाज) और कांग्रेस के प्रभाव से लेखक और साहित्य खूब प्रभावित हो चला था और सामाजिक (बाल-विवाह, भारत-ललना) तथा देश-भक्ति 'भारत-आरत' सम्बन्धी नाटक-साहित्य की ओर भी लोग ध्यान देने लगे थे।*

आचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास—जयपुर में इनका जन्म सं० १६१५ की चैत्र-शुक्ल ८ को गौड़-ब्राह्मण-वंश में हुआ। काशी इनका निवास-स्थान था। ये संस्कृत के प्रकांड विद्वान एवं साहित्याचार्य थे। ये संस्कृत-कालेज में संस्कृत के प्रोफ़ेसर भी रहे। हिन्दी के ये अच्छे मर्मज्ञ और लेखक थे। इनमें आशुकविप्रतिभा भी थी। इन्हें कई उपाधियाँ एवं प्रशंसा-पत्र मिले। इन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी दोनों में कुल छोटी-बड़ी ७८ पुस्तकें लिखीं। साहित्य

---

* इनकी अन्य पुस्तकें—रसिक विनोद, फागअनुराग, बालोपदेश, बाल-विवाह लेक्चर, सद्धर्मनिर्णय, रति-कुसुमायुध, सपने की संपत्ति, वेश्यापंचरत्न भी अच्छी है।

नोट—गणेशदत्त कृत "सरोजिनी नाटक" गजाधर भट्ट का अनुवादित "मृच्छकटिक" हर्षनाथ झा कृत उषाहरण नाटक भी अच्छे हैं।

के भिन्न २ अंगों पर इन्होंने प्रकाश डाला है, गोसंकट, मरहट्टा, भारतसौभाग्य नाटक, ललिता नाटिका भी इनके देखने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने भाषाभाष्य, गद्य काव्य-मीमांसा विहारी-विहार (सतसई के दोहों पर कुण्डलियाँ) विहारी-चरित्र, शीघ्र लेख-प्रणाली और निज वृत्तान्त नामो पुस्तकें भी इनकी रची हुई हैं।

व्यास जी कविता भो अच्छी करते थे। भाषा इनकी शुद्ध, प्रौढ़ और सुन्दर (सुव्यवस्थित) व्रजभाषा थी, इन्होंने संस्कृत के वर्ण-वृत्तों का भो ख़ूब उपयोग किया है। संस्कृत में भी आपने कई सुन्दर एवं विद्वत्ता-पूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। सं० १९५७ में आप का असमय में ही स्वर्गवास हो गया।

बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) का जन्म सं० १९१२ की भाद्र-कृष्ण ६ को मिर्ज़ापुर में हुआ। इनके पिता का नाम गुरुचरणलाल था। ये भरद्वाज-गोत्रोय सरयूपारीण उपाध्याय थे। आपने बहुत दिनों तक "नागरी नीरद और आनंद कादंबिनी" नामक मासिक-पत्र निकाले। भारतेन्दु के ये मित्र, हिन्दी के परम हितैषी लेखक, एवं कवि थे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के एक बार ये सभापति भी हुए। इन्होंने कुल २९ पुस्तकें लिखीं।

इनके भारत-सौभाग्य, प्रयाग-रामागमन नाटक और परांगना रहस्य महानाटक देखने-योग्य हैं। वृद्ध-विलाप (प्रहसन) भी सुन्दर है। इनके अतिरिक्त हम इसके गद्य-लेख की विवेचना भी यहीं कर देना चाहते हैं।

ये कला-कौशल पूर्ण एवं वैचित्र्य-व्यंजित गद्य के प्रचारक थे। अतएव इनकी गद्य-रचना में इनको एक स्वतंत्र छाप लगी रहती थी। लम्बे २ तथा सामासिक पदों वाले पेंचीले वाक्य-विन्यास से इनकी रचना सजी रहती थी। अनुप्रासों और यमकादि की भी छटा इनके गद्य में ख़ूब रहती थी। निबंधों में तो भाषा प्रायः काव्योचित रूप से समलंकृत ही (अलंकारों से सजी

हुई) रहती थी। किसी भी भाव को विना वैचित्र्य के ये साधारण भाषा में प्रगट ही न करना चाहते थे। यह सब होते हुए भी इनका गद्य, अर्थ-गांभीर्य, सूक्ष्म विचारोत्कर्ष-पूर्ण और निरर्थक आडम्बर-हीन ही होता था। गद्य-काव्य के प्रौढ़ एवं विकसित रूप को हम आप ही के द्वारा प्रचलित किया गया मानते हैं।

आपने "स्वभावविन्दु-सौंदर्य (गद्य-काव्य) विधवाविपत्ति, वर्षा, क़लम की कारीगरी लिखकर गद्य-काव्य के विकसित रूप का प्रचार किया। कहीं कहीं आपने "भई" आदि कुछ व्रजभाषा के रूप भी लिखे हैं। आपका "कान्ता कामिनी" उपन्यास भी देखने के योग्य है।

ये सुकवि भी थे। इनकी रचना सरस, समलंकृत और भावपूर्ण होती थी। काव्य-पुस्तकों में से हार्दिकहर्षादर्श, शुभ सम्मिलन, शोकाश्रुविन्दु, भारतभाग्योदय, आत्मोल्लासादि बड़ी ही सुन्दर और सरस हैं।*

बा० रामकृष्ण वर्मा—इनका जन्म काशीपुरी के बा० हीरालाल खत्री के यहाँ सं० १६१६ में हुआ। बी० ए० की परीक्षा में ये उत्तीर्ण न हो सके। गद्य और पद्य दोनों में ये सुन्दर रचना करते थे। सं० १६४० में इन्होंने अपने भारत-जीवन प्रेस, से "भारत जीवन" नामी पत्र निकाला और हिन्दी की बहुत सी पुस्तकें भी प्रकाशित कीं।

---

* अन्य पुस्तकें—भारत बधाई, आर्याभिनंदन, मंगलाशा, आनंद-अरुणोदय, युगुलमंगलस्तोत्र, वर्षाविन्दुगान, वसंतमकरंद विन्दु, कजली कादंविनी, संगीतसुधासरोवर, पीयूषवर्षा, आनंदबधाई, पितरप्रलाप, कलिकालतर्पण, मन की मौज, युवराजाशिष, दुर्दशादत्तापुर हैं इनमें से बहुत सी तथा कुछ दूसरी लिखी हुई पुस्तकें अभी इनके भतीजे श्री पं० नर्मदेश्वर प्रसाद जी उपाध्याय ऐडवोकेट प्रयाग के यहाँ हमने देखी हैं।

इन्होंने छोटी-बड़ी मौलिक और अनुवादित कुल १६ पुस्तकें लिखीं, जिनमें से दो नाटक और शेष प्रायः उपन्यास ही हैं। कृष्णाकुमारी और पद्मावती नाटक बंगला से विशेष सुन्दर अनुवादित हुए हैं। वीर नारी का भी अनुवाद अच्छा हुआ है।

अतिरिक्त इनके अकबर (उपन्यास) कांस्टेबुल (एक भाग) ठग वृत्तान्त माला (४ भाग) पुलिस वृ० माला०, भूतों का मकान, स्वर्ण बाई, संसार-दर्पण, आदि उपन्यास भी देखने-योग्य हैं।

बलवीर पचासा, विरहा, चित्तौरचातकी भी सुन्दर रचनायें हैं। ईसाईमतखंडन में युक्ति-पूर्ण धार्मिक आलोचना है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र—मिश्रवंशीय (बैजेगाँव, कानपुर के) कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुलोत्पन्न पं० संकटाप्रसाद के यहाँ इनका जन्म सं० १६१३ की आश्विन-शुक्ल ६ को हुआ। पिता से तो इन्होंने कुछ संस्कृत, स्कूल में हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी और कुछ अंग्रेज़ी पढ़ी। ललित त्रिवेदी (मल्लावाँ) से काव्य-रचना सीखा।

ये स्वभावतः बड़े ही हास्यप्रिय, सरल, उदार और सरस थे। जातीयता, राष्ट्रीयता तथा धार्मिकता इनमें कूट २ कर भरी थी। कांग्रेस और गो के भक्त तथा हिन्दी-हिन्दू और हिन्द के उपासक थे। इनमें विलक्षण प्रतिभा और ज़िन्दादिली थी।

कानपुर से इन्होंने "ब्राह्मण" पत्र सन् १८८३ में निकाला, जो १० वर्ष के बाद बन्द हो गया। ब्रजभाषा को ही ये काव्योचित भाषा मानते और उसकी उपासना एवं प्रशंसा किया करते थे। खड़ी बोली को ये कविता के लिये अनुपयुक्त कहते तथा उसकी कविता को पसन्द भी न करते थे। ३८ वर्ष की ही अवस्था में असमय ही इनका स्वर्गवास हो गया। हिन्दी का जितना उपकार इन्होंने किया उसके लिये हिन्दी इनको ऋणी है।

ये गद्य की एक विशेष शैली के प्रवर्तक माने जाते हैं। गद्य में व्यंग्यपूर्ण वक्रता, लोकोक्तियों के द्वारा चलतापन लाने का

श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। साथ ही साधु और संयत भाषा-शैली के प्रचार में भी इनका सफल प्रयत्न सराहनीय कहा जाता है। ये व्यवहारात्मक भाषा में ग्रामीण बोली के भी उपयुक्त शब्द रख दिया करते थे और पूर्वीय प्रयोगों का भी समावेश कर देते थे।

ऐसा इन्हें हिन्दी के प्रचार-प्रसार के ही लिये विशेषतः करना पड़ता था। भाषा इनकी सर्वथा विशुद्ध और सुव्यवस्थित रहती थी। उर्दू, फ़ारसी, बङ्गला आदि की उसमें कुछ भी पुट न लग पाती थी। भारतेन्दु की शैली को सामने रखते हुए भी इन्होंने अपनी एक विशेष शैली उठाई, जिसको पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी कुछ विशेषता देते हुए अपनाया।

मिश्र जी की गणना सुकवियों में भी है। ये भारतेन्दु के समकालीन कविमंडल में अच्छा स्थान रखते थे। काव्य में ब्रजभाषा के बैसवारे वाले रूप का ये विशेष उपयोग करते हैं। भाषा इनकी सरस, भावपूर्ण, सरल और सुव्यवस्थित रहती है। पदावली भी सीधी-सादी और स्वच्छ ही रहती है। अनुप्रासादादि की ओर आपकी विशेष प्रवृत्ति नहीं। हाँ व्यंग्य एवं वाग्वैचित्र्य के साथ हास्य की पुट इनकी रचनाओं में विशेष पाई जाती है।

इन्होंने छोटी-बड़ी कई पुस्तकें लिखीं। १२ पुस्तकों का बंगला आदि से अनुवाद किया, जिनमें से राजसिंह, इंदिरा, राधारानी, युगलांगुलीय (बंकिमबाबू का) कथा-माला, नीति-रत्नावली विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनकी रची हुई १६ पुस्तकों में से ५ नाटक हैं:—१—कलि कौतुक (रूपक), कलिप्रभाव, हठीहमीर, गो संकट, जुआरी खुआरी (प्रहसन), भारत-दुर्दशा (रूपक)।

इनकी काव्य-रचनाओं में प्रेम-पुष्पावली, शृंगार-विलास, मानसविनोद, सौंदर्यमयी विशेष रोचक और प्राचीन पद्धति की हैं।

आपने दंगल-खंड की रचना आल्हा-शैली में की है। यह विशेष उल्लेखनीय है। अब तक प्रायः किसी भी ऐसे सुकवि एवं लेखक ने आल्हा न लिखा था। लोकोक्तियों का प्रयोग काव्य में करके आपने "लोकोक्ति शतक" की रचना, की भी जिसको देखा-देखी फिर अन्य लेखकों ने भी ऐसा ही किया। मुहावरों का प्रयोग करते हुए काव्य-रचना का भाव इन्होंने सुझाया है। पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने भी इसी प्रकार "बोल चाल" नामी एक सुन्दर तथा सराहनीय काव्य अभी हाल ही में लिखा है।

शैव सर्वस्व (एक धार्मिक रचना-मँडला) स्वागत तथा तृप्यंताम सामयिकता पूर्ण सुरचनायें है।

मिश्र जी ने "रसखान शतक" और "प्रताप-संग्रह" नामी दो संग्रह-ग्रंथ भी तैयार किये और उर्दू में एक दीवान भी "दीवान विरहमन" नाम से लिखा।

भारतेन्दु के समान इन्होंने भी हिन्दी-प्रचार का बहुत बड़ा कार्य किया, जिसके लिये हिन्दी इनकी आभारी है।

बाबू शिवनन्दनसहाय—आरा (विहार) ग्राम के कायस्थ-कुल में इनका जन्म सं० १६१७ में हुआ। इंट्रेन्स पास कर आपने सरकारी नौकरी कर ली। आप फ़ारसी भी अच्छी जानते हैं। आपने हिन्दी-साहित्य में जीवनियों की कमी को देखकर उसकी पूर्ति की ओर अच्छा प्रयत्न किया और दूसरों को यह मार्ग दिखलाया।

आपने भारतेन्दु, साहब प्रसाद, सीताराम शरण भगवान प्रसाद, बाबा सुमेरसिंह, गो० तुलसीदास की जीवनियाँ भी बड़े ही सुन्दर ढंग और सुविधान के साथ लिखीं। आपका "सुदामा-नाटक" (गद्य-पद्य में) भी बहुत ही अच्छा है। बंगाल का इतिहास भी आपने लिखा है।

"विचित्र संग्रह और कृष्ण सुदामा" से आपकी कवि-प्रतिभा

का परिचय प्राप्त होता है। कविता आपकी साधारणतया अच्छी है। कविता कुसुम भी एक सुन्दर संग्रह-ग्रंथ कहा जा सकता है। आप उर्दू में भी कुछ शायरी करते हैं।

अब यहाँ हम यह लिख देना उचित समझते हैं कि इस काल में नाटक-रचना का कार्य कुछ शिथिल हो चला, भारतेन्दु ने अनुवाद और मौलिक रूप से नाटक-रचना की जो परम्परा चलाई वह अब तक अच्छे रूप में चली आई। अब उपन्यासों का बलवेग विशेष बढ़ चला, बंगला और अंग्रेज़ी से ले (जिनमें उपन्यासों का प्रबल प्राचुर्य है) लोग उपन्यासों का ही अनुवाद विशेष रूप से करने लगे। ऐसी दशा में नाटक-रचना की गति कुछ मंद हो गयी।

कुछ हिन्दी-प्रेमी नाटक मंडलियाँ* (जिनमें साहित्यिक, शिक्षाप्रद तथा उत्तम नाटकों के खेलने का उद्देश्य प्रधान था और जो व्यौपारिक रूप में न थीं) स्थापित कर अपने प्रयत्नों से दृश्य-काव्य की रुचि जगाते रहे। इनके लिये जो नाटक लिखे गये उनमें से माधव शुक्ल का महाभारत तथा पं० दुगवेकर जी के द्रौपदी-हरण जैसे एक-दो नाटक उल्लेखनीय ठहरते हैं।

इसी समय में बंगला आदि के नाटकों का अनुवाद बड़े बल-वेग से प्रारम्भ हो गया और इसकी एक परम्परा सी चलने लगी। बंगला में द्विजेन्द्र लाल राय के नाटक अति प्रसिद्ध हैं उनका प्रचुर अनुवाद हिन्दी में हुआ, इसी प्रकार रवीन्द्र बाबू आदि के भी नाटक अनुवादित हुए। अस्तु, हम यहाँ इस विषय पर भी सूक्ष्म प्रकाश डाल देना चाहते हैं।

संस्कृत नाटकानुवाद—हनुमन्नाटकादि कुछ संस्कृत-नाटकों के अनुवाद कतिपय कवियों ने प्रथमही करके यह मार्ग खोल दिया

---

*श्री पं० माधव शुक्ल की प्रयागवाली नाट्य समिति तथा काशी की भारतेन्दु नाटक एवं नागरी नाटक मंडली उल्लेखनीय हैं।

था, किन्तु लोगों का ध्यान प्रथम इधर कम गया। इधर की ओर जब बंगला के नाटकों के अनुवाद प्राचुर्य पा चले तब कुछ लोग संस्कृत के नाटकों की ओर भी झुके।

रा० बा० लाला सीताराम—(बी० ए० "भूप") ने इस ओर बहुत काम किया जो सराहनीय है। लाला जी अयोध्या-वासी लाला शिवरत्न लाल कायस्थ के सुपुत्र हैं और इस समय लगभग ७६ वर्ष के हैं। बी० ए० पास कर ये फ़ैज़ाबाद-स्कूल में द्वितीय अध्यापक हुए फिर डिप्टी कलेक्टर हो कर प्रयाग में आ बसे। अब पेंशन पा रहे हैं। इनका स्वभाव बड़ा ही सरल, उदार और सौम्य है, श्रमशील भी ये बहुत हैं। इन्हें संस्कृत तथा हिन्दी से अच्छा परिचय एवं प्रेम है। ये सुकवि और सुयोग्य लेखक हैं।

भारतेन्दु की मृत्यु के दो वर्ष पूर्व ही से इन्होंने संस्कृत-काव्यों का अनुवाद प्रारम्भ कर दिया था, इन्होंने श्री कालिदास के रघुवंश, कुमार सम्भव, सं० १९४९ में, मेघदूत सं० १८८३ और ऋतुसंहार और शृंगार तिलक के हिन्दी-अनुवाद किये।

इन्होंने रघुवंश और कुमार संभव में प्रबंध-काव्योचित दोहा-चौपाई-शैली तथा अवधी-भाषा का, मेघदूत में मुक्तकोचित कवित्त-शैली तथा अवधी मिश्रित व्रजभाषा का और शेष छोटी २ पुस्तकों में विविध छंदात्मक शैली तथा मिश्रित भाषा का उपयोग किया है। कहीं २ अव्यवहृत शब्द, पद आदि भी रख दिये हैं। भाषा भी कहीं शिथिल हो गई है। रचना साधारण श्रेणी की ही ठहरती है। कुछ भी हो, लाला जी ने काम बहुत बडा और सराहनीय किया है। माधुर्य और प्रसाद गुण उचित मात्रा में है, मेघदूत और ऋतुसंहार की रचना उत्तम है।

मृच्छकटिक, महावीर चरित, उत्तर रामचरित, मालतीमाधव, मालविकाग्निमित्र और नागानंद नामी संस्कृत-नाटकों के भी लाला

जी ने अच्छे अनुवाद किये हैं। इनमें गद्य-पद्य दोनों का समावेश है, गद्य में तो खड़ी बोली का, जो सीधी-सादी, सरल और स्पष्ट है और पद्य में अवधी मिश्रित व्रजभाषा का उपयोग किया गया है। पद्य भाग में इन्हें गद्य की अपेक्षा कम सफलता मिली है।

लाला जी ने गद्य में छोटी २ कई पुस्तकें लिखी हैं और कलकत्ता-विश्वविद्यालय के लिये हिन्दी-काव्य भी संग्रह सम्पादित किये हैं।

पं० सत्यनारायण (कविरत्न)—आप आगरा-निवासी थे। व्रजभाषा में आप ने स्फुट रूप से सुन्दर रचनायें की हैं। आप की रचनाओं के संग्रह प्रकाशित भी हुए हैं। नवीन देशानुरागादि के भावों का संचार आप ने ही विशेष रूप से व्रजभाषा-काव्य में किया है। सं० १९७० में इन्होंने "उत्तर रामचरित" और फिर "मालतीमाधव" नामक संस्कृत के नाटकों के सुन्दर अनुवाद किये। पद्यों में सवैया छंदों तथा व्रजभाषा का उपयोग किया गया है, कहीं २ भाषा में प्रान्तीयता की भी पुट आ गई है जो कुछ खटकती है, क्योंकि साहित्यिक व्रजभाषा में ऐसा न होना चाहिये। मूल भावों की रक्षा में कहीं २ भाषा कुछ जटिल और अव्यवस्थित सी भी हो गई है।

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र—सं० १९१९ में मुरादाबाद में उत्पन्न हुए, आप कान्यकुब्ज ब्राह्मण-वंश-भूषण हैं। आप संस्कृत और हिन्दी के प्रकांड विद्वान, लेखक और वक्ता थे। भारतधर्म-महामंडल के आप महोपदेशक भी थे। सारे भारत में आप ने अपना सुयश फैला दिया था।

अनुवाद एवं स्वतंत्र ग्रंथ आपने गद्य में बहुत से लिखे। शुक्ल यजुर्वेद का विद्वता पूर्ण भाष्य करके आपने संस्कृत के ३० उत्कृष्ट ग्रंथों (व्याकरण, ज्योतिष, पुराणादि) के भाषानुवाद किये।

तुलसीकृत रामायण और विहारी सतसई पर भी आपने सुन्दर टीकायें कीं, जो प्रसिद्ध हैं। दयानंद तिमिरभास्कर (स्वामी दयानंद जी के सत्यार्थ प्रकाश का खंडन) जातिनिर्णय, अष्टादश पुराण, सीतावनवास नाटक और भक्तमाल आदि कई सुन्दर पुस्तकों की रचना की।

गोपालराम—गहमर (ज़ि० ग़ाज़ीपुर) सं० १६१२ में हुए। इन्होंने बंगला के कई सुन्दर नाटकों तथा उपन्यासों का अनुवाद बड़ी सुन्दरता से किया और बाबू रामचन्द्र वर्मा के मार्ग का अनुसरण किया। आपने कुल मिला कर लगभग १०० पुस्तकें लिखीं। नाटकों में "बभ्रुवाहन, देश-दशा, विद्याविनोद, चित्रांगद (रवीन्द्रकृत) और उपन्यासों में चतुर चंचला, माधवी कंकण, भानमती, सौभद्रा, नयेबाबू आदि अनेक जासूसी उपन्यास सराहनीय हैं। आप कुछ कविता भी लिखते थे। सोना शतक और वसन विकास इनकी सुन्दर रचनायें हैं।

रूपनारायण पाँण्डे—आप हिन्दी के एक योग्य लेखक, संपादक तथा कवि हैं। इस समय आप "सुधा" (लखनऊ) पत्रिका का संपादन कर रहे हैं। आपने अपनी अनुवादित पुस्तकों से हिन्दी की सेवा की है। द्विजेन्द्र लाल अच्छी राय के नाटकों तथा बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकारों के उपन्यासों के आपने सुन्दर अनुवाद किये हैं। आप मौलिक लेखक की अपेक्षा अनुवादक ही अच्छे हैं।

इसी प्रकार कुछ अन्य लेखकों ने भी बंगला के नाटकों को हिन्दी में अनुवादित किया है। कुछ अंग्रेज़ी पढ़े लेखकों ने अंग्रेज़ी के नाटकों के भी अनुवाद किये हैं। सं० १६४६ के समीप श्री गोपीनाथ पुरोहित एम० ए० ने शेक्सपियर कृत "रोमियो जूलियट और ऐज़ यू लाइक इट" का हिन्दी में अनुवाद किया। दो एक अन्य लेखकों ने भी ऐसा ही अनुवाद-कार्य किया है।

इनके साथ ही कुछ मौलिक नाटक भी हिन्दी में रचे गये। इनमें से विशेष उल्लेखनीय ये हैं—

रायदेवीप्रसाद "पूर्ण"—आप कानपुर के प्रसिद्ध वकील और साहित्यिक थे। आप पुरानी शैली की कविता भी बड़ी ही सुन्दर, सरस और प्रौढ़ व्रजभाषा में किया करते थे। आपकी कविताओं का संग्रह "पूर्ण संग्रह" नाम से प्रकाशित हो चुका है*। इन्होंने यह देख कर कि हिन्दी में साहित्यिक नाटक की नितांत कमी है, एक उच्च कोटि का साहित्यिक (न कि अभिनयोचित) नाटक "चन्द्रकला भानु कुमार" लिखा, जो भाषा, काव्य, कौशलादि के उत्कर्ष से तो पूर्ण है, किन्तु अभिनय के योग्य नहीं। इसमें कुतूहलकारी वस्तु-विन्यास का वैचित्र्य, भाषा-सारल्यादि अभिनयोचित नाटकों के गुण नहीं, हाँ काव्य एवं रचना-कला का कौशल ख़ूब है।

राधाकृष्णदास—हिन्दी-संसार के परिचित लेखक और कवि हैं। आप बनारस में रहते हैं, आपने "महाराणा प्रताप" राज-स्थान-केशरी) नाटक लिखा, जो साहित्यिक पुट रखता हुआ भी अभिनय के योग्य है।

किशोरीलाल गोस्वामी—मथुरा के गोसाईं तथा हिन्दी के सुयोग्य कवि हैं। आपने 'प्रणयिनी परिणय' नामक एक सुन्दर और मौलिक नाटक लिखा। आपकी व्रजभाषा-कविता भी बड़ी ही सरस, भावपूर्ण और सुन्दर होती है।

उपन्यासों की बाढ़ ने नाटकों को दबा लिया और इनका रचना-कार्य कुछ शिथिल पड़ गया। अभी हाल ही में काशी के **बा० जयशंकरप्रसाद** ने "अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, तीन-

* इसके सम्पादक हैं हमारे मित्र पं० लक्ष्मीकान्त जी त्रिपाठी एम० ए० प्रो० क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर।

चार सुन्दर नाटक लिखे हैं। इन्हें साहित्य में भी स्थान दिया जा सकता है। इन्होंने नाटक-रचना में कुछ नवीनता भी पैदा की है। प्रथम नाटकों में पद्य और गान का भी समावेश किया जाता था, किन्तु अब इनको स्थान नहीं दिया जाता और यदि दिया भी जाता है तो बहुत ही कम और आवश्यकतानुसार ही।

कुछ अन्य लोगों ने भी पौराणिक कथाओं पर नाटक लिखे, किन्तु वे विशेष उल्लेखनीय नहीं। साथ ही कुछ लोगों ने चम्पू ("गद्य-पद्यमयी वाणी चम्पूरित्यवधीयते" गद्यपद्यात्मक काव्य) भी रचे, किन्तु बहुत ही कम। उद्धवचम्पू (पं० रघुनाथ मिश्रकृत) जैसे दो-एक ही उल्लेखनीय हो सकते हैं। (गदाधरदास कृत दिग्विजय चम्पू भी अच्छा है)*—१

टीका एवं अनुवादादि

टीका—ब्रजभाषा जब उच्च कोटि का परम प्रौढ़ साहित्यिक भाषा हो गई, तब स्वभावतः हो वह साहित्यिक तथा विद्वानों की भाषा होकर साधारण जनता की पहुँच से बाहर हो गई, जैसे प्रत्येक उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा हो जाया करती है।

---

* बा० प्रेमचन्द्र ने "संग्राम और कर्बला" लिखे तो हैं पर सफलता-पूर्वक नहीं। प० गोविन्दवल्लभ पंत का "वरमाला" नामी नाटक रंग-मंचोपयुक्त तथा महत्व-पूर्ण है। पं० बद्रीनाथ भट्ट जो लखनऊ विश्व-विद्यालय में हिन्दी अध्यापक हैं, व्यंग्य एव विनोद पूर्ण नाटकों के लिये उल्लेखनीय हैं, इनका कथोपकथन कहीं २ शिथिल तथा उखड़ा सा है। हास्य कहीं २ अशिष्ट सा भी है। जी० पी० श्रीवास्तव ने कुछ प्रहसन लिखे हैं, जिन्हें लोगों ने पसद भी किया है, कुछ लोग इन्हें कुरुचि-पूर्ण और नवयुवकों पर बुरा प्रभाव डालने वाला भी कहते हैं। हो सकता है, तौ भी हम इन्हें निम्न श्रेणी में नहीं मान सकते। —सम्पादक

ऐसी ब्रजभाषा का समझना साधारण लोगों के लिये (बिना उसका यथोचित अध्ययन किये हुए) कठिन हो गया। बोलचाल की भाषा तथा समाज की संस्कृति में रूपान्तर या परिवर्तन हो जाने तथा खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार में प्राबल्य एवं प्राचुर्य के हो जाने से भी जनता ब्रजभाषा से कुछ अपरिचित एवं पृथक् सी होने लगी। फलतः ब्रजभाषा का काव्य-साहित्य भी साधारण जनता के लिये दुर्बोध सा हो चला और यह अब अनिवार्य सा जँचने लगा कि ब्रजभाषा के काव्य-ग्रंथों को सुबोध करने के लिये उनकी टीकायें लिखी जायँ। ऐसा ही प्रायः प्रत्येक उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा के प्रौढ़ साहित्य के क्षेत्र में देखा जाता है।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये कुछ सुयोग्य कवि या लेखक टीका-रचना का कार्य कर चले, जिससे प्राचीन साहित्य की, जो भाषादि सम्बन्धी रूपान्तरों के हो जाने से दुर्बोध होता हुआ जनता से दूर हटा जा रहा था, रक्षा तथा प्रचार-प्रतिष्ठा हो सकी।

इस काल के प्रारम्भ में, जैसा हम लिख चुके हैं, ब्रजभाषा का उपयोग गद्य और पद्य दोनों ही में होता था, हाँ इसके मध्य तथा प्रस्तार काल में, जब खड़ी बोली का प्रचुर प्रचार हो गया, तब गद्य में तो खड़ी बोली का ही प्रयोग पूर्ण प्राधान्य के साथ हो चला और पद्य में भी उसका उपयोग किया जाने लगा। अस्तु, यह स्पष्ट ही है कि प्रथम काल में लिखी हुई टीकायें तो प्रायः ब्रजभाषा में और इधर की ओर लिखी गई प्रायः खड़ी बोली में ही हैं।

टीकायें प्रायः उत्कृष्ट और क्लिष्ट काव्यों या रीति-ग्रंथों पर ही लिखी गई हैं, ये ही ग्रंथ टीकाओं के लिये थे भी सामने। यह अवश्य है कि टीकायें उन सुचारु तथा संयत रूप में (अन्वय, भावार्थ, क्लिष्ट शब्दार्थ, विशेष बातों की सूचना के लिये टिप्पणी

आदि के साथ) नहीं लिखी गईं जिस रूप में संस्कृत-ग्रंथों पर संस्कृत के सुयोग्य पंडितों के द्वारा लिखी गई हैं। हाँ शैली प्रायः प्रथम पंडिताऊ ही रही है। हाँ इधर की ओर जो टीकायें नये विद्वानों के द्वारा लिखी गई हैं वे अवश्यमेव आधुनिक वैज्ञानिक शैली से सांगोपांग रूप में लिखी हुई मिलती हैं।

टीकाकारों में से विशेष उल्लेखनीय टीकाकार, जिनकी टीकायें प्रचलित, प्राप्त और प्रसिद्ध हैं, ये हैं:—

रीवाँ-महाराज विश्वानसिंह जी के पश्चात्, जिन्होंने कबीर कृत बीजक तथा गो० जी कृत विनय-पत्रिका की टीकायें लिखी थीं, कविवर सरदार की टीकाओं को अच्छी ख्याति मिली है:—

सरदार कवि का रचना-काल सं० १६०२ से १६४० तक है। ये काशी-नरेश श्री ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने कई सद्ग्रंथों की रचना की। ये एक प्रसिद्ध कवि भी थे, काव्य की भी कई सुन्दर पुस्तकें इन्होंने रचीं, जिनमें से १—साहित्यसरसी, २—व्यंग्य विलास (व्यंग्य पर) षट्ऋतु, हनुमत तुलसी, मानस तीन भूषण, रामरत्नाकर, रामरस जंत्र, साहित्य सुधाकर, रामलीलाप्रकाश और शृङ्गार संग्रह (संग्रह ग्रंथ) विशेष उल्लेखनीय हैं । इनकी रचना सरस, सुन्दर और उत्तम श्रेणी की है।

इन्होंने दृष्टकूट (सूर-कृत) कवि प्रिया, रसिक प्रिया (केशवदास कृत) और विहारी सतसई की पांडित्य पूर्ण टीकायें लिखीं, जो देखने के योग्य हैं।

गुलाब कवि (दे चुके हैं) ने मतिराम के ललितललाम की टीका लिखी, जो साधारण है।

सीताराम शरण—(रूपकला)—मुबारकपुर (सारन जिला) में सं० १८६७ में हुए। ये कायस्थ थे और फ़ारसी, उर्दू, हिन्दी

तथा अंग्रेज़ी जानते थे। असिस्टेंट इंस्पेक्टर रह कर सन् १८९३ में इन्होंने पेंशन ली और अयोध्या में रामानंदी साधु हो कर रहने लगे, इनके स्त्री-पुत्र न थे। इन्होंने कुल १३ पुस्तकें—४ उर्दू में और ९ हिन्दी में लिखीं, जिनमें से भक्तमाल की टीका, भगवद्वचनामृत सीताराम, मानसपूजा और मीराबाई की जीवनी उल्लेखनीय हैं।

पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र—गो० जी कृत रामायण, विहारी सतसई की टीकायें लिखीं (दे चुके हैं)।

पं० विनायकराव—सं० १९१२ में उत्पन्न हुए। होशंगाबाद में हेडमास्टर रह कर इन्होंने पेंशन ली और रामायण की एक प्रशंसनीय "विनायकी टीका" लिखी।

पं० रामेश्वर भट्ट—आगरा-निवासी सुकवि और विद्वान पंडित थे, प्रो० वद्रीनाथ भट्ट लखनऊ आपके सुपुत्र हैं। आपने रामायण विनयपत्रिकादि की सुन्दर टीकायें कीं।

प्रो० भगवानदीन—रामचंद्रिका, दोहावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, विहारी सतसई, कविप्रिया, रहीम शतक, कवितावली आदि की सुन्दर टीकायें कीं। (दे चुके हैं)

प्रो० श्यामसुन्दर दास (दे चुके हैं) ने रामायण की सुन्दर, सरल और शुद्ध टीका की।

बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (दे चुके हैं)—विहारी सतसई का सुन्दर तथा सटीक सम्पादन अत्यन्त प्रामाणिक रूप से आपने किया है।

इन प्रधान तथा प्रसिद्ध टीकाओं के अतिरिक्त और भी कई सुयोग्य कवियों एवं लेखकों ने कतिपय सुन्दर टीकायें लिखीं, जिनमें से अधोलिखित उल्लेखनीय हैं:—

हरिजन कायस्थ (टीकमगढ़) कृत कविप्रिया-टीका, हिमंचलसिंह कायस्थ (छतरपुर) रामजू कृत विहारी सतसई-टीका, महेश-

दत्त शुक्ल (वि० पृ० ११६५) कृत कवित रामायण टीका, शिवप्रकाश कायस्थ (वि० पृ० ११६८) कृत विनय पत्रिका और गीतावली की टीकायें, बालकृष्णदास (वि० पृ० १२२४) कृत दृष्टकूट (सूरकृत) टीका, कालिकाराव (ग्वालियर) कृत कवि-प्रिया-टीका नारायणरायबंदीजन (बनारस) भाषाभूषण (छंदात्मक टीकाकार) कविप्रिया टीका, भानुप्रताप तिवारी (चुनार) कृत बिहारी सतसई और तुलसीसतसई की टीकायें—इत्यादि—

यह स्पष्ट ही है कि प्रायः उन्हीं काव्य-ग्रंथों पर टीकायें विशेष रूप से लिखी गई हैं, जिनका प्रचार बहुत है और जो प्रसिद्ध तथा क्लिष्ट हैं। काव्यशास्त्र के ग्रंथों में से भाषाभूषण और ललितललाम तथा दास कृत काव्य निर्णय आदि की कई टीकायें (कुछ छन्दों में और कुछ गद्य में) की गई हैं।

इसी काल में संस्कृत के भी प्रधान ग्रंथों का अनुवाद हुआ है और भाषा-टीकायें लिखी गई हैं । ज्योतिष, वैद्यक, स्मृति, उपनिषद्, काव्य, व्याकरण एवं अन्य प्रधान विषयों के प्रायः सभी मुख्य २ ग्रंथों की भाषा-टीकायें हुईं वेंकटेश्वर जो निर्णयसागर तथा नवलकिशोर प्रेसों से प्रकाशित हो चुकी हैं विस्तार-भय से इनका उल्लेख करना यहाँ उचित नहीं जान पड़ता। वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत का पूर्ण गद्यानुवाद श्री प० द्वारका-प्रसाद जी चतुर्वेदी के विशेष उल्लेखनीय हैं । इनके पद्यानुवाद भी कई हुए हैं।

अनुवाद—इस काल में अन्य भाषाओं के सद्ग्रंथों का अनुवाद करके उन्हें हिन्दी-साहित्य में ला रखने का कार्य भी हुआ है, प्रथम तो यह कार्य कुछ मन्द गति से ही प्रारंभ हुआ किन्तु ज्यों २ हिन्दी तथा गद्य का विकास-प्रकाश बढ़ता गया, यह अनुवाद-कार्य भी द्रुति गति से चलने लगा। प्रेसों से इसे

बड़ी सहायता प्राप्त हुई और अब अन्य भाषाओं के बहुत से ग्रंथ अनुवादित होकर हिन्दी के क्षेत्र में रख दिये गये हैं।

संस्कृत-साहित्य के बहुत से प्रधान ग्रंथों के अनुवाद हो चुके हैं। विस्तार-भय से इनका उल्लेख करना उपयुक्त नहीं जँचता।

फ़ारसी के भी कई ग्रंथ (हिन्दी गद्य एवं पद्य में) अनुवादित हो गये हैं, इनमें से विशेष उल्लेखनीय हैं :—

१—करीमा—बलदेवदास माथुर कृत अनुवादित।

२—गुलिस्ताँ } —मिहिचंद (दिल्ली) अनुवादित।
३—बोस्ताँ }

४—मामकीमाँ—रामचन्द्र ,,

५—शाहनामा—कई व्यक्तियों जैसे मातादीनमिश्र आदि कृत।

इसी प्रकार अंग्रेजी की भी कई सुन्दर पुस्तकें अनुवादित हो चुकी हैं। शेक्सपियर के कई नाटकों, डिजर्टेड विलेज एवं कई उपन्यास आदि के खड़ी बोली में अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। विज्ञान, समालोचना, मनोविज्ञान, राजनीति, आदि अन्य विषयक कुछ पुस्तकें भी अनुवादित हो चुकी हैं। इस ओर अब "प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकाडमी" कार्य कर चली है और अंग्रेजी से सुन्दर पुस्तकें सुयोग्य व्यक्तियों से अनुवादित करा रही है।* हाँ खेद इस बात का है कि अनुवाद कराने में यह संस्था इस बात का ध्यान कम रखती है कि अनुवादक उस विषय का तो, जिसकी किसी अंग्रेज़ी-पुस्तक का वह अनुवाद कर रहा है, पंडित हो ही, साथ ही हिन्दी का भी सुयोग्य लेखक हो। इससे

---

* प्रान्तीय सरकार के द्वारा हिन्दुस्तानी भाषा (हिन्दी तथा उर्दू-मिश्रित नागरिक भाषा) के प्रचार-प्रवर्धन के लिये यह खोली गई है। इसके प्रधान हैं सर तेजबहादुर सप्रू, मंत्री हैं डा० ताराचन्द तथा हिन्दी और उर्दू के कुछ योग्य सज्जन सदस्य हैं। —सम्पादक

अनुवाद पूर्ण सफल नहीं हो पाते। इस संस्था से आशा तो बहुत की जाती है किन्तु इधर जो लेख पत्रों में यदा कदा निकले हैं उनसे कुछ संदेह उठता है।

राजाओं का रचना-कार्य

कला-काल से ही राजा-महाराजाओं का ध्यान हिन्दी-साहित्य की सेवा करने में विशेष रूप से लग चला था। भक्ति-काल में भी कुछ राजाओं ने रचना-कार्य किया है, किन्तु उनकी संख्या बहुत ही न्यून एवं नगण्य सी ही है। कला-काल में कवियों का राजदरबारों में, जहाँ उनकी प्रतिष्ठादि होती थी, आना-जाना एवं रहना भली प्रकार होता था, उनके प्रभावों से प्रभावित होकर राजा-राव भी रचना-कार्य की ओर बढ़ने लगे थे। कतिपय कवियों एवं पंडितों ने तो राजाओं के नाम से रचनायें करके उन्हें प्रोत्साहित किया और कुछ कवियों ने अपनेआश्रय-दाताओं को ही अपनी कृतियों का प्रणेता बनाकर उनके नामों को ग्रंथकारों की श्रेणी में रख उन्हें अमर कर दिया है। कुछ राजा तो ऐसे हैं जिनके ग्रंथों की रचना उनसे न की जा कर उनके आश्रित कवियों से ही की गई है, किन्तु कुछ सुयोग्य राजा ऐसे भी हैं जिन्होंने अपनी ही प्रतिभा एवं योग्यता से स्वयमेव ग्रंथ-रचना की है। यह बहुत ही कठिन है कि इन दोनों प्रकार के राजाओं का स्पष्ट पृथक्करण किया जा सके।

इस काल में भी राजाओं ने सराहनीय रचना-कार्य कर हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया है, कदाचित् इस काल में राजाओं ने विशेष कार्य किया है। अस्तु, हम यहाँ कुछ प्रधान राजा-ग्रंथकारों का सूक्ष्म उल्लेख करना उचित समझते हैं।

कला-काल में राजा जसवंतसिंह, राजा गुरुदत्त सिंह,

राजा रामसिंह, राजा जसवंतसिंह द्वितीय, महाराज विश्वनाथ-सिंह, राजा सावंतसिंह (भक्तनागरीदास) तथा राजा मानसिंह आदि अपनी रचनाओं से अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, इनको देखकर इस काल में भी कई राजाओं ने रचना-कार्य किया, किन्तु वे उतनी ख्याति न प्राप्त कर सके।

ज्यों २ अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार-प्रसार होता गया त्यों ही राजाओं में हिन्दी और उसके साहित्य से कुछ उदासीनता सी आती गई, वे अंग्रेज़ी की ओर विशेष झुकने लगे। तौभी कतिपय ऐसे राव-राजे हैं जो हिन्दी को मातृ एवं राष्ट्रभाषा मान कर अपना रहे हैं, अस्तु वे प्रशंसा के भाजन हैं।

यहाँ हम ऐसे ही कुछ प्रधान एवं सुयोग्य राजाओं तथा उनके साहित्यिक कार्य का सूक्ष्म उल्लेख करते हैं।

राजा लक्ष्मणसिंह (विजावर) (जन्म-सं०१८६७) ने सं० १८९० से १९०४ तक रचना-कार्य किया और नृप-नीति तथा समय-नीति सम्बन्धी दो शतक लिखे।

राजा धीरसिंह ने 'अलंकार मुक्तावली' की रचना की।

राजा भानुप्रताप (विजावर) ने सं० १९१७ से १९५८ तक राज्य किया और शृंगार पचासा तथा विज्ञान शतक लिखे। राजा माधोसिंह (अमेठी) ने स्फुट रचना की।

गुलाबसिंह दाऊजी—भरतपुर-नरेश जसवंतसिंह के सम्बन्धी और बड़े उमराव थे, इन्होंने प्रेमसतसई (दोहों में) तथा हितकल्पद्रुम (हितोपदेश भाषा) रचे और कुछ स्फुट काव्य भी लिखा।

राजा रामपालसिंह (कालाकाँकर) बड़े ही सुयोग्य और देश-भक्त राजा थे, हिन्दू-हिन्दी-हिन्द की भक्ति इनमें कूट-कूट कर भरी थी। इनका जन्म १९०५ सं० में हुआ था। इन्होंने

"हिन्दोस्तान" पत्र सं० १९४२ से दैनिक रूप में निकाला, जो इनके जीवन तक चला, इन्होंने अपने पितामह के नाम से "हनुमंत स्कूल" खोला, जो अच्छी दशा में है। इनके प्रताप से अब तक इस राज-कुल में हिन्दू-हिन्दी-हिन्द की प्रेम-धारा प्रवाहित है। वर्तमान राजा अवधेशसिंह जी भी बड़े ही सुयोग्य और सर्व-प्रिय हैं।

राजा रणजोर सिंह (अजयगढ़) सं० १९०५ में उत्पन्न हुए और १९१६ में गद्दी पर बैठे। इन्होंने १६ पुस्तकें रचीं, जिन में से वैद्य प्रभाकर, संतान-शिक्षा तथा उपवन-विनोद सुन्दर हैं। पशु-चिकित्सा, संगीत आदि कई विषयों में इन्हें बड़ी योग्यता थी, इन विषयों पर भी इन्होंने कई पुस्तकें रची हैं।

छितिपाल राजा माधवसिंह—(अमेठी) ने मनोज-लतिका, देवीचरित्र सरोज तथा त्रिदीप की रचना की।

राजा शीतलाबख्शबहादुरसिंह ("महेश") बस्ती के राजा थे, कवि लछिराम को इनके यहाँ बड़ा आदर प्राप्त हुआ, इन्होंने " श्रृंगार शतक " की सुन्दर रचना की।

राजा रणजीतसिंह—(ईशनगर) ने हरिवंशपुराण का भाषानुवाद किया।

इनके अतिरिक्त राजाविजयसिंह, राजारामनाथसिंह, राजा-त्रिलोकीनाथ, हरिभक्त सिंह आदि और भी कई राजाओं ने हिन्दी-साहित्य को अपनी रचनाओं से श्रीसम्पन्न करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। यह स्मरणीय बात है कि प्रायः सभी राजाओं ने प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया है। श्री **राजकुमार रघुवीरसिंह** B A सीतामऊ का भी नाम यहाँ उल्लेखनीय है, आप अच्छे गद्य-लेखक और साहित्य-सेवी हैं।

मुसलमान कवि एवं लेखक

इस काल के प्रारम्भ ही से हिन्दी (खड़ी बोली) के प्रचुर प्रचार प्रस्तार का कार्य हिन्दी-संसार में हिन्दी-भक्तवरों के द्वारा बड़े बल-वेग से चलाया गया था। इसके पूर्व ही से उर्दू भाषा का प्रचार मुसलमानों ने बड़े अध्यवसाय से प्रारम्भ कर पर्याप्त सफलता प्राप्त कर ली थी। उर्दू भाषा को ख़ूब परिमार्जित और परिष्कृत करते हुए उसे उन्होंने राजकीय दफ़्तरों की भाषा के रूप में प्रचलित कर दिया था, अंग्रेजी राज्य में भी वहुत दिनों तक यह अपने इसी रूप में चलती रही, जिससे लोग इसको ओर विशेष ध्यान दिया करते थे। मुसलमानों के पतन को देख जब हिन्दी-प्रचार का कार्य बड़े वेग से उठाया गया तब हिन्दी दिन-प्रति-दिन उन्नति और वृद्धि में अग्रसर होती गई और उर्दू का प्रचार कम होता गया। अब तो हिन्दी उर्दू के ही समान राजकीय भाषा हो कर बहुत आगे बढ़ गई है।

मुसलमानों ने उर्दू-साहित्य की भी एक अच्छी इमारत बना ली थी, वे सगठित रूप से रचना एवं प्रचार-कार्य (मुशायरों आदि के द्वारा) करके उर्दू को समृद्धि-वृद्धि कर रहे थे। हिन्दू भी बहुत कुछ इसमें सहयोग देते थे, क्योंकि उर्दू राजकीय तथा शिष्ट भाषा के रूप में मानी जाती थी। जब से हिन्दी को भी उसके भक्तवरों के सफल प्रयास से उन्नति-श्री प्राप्त हो चली तब से लोगों का (विशेषतया हिन्दुओं का) ध्यान इधर ही लगने लगा। अंग्रेजों ने भी हिन्दी ही को मुख्य देश-भाषा जानकर अपनाया और उसे बढ़ाने में सहयोग दिया।

अब उर्दू-कवि एवं मुसलमान लोग हिन्दी की ओर से बिलकुल ही हट से चले और अपनी उर्दू की रक्षा में लग गये, वे इसे

फ़ारसी से और विशेष प्रभावित करके हिन्दी से सर्वथा ही स्वतंत्र और पृथक् मानने लगे। हाँ राजा शिवप्रसाद जैसे कुछ उदार मुसलमान (जैसे इंशा साहब) उदारता के साथ हिन्दी और उर्दू दोनों में कार्य करते हुए दोनों को मिलाते हुए हिन्दुस्तानी या ठेठभाषा के प्रचार-कार्य में लगे रहे।

निष्कर्ष यह हुआ कि इस काल में मुसलमानों का ध्यान हिन्दी-रचना से हट कर उर्दू-रचना में ही विशेष रूप से लगा रहा। बहुत ही कम मुसलमानों ने हिन्दी-रचना का उल्लेखनीय कार्य किया है।

१—**ज़ुलफ़िकार ख़ाँ**—बुंदेलखंड के नवाब अलीबहादुर के पुत्र थे। इन्होंने एक (अपने नाम से) सतसई बनाई। रचना हीन ही है।

२—**अमीर** ने "रिसालयेतीरन्दाज़ी" रचा।

३—**अब्दुलहादी** ने ऋतुराज कवि के साथ "वसंत विहार नीति" की रचना की।

४—**बख़्तावर ख़ाँ (बिजावर)** ने "धनुष सवैया" लिखा।

५—**ज़हूरबख़्श**—ये अब भी विद्यमान हैं और हिन्दी (सरल) के अच्छे लेखक हैं, इन्होंने बालकों के लिये कई कहानियों की किताबें लिखी हैं।* बाल-साहित्य-रचना में ये अच्छे हैं।

---

* सैयद अमी अली "मीर"—सागर (सी० पी०) के एक प्रसिद्ध कवि हैं। आपका "बूढ़े का ब्याह" नामी अच्छी रचना है। आप में अच्छी प्रतिभा है।

लतीफ़हुसेन—(अब ललित कुमारसिंह) "नटवर" मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार) के अच्छे कवि हैं। खड़ी बोली में अच्छी कविता करते हैं। आपने दो एक छोटी २ पुस्तकें भी लिखी हैं। अब ये शुद्ध होकर हिन्दू हो गये हैं।

—सम्पादक

अंग्रेज़ लेखक

हिन्दी भाषा को देश को भाषा तथा हिन्दी-साहित्य को देश की संस्कृति तथा सभ्यतादि का आगार समझ कर कुछ सुयोग्य अंग्रेज़ों का ध्यान हिन्दी भाषा और उसके साहित्य की ओर गया और उन्होंने दोनों का अध्ययन कर के उनकी महत्ता-सत्ता का ज्ञान प्राप्त किया। इन लोगों में से कुछ ने तो हिन्दी का ऐसा हित किया है, जिसके लिये हिन्दी उनकी ऋणी रह कर उन्हें धन्यवाद दे सकती है।

हिन्दी का प्रचार अंग्रेज़ ईसाइयों के द्वारा भी बहुत कुछ किया गया है, अपने ईसाई धर्म के प्रचार इन्होंने विशेषतया हिन्दी के ही द्वारा करने का प्रयत्न किया है। कुछ ईसाइयों ने हिन्दी में धार्मिक भजनादि भी लिखे हैं और व्याकरण आदि विषयों पर साधारण पुस्तकें भी रची हैं।

अंग्रेज़ों ने प्रथम संस्कृत का अध्ययन किया और उसका महत्व मान कर हिन्दी की ओर ध्यान दिया। इसमें भी जब इन्हें बिहारी तथा तुलसी जैसे महा कवियों एवं कबीर जैसे महात्माओं की रचनायें मिलीं तब तो इनका अनुराग हिन्दी-साहित्य की ओर और भी बढ़ा। कई अंग्रेज़ों ने हिन्दी की प्राचीन पुस्तकों का उद्धार भी किया और खोज कर उन्हें सम्पादित करके प्रकाशित भी कराया।

डा० रुडाल्फ हार्नली (C. I. E.) का जन्म सं० १८९८ में सिकंदरा (आगरा) के पास हुआ। कालेज में प्रोफ़ेसर रह कर ये सरकार की ओर से पुरातत्व-खोज-विभाग में नियुक्त किये गये। इन्होंने उत्तरीय भारत की भाषाओं की खोज की और उनके व्याकरण पर एक विद्वता-पूर्ण लेख लिखा। बिहारी भाषा का कोष और चंद्रकृत रासो भी इन्होंने सम्पादित किये।

फ्रैड्रिक पिनकाट का जन्म इङ्गलैंड में सं० १८९३ में हुआ, ये भारत के भिन्न २ कई प्रान्तों की बोलियों तथा संस्कृत, हिन्दी और उर्दू आदि में अच्छी योग्यता रखते थे। हिन्दी में इन्होंने ७ पुस्तकें सम्पादित कीं। सं० १९५२ में ये यहाँ आकर लखनऊ में मर गये।

सर जार्ज ग्रियर्सन भी भारत की कई बोलियों के पंडित और भाषा-विज्ञान के प्रकांड विद्वान हैं। इन्होंने "लिंगुयिस्टिक सर्वे आफ् इंडिया" नामी भारतीय भाषाओं की खोज-सम्बन्धी एक विस्तृत ग्रंथ कई भागों में लिखा है, जिसमें हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य का भी बड़ा ही खोज-पूर्ण और गंभीर विवरण है। इन्होंने भी छत्र प्रकाश, बिहारीसतसई आदि कई पुस्तकों का सुचारु संपादन किया है। *

मि० जान (ईसाई अंग्रेज) ने "मुक्तिमुक्तावली" नामक ईसाई धर्म के भजनों की एक पुस्तक लिखी और ईसा-चरित्र भी लिखा।

यद्यपि बीम्स जैसे कुछ और अंग्रेजों ने भी हिन्दी की सेवा की है किन्तु उक्त अंग्रेज ही विशेष उल्लेखनीय ठहरते हैं।

स्त्री-लेखिकायें

भक्तिकाल से स्त्रियों ने भी साहित्य-रचना का कार्य प्रारम्भ किया और कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी काव्य की सुन्दर रचनायें कीं।

---

* ग्रियर्सन साहब ने एक संग्रह ग्रंथ "माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ़ नार्दर्न हिन्दुस्तान" के नाम से सं० १९४६ में शिवसिंह-सरोज के आधार पर प्रकाशित किया।

मैथिलीभाषा का व्याकरण, बिहारी कृषकजीवन, पद्मावत, भाषाभूषण, रामायण (तुलसीकृत) रचे और सम्पादित किये। —संपादक

कला-काल में अवश्य ही ये उतना अच्छा तथा अधिक कार्य न कर सकीं, क्योंकि शिक्षा के अभाव से ये रीति-ग्रंथों तथा कला-कौशल पूर्ण सत्काव्यों की सफलता-पूर्वक रचनायें करने में सर्वथा असमर्थ थीं। यह अवश्य है कि ये कला-काल में भी न्यूनाधिक रूप से रचना-कार्य (विशेषतया भक्ति-काव्य-रचना) करती ही रहीं।

उक्त दोनों कालों में प्रायः वे ही देवियाँ रचना-कार्य विशेष रूप से करती थीं जो राजघरानों या धनीमानों अथवा विद्वान-घरों में पली थीं और जिन्हें शिक्षा प्राप्त हो सकी थी। कुछ ऐसी महिलाओं ने भी काव्य-रचना की है जिन्हें कवियों एवं सुयोग्य व्यक्तियों से सम्पर्क-सौभाग्य प्राप्त हो सका था। साधारण घरों की स्त्रियाँ अशिक्षित होकर रचना-क्षेत्र में आ ही न सकती थीं।

इस काल में स्त्री-शिक्षा तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार से स्त्री-समाज में नव ज्ञानालोक फैल गया और साधारण घरों की भी स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त कर साहित्य-क्षेत्र में आ चलीं। गद्य-पद्य दोनों ही में उन्होंने भी पुरुषों के समान कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। अब आशा है कि शीघ्र ही स्त्री-साहित्य विकसित हो कर सुचारु रूप में उपस्थित हो जायगा।

इस काल में पुरुषों की भाँति स्त्री-समाज में भी तीन प्रकार की लेखिकायें हैं—१—वे, जो प्राचीन परम्परा के अनुसार भक्ति एवं नीति आदि के विषयों पर व्रजभाषा में कवितायें लिखती हैं—२—वे, जो देशानुराग तथा कल्पित प्रेमादि के नवीन विषयों पर खड़ी बोली में कवितायें रचती हैं—३—वे जो केवल गद्य-रचना (लेखादि) ही करती हैं।

स्त्री-समाज ने प्रायः पुरुषों की ही रचना-शैलियों तथा विषयों आदि को अपनाया है और उन्हीं के समान साधारण तथा

व्यापक साहित्य की रचना की है; केवल कुछ ही स्त्रियाँ ऐसी हुई हैं जिन्होंने अपने समाज को सामने रखकर स्त्रियोचित साहित्य के निर्माण का विचार करते हुए स्त्री-साहित्य के उपयुक्त विषयों पर लेखनी उठाई हैं। अब स्त्रियों को ऐसी देवियों का अनुकरण कर के स्त्री-साहित्य की स्वतंत्र रूप से रचना करनी चाहिये।

स्त्रियों से रचा गया साहित्य अभी बहुत ही संकीर्ण और केवल कुछ ही विषयों में सीमित है। साहित्य के अन्य अंग—जैसे नाटकादि—अभी उन्होंने उठाये ही नहीं। इधर की ओर कुछ स्त्रियों ने अवश्य ही लेख, उपन्यास, कहानी तथा आलोचनात्मक निबंधादि का लिखना प्रारम्भ किया है, किन्तु अभी कार्य अच्छे रूप से हो नहीं रहा। हाँ जो कुछ भी हो रहा है वह आशाप्रद तथा सराहनीय अवश्य है।

यहाँ हम सूक्ष्म रूप से कुछ प्रधान देवियों का विवरण देकर पाठकों से अपने मित्र श्री पं० ज्योतिप्रसाद 'निर्मल'-सम्पादित "स्त्री-कवि-कौमुदी" नामक पुस्तक के देखने का अनुरोध करते हैं। इसी पुस्तक की भूमिका में हमने स्त्री-साहित्य के ऐतिहासिक विकास तथा उसकी विवेचनालोचना पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

प्रतापकुँवरि बाई—मारवाड-नरेश श्री मानसिंह की रानी थीं। सं० १८८६ में इनका विवाह और ७० वर्ष की अवस्था में (सं० १९४३ में) इनका शरीरान्त हुआ। सं० १९०० से ये विधवा होकर भक्ति-भजन में कालयापन कर चलीं। इन्होंने कई पुस्तकें रचीं, जिनमें से ज्ञान-सागर, प्रेमसागर, प्रताप-पचीसी, राम-गुणसागर, भजन पद हरजस आदि उल्लेखनीय हैं। ब्रजभाषा इनकी सरस, सुन्दर और स्वच्छ है, रचना भी सुन्दर है। इन्होंने राम-काव्य ही विशेष रूप से लिखा है।

सहजोबाई—दूसर-वंश में ये सं० १८०० के लगभग हुईं। ये चरनदास साधु की शिष्या थीं, दयाबाई इनकी गुरु-बहिन थीं। इनकी रचनाओं का संग्रह "सहज-प्रकास" के नाम-से प्रकाशित हो चुका है। इनकी कविता में भक्ति, गुरु-महिमा, प्रेमादि का सुन्दर रस मिलता है, भजन और दोहा विशेष हैं, भाषा सरल ब्रजभाषा ही है।

चिरंजीकुँवरि—गढ़वाड (जौनपुर) के ठा० साहबदीन की पत्नी थीं। सं० १९०५ में इन्होंने "सती-विलास" नामक पुस्तक सती स्त्रियों के विषय में लिखीं। रचना में दोहे-चौपाइयों एवं अवधी भाषा का ही प्राधान्य है। इसीमें इन्होंने अपने पिता तथा श्वसुरादि का भी उल्लेख किया है, कहीं २ कवित्त एवं सवैये भी हैं, जो साधारण हैं।

रत्नकुँवरि बीबी—राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द की पितामही एवं पंडिता थीं। ये योग, ज्ञान, संगीत, फ़ारसी और संस्कृत में अच्छी जानकारी रखती थीं। राजा साहब ने सं० १९४५ में इनकी "प्रेमरत्न" नामक पुस्तक प्रकाशित की, इसमें श्री कृष्ण-लीला विषयक भक्ति-प्रेम-पूर्ण सुन्दर काव्य है। दोहे, चौपाइयों तथा अवधी मिश्रित ब्रजभाषा का प्राधान्य है।

प्रतापबाला का जन्म सं० १८९१ में जामनगर (गुजरात) में हुआ। सं० १९०८ में इनका विवाह जोधपुर-नरेश तख़्तसिंह से हुआ, सं० १९२९ में विधवा होकर ये कृष्ण-भक्ति में लीन हो गईं। इनके पदों आदि का एक संग्रह "प्रतापकुँवरि-रत्नावली" के नाम से प्रकाशित हुआ है, इसमें कुछ अन्य कवियों की भी रचनायें हैं। पद ललित, मधुर (ब्रजभाषा में) और भक्ति-भाव-पूर्ण हैं।

विष्णुकुँवरिबाई—प्रसिद्ध रीवाँ-नरेश श्री रघुराज सिंह की सुपुत्री तथा जोधपुर-नरेश के पुत्रवर की धर्म-पत्नी थीं। इनके

जन्म और विवाह सं० १६०३ और १६२१ में हुए और सं० १६५५ में ये विधवा हो गईं। इन्होंने राम और कृष्ण दोनों की भक्ति पर कविता लिखी है। अवधविलास और राधारास विलास नामी दो पुस्तकें इनकी अच्छी हैं। पद, कवित्त और कुछ दूसरी साधारण छंदें इन्होंने लिखी हैं। भाषा साधारण व्रजभाषा है।

चन्द्रकलाबाई—बूँदी के राज-कवि गुलाबसिंह के यहाँ सं० १६२३ में पैदा हुईं। इन्हें बिसवाँ (अवध) के कवि-मंडल ने "वसुन्धरा-रत्न" की उपाधि दी। इनका पत्र-व्यवहार द्विज बलदेव से था। ये समस्यापूर्ति अच्छी करती थीं तथा कवित्त-सवैये (सभी प्रकार के) कला-कौशल के साथ रचती थीं। ये बड़ी सहृदया थीं। इनकी पुस्तकों में से करुणाशतक, रामचरित्र एवं पदवी प्रकाश मुख्य हैं।

जुगुल प्रिया—ओरछा-नरेश की पुत्री और छतरपुर के नरेश की रानी थीं। आप वैष्णव मतानुयायिनी थीं, राम, कृष्ण, और शिव सभी में आप की भक्ति थी। आपका शरीरान्त सं० १६७८ में हो गया। श्रीयुत कविवर "वियोगीहरि" आप के शिष्य हैं। इनका असली नाम कमलाकुमारी था। जुगुल प्रिया तो इनका उपनाम था, आप की कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। पद बड़ी ही सुन्दर और ललित व्रजभाषा में हैं।

रानी रघुराज कुँवरि (रामप्रिया)—प्रतापगढ़ (यू०पी०) की रानी थीं, आप ने राजा साहब के साथ इंगलैंड में सम्राट और सम्राटी से भेंट की थी। आप सुयोग्या और राम-भक्ति से परिस्नात थीं। आपने कोई पुस्तक नहीं लिखी। भक्तिरस के स्फुट छंद (कवित्तादि) एवं पद आप के मिलते हैं, जो सुन्दर, सरस और सराहनीय हैं। भाषा व्रजभाषा है। कहीं २ छंदोभंग दोष भी मिलता है किन्तु वह क्षम्य है।

रानी रणछोर कुँवरि—रीवाँ-नरेश प्रसिद्ध कविवर विश्व-

नाथसिंह की भतीजी और राजा रघुराजसिंह की चचेरी बहिन थीं। इनका जन्म सं० १६४६ में और विवाह सं० १६६१ में जोधपुर-नरेश से हुआ। आप में कृष्ण-भक्ति खूब थी, अतः भागवत में भी आपका अनुराग था। रचना आपकी साधारण है।

रानी गिरिराज कुँवरि—भरतपुर-नरेश की राज-माता थीं। जन्म एवं शरीरांत स० १६२० और १६८० हैं। सं० १६६१ में इन्होंने "व्रजराज-विलास" की रचना की। समाज-सुधार, राज-नीति, स्त्री-शिक्षा आदि की ओर आप की विशेष रुचि थी। उक्त पुस्तक में उत्सवादि में गाने के लिये सुन्दर शिक्षापूर्ण भजन हैं। भाषा सुन्दर सरल व्रजभाषा है। इन्होंने "पाक-प्रकाश" नामक एक पाक-विद्या की पुस्तक भी लिखी।

इनके अतिरिक्त भी और कई विदुषियों ने काव्य-रचना की है, विस्तार भय से तथा रचना साधारण होने से हम उनका विवरण नहीं दे रहे। अब हम खड़ी बोली में कुछ नवीन शैली की रचना करने वाली देवियों का संक्षेप विवरण देते हैं :—

हेमंतकुमारी (चोधरानी)—पंजाब-विश्वविद्यालय के संस्थापक प० नवीनचंद्र राय * के यहाँ इनका जन्म सं० १६२५

---

* रानी वृषभानु कुँवरि देवी—वर्तमान ओरछा-नरेश की प्रथम रानी थीं। इनके छोटे कुमार बिजावर के राजा हैं। इन्होंने राम-काव्य में कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से दंपति-विनोद-लहरी और भक्तवरदावली उल्लेखनीय हैं। —सम्पादक

* पं० नवीनचन्द्र राय ने पंजाब में हिन्दी का अच्छा प्रचार किया और स्त्री-शिक्षा के भी विस्तार में बहुत सहायता दी। आपने पंजाब में सब से प्रथम "ज्ञान प्रदीपिनी पत्रिका" (हिन्दी उर्दू में) शिक्षा एवं सुधार कार्य के लिये निकाली। इसी के पश्चात् पं० गोपीनाथ का मित्र-विलास (हिन्दी में प्रथम पंजाबी पत्र) तथा फिर "हिन्दू-बांधव" पत्र

में और विवाह सं० १६४८ में (सिलहट-आसाम वासी बा० राजचंद्र चौधरी से) हुआ। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी का आप को अच्छा ज्ञान है। आप ने स्त्री-शिक्षा का स्तुत्य प्रचार-कार्य किया, कई कन्या-विद्यालय खोले। हिन्दी में आपने कई पुस्तकों की रचना भी की। आप गद्य और पद्य दोनों लिखती हैं (खड़ी-बोली ही में) हिन्दी के प्रति इनका यह प्रेम और कार्य सराहनीय है। आपने स्त्रियोचित, शिक्षाप्रद तथा उपयोगी साहित्य की रचना का उद्देश्य रख रचना की है। आदर्श माता, माता और कन्या, सचित्र शिल्पमाला (नवीन ढंग का) आदि पुस्तकें अच्छी हैं। आपकी स्फुट रचनाओं से आपकी काव्य प्रतिभा का भी अच्छा परिचय मिलता है।

रघुवंशकुमारी—दियरा (अवध) राज्य की राजमाता हैं। इनका जन्म सं० १६२५ में हुआ। सं० १६७१ में ये विधवा हो कर भगवद्भक्ति में लीन हो गईं। चित्रकला और शिल्पकला में पंडिता हैं, लंदन की शिल्प-प्रदर्शनी में आपको एक स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ है। साहित्य और संगीत में भी आप प्रवीण हैं। आप ने ३ पुस्तकें रची हैं :—१ भामिनी-विलास (सं० १६६६) गृहस्थी सम्बन्धी विषयों पर। २—वनिता बुद्धि विलास, स्त्री-शिक्षा की उत्तम पुस्तक सरल भाषा में है, ३—सूप शास्त्र या पाक शास्त्र। आपका स्फुट काव्य सुंदर और सराहनीय है। ब्रजभाषा, अवधी तथा ग्रामीण भाषाओं का प्रयोग आपने किया है।

(हिन्दी में) निकले। पंजाब में जो हिन्दी-प्रचार हुआ है, उसका श्रेय इन सज्जनों के अतिरिक्त दिया जाना चाहिये आर्य-समाज तथा देश-प्रसिद्ध नेता लाला लाजपत राय को, इनके व्याख्यानों, ग्रंथों, लेखों (पत्रों) आदि से पंजाब जैसे उर्दू फ़ारसी प्रधान प्रान्त में हिन्दी का प्रचार हो सका है।

सरस्वतीदेवी—सुकवि पं० रामचरित त्रिपाठी के यहाँ (कोइरियापार-आजमगढ़) सं० १९३३ में उत्पन्न हुईं। व्याकरण, काव्य, गणित, अंग्रेजी, बँगला और संस्कृत भी आप जानती हैं। आपका उपनाम "शारदा" है, महाकवि उपाध्याय जी से आपका परिचय है। आपने हिन्दी में कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें से सुन्दरी सुपथ, शारदाशतक, नीति-निचोड़ उल्लेखनीय हैं। आपने स्त्रियोचित साहित्य के रचने का अच्छा प्रयत्न किया और पुरानी शैली से भी कुछ काव्य रचा है। रचना आपकी सर्वथा सराहनीय है।

बुंदेलाबाला—कायस्थ कुलीन लाला परमेश्वर दयाल के यहाँ सं० १९४० में उत्पन्न हुईं। इनका विवाह सं० १९६० में हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान एवं कविवर लाला भगवानदीन जी "दीन" से हुआ। लाला जी से ही इन्होंने काव्य-रचना सीखी। सं० १९६६ में ही आपका शरीरान्त हो गया, अस्तु आप किसी पुस्तक की रचना न कर सकीं। आपकी स्फुट रचनायें बड़ी ही ओजस्विनी, वीररस पूर्ण और शिक्षाप्रद हैं। देश-भक्ति तथा समाज-प्रेम इनमें खूब था, ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में आपने सुन्दर कविता की है।

गोपालदेवी—(जन्म सं० १९४० बिजनौर-निवासी पं० शोभाराम के यहाँ) हमारे परमप्रिय मित्र पं० सुदर्शनाचार्य जी बी० ए० की धर्मपत्नी (विवाह सं० १९५८) हैं। आप वैद्या भी हैं, आपने प्रसिद्ध गृहलक्ष्मी पत्रिका १९ या २० वर्ष तक सम्पादित तथा प्रकाशित की। हिन्दी की आप पुरानी लेखिका हैं, खड़ी बोली में आप रचना भी अच्छी कर लेती हैं। आपका स्वभाव सराहनीय है। आपकी "दिव्यदेवियाँ" पुस्तक उल्लेखनीय है।

रमादेवी—(जन्म सं० १९४०) प्रयाग-निवासी कान्यकुब्जवंशीय पं० रामाधीन दुवे की सुपुत्री और हमारे मित्रवर

पं० चंद्रिकाप्रसाद तिवारी की धर्मपत्नी। तथा श्रद्धेय पं० वेंकटेश-नारायण जी तिवारी (M. A, M. L. C.) की सास हैं। आप ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली में पुरानी और नई, दोनों शैली से अच्छी कविता लिखती हैं। समस्या-पूर्ति में भी आप दक्ष हैं, आपकी रचनाओं में से "अबलापुकार और रमा-विनोद" उल्लेखनीय हैं।

रामेश्वरीनेहरू का जन्म राजा नरेन्द्रनाथ (M. L. A.) लाहौर के यहाँ सं० १९४९ में हुआ। प्रथम इन्होंने अरबी और फ़ारसी पढ़ी फिर अंग्रेज़ी और हिन्दी सीखी। आप पूज्य पं० मोतीलाल जी नेहरू के भतीजे पं० ब्रजलाल नेहरू (I. C. S) की धर्मपत्नी हैं, अतः "ब्रजरानी" भी कहलाती हैं। आपने "स्त्री-दर्पण" नामक पत्रिका का अच्छा संपादन किया। आप सुन्दर, सरल और मुहावरेदार भाषा (खड़ी बोली) और उर्दू ख़ूब लिखती हैं। आपका "सूर्यदेव का आगमनु" नामक उपन्यास सराहनीय है। इसमें शुद्ध हिन्दी का शिष्ट साहित्योचित रूप मिलता है।

कीरतिकुमारी— रीवाँ-नरेश की राजमाता हैं, इनका जन्म सं० १९५२ में हुआ था, आपकी रची हुई पुस्तक "श्री राधाकृष्ण विनोद भजनावली" विशेष उल्लेखनीय है, इसमें जन्म-काल से द्रोपदी-लीला तक कृष्ण के जीवन की सभी घटनायें सुमधुर भाषा में वर्णित हैं, फिर एक भजन-संग्रह भी है। आप ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अच्छी रचना करती हैं।

तोरनदेवी "लली"—(जन्म सं० १९५३) प्रयाग के पं० कन्हैयालाल तिवारी (कान्यकुब्जवंशीय) की सुपुत्री और हमारे मित्रवर पं० कैलाशनाथ शुक्ल (B. A. LL B) लखनऊ की धर्मपत्नी हैं। इनका विवाह सं० १९६६ में बिना ठहरौनी के हुआ। ये खड़ी बोली में इस समय उत्तम कविता लिखती हैं, जिसमें लालित्य, माधुर्य और मौलिकता का गुण सराहनीय मात्रा में मिलता है। नवीन शैली की रचना करने वाली देवियों में हम इन्हें

ऊँचा स्थान देते हैं। इनकी कवितायें प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। सं० १९७१ में इनके एक पुत्र (हरिहरनाथ "सरोज") हुआ, चि० "सरोज" में भी कविता की प्रतिभा मातृक-सम्पदा के रूप में आई है।

सुभद्राकुमारी (चौहान) का जन्म सं० १९६१ में और विवाह ठा० लक्ष्मणसिंह (B. A LL B) के साथ सं० १९७६ में हुआ। खड़ीबोली में कविता लिखने वाली महिलाओं में हम इन्हें अच्छा स्थान देते हैं। इनकी रचनाओं में सरसता, सरलता और स्वाभाविकता रहती है, भाषा भी स्वच्छ और सुव्यवस्थित होती है। प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में इनकी रचनायें प्रकाशित हुई हैं। आपकी कविताओं का संग्रह "मुकुल" नाम से छप चुका है।

इनके अतिरिक्त **महादेवी वर्मा** जैसी अन्य देवियाँ भी खड़ी बोली में अच्छी रचनायें करती हैं। उपन्यास तथा कहानी आदि लिखने वाली महिलाओं में "तेजरानी दीक्षित" का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्री **सुशीला देवी** M A. **फूलवती शुक्ल** (जस्टिस गोकरण नाथ मिश्र की सुपुत्री) और श्री चन्द्रावती त्रिपाठी भी उदीयमान कोविदा और लेखिकायें हैं, हमें इनसे बड़ी आशा है।

विविध विषयक काव्य

संस्कृत साहित्य में प्रायः प्रत्येक विषय (वैद्यक, ज्योतिष, गणित, व्याकरण, कोष आदि) निम्नांकित मुख्य कारणों से प्रथम सूत्र-रचना शैली से लिखा गया था :—

१—क्रम, समय, स्थान, श्रमादि से विषय विवेचन होकर तनिक श्रम और समयादि में कंठाग्र किये जा सकने से।

२—लेखन-सामग्री एवं मुद्रण-यंत्रादि के अभाव से।

३—चिरकाल तक गुरु-शिष्य-परम्परा से रक्षित रक्खे जा सकने से।

यद्यपि कुछ २ गद्य-रचना-शैली का भी उपयोग किया गया किन्तु उसमें सफलता न हुई और वह सुविधा और सरलता भी उसमें न आ सकी, अतः फिर सूत्र-शैली के स्थान पर पद्यात्मक रचना-शैली का प्रचार किया गया, क्योंकि इसमें संगीततत्व भी उक्त गुणों के साथ रहता है, जिससे याद करने और सुदीर्घ समय तक स्मरण रखने में बड़ी ही सरलता होती है, संगीत मानव-मन को स्वभावतः ही प्रिय है, अतएव प्रायः प्रत्येक विषय छंदात्मक शैली से ही लिखा जाने लगा।

हिन्दी में भी इसी पद्यात्मक शैली का प्रचार हुआ, प्रथम तो संस्कृत के अनुकरण में और फिर इसके गुणों के कारण कवि एवं पंडित लोग प्रत्येक विषय के ग्रंथ (रीति-ग्रंथादि) इसी शैली में लिखने लगे। उक्त कारण ही यहाँ भी चरितार्थ हुए और इसका प्रचार-प्रसार खूब हुआ। जब से मुद्रणयंत्रों, लेखन-सामग्री आदि के प्राचुर्य-प्रभाव के साथ गद्य का प्राधान्य एवं प्राबल्य हुआ है तब से यह शैली शिथिल होती हुई अब सर्वथा लुप्त ही सी हो गई है।*

---

* वर्तमान समय में पद्यात्मक रचना-शैली से हमारे प्रातस्मरणीय पूज्यपाद पिता जी श्री पं० कुंजबिहारी लाल जी शुक्ल ने "बिहारी-निदान" (सं० के माधव निदान का पद्यात्मक भाषानुवाद) "बिहारी-शार्ङ्गधर" (सं० शार्ङ्गधर का भाषा पद्यानुवाद), भारत एशिया-भूगोल, इतिहास आदि की रचना की है। हमारे पूज्य भ्राता श्री "रसाल" जी ने अभी "नाट्य-निर्णय" लिख कर (पद्यात्मक नाट्य शास्त्र संक्षिप्त) अग्रवाल प्रेस से प्रकाशित कराया है। अब तक साहित्य में पद्यात्मक नाट्य शास्त्र किसी ने भी कदाचित् नहीं लिखा। —सम्पादक

आधुनिक काल के पूर्वार्ध में कतिपय कवियों ने पद्यात्मक शैली से गणित, स्वरोदय, शालिहोत्र, आदि विविध विषयों पर साधारण रचनायें की हैं। इन पुस्तकों में से बहुतों का तो पता ही नहीं है। बहुत सी प्रकाशित भी नहीं हुईं और जो दो चार प्रकाशित भी हुई हैं वे उल्लेखनीय भी नहीं हैं।

संग्रह, कोषादि

इस काल से पूर्व भी कोषादि की रचना, यद्यपि बहुत ही संकीर्ण रूप में हुई थी और "नाम माल" एवं अनेकार्थ नाम माला जैसी कुछ पुस्तकें बनाई गई थीं। इनकी रचना विशेषतया संस्कृत कोष-रचना की पद्यात्मक शैली से ही की गई थी। आकारादि क्रम से आधुनिक वैज्ञानिक शैली से शब्द-समुच्चय का सुव्यवस्थित संचयन तथा उनके अर्थों एवं प्रयोगादि (व्याकरणात्मक-विवेचना, शब्द-निर्माण-विधानादि) का सांगोपांग विवरण न दिया गया था। यह कार्य इस काल से ही प्रारम्भ हो कर आगे बढ़ा है। सम्भवतः अंग्रेज़ी कोषों की देखादेखी ही इसका प्रचार-प्रसार हुआ है।

जब कोई बोली या भाषा (जन-साधारण की) विद्वानों, एवं सुयोग्य कवियों (लेखकों या आचार्यों) के द्वारा विकसित, परिष्कृत और संस्कार-युक्त बनाई जाकर एक निश्चित, नियंत्रित या संयत रूप से साहित्यिक साँचे में ढाली जाती है, तब उसके कोष की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। जिस प्रकार भाषा के लिये व्याकरण की आवश्यकता है उसी प्रकार कोष की भी है। व्रजभाषा और अवधी हमारे सुयोग्य कविवरों के द्वारा प्रान्तिक रूपों से परिमार्जित की जाकर संस्कृत की सहायता से साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित की गई। व्रजभाषा का अवधी की

अपेक्षा साहित्य क्षेत्र व्यापक तथा सर्वमान्य पूरा प्राधान्य या प्राबल्य हो गया और अवधी दब सी गई। व्रजभाषा ही साहित्य की भाषा होकर प्रचुरता से प्रचलित रही, विशेषतया काव्य-क्षेत्र में।

चूँकि उक्त भाषायें ऐसी प्रान्तीय बोलियों से विकसित हो कर साहित्यिक भाषाओं में रूपान्तरित हुई थीं, जिन्हें समस्त साधारण जनता भली प्रकार सरलता से व्यवहृत कर सकती तथा समझ सकती थी अतएव इनके कोषों की उस समय ऐसी अनिवार्य अथवा महती आवश्यकता न थी। हाँ संस्कृत के जो कुछ शब्द या पद उच्चकोटि के साहित्यिक रूपों में आ जाते थे, उनके लिये साधारण तथा संक्षिप्त कोषों की रचना कर दी गई थी।

इस काल में जब खड़ी बोली का प्रचुर एवं प्रबल प्रचार-प्रसार हुआ और इसी को शिक्षा का माध्यम बना दिया गया तथा उक्त दोनों साहित्यिक भाषायें दुर्बोध सी हो चलीं, साथ ही साथ खड़ी बोली का विकास संस्कृत भाषा की सहायता से विशेष रूप में किया गया (उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य हो गया) तब अच्छे और वृहद् कोषों की आवश्यकता अनिवार्य हो गई।

अंग्रेज़ों को कोषों की ओर भी अधिक आवश्यकता उसी प्रकार पड़ी जिस प्रकार व्याकरण की पड़ी थी। अस्तु अंग्रेज़ों के प्रोत्साहन तथा प्रभाव से नवीन वैज्ञानिक शैली से कोष-रचना का कार्य हो चला। अंग्रेज़ी कोषों को देखकर नये नये कोष रचे गये, किन्तु ये कोष विशेषतया साहित्यिक खड़ी बोली के ही थे। अब तक भी जितने कोष बने हैं सब प्रायः खड़ी बोली के ही ठहरते हैं, व्रजभाषा और अवधी के कोष अब तक नहीं तैयार हो सके, यद्यपि इनकी भी बहुत बड़ी आवश्यकता है क्योंकि हमारा सारा प्राचीन साहित्य इन्हीं भाषाओं में रचा गया है।

इस समय में रचे जाने वाले कुछ प्रधान कोषों तथा उनके संपादकों का सूक्ष्म उल्लेख करके हम संग्रह ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

१—गुलाब कोष—सुकवि गुलाब कृत।

२—नाम सिंध कोष— ,,

३—डिंगल कोष—कविराज मुरारीदास (जन्म १८९५ मृत्यु १९६४—संस्कृत प्राकृत, डिंगल, हिन्दी ज्ञान) कृत

४—विहारी भाषा कोष—डा० रुडल्फ हार्नली C. I. E. कृत

५—निघण्ट भाषा—मदनपाल कृत

६—नानार्थ नव संग्रहावली-सुकवि मातादीन शुक्ल कृत

७—गौरीनागरी कोश—प्रसिद्ध हिन्दी प्रचारक पं० गौरीदत्त* (संन्यासी कृत)

७—श्रीधर भाषा कोष—पं० श्रीधर कृत (परम प्रसिद्ध)

८—मंगल कोष—श्री मङ्गलदीन कृत

९—शब्दार्थ पारिजात—पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी कृत

१०—हिन्दी-शब्द-कल्पद्रुम—पं० रामनरेश कृत

इनके अतिरिक्त कई कवियों ने संस्कृत के अमरकोष का भाषा पद्यानुवाद भी किया है और कुछ लोगों ने छोटे छोटे बालोपयोगी अन्य कोष भी बनाये हैं। अभी काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने

---

* पं० गौरीदत्त (जन्म-सं० १८९३-मृत्यु, सं० १९६२) ४१ वर्ष तक मुदर्रिस रहकर संन्यासी हो गये, अपनी सारी संपत्ति नागरी-प्रचार में लगा दी और नागरी का बड़े प्रबल प्रयत्न से प्रचार करते रहे। सं० १९५१ में सरकारी दफ़्तरों में नागरी के प्रवेश करने का एक मेमोरियल (प्रार्थना-पत्र) सरकार के यहाँ भेजा। नागरी के कई स्कूल खोले खोलवाये, मेरठ-नागरी-प्रचारिणी सभा स्थापित की। स्त्री-शिक्षा की ३ पुस्तकें लिखीं और उसका भी प्रचार किया। —सम्पादक

श्री बा० श्यामसुन्दरदास, प्रो० भगवानदीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल, रामचन्द्र वर्मा, जगमोहन वर्मा, अमीरसिंह, बालकृष्ण भट्ट आदि की एक सम्पादक समिति से **हिन्दी शब्द सागर** नामक एक बृहत् कोष ४ विशद भागों में प्रकाशित किया है। यह कोष "विश्व कोष" के ढंग पर निकाला गया है। अब तक जितने भी कोष प्रकाशित हुए हैं सब से बड़ा और अच्छा है। उक्त सभा इसके लिये बधाई तथा साधुवाद की सर्वथा अधिकारिणी है।*

व्याकरण—इस काल में व्याकरण सम्बन्धी पुस्तकों की भी रचनायें हुईं क्योंकि शिक्षा-विभाग के लिये उनकी आवश्यकता अनिवार्य हुई। अंग्रेजों ने इस कार्य का सूत्रपात किया और खड़ी बोली के कुछ व्याकरण लिखे भी, फिर उनके प्रभाव प्रोत्साहन से अन्य विद्वानों ने भी इस क्षेत्र में कार्य किया। व्याकरण-सम्बन्धी पुस्तककारों में से उल्लेखनीय हैं:—

१—पं० गोबिन्दनारायण मिश्र—(जन्म-सं० १९१६) संस्कृत और हिन्दी के सुयोग्य लेखक थे। द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हुए। शिक्षा सोपान या सारस्वतसर्वस्व आपने रचे। संस्कृत मिश्रित उच्चकोटि की गद्य काव्योचित रचना-शैली में आप ख़ूब लिखते थे। सामासिक और सानुप्रासिक पदावलीपूर्ण गद्य लिखना इनका उद्देश्य था। गद्य-रचना को ये कला मानते थे। व्रजभाषा और संस्कृत दोनों की पदावली काव्य कला के साथ रखते थे। "विभक्ति विचार" नामी व्याकरणात्मक पुस्तक इनकी देखने योग्य है।

२—केशवराम भट्ट (दे चुके हैं) ने "हिन्दी व्याकरण" रचा।

---

* श्री महाकवि "रत्नाकर" जी तथा श्री "रसाल" जी व्रजभाषा कोष और व्रजभाषा-व्याकरण तैयार करने जा रहे हैं। —सम्पादक

३—**अयोध्याप्रसाद खत्री**—खड़ी बोली-गद्य के प्रचार का प्रयत्न किया, खड़ी बोली का प्रचार .खूब किया, सं० १६३४ में एक "हिन्दी व्याकरण" लिखा।

४—**सर ग्रियर्सन**—विहारी बोलियों के व्याकरण।

५—**बीम्स**—हिन्दी व्याकरण (अंग्रेज़ी में)

६—**पं० चन्द्रमौलि शुक्ल**—शुक्ल जी काशी विश्व-विद्यालय में ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसिपल हैं। आप हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के विद्वान तथा हिन्दी के पुराने लेखक हैं। आपने "मनोविज्ञान" (Psychology) की बड़ी ही उत्तम रचना की है। आपने व्याकरण की भी कई सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं।

७—**पं० कामताप्रसाद "गुरु"** ने हिन्दी-व्याकरण का एक सर्वांगपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ लिखा है, जो सर्वोत्तम है।

इनके अतिरिक्त और भी कई सज्जनों ने बालोपयोगी हिन्दी-व्याकरण रचे हैं, जो विशेष उल्लेखनीय नहीं।

व्याकरण के साथ ही हम **भाषा-विज्ञान** को भी ले सकते हैं। यह विज्ञान हमारे यहाँ तो बहुत प्राचीन है, निरुक्त आदि ग्रंथ इसके प्रमाण हैं, पाश्चात्य देशों में यह विज्ञान अभी थोड़े ही समय से विकसित हो चला है। हिन्दी में भी अब हमारे सुयोग्य लेखक इस विषय की पूर्ति करने लगे हैं और अंग्रेज़ी के भाषा-विज्ञान से सहायता लेकर कुछ पुस्तकें भी दो-एक विद्वानों ने रची हैं, इनमें से विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१—**भाषा-विज्ञान**—श्री रा० सा० बा० श्यामसुन्दरदास कृत—(हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास के साथ)।

२—भाषा-विज्ञान—डा० मङ्गलदेव जी शास्त्री, बनारस कृत।
३—भाषाविज्ञान—श्री नलिनीमोहन संन्याल-कृत।

संग्रह ग्रंथ—इतिवृत्ति-अध्ययन तथा उनका संग्रह करना भक्तमाल जैसे ग्रंथों से सूचित किया जा चुका था। भक्ति-काल में संग्रह-ग्रंथ-रचना का जो कार्य हुआ और जो संग्रह तैयार किये गये वे सभी भक्तिभाव से केवल भक्तों के ही विषय में रहे। कला-काल में संग्रह-कार्य न होने के ही बराबर हुआ। सुकविवर कालिदास त्रिवेदी ने एक हजारा* तैयार किया जिसमें भिन्न २ कवियों के १००० छंद हैं। इसमें इतिवृत्ति नहीं, तो भी इससे इतिहास-रचना में बड़ी सहायता मिलती है।

---

* मुख्य २ कवियों की रचनाओं (स्फुट और पुस्तक रूप में) तथा मुख्य २ लेखकों के लेखादि के भी संग्रह ग्रंथ अब प्रकाशित हो रहे हैं। उदाहरणार्थ हम मतिराम और भूषण ग्रंथावली, रहीम-विनोद, आलम-केलि, ठाकुर-ठसक इत्यादि। इसी प्रकार अब कुछ कवियों ने अपनी स्फुट रचनाओं के भी संग्रह प्रकाशित कराये हैं—"सरस संकलन, निर्माल्य, माधवी, त्रिवेणी, नीहार" आदि उल्लेखनीय हैं।

लेख-संग्रहों में से श्रीप्रतापनारायण मिश्र, श्री श्रद्धेय मिश्रबंधुओं, आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख लेखकों के लेख-संग्रह उल्लेखनीय हैं। साहित्यिक-निबंध-संग्रहों (जिनमें भिन्न भिन्न सुलेखकों के साहित्यिक लेखों का संचयन किया जाता है) में से "परिषद निबंधावली, तुलसीग्रंथावली भाग १ आदि उल्लेखनीय हैं।

इस काल में कुछ संग्रह ग्रंथ ऐसे भी निकले हैं जिनमें किसी एक प्रधान कवि अथवा कुछ प्रमुख कवियों की रचनाओं में से कुछ चुनी हुई रचनायें ही रक्खी जाती हैं। ऐसे संग्रह प्रायः विद्यार्थियों के ही लिये रहते हैं।

—संपादक

इस काल में संग्रह-ग्रंथ भिन्न२ उद्देश्यों से तैयार होने लगे, यदि किसी ने धार्मिक भक्ति-भाव से भक्ति-विषयक पदों का संग्रह किया तो किसी ने शृंगारात्मक मुक्तक काव्य के भाव से और किसी ने इतिवृत्ति के साथ ही साथ कवि-काल के भाव से। अस्तु इस काल में कई संग्रह-ग्रंथ तैयार हुए जिनमें उल्लेखनीय ये हैं—

१—**रागसागरोद्भव, रागकल्पद्रुम**—(सं० १९०० के लगभग) २०५ भक्त कवियों के पद हैं। कृष्णानन्द व्यास संपादित।

२—**दिग्विजयभूषण**—(सन् १८६६) गोकुलप्रसाद कायस्थ रचित १९२ कवियों का संग्रह।

३—**रसचंद्रोदय**—२४२ कवियों का संग्रह १८६३ में ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी रचित।

४—**शृंगार रत्नाकर**—सं० १९३१ में वेणीसिंह ठाकुर रचित (लुप्त)।

५—**शिवसिंहसरोज**—कांथा (उन्नाव) के ज़मींदार ठा० रणजीतसिंह के सुपुत्र ठा० शिवसिंह (जन्म सं० १८९० और ४५ वर्ष में शरीरपात) इंस्पेक्टर पुलीस ने संग्रहीत किया। सेमर जी के यहाँ एक बहुत बड़ा हिन्दी, फ़ारसी और संस्कृत की पुस्तकों का भण्डार था। इन्होंने ब्रह्मोत्तरखंड और शिवपुराण का गद्य में अनुवाद किया, ये कविता भी करते थे, किन्तु रचना साधारण ही होती थी। इनका सरोज बहुत ही प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रंथ है, इसी के आधार पर हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा जा सका है। इसमें प्रायः १००० कवियों का सूक्ष्म परिचय (नाम, जन्मकालादि) सोदाहरण दिये गये हैं।

६—**कविकीर्तिकलानिधि**—नकछेदी तिवारी ("अजान") कृत है। इसमें बहुत से कवियों के नाम, पते और उनकी

पुस्तकों का उल्लेख किया गया है। इतिहासकारों को इससे भी बड़ी सहायता मिली है। तिवारी जी साधारण कवि थे, इन्होंने मनोज-मञ्जरी और भँडौवा दो काव्य-संग्रह और रचे, लछिराम की जीवनी, वीरोल्लास तथा खड्गावली भी लिखे।

७—**रसखान शतक, प्रतापसंग्रह**—पं० प्रतापनारायण मिश्र कृत।

८—**शृंगार संग्रह**—स्फुट मुक्तक छंदों का संग्रह।

९—**मिश्रबन्धु-विनोद**—श्रद्धेय पं० श्यामविहारी, श्री शुकदेव विहारी और श्रीगणेश विहारी मिश्र कृत। सरोज आदि के आधार पर एक परम सुन्दर, प्रामाणिक और प्रधान ऐतिहासिक विवेचनामय संग्रह। हिन्दी-संसार इससे परिचित ही है।

१०—**हिन्दी-कोविद रत्नमाला**—सुकवियों एवं सुलेखकों का एक सुन्दर सचित्र संग्रह, रा० सा० बा० श्यामसुन्दरदास-सम्पादित।

११—**कविता-कौमुदी**—सरोज तथा विनोद के आधार पर दो भागों में कवियों के सूक्ष्म परिचय तथा काव्योदाहरणात्मक संग्रह पं० रामनरेश त्रिपाठी-सम्पादित। संग्रह साधारण ही है।

१२—**ब्रजमाधुरी-सार**—श्री वियोगीहरि-संग्रहीत, भक्त कवियों का संग्रह।

इनके अतिरिक्त और भी कुछ संग्रह ग्रन्थ हैं, किन्तु वे विशेष उल्लेखनीय नहीं। सर ग्रियर्सन के संग्रह का उल्लेख हो चुका है। मिठरेसी ने सन् १८३९, ४६ और १८७० में हिन्दी साहित्य का इतिहास विनोद के समान लिखा*

---

* त्रिवेदी जी के समान मो० हाफ़िज़उल्ला खाँ ने भी एक हज़ारा तैयार किया जो प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त कुछ संग्रह ग्रंथ और भी हैं जो उल्लेखनीय हो सकते हैं :—

हिन्दी-प्रवर्धिनी संस्थायें

आधुनिक काल में जब से हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य (विशेषतया गद्य-साहित्य) का विकास-प्रकाश प्रारम्भ हुआ है तभी से हिन्दी-हितेच्छुओं ने संगठनात्मक कार्य करना भी न्यूनाधिक रूप से प्रारम्भ किया है। प्रथम प्राचीन शैली के काव्यकारों ने, राज-दरबारों तथा धनीमानी-समाजों में अंग्रेज़ी के प्राचुर्य-प्राधान्य तथा हिन्दी के शैथिल्य को देख कर, भिन्न २ स्थानों में संगठित होकर कुछ कवि-मंडल या कवि-समाज स्थापित किये, जिनमें समस्या-पूर्ति का ही विशेष कार्य कवि-सम्मेलनों के साथ होता रहा। इनकी देखादेखी खड़ीबोली के प्रचारकों ने भी इसी प्रकार संगठनात्मक कार्य करना प्रारम्भ किया और कई प्रधान स्थानों में हिन्दी-प्रचारिणी संस्थायें स्थापित कीं। कवि-समाजों का सूक्ष्म विवरण या उल्लेख प्रथम किया जा चुका है। उनके सम्बन्ध में यहाँ बस इतना और कहना है कि उनमें से किसी समाज ने भी बहुत संतोषप्रद सफल कार्य (रचनात्मक और प्रचारात्मक) नहीं कर पाया, केवल प्राचीन

१—सार-संग्रह—(सं०१६६० में प्रवीण कवि कृत)१२०कवियों की रचनाओं का संग्रह। यह नहीं छपा।

२—कवि-माला—(१७१८ सं०) सत्कविगरा विलास (सं० १८०३) विद्वन्मोदत तरंगिणी (१८७४सं०)

३—महिलामृदुवाणी
४—राजरसनामृत } काव्य-संग्रह मु० देवीप्रसाद संग्रहीत।

श्री पं० वैद्यनाथ मिश्र "विह्वल" ने एक सुन्दर काव्य-संग्रह-ग्रंथ तैयार किया है जिसमें एक २ विषय पर भिन्न २ कवियों की सुन्दर रचनायें रक्खी गई हैं। यह शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

शैली की काव्य-परम्परा को समस्यापूर्ति के साधन-द्वारा कुछ प्रगतिशील कर रक्खा है। हिन्दी-प्रचारिणी संस्थाओं ने अवश्यमेव बड़े बल-वेग और तल्लीनता से कार्य किया, जिससे उन्हें हिन्दी-प्रचार के कार्य में बड़ी ही संतोषप्रद सफलता मिली और उनके प्रवल तथा अथक अध्यवसाय से हिन्दी (खड़ी बोली) को राजकीय दफ़्तरों, स्कूलों, कालेजों और अब विश्वविद्यालयों आदि में भी सम्मान-पूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने का सर्वमान्य गौरवपूर्ण अधिकार मिल गया, उसका प्रचार-प्रस्तार सारे देश में हो गया तथा उसका साहित्यागार विविध विषयक सुग्रंथों से परिपूर्ण होता हुआ समृद्धि-वृद्धिशाली हो चला है।

हिन्दी-प्रचारिणी संस्थाओं के अनवरत प्रचुर प्रयास के आगे कवि-समाजों में शिथिलता आने लगी और वे बहुत ही हीन दशा को प्राप्त हो गईं, हाँ उनकी सत्ता का नितांत लोप अवश्यमेव अब तक न हो सका। अब भी कई स्थानों में ऐसे कवि-मंडल विद्यमान हैं जो काव्य-प्रचार का कार्य कर रहे हैं, इन मंडलों में से स्थानीय रसिक-मंडल* साहित्य

---

* रसिक मंडल की स्थापना पूर्ण रूप से सं० १९८४ में हुई, इसके संस्थापक श्री देवशरण शर्मा "कंज" श्रीरामचन्द्रमालवीय "मधुप" श्री रसाल जी तथा श्री "सरस" जी हैं। इसके स्थायी सभापति सुप्रसिद्ध डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी, उपसभापति श्री बा० संगमलाल अग्रवाल ऐडवोकेट, श्री रसाल जी, मंत्री श्रीयुगलेश, श्री सरस, कोषाध्यक्ष श्री डा० कृष्णराम झा, संरक्षक श्री 'रत्नाकर' जी, श्री बा० हरीराम अग्रवाल (रईस)। इसके साथ श्री पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय, श्री सनेही जी, श्री प्रो० भगवानदीन, श्री पं० कृष्णविहारी मिश्र, श्री० पं० देवीदत्त शुक्ल आदि प्रायः सभी प्रसिद्ध हिन्दी-विद्वानों की सहानुभूति है। इसकी ओर से "उद्धव-शतक" (श्री रत्नाकरकृत) श्रीरसाल जी के द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो रहा है।

—सम्पादक

गोष्ठी, कानपुर के कवि-मंडल तथा बनारस का कवि-मंडल विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से रसिक-मंडल ब्रजभाषा काव्य का प्रचार-प्रसार एवं संरक्षण विशेष रूप से कर रहा है, एतदर्थ वह प्रति पूर्णिमा को सम्मेलन, व्याख्यानादि करता हुआ प्रकाशन कार्य भी करता है। अन्य मंडल प्रायः खड़ी-बोली काव्य का ही विशेष प्रचार करते हैं और प्रकाशन-कार्य नहीं करते।

हिन्दी-प्रचारिणी संस्थाओं में विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१—मेरठ-नागरी-प्रचारिणी सभा—पं० गौरीदत्त की स्थापित की हुई।

२—काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा—यह परम प्रसिद्ध और सफल कार्यकारिणी संस्था है। सं० १९५० में इसकी स्थापना कुछ उत्साही छात्रों ने की, जिनमें रा० सा० बा० श्यामसुन्दर दास बी० ए०, रा० सा० ठा० शिवकुमार सिंह* पं० रामनारायण मिश्र मुख्य हैं। इसकी वृद्धि-समृद्धि का श्रेय वस्तुतः बाबू श्यामसुन्दर दास ही को है, उन्हीं के त्याग और सतत श्रम का यह फल है। इसके दो मुख उद्देश्य हैं:—१—नागरी वर्णों का प्रचार और २—हिन्दी-साहित्य की समृद्धि-वृद्धि। दोनों में इस सभा को पूर्ण सफलता मिली है। व्याख्यानों, पर्चों तथा डेपूटेशनों के द्वारा इसने नागरी का प्रचार-कार्य अच्छा किया। सं० १९५५ में इसने अयोध्या-नरेश श्री प्रतापनारायणसिंह, मांडा के नरेश श्री रामप्रसादसिंह, आवागढ़-राजा श्री बलवंत सिंह, डा० (सर) सुन्दरलाल, पूज्य पं० मदनमोहन-

---

* हमारे पूज्यपाद पिताजी श्री प० कुंजविहारीलाल शुक्ल के परम मित्र है, आप इस समय बनारस में डिप्टी इंसेक्टर आफ़ स्कूल्स हैं।

—सम्पादक

मालवीय आदि सुप्रसिद्ध महानुभावों का एक डेपूटेशन (या मेमोरियल) लार्ड साहब के पास भेजवाया। पूज्य मालवीय जी ने "अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा" नामक एक बड़ी पुस्तक अंग्रेज़ी में लिख यह सिद्ध किया कि नागरी को सरकारी दफ़्तरों तथा स्कूलों में रखना अनिवार्य है, यह आन्दोलन सफल हुआ और सं० १९५७ में सरकार ने हिन्दी को अपना लिया।

इस कार्य के पश्चात् सभा ने साहित्य-संरक्षण और संवर्धन का कार्य उठाया। इसके विद्वान सदस्यों ने हिन्दी के प्राचीन ग्रंथ भी सुसंपादित कर प्रकाशित किये और साहित्य के विविध अंगों पर प्रकाश डालने वाले नये सद्ग्रंथ तैयार कराये। सं० १९६३ में सभा ने विज्ञान-शिक्षा की सहायता के लिये, विद्वानों से "विज्ञान-कोश" निकाला। हिन्दी का एक उत्तम व्याकरण तथा एक बृहत् कोश (हिन्दी शब्दसागर) इसे अमर करने वाले स्थायी ग्रंथ हैं। सभा ने एक नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भी निकाली है, जिसमें सभी गंभीर तथा मुख्य विषयों पर खोज-पूर्ण लेख रहते हैं। भिन्न २ स्थानों में इस सभा की शाखायें भी हैं।

३—**हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन**—प्रसिद्ध नेता बा० पुरुषोत्तमदास के अथक श्रम से यह स्थापित हुआ। यह भी एक बहुत बड़ी और देश-प्रसिद्ध संस्था है। इसके सभापति महात्मा गांधी भी हो चुके हैं। इसने अपनी परीक्षाओं के द्वारा हिन्दी-साहित्य-ज्ञान को देश में फैला दिया और हिन्दी का बहुत व्यापक प्रचार किया है, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में इसका सफल श्रम सर्वथा सराहनीय है। इसकी ३ मुख्य परीक्षायें हैं:—प्रथमा, मध्यमा (विशारद) उत्तमा (रत्न) जिनमें उत्तीर्ण होकर हमारे सुयोग्य नवयुवक हिन्दी-हित कर रहे हैं। इसकी भी कतिपय शाखायें हैं और कतिपय प्रमुख स्थानों में इसके परीक्षा-केन्द्र भी हैं। इसने हिन्दी-साहित्य-शिक्षा के लिये "हिन्दी विद्यापीठ" खोला है:—

इनके अतिरिक्त और भी कतिपय संस्थायें कार्य कर रही हैं यथा नागरी-प्रचारिणी सभा, आगरा आदि। ये कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं। *

हिन्दी की पत्र-पत्रिकायें

पुरातत्ववेत्ताओं ने खोज के आधार पर यह मत निश्चित किया है कि स्वामी शंकराचार्य के समय में भी यहाँ आजकल ही के समान प्रेस या मुद्रणयंत्र तथा कला का प्रचार था। सं० १८३७ (वारन हेस्टिंग्स के काल) के लगभग में बनारस-प्रान्त के एक स्थान में खोदने से मिले हुए दो प्रेसों के देखने से यह प्रमाणित भी हो गया है। इसके साथ ही यह भी निश्चित ही सा है कि मध्य काल या मुसलमानी शासन-काल से अंग्रेज़ी-काल के प्रारम्भ तक यहाँ मुद्रण-कला का प्रचार न हुआ था। हम इस विषय पर प्रथम ही प्रकाश डाल चुके हैं।

मुग़ल-काल में शाही हुक्मों के सूचनार्थ जो लिखे हुए घोषणा-पत्र होते थे उन्हें अख़बार कहते थे, किन्तु आजकल के

---

* महिला विद्यापीठ—यह महिलाओं में हिन्दी-साहित्य तथा गृह-कला-कौशल आदि स्त्रियोपयोगी विषयों के प्रचारार्थ प्रयाग में प्रसिद्ध त्यागीनेता बा० पुरुषोत्तमदास टंडन और हमारे परम मित्र बा० संगमलाल अग्रवाल के अदम्य-उद्योग से स्थापित हुई है। यह भी हि०-सा०-स० की भाँति परीक्षा लेनेवाली संस्था है, इसकी मुख्य परीक्षायें हैं:—१—प्रवेशिका २—विनोदिनी ३—विदुषी ४—सारस्वती। यह भी परम प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित संस्था मानी जाती है। इसके उद्योगान्दोलन से स्त्री-संसार में हिन्दी-साहित्य का अच्छा आलोक फैल गया है और उसमें नवजीवन का विकास भी हो चला है।

समान समाचार-पत्र प्रथम यहाँ न थे। अंग्रेज़ों के प्रभाव से ही यहाँ पत्र-पत्रिकाओं का चलन हुआ है। हिन्दी में सब से प्रथम पत्र सं० १६०२ में राजा शिवप्रसाद की सहायता से "बनारस" अख़बार के नाम से निकला *। इसमें उर्दू-हिन्दी-मिश्रित भाषा रहती थी, इसी से इसका आदर जनता में विशेष न हुआ। अब लोगों में पत्रों से रुचि और मैत्री सी हो चली थी और इसी से पत्रों की आवश्यकता एवं माँग भी बढ़ रही थी। लोग पत्रों में अच्छी और साधु हिन्दी भाषा देखना चाहते थे, अतः कतिपय उत्साही और योग्य सज्जनों ने साधु हिन्दी में ही पत्र निकालने का प्रयत्न किया। हिन्दी के प्रचार का कार्य भी पत्रों का मुखापेक्षी हुआ, क्योंकि पत्र ही इसके लिये उपयुक्त तथा उपादेय साधन हैं।

हिन्दी के रूप-निश्चय का जो विवाद-पूर्ण झगड़ा गद्य-रचना के क्षेत्र में चला उसका प्रभाव पत्रों पर भी पड़ा, किन्तु तनिक समय में ही अनुभवी और दूरदर्शी सम्पादकों को यह ज्ञात हो गया कि पत्रों की भाषा एक विशेष रूप की ही होनी चाहिये। उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा उनके लिये उपयुक्त नहीं, पत्रों का प्रचार तभी व्यापक और विशद रूप से हो सकता है जब उनकी भाषा ऐसी ही हो जिसे जनता (साधारण तथा शिष्ट) सरलता से समझ सके और जिसमें मनोरंजक समाकर्षण भी

---

* कुछ लोग इसकी भाषा को हिन्दी के कुछ शब्दों से मिश्रित उर्दू ही कहते हैं और यह बहुत कुछ सही भी है। राजा साहब ऐसी भाषा इसीलिये इसमें रखते थे, चूँकि पत्र-पाठक प्रायः वे ही शिक्षित जन होते थे, जिनमें उर्दू का ही, जो उस समय दफ़्तरों तथा शिष्ट समाज में प्रचलित थी, प्रयोग-प्राचुर्य था। यह पत्र घटिया काग़ज़ पर नागरी-अक्षरों में लीथो प्रेस से छपता था।

—सम्पादक

हो। हाँ साहित्यिक पत्रों में भले ही उच्चकोटि की भाषा रक्खी जा सकती है। इसी विचार से सम्पादक-प्रवर पत्रोपयोगी भाषा का रूप तथा उसकी उपयुक्त शैली भी निश्चित कर चले।

आधुनिक हिन्दी का विकास जिस प्रकार काशी से ही मुख्यतया प्रारम्भ हुआ, उसी प्रकार पत्रों का प्रकाशन एवं संपादन-कार्य भी प्रथम वहीं से प्रारम्भ होकर प्रान्त में फैला है। राजा साहब ने समाचार-पत्रों का यदि श्रीगणेश किया, तो भारतेन्दु बाबू ने साहित्यिक पत्रों का। इसी समय से साप्ताहिक, मासिक और दैनिक रूपों में भी पत्र-प्रकाशन की परम्परा का कार्य चला है।

बनारस-अख़बार से जनता को असंतुष्ट होते और भाषा में उर्दू-प्रभाव को आते देख बा० तारामोहन मित्र आदि ने सं० १६०७ में "सुधाकर" पत्र निकाला। सं० १६०६ में आगरे से मुंशी सदा-सुखलाल से संपादित हो "बुद्धिप्रकाश" निकला, इसकी भाषा उस समय बहुत अच्छी थी। राजा लक्ष्मणसिंह ने भी सं० १६१८ में "प्रजाहितैषी" पत्र आगरे से निकाला।

सं० १६२५ में भारतेन्दु बाबू ने "कविवचन-सुधा" नामक एक साहित्यिक मासिक पत्र निकाला, इसकी भाषा, शैली तथा विषयावली प्रायः सभी गंभीर तथा उन्नत रहती थी। गद्य और पद्य दोनों संतोषप्रद रूप से इसमें रहते थे। यही पत्र पाक्षिक होकर फिर साप्ताहिक हुआ और पं० चिंतामणि के द्वारा १६४२ तक चलाया गया। सं० १६३० में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (फिर हरिश्चन्द्र-चंद्रिका) नामक मासिक पत्रिका निकाली, जिससे परिष्कृत तथा प्रौढ़ हिन्दी जनता के सामने आ उपस्थित हुई। अब तो पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन बढ़ चला और कलकत्ता, प्रयाग, लाहौर, लखनऊ, जयपुर आदि भिन्न भिन्न स्थानों से साप्ताहिक, मासिक एवं दैनिकादि पत्र निकलने लगे। कुछ पत्रों का (विशेष-

तथा साप्ताहिक, एवं दैनिकादि का) उद्देश्य विशेष रूप से समाचार एवं देश की सामाजिक तथा राजनैतिक बातों का ही देना रहा। कुछ पत्रों (मासिकादि) का उद्देश्य साहित्य-सेवा और हिन्दी-प्रचार रहा, इसी प्रकार कुछ के धार्मिक जाग्रति और समाज-सुधार सम्बन्धी उद्देश्य रहे। स्त्री-शिक्षा का प्रचार ज्यों २ बढ़ा त्यों ही त्यों स्त्रियोपयोगी पत्र भी निकलने लगे।

पत्र-पत्रिकाओं का श्रेणी-विभाग हम कई प्रकार से कर सकते हैं। यहाँ हम सुविधा के लिये कुछ प्रमुख उद्देश्यों से इनका श्रेणी-विभाग करते हैं :—

१—प्रकाशन-अवधि के आधार पर :—

क—त्रैमासिक—नागरी-प्रचारिणी, समालोचक, सम्मेलन-पत्रिका आदि

ख—मासिक—माधुरी, सरस्वती, चाँद, शक्ति, विशाल-भारतादि

ग—पाक्षिक—साहुमित्रादि

घ—साप्ताहिक—अभ्युदय, भारत, प्रताप, भविष्य आदि

ङ—अर्धसाप्ताहिक—भारत, आदि

च—दैनिक—आज, वर्तमान, भारतमित्रादि

२—भाषा-भेद से :—

१—हिन्दी—उक्त सभी पत्र-पत्रिकायें।

२—उर्दू—चाँद आदि, ज़माना, उर्दू (खोज विषयक)

३—संस्कृत—सुप्रभातमादि

४—अंग्रेज़ी—लीडर आदि

५—अन्य प्रान्तीय बोलियों या भाषाओं के पत्र

३—उद्देश्याधार :—

क—समाचार पत्र (राजनैतिक, नीति-प्रधान)

ख—सामाजिक—कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, रस्तोगी, साहु-मित्र, क्षत्रिय-मित्रादि जातीय पत्र।

ग—धार्मिक—आर्यमित्र, शुद्धि, सनातनधर्मपत्रिकादि

घ—स्त्रियोपयोगी—गृहलक्ष्मी, स्त्री-दर्पणादि

ङ—बालोपयोगी—बालक, बालसखा, विद्यार्थी, शिशु

च—विद्यार्थ्युपयोगी—कालेज और स्कूलों की मैगज़ीनें।

४—विषय-भेद से—

क—साहित्यिक—१—काव्यात्मक—"सुकवि" आदि

२—आलोचनात्मक—समालोचक

३—गद्यपद्यात्मक—माधुरी, सरस्वती आदि

४—वैज्ञानिक—विज्ञान आदि

५—वैद्यक—सुधानिधि आदि

६—औपन्यासिक—जासूस, गल्पमालादि

७—स्फुट-साधारण तथा कई विषयों वाले

ख—साधारण—साधारण जनता के लिये साहित्य की साधारण बातों पर यथा समय एवं यथा-स्थान यथोचित प्रकाश डालने वाले पत्र।

इनके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के पत्र निकल रहे हैं, जो यहाँ उल्लेखनीय नहीं। यह स्पष्ट ही है कि अब विविध विषयक पत्र भिन्न २ उद्देश्यों से अपनी २ नीति-वैशिष्ट्य से भिन्न २ रूपों में निकल रहे हैं। इस काल में पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में बहुत सराहनीय उन्नति हुई है। इन सभी पत्र-पत्रिकाओं से हिन्दी-प्रचार तथा हिन्दी-साहित्य की समृद्धि-वृद्धि में बहुत बड़ी सहायता मिली है, अतः ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं। इनसे यह भी प्रगट होता है कि जनता की रुचि अब विविध विषयोन्मुखी हो गई है।

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं ने खड़ीबोली के गद्य और पद्य दोनों का इतना प्रचुर और सफल प्रयत्न कृत प्रबल-प्रचार किया है कि सारे हिन्दी-संसार में खड़ी बोली की ही सब प्रकार प्रधानता हो

गई है, अतः खड़ीबोली इनकी सदा ऋणी रहेगी। कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने खड़ीबोली के काव्य का प्रचार ब्रजभाषा-काव्य को वहिष्कृत तथा उसपर व्यर्थ दोषारोपण सा करते हुए भी किया है, यह उचित नहीं।

अब हम कुछ प्रधान पत्रों, उनकी भाषा-शैलियों आदि की सूक्ष्म आलोचना देते हुए, पत्र-पत्रिकाओं के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डालेंगे।

ऐतिहासिक विकास—हम यह लिख ही चुके हैं कि सं० १६०२ से "बनारस अख़बार" ने निकल कर समाचार-पत्रों तथा सं० १६२५ से "कविवचनसुधा" और सं० १६३१ से "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" ने निकल कर साहित्यिक पत्रों की परम्परा या वंशावली प्रारम्भ की। इस समय से सं० १६५० तक बहुत सी पत्र-पत्रिकायें हिन्दी संसार में आ गईं। इनमें से कुछ तो थोड़े ही दिन तक चलकर बंद हो गईं और कुछ कई वर्षों तक चलीं। केवल कुछ ही पत्र ऐसे हैं जो उस समय से (जब से वे प्रकाशित हुए) अब तक बराबर किसी न किसी प्रकार चलते ही आये हैं और अब भी चल रहे हैं। कुछ ही पत्र ऐसे हुए कि उनके द्वारा हिन्दी-गद्य-रचना के क्षेत्र में कुछ विशेष प्रकार की ऐसी प्रधान शैलियाँ प्रचलित हुई हैं, जिनका अनुकरण अब तक किया जा रहा है।

इस समय के समाचार-पत्रों में से भारत-मित्र, हिन्दी प्रदीप, उचितवक्ता, ब्राह्मण, हिन्दोस्तान, मित्र-विलास, आर्यदर्पण, आनंद-कादम्बिनी, भारत-जीवन, पीयूषप्रवाह विशेष उल्लेखनीय हैं:—

आनंदकादम्बिनी—पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' से सम्पादित हो सं० १६३८ में मिर्ज़ापुर से निकलने वाली मासिक पत्रिका थी, इसे उपाध्याय जी ने अपने विचारों तथा अपनी भाषा-शैली आदि के ही प्रचलित करने तथा फैलाने के लिये निकाला था। इसमें अन्य लेखकों के लेख बहुत ही

भारत-मित्र—सं० १९३४ से साप्ताहिक रूप में पं० दुर्गाप्रसाद आदि के प्रयत्न से निकला, यह उत्तम साप्ताहिक पत्रों में सर्व प्रथम है। इसके लेखादि हास्य-पूर्ण तथा गंभीर होते हुए रोचक और मनोरंजक होते थे, अस्तु इसका प्रचार विशेष हुआ। कुछ काल तक यह दैनिक भी रहा। यह अब तक चल रहा है।

हिन्दीप्रदीप—सं० १९३४ में इसे हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक पं० बालकृष्ण भट्ट ने * प्रयाग से निकाला। भट्ट जी एक विशेष रचना-शैली के प्रवर्तक कहे जाते हैं। गद्य-साहित्य के प्रचार-प्रवर्धन के उद्देश्य से यह निकला था तौभी इसमें सामयिक बातों की पूरी पुट रहती थी। सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक सभी प्रकार के लेख इसमें प्रौढ़, परिष्कृत तथा साहित्यिक हिन्दी की गंभीर और रोचक शैली में रहने थे। इससे गद्य में प्रबंध या

कम रहते थे। इसकी भाषा तथा शैली, जैसा हम उपाध्याय जी के प्रसंग में कह चुके हैं, काव्यमय, प्रौढ़ और पांडित्य-पूर्ण रहती थी। इन्होंने "नागरी नीरद" नामी एक पत्र और निकाला, इसमें लेख क्या लेख-शीर्षक भी सानुप्रासिक और काव्योचित रहते थे, इन दोनों पत्रों को हम "गद्य-काव्य-पत्र" कह सकते हैं। —सम्पादक

* भट्ट जी का जन्म सं० १९०१ में प्रयाग में हुआ था, इनके लेखों (हिन्दी-प्रदीप वालों) के अतिरिक्त, बालविवाह, पद्मावती, चंद्रसेन, शर्मिष्ठा, नामक नाटक उत्तम हैं। १—सौ अजान का एक सुजान २—कविराज की सभा ३—रेल का विकट खेल ४—नूतन ब्रह्मचारी, जैसा काम वैसा परिणाम आदि शीर्षक लेख या उपन्यासादि सुन्दर हैं। —सम्पादक

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने नं० २ और ३ को मुंशीज्वालाप्रसाद तथा मुं० कमलाप्रसाद लिखित तथा हरिश्चन्द्र मैगज़ीन में प्रकाशित लेख लिखा है (हि० सा० इ० पृ० ५२२) यहाँ विनोद के अनुसार ही लिखा है। —सम्पादक

निबंध की रचना-शैली का अच्छा प्रचार तथा विकास हुआ है। भट्ट जी की भाषा में कहावतों तथा मुहावरों का अच्छा उपयोग मिलता है, हाँ विशेषता मुहावरों की ही है। व्यंग्य, वैचित्र्य आदि गुण भी भाषा को मनोरंजक बनाने के लिये ख़ूब रहते हैं। पूर्वीय प्रयोग, वाक्य-दीर्घता, फ़ारसी की पदावली और उक्ति-वक्रता भी उनकी भाषा में मिलती है। अंग्रेज़ी-शिक्षित जनता को हिन्दी-प्रेमी बनाने में ही ये अपने लेखों के द्वारा सदा प्रयत्नशील रहते थे, इसी से कोष्टकों में हिन्दी-शब्दों के विशेष पर्याय शब्द अंग्रेज़ी में दे देते थे। इनके लेख छोटे किन्तु मार्के के होते थे। प्रदीप के द्वारा इन्होंने संस्कृत-साहित्य की ओर भी पाठकों को आकर्षित किया है। यह मासिक पत्र ३२ वर्ष तक चल कर बंद हो गया।

ब्राह्मण—कानपुर से उक्त श्री पं० प्रतापनारायण जी मिश्र ने हिन्दी प्रचार के लिये इसे निकाला (सं० १९३९)। इसमें मिश्र जी के व्यंग्य, हास्य एवं विनोद पूर्ण, सजीव और चटकीले लेख रहते थे। भाषा में ग्रामीण कहावतों और मुहावरों का भी अच्छा उपयोग पाया जाता है। विविध विषयों, जैसे देश-दशा, समाज-सुधार, हिन्दी-प्रचार, मनोरंजक बातें आदि पर भी लिखते हुए वे अपनी विनोद-प्रियता का परिचय देते थे। उनकी शैली अपना एक स्वतंत्र स्थान रखती है। गंभीर विषयों में भाव-गांभीर्य, प्रौढ़त्व, और विद्वत्ता का संयत और साधु रूप से समावेश रहता था। इसमें गद्य और पद्य दोनों, हिन्दी प्रदीप के समान रहते थे।

हिन्दोस्तान—राजा रामपाल सिंह का पत्र था, (सं० १९४०) सं० १९४२ तक तो अंग्रेज़ी में, दो मास तक अंग्रेज़ी और हिन्दी में, फिर १ वर्ष तक अंग्रेज़ी, हिन्दी और उर्दू मे यह मासिक रूप में निकला। १० मास तक यह इंगलैंड से निकला, सं० १९४२ से दैनिक हुआ। इसके सहायक संपादक रहे पूज्य मालवीय जी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बा० अमृतलाल चक्रवर्ती,

बा० बालमुकुंद गुप्त। राजा साहब के शरीरान्त से इसका भी अन्त हो गया, तब पं० मदनमोहन मालवीय ने "अभ्युदय" को जन्म दिया।

भारतजीवन—बा० रामकृष्ण वर्मा ने भारत-जीवन प्रेस, काशी से साहित्यिक रूप में निकाला और अब तक यह इसी रूप में चला आया।

आर्यावर्तराजस्थानादि, आर्यसमाज के पत्र सं० १६४४ व ४६ से निकल कर हिन्दी-प्रचार में सहायक हुए। हाँ रहे सामाजिक या धार्मिक रूप में ही। इन्हीं की देखादेखी सनातनधर्म के भी दो एक पत्र निकले।

हिन्दी बंगवासी—कलकत्ते से साप्ताहिक रूप में सं० १६४७ से निकला और बराबर चल रहा है। इसकी भाषा साधारण रहती है।

श्रीवेंकटेश्वर—बम्बई से श्रीवेंकटेश्वर प्रेस से निकला और आज ३७ वर्ष से हिन्दी की सेवा कर रहा है। यह साप्ताहिक रूप से साधारण भाषा में निकलता है।

अभ्युदय—पूज्य मालवीय जी के प्रबन्ध से निकला। कुछ दिन तक यह साप्ताहिक और दैनिक रूप से निकल कर अब तक अच्छे रूप में निकल रहा है। इसके सम्पादक प्रसिद्ध नेता तथा लेखक श्री **पं० कृष्णकान्त जी मालवीय** (Ex M. L. A) प्रधान मंत्री-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हैं। पं० जी ने अपनी एक विशेष शैली एवं नीति रक्खी है। इसकी भाषा साधारण रहती हुई भी साहित्यिक श्रेणी की रहती है। उसमें उपयुक्त तथा प्रचलित उर्दू के भी शब्द कहीं २ आ जाते हैं। वाक्य-विन्यास सुगठित, लघुआकारी और भाव-पूर्ण रहता है। पं० जी सुयोग्य शायर और लेखक हैं, आपने कई सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से, सुहागरात, मनोरमा के पत्र, विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रताप—कानपुर से श्री गणेश-शंकर विद्यार्थी के द्वारा साप्ताहिक रूप में निकल रहा है। यह भी अपनी शैली का एक विशेष पत्र है, इसमें कुछ पद्य भी रहता है, किन्तु इसका उद्देश्य राजनीतिक-कार्य करना ही है।

हिन्दी-नवजीवन—श्री महात्मा गांधी का लोक-प्रसिद्ध पत्र है, हरिभाऊ उपाध्याय इसके संपादन में बहुत सहयोग देते हैं, पत्र की नीति में राजनीति ही प्रधान है।

आज—बनारस से निकलता है, इसकी साहित्यिक क्षमता सराहनीय रहती है, इसकी शौष्ठव, गांभीर्य और विद्वतापूर्ण शैली पठित समाज के लिये अति रुचिकर होती है। यह दैनिक रूप में निकलता है।

वर्तमान—श्री रमाशंकर जी अवस्थी के द्वारा कानपुर से निकलता है। अपने ढंग का यह भी एक विशेष उल्लेखनीय पत्र है (यह दैनिक रूप में) निकलता है।

मासिक पत्र-पत्रिकाओं में से विशेष उल्लेखनीय हैं:—

१—**माधुरी**—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रतिमास निकलती है, यह उच्चकोटि की साहित्यिक पत्रिका है, इसमें आलोचनात्मक, खोजविषयक, विवेचनात्मक और ऐतिहासिक लेख, साहित्य-विषयक निबंध, गद्य-पद्य, (खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों में) बड़ी सुयोग्यता से संपादित होकर निकलते हैं। इसके संपादन-विभाग में हैं:—

पं० कृष्णविहारी मिश्र (B. A. LL B)—इनकी काव्य-मर्मज्ञता सराहनीय है, आलोचना में भी ये विख्यात हैं। इन्होंने देव-विहारी, मतिरामग्रथावली जैसे सद्ग्रंथ सुविवेचनालोचना के साथ संपादित किये हैं। आप कुछ कविता भी करते हैं।

प्रेमचन्द—(B A.) ये आज कल अच्छे उपन्यास-लेखक माने जाते हैं। आपने कई सुन्दर उपन्यास लिखे हैं, जिनमें से

सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा सजीव, साकार एवं भावपूर्ण होती है, हाँ कहीं २ हिन्दी-व्याकरण से वह कुछ कम संयत रहती है और उर्दू की शैली की ओर झुक जाती है।

पं० मातादीन शुक्ल—(साहित्य शास्त्री) आप हिन्दी-संस्कृत तथा अंग्रेज़ी के विद्वान हैं। आप खड़ी बोली और व्रज-भाषा दोनों के सुकवि हैं. आपकी रचनायें उच्चकोटि की होती हैं, सम्पादन कला तथा रचना-कला में भी आप सुदक्ष हैं। आपने छात्र-सहोदर, कान्यकुब्ज-नायक हितकारिणी, तिलक (अर्धसाप्ताहिक) कर्मवीर आदि कई पत्रों का सम्पादन किया है।

२—सुधा—**बा० दुलारेलाल भार्गव** के द्वारा लखनऊ से प्रतिमास निकलती है। यह भी साहित्यिक पत्रिका है और माधुरी के समान ही कही जाती है। भार्गव जी कुछ कविता भी लिखते हैं, हम आप को साधारण श्रेणी का ही कवि एवं लेखक पाते हैं। सुधा के सम्पादन-विभाग में इनके अतिरिक्त **पं० रूपनारायण पांडेय** ही प्रधान हैं। सुधा के रस वे ही हैं। पांडेय जी कवि और अनुवादक भी हैं, आपने बंगला के कई सुन्दर उपन्यासों का अनुवाद किया है।

३—सरस्वती—यह सब से प्राचीन साहित्यिक मासिक पत्रिका है, जो अब तक इंडियन प्रेस, प्रयाग से निकलती जाती है। इसका उदय सं० १९५६ से हुआ। प्रथम इसको संपादक-समिति में कई विद्वान थे, किन्तु फिर सब भार श्री० राय० सा० बा० श्यामसुन्दर दास पर ही रहा। हिन्दी-संसार के पूज्य **पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने इसे "यथा नामः तथा गुणः" ही बनाकर सर्वोच्च कर दिया। द्विवेदी जी के बाद इसके संपादक पन्नालाल-पुन्नालाल बख़्शी B A. हुए, इन्होंने इसे कुछ अंग्रेज़ी साँचे में ढाला और इसमें कुछ रूपान्तर या परिवर्तन भी किया। अब इसे श्री **पं० देवीदत्त जी शुक्ल** सम्पादित करते हैं,

अब यह फिर प्रधान साहित्यिक पत्रिका हो रही है। इस की नीति सदा ही से खड़ी बोली के (गद्य-पद्य दोनों के) उठाने तथा ब्रज-भाषा के दबाने की रही है, प्रथम अंश तो ठीक और सराहनीय है किन्तु दूसरा कुछ अनुचित सा है।

इनके अतिरिक्त **मर्यादा** (जो प्रथम पं० कृष्णकान्त जी के द्वारा अभ्युदय प्रेस, प्रयाग से सरस्वती के हीं समान निकलती थी, फिर काशी में जाकर बंद हो गई), **प्रभा** (कानपुर से कुछ दिन तक मासिक पत्रिका के रूप में निकल कर बंद हो गई) और **शारदा** (सी० पी० से निकल कर बंद हो गई) भी उल्लेखनीय हैं। आजकल उक्त पत्रिकाओं के समान **महारथी** (दिल्ली), **विशाल भारत, त्याग भूमि, वीणा, कल्याण शक्ति** आदि कुछ मासिक पत्र और भी अच्छे रूप में निकल रहे हैं।

समालोचना के उद्देश्य से निकलने वाला त्रैमासिक **समालोचक** (पं० कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा संपादित) तथा खोजविषयक साहित्यिक कार्य करने वाली **नागरी-प्रचारिणी पत्रिका** (त्रैमासिक) विशेष उल्लेखनीय हैं।

स्त्रियों के लिये निकलने वाली पत्रिकाओं में से उल्लेखनीय हैं :—१—**गृहलक्ष्मी** पं० सुदर्शनाचार्य B A. द्वारा संपादित प्रयाग की स्त्रियोपयोगी पुरानी पत्रिका है।

२—**चाँद**—रामरखसिंह सहगल द्वारा संपादित प्रयाग से निकलने वाला सुन्दर मासिक पत्र है। सामाजिक विषयों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालना इसका प्रधान उद्देश्य है। साहित्यिक दृष्टि से यह निकलता ही नहीं। पत्र है बड़ा ही अनोखा और चोखा।

स्त्रीदर्पण, आर्यमहिला, स्त्रीधर्म-शिक्षक और भारत-भगिनी आदि भी उल्लेखनीय हैं, इनमें से कुछ अब बंद भी हो गई हैं।

काव्य-सम्बन्धी पत्रों में से **रसिक वाटिका, रसिक मित्र,**

काव्य सुधाधर, कवि-कीर्ति-प्रचारक, कविकौमुदी, कवि आदि पत्र उल्लेखनीय हैं। इनमें से कदाचित् कोई भी अब नहीं प्रकाशित होता, अब ऐसा विशेष उल्लेखनीय पत्र है "सुकवि" जो कविवर पं० गयाप्रसाद जी शुक्ल "सनेही" के द्वारा कानपुर से निकाला जाता है। इसमें समस्यापूर्ति, प्राचीन तथा नवीन सुकविवरों की अप्रकाशित रचनायें तथा काव्य-सम्बन्धी मार्मिक लेख रहते हैं।

राजनीतिक आन्दोलनों तथा सामाजिक सुधारादि के प्राचुर्य ने पत्र-पत्रिकाओं में अच्छी वृद्धि कर दी है। प्रतिवर्ष कुछ पत्र-पत्रिकायें नवीन रूप से निकल कर बढ़ती जा रही हैं। इधर लगभग १५ वर्षों से हिन्दी भाषा का प्रचार बड़े विशद रूप में हो गया है, इसी से हिन्दी-साहित्य और पत्र आदि इधर ख़ूब प्रवर्धित हुए हैं। प्रचार-कार्य का ही यह फल है कि आज हम हिन्दी भाषा और उसके साहित्य को इस उन्नत दशा में पाते हैं। धन्यवाद है हमारे उन महापुरुषों को, जिन्होंने हिन्दी-प्रचार का ऐसा प्रचुर कार्य सराहनीय सफलता तथा अथक अध्यवसाय से किया है। प्रथम तो दशा ही कुछ और थी, उर्दू भाषा के अदालती भाषा होने से सारा सभ्य या शिष्ट समाज उर्दूमय ही हो रहा था और उसी की ओर लोगों का ध्यान या रुझान भी था। ऐसी दशा में हिन्दी-हितेच्छु प्रकाशक तथा लेखकादि भी हतोत्साह से हो जाते थे। अस्तु, हिन्दी-प्रचार के द्वारा पाठकों की संख्या में जो वृद्धि हुई उससे पुस्तकों और पत्रों आदि की संख्या भी बढ़ी और प्रकाशक तथा लेखक भी प्रोत्साहित होकर नवोमंग से हिन्दी-हित के कार्य-क्षेत्र में अग्रसर होने लगे।

यों तो बहुत से नये २ पत्र समय समय पर इस काल में प्रकाशित होकर निकले, किन्तु वे सब चिरस्थायी न हो सके, बहुत से तो कारणवशात् थोड़े २ समय तक ही चलकर बंद हो गये।

अब जो नये पत्र निकले हैं उनमें से श्रद्धेय **पं० वेंकटेश नारायण जी तिवारी*** M. A. (EX. M. L. C) सम्पादित स्थानीय पत्र "भारत" सर्वोत्तम है। यह प्रथम साप्ताहिक था, अब अर्धसाप्ताहिक है।

शिक्षा-सम्बन्धी भी कई पत्र-पत्रिकायें निकलती हैं, जिनमें से शिक्षा-विभाग-द्वारा प्रकाशित "एज्यूकेशनल" गज़ट, अध्यापक आदि उल्लेखनीय हैं। **पं० ज्योतिप्रसाद मिश्र** † "निर्मल" ने, जो अब उक्त "भारत" के सम्पादन-विभाग में है, "भारतेन्दु" नामक एक शिक्षा-सम्बन्धी सर्वोत्तम मासिक पत्र निकाला था, खेद है कि वह कतिपय कारणों से बंद हो गया।

पत्र-पत्रिकाओं के कारण हिन्दी में "सम्पादन-कला" का नवागमन हो गया है, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने इस कला को अपनी परीक्षाओं में भी स्थान दिया है। पत्र-पत्रिकाओं ने इधर **"विशेषांक"** प्रकाशन की एक परिपाटी सी चला दी है। विशेषांक-प्रकाशन के भिन्न २ उद्देश्य हैं—प्रमुख उद्देश्य हैः— १—पाठकों को आकर्षित कर ग्राहक-संख्या बढ़ाना, २—किसी विशेष विषय पर प्रमुख विद्वानों के सुलेखों से पूर्ण प्रकाश डालना, ३—भिन्न २

---

* तिवारी जी एक प्रसिद्ध नेता और निर्भीक एवं सशक्त लेखक हैं, आप प्रान्तीय शिक्षा-विभाग की पाठ्य पुस्तक-निर्धारिणी समिति के सभापति रहे हैं। स्वर्गीय प्रसिद्ध नेता श्री गोखले की स्थापित की हुई "सर्वेंट आफ इंडिया सोसाइटी" के आप एक त्यागी सदस्य भी हैं।

—सम्पादक

† निर्मल जी एक सुकवि और सुलेखक भी हैं, सम्पादन-कला में तो वे दक्ष हैं ही। आपने अभी हाल ही में "स्त्री कवि-कौमुदी" नामी संग्रह-ग्रंथ अच्छा निकाला है। स्थानीय "मनोरमा" नामी मासिक पत्रिका का भी आपने अच्छा सम्पादन किया, आप के बाद वह बंद हो गई। —सम्पादक

विषयों के सुन्दर सुमनों के संचयन से एक संग्रह-साहित्य तैयार करना। इस परिपाटी का भी प्रभाव बहुत अच्छा हुआ है। चाँद, माधुरी एवं सरस्वती के विशेषांक सराहनीय हुए हैं।

सम्पादन-कला-विशारद पत्र-पत्रिकाओं को अच्छा बनाकर ख़ूब प्रचलित करते हैं। हमारे यहाँ ग्राहक-संख्या की न्यूनता से ही अधिकांश पत्र असमय में ही बंद हो जाते हैं, कारण इसका है सम्पादन-कलाविज्ञ सुयोग्य संपादकों का अभाव। सफल सम्पादक हिन्दी-क्षेत्र में बहुत ही कम हैं, यदि सच पूछिये, तो सुयोग्य सम्पादक हमारे यहाँ हैं:—

१—श्री प० महावीर प्रसाद द्विवेदी—जिन्होंने अपने प्रयत्न और संपादन-कौशल से "सरस्वती" को हिन्दी की सरस्वती ही बना दिया और हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) तथा साहित्य में युगान्तर उपस्थित कर दिया। आप के ही कारण खड़ी बोली के काव्य तथा साहित्यिक गद्य का प्रचार, प्रवर्धन एवं उत्थान हुआ है और व्याकरण-संयत शुद्ध साधु भाषा-शैली उठकर चली है।

२—श्री पं० कृष्णकान्त मालवीय—आपने समाचार-पत्रोचित एक सर्वसाधारण भाषा-शैली, जो साहित्यिक क्षमता भी अच्छी रखती है, प्रचलित की है। "अभ्युदय" को सुदीर्घ जीवन और गौरव आप ही से प्राप्त हुआ है।

३—पं० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी—कलकत्ते के भारत-मित्र एवं स्वतंत्र आपके ऋणी हैं, आपने सपादन-कला को भी विशेषता दी है।

४—गणेशशंकर विद्यार्थी—आप सम्पादकों में उच्च स्थान देने योग्य हैं, 'प्रताप" का प्रताप आप ही के प्रभाव का फल है। आप ने भी एक पत्रोपयुक्त उन्नत भाषा-शैली उठाई है।

५—लक्ष्मीनारायण गर्दे—एक योग्य तथा अनुभवी सम्पादक हैं।

६—**बनारसीदास चतुर्वेदी**—विशाल भारत के कुशल तथा प्रभावी सम्पादक हैं।

इनके अतिरिक्त माखनलाल चतुर्वेदी, श्री कृष्णदत्त पालीवाल (सैनिक-आगरा के सम्पादक) पं० रमाशंकर अवस्थी (वर्तमान-कानपुर के सम्पादक) तथा श्री बाबूराव विष्णु पराडकर जी (आज-काशी के सम्पादक) तथा श्री पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र M. A. LL. B (EX M L A.) विशेष उल्लेखनीय हैं।

मासिक पत्रिकाओं के सुयोग्य संपादकों में से विशेष सफल तथा प्रसिद्ध सम्पादक हैं :—

१—**श्री पं० कृष्णविहारी मिश्र** (B. A. LL B.) आप साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान हैं, माधुरी आज सर्वोत्तम साहित्यिक पत्रिका आप ही के सुयोग्य सम्पादन से हुई है। "सुधा" को जो उन्नति प्रथम मिली थी, वह भी आप ही के कारण मिली थी। प्रसिद्ध समालोचना-पत्रिका "समालोचक" का भी आपही संपादन कर रहे हैं। आपके साथ पं० मातादीन शुक्ल का भी नाम विशेष उल्लेखनीय है।

२—**श्री पं० देवीदत्त शुक्ल**—आचार्य द्विवेदी जी के पश्चात् "सरस्वती" को आपने ही सफलतापूर्वक सम्पादित किया है, उसकी गौरव-रक्षा आपही से है। बख़्शी जी ने तो उसे रूपान्तरित करके ही छोड़ दिया था।

३—**रूपनारायण पांडेय**—सुयोग्य अनुवादक और सुकवि हैं। आप ही के सुसंपादन से "सुधा" को मान-रक्षा हो रही है।

४—**रामरखसिंह सहगल**—एक चतुर संपादक हैं, आप आन्दोलन-कार्य एवं प्रचार-प्रबंध में बा० दुलारेलाल के ही समान दक्ष हैं।

इनके अतिरिक्त उल्लेखनीय सम्पादक हैं—श्री निर्मल जी, पं०

सुदर्शनाचार्य (बालोचित एवं स्त्रियोचित पत्र-संपादन में) त्याग-भूमि-संपादक, कल्याण-सम्पादक, हरिभाऊ उपाध्याय तथा महारथी-सम्पादक पं० रामचंद्र शर्मा।

यहाँ एक बात और विशेष ध्यान देने के योग्य है और वह यह है कि प्रथम—समाचार पत्रों के प्रारम्भिक काल में—समाचार-पत्र (पत्र-पत्रिकायें) प्रायः साधारण श्रेणी के धनी-मानी सज्जनों के हाथ में थे तथा बहुधा वे सम्पादक के ही हाथ में रहते थे, अर्थात् ये ही इसके प्रकाशक हुआ करते थे, किन्तु ज्यों ज्यों वृद्धि होती गई और इस कार्य में लाभ होता गया त्यों ही त्यों व्यवसाय-चतुर लोग इसमें हाथ लगाते गये और पारस्परिक प्रति-द्वंदता (Compitition) का भाव भी बढ़ता गया, जिससे पत्र-पत्रिकाओं की वृद्धि-समृद्धि (सुन्दरता, रुचिर रोचकता, आदि) एवं संख्या में विकास-प्रकाश होता गया और पत्र-प्रकाशन-कार्य धनी महाजनों एवं सम्पन्न प्रेसों के हाथ में पहुँचता गया। अब साधारण श्रेणी के सज्जन तथा सम्पादक इसके प्रकाशक न रह सके। इसके साथ ही प्रथम जहाँ सम्पादक लोग पत्र के द्वारा हिन्दी-प्रचार एवं साहित्य-वृद्धि करते हुए अपने लेखों क द्वारा हिन्दी-गद्य-रचना की विशेष शैलियों का प्रचार किया करते थे वहाँ अब सम्पादक केवल लेख-कवितादि-संचयन के कौशल में ही ध्यान देने लगे तथा अपनी नीति-विशेष के अनुसार पत्र चलाने लगे। ऐसा करने के लिये वे बाध्य भी हुए लेखकों तथा खड़ी बोली के उमड़ते हुए नव कवियों के समुदाय तथा उनके लेखों एवं कविताओं के विशद समूह से। लेखों एवं कविताओं के देखने, उनमें से सुन्दर रचनादि के चुनने, उन्हें अपनी नीति के अनुसार बनाने और यों ही कई तरह से सम्पादन-कार्य करते हुए पत्र में यथास्थान उन्हें रखने के कार्य-भार से सम्पादकों को अपने लेखों के तैयार करने या देने का समय एवं स्थान ही न मिल सका।

पत्र-पत्रिकाओं का ऐतिहासिक विकास एवं उनका आलोचनात्मक विवेचन या विवरण एक स्वतंत्र पुस्तक के लिये अच्छा खोज-पूर्ण तथा मनोरंजक विषय है। यदि इसविषय पर ध्यानपूर्वक यथोचित पांडित्य, श्रम तथा कौशल के साथ लिखा जाय और फिर सम्पादन-कला पर प्रकाश डाला जाय तो एक बहुत ही सुन्दर ग्रंथ बन सकता है। बाबू राधाकृष्णदास ने "हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास" नामक एक ग्रंथ सन् १८९४ ई० (सं० १९५१) में प्रकाशित कराया था, यह ना० प्र० सभा काशी से अब भी प्राप्त है। इसके पश्चात् श्रद्धेय मिश्रबंधुओं ने अपने विनोद में इसी के आधार पर कुछ अन्य नव प्रकाशित पत्रों का उल्लेख करते हुए एक छोटा सा लेख लिखा है। पाठक पत्र पत्रिकाओं के नाम इन्हीं दोनों स्थानों में देख सकते हैं। विस्तार-भय स हमने यहाँ संक्षेप में ही इस विषय की यथोचित विवेचना दी है। हमारा विचार उक्त विषय पर एक ग्रंथ लिखने का है और हम सामग्री भी एकत्रित कर रहे हैं।

स्त्री-संपादिकायें

नोट—सम्पादिकाओं और स्त्रियोचित पत्रिकाओं के प्रकाशित करने वाली देवियों में से विशेष उल्लेखनीय हैं :—

१—हेमंतकुमारी चौधरानी—इन्होंने सं० १९४५ में सुगृहिणी नामक एक मासिक पत्रिका निकाली।

२—हरदेवी—इन्होंने सं० १९४६ में "भारत भगिनी" नामक मासिक पत्रिका निकाली, जा सुन्दर और अच्छी थी।

३—रामेश्वरी नेहरू—इन्होंने "स्त्रीदर्पण" नामक मासिक पत्रिका का सुन्दर सम्पादन किया।

४—गोपाल देवी—पं० सुदर्शनाचार्य की धर्मपत्नी हैं, इन्हीं की प्रेरणा से "गृहलक्ष्मी" निकली, ये उसका संपादन भी पं० जी के साथ

करती रहीं। अब ये "राजवैद्या" नामक एक स्त्री-स्वास्थ्य-रक्षा-संबन्धी पत्रिका निकाल रही हैं।

५—विद्यावती सेठ—'ज्योति' नामक मासिक पत्रिका की सम्पादिका हैं। श्री फूलवती शुक्ल (शक्ति-संपादिका) भी उल्लेखनीय हैं।

खड़ी बोली और वर्तमान दशा

खड़ी बोली के ऐतिहासिक विकास पर आवश्यक तथा उचित प्रकाश डालकर यहाँ हम उसके प्रमुख लेखकों (जिनमें से बहुतों का उल्लेख हम प्रथम कर आये हैं) तथा उनके प्रधान ग्रंथों का (भाषा और शैली आदि की सूक्ष्मालोचना करते हुए) विवरण दे देना भी उपादेय समझते हैं। साथ ही गद्य-रचना के मुख्य विषयों या रूपों का भी उल्लेख करना उचित समझते हैं।

इंशा, सदासुख, सदलमिश्र तथा लल्लूलाल से लेकर भारतेन्दु बाबू के समय तक में खड़ी बोली विकसित होती हुई अपना साहित्यिक रचनोपयुक्त एक रूप निश्चित करके रचना-क्षेत्र में बड़ी शक्ति एवं महत्ता के साथ आ उपस्थित हुई। आर्यसमाज तथा ईसाइयों के धार्मिक आन्दोलनों से इसके प्रचार-प्रसार में बहुत बड़ी सहायता मिली। शिक्षा-विभाग में उर्दू के साथ ही साथ (जो सरकारी दफ़्तरों और शिष्ट समाज की भाषा थी) इसे भी, चूँकि यह देश की वास्तविक सर्वसाधारण भाषा थी और इसमें साहित्य भी ख़ूब था, रखना आवश्यक हुआ। हाँ यह अवश्य हुआ कि इसका रूप वही व्रजभाषा-प्रधान ही रहा।

राजा शिवप्रसाद के द्वारा हिन्दी-गद्य की भाषा कुछ उर्दू से प्रभावित सी की जाकर उठाई गई, यद्यपि उच्चकोटि की गंभीर पुस्तकों में वे भी इसका उपयोग न किया करते थे। "मानवधर्म

सार" नामी पुस्तक में उन्होंने शुद्ध संस्कृतमयी हिन्दी रक्खी है। साधारण पाठ्य पुस्तकों में वे अवश्यमेव उर्दू-प्रभावित हिन्दी रखते थे, जिससे वह सुबोध तथा सर्वसाधारणोचित हो सके। हाँ राजा लक्ष्मणसिंह ने शुद्ध हिन्दी (खड़ी बोली) गद्य का उदाहरण उपस्थित किया।

भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी-गद्य-रचना और उसकी शैली में युगान्तर उपस्थित कर दिया, कहना चाहिये कि उनके और उनके मित्र-मंडल के लेखकों जैसे पं० प्रतापनारायण मिश्र पं० बद्रीनारायण चौधरी, बा० तोताराम, पं० बालकृष्णभट्ट, श्री-निवासदास, पं० केशवराम भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी, ठा० जगमोहन सिंह आदि के प्रभाव से खड़ी बोली का वह परिमार्जित, स्वच्छ तथा साहित्योचित व्यापक रूप तैयार हुआ, जिसमें न तो पंडिताऊपन था, न व्रजभाषा या प्रान्तीय भाषा का प्रभाव था और न उर्दूपन था पूर्वीय प्रभाव ही था। यह रूप शिष्ट, सामान्य, साफ़-सुथरा और साहित्यिक था इसीलिये यह सर्वमान्य एवं व्यापक हुआ। अतएव साहित्यिक खड़ी बोली का उदय या विकास यहीं से कहा जा सकता है।

आधुनिक काल के इस भाग में खड़ी बोली का हरिश्चन्द्री शिष्ट रूप, जिसमें व्याकरण-नियंत्रणा का कम प्रभाव था, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, आदि के द्वारा सर्वथा व्याकरण-संयत और निश्चित रूप से शुद्ध वा स्थिर किया गया।

जिस समय से हम यहाँ चल रहे हैं उस समय तक गद्य-रचना के क्षेत्र में मुख्यतया निम्नांकित **गद्य-शैलियाँ** प्रचलित हो चुकी थीं:—

१—संस्कृत-प्रभावित उच्चकोटि की **साहित्यिक-भाषा-शैली**—जैसे भट्ट जी, चौधरी जी, ठा० जगमोहनसिंह की शैली थी।

२—**साधारण शैली**—जो कुछ उर्दू से प्रभावित रहती है—यथा श्री निवासदास, गोस्वामी जी आदि की भाषा।

३—**गद्य-काव्योचित कलापूर्ण शैली**—जैसी पं० गोविन्दनारायण जी मिश्र आदि की भाषा। इसकी पदावली अलंकृत और सानुप्रासिक रहती है।

उपन्यास एवं नाटकों के कारण, १—**भावात्मक शैली का**—जिसमें साधारण भाषा, छोटी वाक्यावली, कुछ उर्दू पुट और भाव-प्रधानता रहती है।

२—**तथ्यात्मक या वर्णनात्मक शैली**—इसमें चित्रोपम वाक्य-विन्यास, शुद्ध संस्कृत प्रभावित भाषा, अन्वय-जटिलता तथा वाग्वैचित्र्य-पूर्ण चमत्कार-चारुता रहती है—आदि अन्य कई प्रकार की शैलियाँ चल पड़ी थीं।-पत्र-पत्रिकाओं या विशेषतया समाचार-पत्रों के द्वारा मुहावरेदार चलतो हुई भाषा की एक **मिश्रित शैली** भी, जिसमें साधारण तथा साहित्यिक दोनों रूपों की भाषा न्यूनाधिक रूप में रहती है, चल रही थी।

इस सूक्ष्म विवेचन के साथ ही हम यहाँ प्रमुख गद्य-लेखकों का संक्षिप्त विवरण देकर गद्य का वर्तमान रूप देंगे। गद्य के **प्रारम्भिक काल के**—जो सं० १८६० के आसपास से हरिश्चन्द्र के समय या सं० १६४१ तक रहा—प्रधान लेखकों तथा **विकास एवं गद्य-साहित्योदय या प्रचार-काल**—जो हरिश्चन्द्र के समय सं० १६३० आसपास से सं० १६६० के आसपास तक रहा—के भी प्रमुख लेखकों में से वहुतों का उल्लेख किया जा चुका है। अब विविध विषयक रचना करने वाले अन्य प्रमुख लेखकों का ही संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जाता है। साथ ही गद्य-साहित्य के प्रमुख अंगों या विषयों पर भी प्रकाश डाला जाता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि गद्य-साहित्य के विविध अंगों की

रचना का विकास भारतेन्दु के ही प्रभाव से प्रारम्भ हुआ है, उन्होंने तथा उनके मित्रों ने नाटक, उपन्यास, निबंध, आलोचनादि की सुन्दर रचनायें सौम्यरूप से की हैं, जिन का उल्लेख किया जा चुका है। विविध-विषयक-रचना की इस परम्परा का प्रचार भारतेन्दु के समय से हो चला और आज तक हो रहा है।

नाटक-रचना पर प्रथम प्रकाश डाला जा चुका है, यहाँ अब केवल यही कहना है कि नाटक-रचना का विकास मौलिक तथा अनुवाद दोनों रूप में हुआ है, इधर की ओर अनुवादों की ही विशेष प्रचुरता हुई है, मौलिक नाटक बहुत ही कम लिखे गये हैं। विकास-काल में तो लेखक अपने विशेष अभीष्ट विषय पर ही स्थिर होकर रचना करने की अपेक्षा विविध विषयोन्मुख होकर अपनी प्रतिभा को कई विषयों में लगाने लगे। इस से वे किसी एक विषय में अच्छा स्तुत्य कार्य न कर सके। इस-वर्तमान समय में यदि विशेष उल्लेखनीय साहित्यिक नाटक किसी के द्वारा रचे गये हैं तो वह हैं— **बा० जयशंकर प्रसाद**—ये बनारस के एक अच्छे नाटककार हैं, इन्होंने बँगला नाटकों के अनुवादों से प्रभावित होते हुए, नाटक-रचना की नवीन रुचि को देखकर, अभिनयोचित चरित्र-चित्रण-प्रधान, भाव-पूर्ण साहित्यिक नाटक रचे। पद्य भाग को इन्होंने विशेष स्थान ही नहीं दिया, संगीत तो नाटक में अब उपयुक्त ही नहीं समझा जाता। अस्तु प्राधान्य कथोपकथन की ही है। इनके नाटक विशेषतः ऐतिहासिक, पौराणिक और संस्कृति-सूचक रूप में हैं। जनमेजय का नागयज्ञ, अजात शत्रु, स्कंदगुप्त इनके नाटकों में विशेष उल्लेखनीय हैं। बरमाला और जैसे अन्य नाटक भी दुर्गावती रंगशालाओं में अभिन योपयुक्त ठहरते हैं। इस प्रकार इस समय नाटक-रचना में कुछ नव परिवर्तन सा हो रहा है।

उपन्यास—नाटक-रचना के विकास के साथ ही साथ

उपन्यास-रचना का भी विकासोदय प्रारम्भ होता है। इस का मुख्य कारण हिन्दी-गद्य-विकास के साथ ही साथ बँगला और अंग्रेज़ी का भी प्रभाव है। इस काल में काव्य-रचना में शैथिल्य आ ही गया था और गद्य-रचना को प्रचुर प्राबल्य प्राप्त हो चुका था, उपन्यास गद्य-काव्य का एक मुख्य अंग है, अस्तु लोगों का ध्यान उपन्यास-रचना की ओर विशेष गया। भक्ति और कला-कालों में सुन्दर गद्य-रूप के अभाव या अप्रचार से यह कार्य न हो सका था। इसके स्थान पर कथा-काव्य की ही रचना का प्रचार हुआ था। इस काल में जो नवीन परिवर्तन भाषा एवं साहित्य में हुआ उसका एक प्रभाव यह भी पड़ा कि उपन्यास-रचना की परम्परा चल पड़ी। इस से यह एक लाभ बहुत बड़ा हुआ कि उपन्यासों की रोचकता से समाकृष्ट होकर बहुतों ने हिन्दी सीखी और इस प्रकार हिन्दी का प्रचार बढ़ा। गद्य-काव्य के एक अंग की कमी तो पूरी हुई ही, उपन्यासों से भाषा भी परिमार्जित और प्रगतिशील होकर सर्वसाधारण तथा व्यापक रूप से प्रचलित हो गई।

सुन्दर साहित्यिक शैली से लिखा गया प्रथम उपन्यास हमें श्री निवास दास का "परीक्षा-गुरु" ही मिलता है। प० श्रद्धाराम जी ने, जो पंजाब में अपने धार्मिक व्याख्यानों आदि से हिन्दी-प्रचार किया करते थे और जिन्होंने "सत्यामृत प्रवाह, धर्मरक्षा, तत्व-दीपक, उपदेश संग्रह और शतोपदेश" (दोहों में नीति-काव्य) आदि पुस्तकें भी रचीं थीं सं० १६३४ में "भाग्यवती" नामक एक सामाजिक उपन्यास लिखा, जिसकी बड़ी सराहना हुई।

भारतेन्दु बाबू के समय से नाटकों के साथ ही बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासों के भी अनुवाद हो चले। इस प्रकार प्रथम अनुवाद का ही इस क्षेत्र में प्राबल्य हुआ। बँगला में **सामाजिक** (Social), **पारिवारिक** (Domestic) **ऐतिहासिक** (Historical) आदि उपन्यास ख़ूब थे, इनके अनुवादों से हिन्दी-प्रचार, उसका

परिमार्जन आदि भी खूब हुआ। इसी प्रकार कुछ अंग्रेज़ी उपन्यासों का भी अनुवाद हुआ, जिसका एक प्रभाव यह हुआ कि हिन्दी-गद्य में अर्थोद्‌घाटिनी प्रतिभा और भावाभिव्यंजन-शक्ति के साथ ही गुंफित विचारावलि-प्रकाशिनी, सूक्ष्म तथा संनिहित भावों को खींच लाने वाली शैली का भी उदय हो गया।

गद्य के विकास-काल में उपन्यास-रचना की अच्छी समृद्धि वृद्धि हुई। कुछ उपन्यास तो मौलिकतापूर्ण ठहरे और कुछ अनुवाद मात्र ही रहे।

उपन्यासों के अनुवादकारों में से विशेष उल्लेखनीय हैं :—

१—बा० गदाधरसिंह—(जन्म सं० १९०५, मृत्यु-सं० १९५५) परम हिन्दी-हिषी थे, ये प्रथम व्यापार करते थे फिर इन्होंने सरकारी नौकरी की, अन्त में अपना सारा धन एवं पुस्तकालय काशी नागरी प्र० सभा को दे दिया। इन्होंने कादम्बरी (संस्कृत कादम्बरी के आधार पर) बंगविजेता, दुर्गेशनदिनी (बँगला से) तथा ओथेलो के (अंग्रेज़ी से) अनुवाद किये। ये भारतेन्दु के मित्र तथा प्रसिद्ध लेखक थे।

२—बा० रामकृष्ण वर्मा (प्रसिद्ध नाटककार) का उल्लेख ही किया जा चुका है, इन्होंने उर्दू, बँगला और अंग्रेज़ी तीनों के कुछ अच्छे उपन्यासों का अनुवाद किया। ठगवृत्तांत माला (१९४६) पुलिस वृत्तांत माला (१९४७) अकबर (१९४८) अमलावृत्तांत माला (१९५१) और चित्तौर-चातिकी (१९५२) उल्लेखनीय हैं।

३—बा० कार्तिकप्रसाद खत्री—(ज०-सं० १९०८ मृत्यु-सं० १९६१) आप कलकत्ते में माता-पिता के मर जाने से कुछ थोड़ा ही पढ़-लिख कर व्यापार करने लगे और वहाँ से काशी आये। "प्रेमविलासिनी" और "हिन्दी प्रकाश" दो पत्र भी इन्होंने निकाले तथा "सरस्वती" की सम्पादक-समिति में भी ये रहे। कुल २०

पुस्तकें इन्होंने रचीं। इनके अनुवादित उपन्यासों में इला (१६५२ सं० में) प्रमीला (सं० १६५३ में) जया और मधुमालती (१६५५ सं० में) विशेष प्रसिद्ध तथा रोचक हुए।

इन लोगों की भाषा में भारतेन्दु की पूरी छाप थी, अतः वह साधु, संयत, शुद्ध तथा सुव्यवस्थित है, फ़ारसी और संस्कृत का प्रभाव उसमें नहीं के ही बराबर है।

थोड़े दिनों तक तो ऐयारी और जासूसी के उपन्यास ख़ूब निकले, जिनमें घटना-वैचित्र्य तथा चातुर्य तो ख़ूब रहा किन्तु भाषा, शैली, भाव-गांभीर्य एवं चरित्र-चित्रणादि की मात्रा कम रही। ऐसे उपन्यासकारों में विशेष उल्लेखनीय हैं :—

बा० देवकीनंदन खत्री काशी—इन्होंने कुसुमकुमारी नरेन्द्रमोहनी, वीरेन्द्रवीर, चंद्रकान्ता (संतति-२८ भाग) भूतनाथ आदि कई अच्छे उपन्यास लिखे। भाषा इनकी सरल, साधारण तथा उर्दू-प्रभावित सी है। वर्णन-शैली रोचक तथा चित्रोपम है इनमें चरित्र-चित्रण, रसभाव-विरति आदि साहित्यिक गुण बहुत ही न्यून हैं, हाँ चातुर्य-चमत्कार-पूर्ण घटना-वैचित्र्य एवं कुतूहल-कौतुक विशेष है इसीलिये, इनका प्रचार-प्रस्तार साधारण जनता में ख़ूब हुआ, जिससे हिन्दी-प्रचार में सहायता मिली। उर्दूदाँ भी हिन्दी पढ़ गये। इनके प्रभाव से तिलस्मी तथा ऐयारी के उपन्यासों का प्रबल प्राचुर्य हुआ। इनके मार्गानुयायी कतिपय उपन्यासकारों में बा० हरिकृष्ण जौहर उल्लेखनीय हैं।

गोपालराम गहमर ने भी बँगला से कई पारिवारिक उपन्यासों का अनुवाद किया। चतुरचंचला (सं० १६५०) भानुमती, नये बाबू (१६५१ सं०) बड़ा भाई (सं० १६५७) देवरानी जेठानी (सं० १६५८) दो बहिन (सं० १६५६) तीन पतोहू (सं० १६६१) और सास पतोहू उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा में वाग्वैचित्र्य, वक्रता और व्यंग्य भी है, हाँ कुछ पूर्वीयपन अवश्य है।

यहीं मुं० उदितनारायणलाल तथा उनके "दीपनिर्वाण" नामक ऐतिहासिक उपन्यास का भी उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार इस समय में बंकिमचंद्र, रमेशचंद्रदत्त, चंडीचरण सेन, शरत् बाबू, चारुचंद्र आदि के बँगला-उपन्यासों के अनुवादों का प्रचुर प्रचार हुआ। इसका प्रभाव यह पड़ा कि नवोदित हिन्दी-उपन्यासकारों की प्रतिभा उत्कृष्ट होती हुई इनके आदर्शों या मार्गों पर चलती हुई मौलिक उपन्यास भी रच सकी।

अब तक भी यह अनुवाद-परम्परा चली जा रही है। कवीन्द्र रवीन्द्र के "आँख की किरकिरी" जैसे अन्य बङ्गला उपन्यास अनुवादित हो रहे हैं, जिनसे इस क्षेत्र में वृद्धि हो रही है। इन अनुवादकों में पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, कार्तिकप्रसाद जैसे लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं। **पं० रूपनारायण पांडेय** ही इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं, इन्होंने अपने अनुवादों को सुन्दर साहित्यिक हिन्दी तथा गद्य-शैली से सजाया है।

मराठी और गुजराती के भी कुछ उपन्यासों के अनुवाद हुए हैं, **बा० रामचन्द्र वर्मा** का "छत्रसाल" इनमें अच्छा स्थान रखता है। सं० १९४५ में कवि-सम्राट **पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय** ने (उर्दू से) अत्यत प्रौढ़ और संस्कृत-पूर्ण हिन्दी में "वेनिस का बाँका" अनुवादित किया।

मौलिक उपन्यासों से भंडार भरनेवालों में **पं० किशोरीलाल गोस्वामी** का नाम बहुत प्रसिद्ध है। आप सिद्धहस्त लेखक हैं, आपके उपन्यासों में सराहनीय साहित्यिक क्षमता है। सामाजिक बातों के सजीव चित्र, भाव भावनाओं का भावुक रूपरंजन, साकार वर्णन तथा कहीं २ चारु चरित्र-चित्रण से भी इनके उपन्यासों में मनोरंजकता तथा रुचिरता आ गई है। आपने छोटे-बड़े ६५ उपन्यास लिखे, इसीलिये आपको हम उपन्यासकारों में ऊँचा स्थान देते हैं। साहित्यिक उपन्यासकार वास्तव में यही ठहरते

है। औरों के समान इन्होंने अपनी प्रतिभा को चारों ओर न दौड़ा कर केवल इसी ओर चलाया है। यह सर्वथोचित ही है। लेखक को अपनी प्रतिभा के अनुकूल एक ही विशेष तथा अभीष्ट रचना-क्षेत्र को चुनकर उसी में कार्य करना चाहिये, तभी वह अच्छा कार्य कर सकता है।

गो० जी के उपन्यासों में उच्चकोटि की वासनाओं की अपेक्षा प्रायः निम्न श्रेणी की ही वासनाओं के दृश्य बहुत चित्रित हुए हैं, जिससे उनका प्रभाव साधारणतया पाठकों पर अच्छा नहीं पड़ता। जहाँ आप उर्दू एमुअल्ला के चक्कर में पड़ गये हैं वहाँ आपकी भाषा गिर गई है। उर्दू की नकल से उनके कुछ उपन्यास साहित्य-गौरव-हीन हो गये हैं। 'मल्लिकादेवी' और "बंगसरोजिनी" आदि में आपने संस्कृत भाषा से प्रभावित होकर तत्सम शब्दमयी समास बहुला वाक्यावली से भाषा को संस्कृत शैली में ढाला है। उस समय कुछ ऐसी प्रथा ही सी चल पड़ी थी कि लेखक कई प्रकार की भाषा तथा शैली में रचना-चातुर्य के दिखाने का प्रयास करने लगे थे। गो० जी भी इसी से प्रभावित हो गये और कभी उर्दू की नकल करने लगे और कभी संस्कृत की। गो० जी के उपन्यासों में से तारा, चपला, इंदुमती, राजकुमारी, लवंगलता, हृदयहारिणी, रज़ियाबेग़म और लखनऊ की कब्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

थोड़े दिनों के पश्चात् हिन्दी-क्षेत्र में ठेठ हिन्दी का राग प्रारम्भ हुआ, इसकी चर्चा चारों ओर चल पड़ी। इसी समय में श्रद्धेय उपाध्याय प० अयोध्यासिंह जी ने अपने दो उपन्यास **ठेठ हिन्दी का ठाठ** (सं० १९५६ में) और **अधखिला फूल** (सं० १९६४ मे) ठेठ हिन्दी में रचे। इनमें औपन्यासिक कला कौशल तो उतना महत्वपूर्ण नहीं, जितना भाषा एवं रचना-कौशल है। वास्तव में इनके साथ "वेनिस का बाँका" यदि रक्खा जाय तो यही कहना पड़ता है कि उपाध्याय जी को हिन्दी-

भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। वे न केवल एक कवि-सम्राट ही हैं वरन् लेखक-सम्राट भी हैं। यदि एक ओर वे उच्चकोटि की संस्कृत-प्रायभाषा लिख सकते हैं तो दूसरी ओर सरलातिसरल ठेठ हिन्दी भी। ऐसा गद्य-कौशल बहुत ही कम पाया जाता है।

पं० लज्जाराम मेहता भी इसी समय के एक उल्लेखनीय उपन्यासकार ठहरते हैं, इन्होंने हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति-मर्यादा तथा पारिवारिक व्यवस्थादि की सुन्दर उपयुक्तता प्रगट करते हुए कई छोटे-बड़े अच्छे उपन्यास लिखे हैं जिनमें से आदर्श हिन्दू (सं० १९७२) धूर्त रसिकलाल (१९५६) हिन्दू गृहस्थ, आदर्शदंपति (१९६१) बिगड़े का सुधार (१९६४) विशेष सराहनीय हैं।

बा० ब्रजनंदन सहाय बी० ए० ने इस भावादि की प्रबल व्यंजना-पूर्ण भाव प्रधान साहित्यिक उपन्यासों की ओर लोक-रुचि के फेरने का प्रयत्न अपने "सौंदर्योपासक तथा राधाकान्त" नामक उपन्यासों से किया।

इसके उपरान्त वर्तमान समय में, जब हिन्दी-साहित्य तथा हिन्दी भाषा के समुन्नत युग का प्रारम्भ हो गया है, हम उपन्यास-क्षेत्र में उत्तम उपन्यासकार **बा० प्रेमचंद्र** को ही पाते हैं। इन्होंने उच्चकोटि के कई मौलिक उपन्यास प्रस्तुत किये हैं, यह अवश्य है कि कहीं कहीं इन्होंने अंग्रेज़ी तथा उर्दू के उपन्यासों से भी सहायता ली है, तथापि मौलिकता की अच्छी छाप लगा दी है। इनके उपन्यासों में मनुष्य की अन्तःप्रकृति का मार्मिक विश्लेषण, चरित्र-चित्रण, वस्तु-विन्यास का स्वाभाविक सौंदर्य, वर्णन-सौष्ठव तथा घटनाओं का यौक्तिक क्रम आदि विशेष गुण साहित्यिक-सौंदर्य के साथ पाये जाते हैं। पात्रानुकूल भाषा-विधान भी इनके उपन्यासों की एक सुन्दर विशेषता है। हाँ भाषा

कहीं २ उर्दू से प्रभावित होकर हिन्दी-व्याकरण के विधान से भी कुछ परे सी हो जाती है।

इनके अतिरिक्त **पं० चंडीप्रसाद "हृदयेश" बी० ए० नवनादिक लाल, नंदकिशोर तिवारी** आदि के भी नाम उल्लेखनीय हैं। "हृदयेश" जी के उपन्यास इन सब के उपन्यासों से विशेष महत्वपूर्ण हैं।* अब कुछ **आध्यात्मिक या दार्शनिक कहानियाँ** भी लिखी जाने लगी हैं।

गल्प या छोटी कहानी—अंग्रेज़ी साहित्य में जिस प्रकार छोटी छोटी कहानियाँ या आख्यायिकायें ख़ूब लिखी गई हैं उसी प्रकार बङ्गला भाषा में भी "गल्प" नाम से इनकी रचना-परम्परा चली है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में इनका उदय कराने वाले **बा० गिरजाकुमार घोष** हैं। "सरस्वती" पत्रिका के द्वारा इन्होंने इनका प्रचार किया। सरस्वती के गल्प-लेखक **लाला पार्वतीनंदन** ये ही हैं। बस **गल्परचना-परम्परा** हिन्दी में भी चल पड़ी, पत्र-पत्रिकाओं ने इसका प्रचार-प्रसार पूर्ण रूप से किया।

इन गल्पों में प्रायः मधुर भावपूर्ण ऐतिहासिक, सामाजिक, पारिवारिक आदि जीवनांशों के खंड चित्र ख़ूब चित्रित किये जाते हैं। इनकी भाषा कसी हुई, सरल, व्यावहारिक और भावपूर्ण रक्खी जाती है, साधारण किन्तु मार्मिक पदावली के साथ छोटे छोटे वाक्यों का अनुभूति-व्यंजक विन्यास भी ख़ूब रहता

* जयशंकर प्रसाद ने भी "कंकाल" जैसे कुछ उपन्यास रचे तथा ऐसी ही कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। इनमें उन्हें नाटकों की भाँति सफलता नहीं मिल सकी। कहीं २ समाज के नग्नचित्र कुरुचिपूर्ण से हैं हाँ चरित्र-चित्रण कुछ अच्छा हुआ है। इनकी कहानियाँ कवित्व-पूर्ण सी भी हो गई हैं।

—सम्पादक

है। इनका आकार या विस्तार छोटा ही रहता है। प्रथम तो बङ्गला-गल्पों के अनुवाद हुए, किन्तु फिर कुछ मौलिक गल्पें भी लिखो जाने लगीं। थोड़े दिनों से इनकी विशेष मासिक पत्रिकायें तथा **गल्पमाला** आदि भी निकलने लगी हैं और कतिपय अच्छे गल्प-लेखक भी तैयार हो गये हैं। बा० प्रेमचंद का नाम यहाँ फिर विशेष रूप से उल्लेख के योग्य है, इन्होंने अनेक ऐसी छोटो कहानियाँ बड़ो सुन्दरता से लिखो हैं, जिनके दो-तोन संग्रह भी निकल चुके हैं। "प्रेमद्वादशी" ऐसे संग्रहों में से विशेष प्रसिद्ध है। गल्पों में प्रेमचंद के वे दोष जो उनके उपन्यासों में पाये जाते हैं कम या नितान्त ही नही मिलते, इनमें वे पूर्णतया कला-कार से ही मिलते हैं, क्योंकि इनके स्वल्प स्थान में सीमित रह कर उनकी लेखनी भी बहकने नहीं पाती। **विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्मा, रायकृष्णदास** भी अच्छे गल्प या कहानी लेखक हैं। इनकी शैली तथा भाषा सामाजिक, पारिवारिक बातों पर अपनी विशेषता रखती हैं।

जीवन-चरित्र—भारत सदा ही से आदर्शवादी रहा है, महापुरुषों के आदर्श जीवन-चरित्र यहाँ सदा ही से उदाहरणानु-करणार्थ जनता के सम्मुख उपस्थित किये जाते रहे हैं। संस्कृत के महाकाव्यों में इसका पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दी के कला-काल में चरित्र-चित्रण का भी कार्य हुआ है। इसके पूर्व भक्ति-काल में पौराणिक पुरुषों के कुछ चरित्र लिखे गये हैं। जय-काव्य में वीर-चरित्र तो कुछ लिखे गये थे किन्तु वे जीवन चरित्रों के समान न थे। आधुनिक काल में जीवन-चरित्र-रचना की भी एक सुन्दर प्रणालो चली है। यह भी अंग्रेज़ी-साहित्य के ही सम्पर्क का फल है।

भारत तथा अन्य देशों के महापुरुषों के जीवन-चरित्र

बालकों के लिये प्रचलित तथा प्रकाशित करने वालों में प्रथम श्री पं० **ओंकारनाथ बाजपेयी** विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने ओंकार प्रेस से एक सुन्दर जीवनी-माला निकाली, जिसमें पूज्य मालवीय जी, स्वामी दयानंद, नेपोलियन, गोखले जैसे महापुरुषों की जीवनियाँ हैं। अब तो कई प्रकाशकों ने इनका अनुकरण किया है।

जीवनी-लेखकों में **मुं० देवीप्रसाद जी** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका जन्म माघ सुदी १४ सं० १९०४ में हुआ। ये टोंक में सं० २० से ३४ तक रह कर जोधपुर-नरेश के यहाँ मुन्सिफ़ हुए, फिर शिला-लेखादि के काम में रहे। इन्होंने इतिहास के सम्बन्ध में बड़ी खोज से काम किया और इतिहास के लिये ये प्रसिद्ध भी हुए, कई इतिहास-ग्रंथ इन्होंने लिखे हैं। इन्होंने बहुत से जीवन-चरित्र भी लिखे, जिनमें से अकबर, विक्रमादित्य, प्रतापसिंह, पृथ्वीराज, राणासांगा, शाहजहाँ, मीराबाई, बीरबल आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी पुस्तकों की सूची विनोद पृ० १९९६ में है। विस्तार-भय से हम यहाँ उसे नहीं देते। भाषा इनकी सीधी-सादी, सरल एवं स्पष्ट है। ये प्रथम उर्दू-लेखक थे, फिर हिन्दी-लेखक हुए।

मुंशी जी के पश्चात् जीवनी-लेखक यों तो कई हुए हैं किन्तु **बा० शिवनंदन सहाय** को छोड़ कर और कोई भी विशेष उल्लेखनीय नहीं। यथातथ्य जीवनी-लेखक **महात्मा गांधी** (जिनकी अंग्रेजी जीवनी का हिन्दी में अनुवाद हो गया है) तथा **स्वामी श्रद्धानंद जी** हैं।*

---

* पं० माधवप्रसाद मिश्र (विशुद्ध चरितावली जिसमें स्वामी विशुद्धानंद की जीवनी है) बा० शिवनंदन सहाय (भारतेन्दु और गो० तुलसीदास की जीवनियों के लेखक) भी अपने २ विशेष स्थान रखते हैं।

—सम्पादक

मुंशी जी के अतिरिक्त इतिहास-लेखकों में श्री **पं० गौरी-शंकर हीराचंद ओझा** (महामहोपाध्याय) भी बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सं० १९२० में औदीच्य ब्राह्मण-कुल में हुआ, ये संस्कृत-हिन्दी के सुयोग्य ज्ञाता तथा अंग्रेज़ी से भी परिचित हैं। पुरातत्वानुसंधान में ये बड़ी रुचि रखते हैं और इस ओर कार्य भी अच्छा करते हैं। अजमेर-अजायबघर के ये अध्यक्ष हैं। प्राचीन लिपिमाला, कर्नल टाड की जीवनी, सिरोही का इतिहास, टाड राज-स्थान का अनुवाद, सोलंकी इतिहास आपके प्रसिद्ध हैं। आप को हिन्दी सा० सम्मेलन से १२००) का पुरस्कार भी मिल चुका है। प्रसिद्ध नेता **लाला लाजपतराय** का भी हिन्दोस्तान का इतिहास प्रसिद्ध है।

इनके अतिरिक्त इतिहास-लेखकों में श्री **पं० ईश्वरीप्रसाद** तथा **डा० रामप्रसाद त्रिपाठी** विशेष उल्लेखनीय हैं। **श्रद्धेय मिश्रबंधु** तथा **पं० हरिमंगल जी मिश्र** के भी इतिहास-ग्रंथ प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित है। **सत्यकेतु विद्यालंकार** का "बौद्ध कालीन इतिहास" भी स्तुत्य है।

गद्य काव्य—संस्कृत के आचार्यों ने गद्य-काव्य की भी पद्य-काव्य की भाँति विवेचना की है और उपन्यासाख्यायिका आदि को इसी के अन्तर्गत रक्खा है। कादम्बरी, दशकुमार-चरित्र आदि संस्कृत-साहित्य में गद्य-काव्य के परम प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इनकी भाषा काव्य गुणान्वित, सानुप्रासिक, अलंकृत और उच्च कोटि की है। प्रायः समासबहुला तथा विशेषणबहुला शैली की इनमें प्रधानता है।

हिन्दी में गद्य-काव्य की विवेचना श्री **पं० अंबिकाप्रसाद व्यास** ने "गद्य-काव्य-मीमांसा", नामी छोटी सी पुस्तक में की है,

यही कदाचित् इस विषय में प्रथम पुस्तक है । इसके बाद पं० **श्यामसुन्दरदास** ने अपने 'साहित्यालोचन' के एक अध्याय में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है । हमने भी अभी एक पुस्तक **"गद्यकाव्यालोक"** के नाम से प्रकाशित कराई है । फिर भी इस विषय की यथेष्ट मीमांसा अभी अपेक्षित है । हिन्दी में अभी गद्य-काव्य की रचना भी बहुत ही कम हुई है । गद्य की ही जब अभी सम्पूर्ण शैलियाँ निश्चित होकर विकसित नहीं हुईं, तब गद्य-काव्य की चर्चा ही क्या ।

श्री पं० **गोविन्दनारायण मिश्र** तथा पं० **बद्रीनारायण चौधरी** ने गद्य-काव्य की अपनी अपनी विशेष शैलियों का उदय किया था । सानुप्रासिक तथा अलंकृत भाषा* से काव्योचित विषयों पर सुन्दर निबंध (प्रबंध एवं वर्णनात्मक रूप में) लिखे थे । **सानुप्रासिक या सतुकान्त भाषा** का उपयोग श्री **लल्लूलाल** जी प्रथम ही प्रेमसागर में करके साहित्य-सेवियों के समक्ष उदाहरण रूप में रख चुके थे ।

भारतेन्दु बाबू के मित्र राजकुमार **ठा० जगमोहनसिंह** ने भी गद्य-काव्य का एक विशेष नमूना ला रक्खा था । संस्कृत तथा अंग्रेज़ी से वे भली भाँति परिचित थे । प्रेम और प्रकृति के वे पुजारी और सौंदर्यानंद के उपासक कवि तथा लेखक भी थे । विविधभावमयी प्रकृति के रुचिर रूपों की माधुरी, उसकी सुषमा-समा की सच्ची परख और उनकी मार्मिक तथा हृदय-स्पर्शिणी अनु-

---

* उर्दू की मुक़फ़्फ़ा और मुसज्जा नामक शैलियों के ही समान ये शैलियाँ भी हैं, किन्तु इनका प्रचार विशेष क्या कुछ भी न हो सका, कदाचित् कला-काल की सानुप्रासिक एवं अलंकृत काव्य-भाषा से व्यापक उदासीनता तथा अंग्रेज़ी के प्रभाव से खड़ी बोली के स्वच्छ गद्य के प्रचुर प्रचार ही इसके कारण हैं ।

—सम्पादक

भूति-व्यंजना इनमें खूब थी। इन सब बातों का परिचय इनके "श्यामा स्वप्न" से अच्छा मिलता है। मानव-प्रकृति के साथ इन्होंने निसर्ग के स्वाभाविक सौंदर्यानद का सुन्दर सामजस्य करके एक अनोखी-चोखी छबि छहरा दी है। इन्होंने प्रकृति की दृश्यावली को सामने रखते हुए भाव-प्राबल्य-प्रेरित कवि-कल्पना के सुखद कौतुकों को कला-कौशल के साथ एक प्रेमोन्मत्त व्यक्ति के प्रमोदजन्य प्रलाप के द्वारा बडी विचित्रता तथा पवित्रता से व्यक्त या चित्रित किया है, जिसमें रूप-विधान के साथ भाव-विधान का सरस सुन्दर वैचित्र्य भी भरा हुआ है। मनोवेगों या भावनाओं की अनुभूतिमयी मधुर व्यंजना का वैलक्षण्य भी इनमें अच्छा रहता है।

इधर को ओर थोड़े ही समय से अब इस क्षेत्र में बँगला के प्रभाव से **भावनात्मक गद्य-काव्य** की रचना होने लगी है, इसमें लेखक भावावेश से एक प्रकार से प्रेम-प्रमादोन्मत्त सा होकर प्रलाप सा करने लगता है। इसी के साथ एक दूसरी शैली से भी कुछ लोग भावावेश की व्यंजना असंबद्धता के आभास से प्रगट किया करते हैं। **विक्षेपशैली** से प्रेमोद्गार-प्रकाशन ही इसमें मुख्य होता है। कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो **धारावाहिक शैली** का उपयोग कर भावात्मक गद्य-काव्य लिखा करते हैं, कुछ लोग उक्त दोनों शैलियों का सुन्दर सामंजस्य करते हुए नाटकोचित भाषण से भी लिखते हैं।

गद्य-काव्य का एक यह रूप भी बडा ही सुन्दर बन चला है जिसमें लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, भावानुभूति का व्यंजक वाक्य-विन्यास तथा कोमलकान्त पदावली का सुखद सौंदर्य रहता है। कवीन्द्र रवीन्द्र से प्रभावित होकर कुछ लोग इसमें रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता का भी तत्व रखने लगे हैं।

गद्य-काव्य के लेखकों में से उल्लेखनीय ठहरते हैं:—

१—**चतुरसेन शास्त्री**—इनका "अन्तस्तल" भावात्मक गद्य-काव्य का अच्छा नमूना है।

२—**रायकृष्णदास (काशी)**—जिनकी "साधना" नामी पुस्तक रहस्यात्मक गद्य-काव्य का रूप खड़ा करता है।

३—**वियोगीहरि**—इनका "अन्तर्नाद" परोक्षालम्बनोन्मुख पुनीत प्रेम के उत्कृष्ट रूपविधान तथा काव्योचित सरस सौंदर्य का मौलिक काव्य है। वियोगी जी हिन्दी-क्षेत्र के एक प्रसिद्ध लेखक, पंडित और कवि भी हैं। आपने कई सुन्दर पुस्तकें रची हैं। जिनमें से "वीरसतसई" सर्वोत्तम है। संग्रह-ग्रंथों में से इनका "ब्रजमाधुरी सार" और साहित्य-विहार भी उल्लेखनीय हैं। आपने कुछ नाटक या नाटिकायें भी लिखी हैं तथा कई पुस्तकों का सम्पादन भी अच्छा किया है। "**वीर सतसई**" वर्तमान समय में ब्रजभाषा-काव्य की सतसई शैली से लिखी गई एक अनोखी-चोखी पुस्तक है, इसी पर इन्हें हि० सा० स० से १२०० रु० का पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है, जिसे इन्होंने सम्मेलन को ही दान दे दिया है। वियोगी जी कान्यकुब्ज विरक्त भक्ति कवि एवं लेखक हैं।

इनके अतिरिक्त भी कुछ नवयुवकों ने स्फुट गद्य-काव्यात्मक निबन्ध लिखे हैं और कुछ लिख भी रहे हैं। कभी २ जब ये लोग इस पद्धति या शैली का उपयोग गूढ़, चिन्तनीय तथा गंभीर विषयों में करने लगते हैं तब खेलवाड़ सा लगता है। काव्य-स्वरूप-निरूपण जैसे विषयों से इसका उपयोग चला और आगे सूक्ष्म विचारोचित गंभीर विषयों की ओर भी लपका, जो ठीक नहीं और विचार-शैथिल्य तथा मननशक्ति के प्रमाद का सूचक है। इस प्रलाप-शैली तथा वायुमंडल में उड़ान लगाने की पद्धति कुछ २ समालोचना के भी क्षेत्र में आ चली है, जिससे वास्तविक आलोचना न होकर केवल कुछ विशेष शब्दाडंबर एवं वाग्जाल

ही का प्रदर्शन हो जाता है। कल्पना कल्पना ही है विचार-क्रिया विचार-क्रिया ही है। दोनों में बहुत अंतर है।

साहित्यिक निबंध

हिन्दी-गद्य हरिश्चन्द्र के समय से विकसित होता हुआ आधुनिक काल के पूर्वार्ध काल में शैली की अनेकरूपता के साथ विविध-विषयक रचना के उपयुक्त हो गया।

इसका वाक्य-विन्यास सुव्यवस्थित, व्याकरण-संयत, स्वच्छ और सशक्त हो गया। विरामादि-चिह्नों के प्रयोग से, जो अंग्रेज़ी के ही आधार पर प्रारम्भ हुआ, भाषा, स्पष्ट, सुबोध और सुव्यवस्थित हो गई है। अतएव ऐसे गद्य में सुन्दर निबंध भी भली भाँति लिखे जा सके हैं।

निबंध-लेखकों ने प्रथम अपनी शक्ति को, जो कोई एक ही विषय या विशेष कार्य कर सकती थी, बहुन्मुखी करके यद्यपि विविध-विषयक रचनाओं से साहित्य-वृद्धि कर दी है, किन्तु और कोई विशेष लाभप्रद तथा महत्व पूर्ण कार्य न कर पाया। केवल कुछ ही ऐसे लेखक हुए जिन्होंने अपने अभीष्ट विषयों पर ही दृढ़ता तथा गंभीरता के साथ सुन्दर निबंध लिखे, हाँ, लिखे कम निबंध ही हैं। (का० ना० प्र० सभा से) "हिन्दी निबंध माला" के दो भागों में ऐसे लेखकों की सुन्दर रचनाओं का प्रदर्शन प्राप्त होता है।

निबंध-रचना साहित्य का एक उत्कृष्ट तथा महत्व-पूर्ण कार्य है, गद्य की परख इसी से होती है, भाषा अपने पूर्ण विकास का परिचय निबंधों से ही देती है। निबंध-रचना की शास्त्रीय विवेचना अब तक फिर भी अच्छे रूप में नहीं हुई। इधर अंग्रेज़ी में इस विषय की पुस्तकों को देखकर कुछ पुस्तकें हमारे सुयोग्य

विद्वानों के द्वारा लिखी गई हैं। **स्वामी सत्यदेव*** ने एक छोटी सी पुस्तक इस विषय पर लिखी है, कुछ दो-एक लेखकों ने और भी दो-चार पुस्तकें रचना-कला पर लिखी हैं, जो विद्यार्थियों के ही लिये उपादेय ठहरती हैं।* श्रीयुत **पं० चन्द्रमौलि शुक्ल** (M. A L T.) की "रचना-पीयूष" पुस्तक उल्लेखनीय है।

निबंध कई प्रकार के हो सकते हैं, मुख्यतया १—कथात्मक या Narrative, २—वर्णनात्मक या Discreptive ३—विचारात्मक या Reflective तीन प्रकार के ही निबंध प्रायः साहित्य में पाये जाते हैं, इनके मिश्रित रूप भी चतुर लेखक रच लेते हैं। निबंध-रचना में उद्देश्य-विभेद से भिन्न २ शैलियों का उपयोग किया जाता है। भाषा भी गुणादि-भेद से विशेष रूप में हो जाती है।

कथात्मक के अन्तर्गत हम छोटी २ कथायें रख सकते हैं। इसका परिचय प्रथम ही दिया जा चुका है। **विचारात्मक** निबंधों **में समास एवं व्यास शैली** उपयुक्त होती है और **भावात्मक** में, जैसा लिखा गया है, **धारावाहिक** तथा **विक्षेप रीति** प्रयुक्त होती है, अभी हाल ही से **"प्रलाप-शैली"** का भी प्रयोग होने लगा है।

---

* स्वामी सत्यदेव ने अमेरिका-भ्रमण, कैलाशयात्रादि यात्रा सम्बन्धी पुस्तकें भी अच्छी लिखी हैं। यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों के लेखकों में से इनके अतिरिक्त बा० शिवप्रसाद गुप्त (पृथ्वी प्रदक्षिणा-लेखक) विशेष उल्लेखनीय हैं। अंग्रेज़ी में यात्रा-सम्बन्धी (Travel) बहुत सी सुन्दर पुस्तकें हैं।

—सम्पादक

* श्री "रसाल" जी ने गत वर्ष "रचना-विकास" नामक एक सुन्दर तथा गंभीर पुस्तक लिखी है, जो निबंध-रचना के उच्चतर रूप पर यथोचित प्रकाश डालती है।

—सम्पादक

भारतेन्दु बाबू के ही समय से निबंध-रचना की परम्परा का प्रारंभ माना जाता है। उनके कुछ मित्रों ने सुन्दर निबंध लिखे, जो स्थायी साहित्य में अपनी महत्ता एवं सत्ता रखते हैं। कुछ काल तक चल कर यह परिपाटी शिथिल सी हो गई और स्थायी-विषयों को छोड लोग देश, समाजादि की जीवन-चर्या, सामयिक घटनाओं तथा ऋतुचर्य्यादि पर वर्णनात्मक निबंध लिखने लगे। पं० भट्ट जी ने त्योहार एवं ऋतु आदि पर सुन्दर निबंध लिखे, किन्तु यह परिपाटी भी बहुत दिनों तक न चली। भट्ट जी जैसे लेखकों ने अपने इस प्रकार के निबंधों में वर्णनात्मक तथा भावात्मक और कभी २ कथात्मक शैली की भी अच्छी पुट रक्खी थी और देश एवं समाज की परंपरागत भावनाओं आदि से परिचालित सस्कृति भी प्रतिबिंबित हुआ करती थी, जिससे उनमें सजीवता आ जाती थी। इस परम्परा के क्षीण होने का प्रधान कारण लेखकों और जनता की उपन्यासादि की ओर समुन्मुख होने वाली रुचि-विशेष का बढ़ना ही है।*

पत्र-पत्रिकाओं की जो वृद्धि हुई, उससे इसे लाभ होना चाहिये था, किन्तु न हो सका, क्योंकि पत्र-पत्रिकायें भी गल्पोपन्यास, खड़ी बोली-काव्य, सामाजिक तथा नैतिक आन्दोलनों आदि में लगी रहीं। उनमें तथ्य बातों का ही समुच्चय रहा, विचारों का नहीं।

पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने "सरस्वती" के द्वारा इस परम्परा को जाग्रति दी और ख़ूब लेख लिखे-लिखाये किन्तु उनमें से बहुत ही कम नवभावोद्भावना-पूर्ण, नव भाषा-शक्ति के

---

* श्री पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी अपनी स्वतंत्र एवं अनोखी शैली से कई सुन्दर लेख लिखे हैं और उनमें व्यंजना तथा हास्य की पुट दे रोचकता पैदा की है। —सम्पादक

चमत्कृत-चातुर्यमय ठहरते हैं। इनकी 'बेकन-विचार-रत्नावली' तो अनुवादित निबंधों का संग्रह ही है, जैसे हिन्दी के सुपरिचित लेखक **पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री** का "निबंधमालादर्श" है जो चिपलूण कर के मराठी निबंधों का अनुवादित संग्रह है। द्विवेदी जी के "प्रतिभादि" लेख अवश्य स्थायी निबंध-साहित्य में आते हैं पर ऐसे लेख है बहुत ही कम। श्रद्धेय **मिश्रबंधुओं** ने भी बड़े ही सुन्दर लेख लिखे हैं, जो कुछ सामाजिक, कुछ समालोचना-पूर्ण और कुछ स्फुट गंभीर विषयों पर हैं। इनका संग्रह प्रकाशित भी हो चुका है।

मिश्रबंधु—श्रीयुत माननीय पं० श्यामविहारी मिश्र (रायबहादुर) एम० ए० (दीवान ओरछा राज्य) श्री रायबहादुर पं० शुकदेव विहारी मिश्र बी० ए० (दीवान छतरपुर राज्य) तथा श्री पं० गणेशविहारी मिश्र हिन्दी-संसार के परम पूज्य एवं स्मरणीय विद्वान हैं। हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य का जितना महान् हित आप लोगों ने किया है, उतना किसी ने भी नहीं किया। आप लोग परमोच्च कोटि के लेखक, समालोचक, साहित्य मर्मज्ञ इतिहासकार और सुकवि हैं सत्समालोचना और साहित्य के सदितिहास के आप ही प्रसिद्ध और सर्वमान्य प्रवर्तक और आचार्य हैं। आप लोग व्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के मर्मज्ञ, आचार्य और सुकवि हैं। आप लोगों के रचे हुए ग्रंथों में से "मिश्रबंधु-विनोद" (साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास) "हिन्दी नवरत्न" (हिन्दी के ९ महाकवियों की रचनाओं की विवेचनालोचना पूर्ण ग्रंथ) 'भारतवर्ष का इतिहास' आज हिन्दी में परम प्रसिद्ध और स्थायी संपत्ति के रूप में हैं और सदा रहेंगे। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'रूस और जापान के इतिहास तथा भूषण ग्रंथावली (संपादित) देव ग्रंथावली (संपादित) रचे।

इनके काव्य ग्रंथों में से लवकुशचरित्र, विक्टोरिया अष्टादशी,

मदन-दहन (कुमार-संभव तीसरे सर्ग का अनुवाद) हिन्दी अपील "व्यय" (अर्थ शास्त्र ग्रंथ) हाँ काशी प्रकाश भारतातनय (खड़ी बोली में) सुन्दर हैं। रघु-सभव बूँदी-वारीश अपूर्ण हैं। आप के यहाँ हिन्दी केग्रंथों (प्राचीन हस्तलिखित, मुद्रित और नवीन) का एक बहुत बड़ा पुस्तकालय है। आपने काशी-ना० प्र० सभा के खोज-विभाग के अध्यक्ष रहकर बहुत स्तुत्य कार्य किया है। पं० श्यामबिहारी जी प्रयाग, लखनऊ और बनारस विश्व विद्यालय में भी सदस्य हैं, आप के ही प्रयत्न से प्रयाग और लखनऊ यूनिवर्सिटियों में हिन्दी को स्थान प्राप्त हुआ है।

यह अवश्य है कि इन सब लेखकों के विचारात्मक लेखों में भी बुद्धि को उत्कर्षोत्तेजन देने वाले गूढ़-गुंफित भाव-पूर्ण, कसा हुआ वाक्य-विन्यास नहीं पाया जाता। इनमें प्रायः एक भाव कई कई प्रकार से समझाया सा गया है। यह **"शिक्षक या बोधक-पद्धति"** (Teaching style) उस समय उपयुक्त भी थी, क्योंकि हिन्दी जनता क नव विषयों को नवीन विचारों से परिचित करना ही अभीष्ट था।

साहित्यिक निबन्ध-लेखकों में से उल्लेखनीय हैं :—

पूर्णसिंह ने भाषा की नवीन गति को, आधुनिक विचारों से उद्दीप्त नवीन भाव-भंगी, लाक्षणिकता तथा भाषा-गाम्भीर्य के साथ अपने तीन-चार लेखों से ही हिन्दी-जगत के सामने ला रक्खा। चारित्रिक तथा लोक-व्यवहारादि विषयों पर आपने प्रकाश डालने का मार्ग लिया है।

बा० बालमुकुन्द गुप्त ने सामयिक और राजनीतिक परिस्थिति के विषयों पर चलती हुई सजीव तथा विनोद-पूर्ण रोचक भाषा में भावगम्य वर्णनात्मक शैली से लिखा है, "शिव शंभु का चिट्ठा" यह एक उल्लेखनीय निबंध है।

गोपालराम (गहमर) ने भी कुछ निबंध, प्रगल्भ और

मनोरंजक भाषा में चित्रोपम शैली से लिखे हैं। इनका "ऋद्धि और सिद्धि" निबंध पठनीय है।

बा० श्यामसुन्दरदास—बनारस-हिन्दूविश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर और हिन्दी-विभाग के प्रधान हैं। आप ही के प्रयत्न से काशी ना० प्र० सभा आज इस उन्नत दशा को पहुँची है। आप अच्छे लेखक और योग्य वक्ता हैं। आप के लेख गंभीर, भावपूर्ण तथा मननशील होते हैं। आप कुछ सुन्दर पुस्तकें लिख, सम्पादित तथा संग्रहीत कर चुके हैं। कवियों एवं लेखकों की जीवनियों का सचित्र संग्रह "हिन्दी कोविद रत्न माला" (दो भाग) साहित्यालोचन (हडसन आदि अंग्रेज़ी साहित्यज्ञों तथा समालोचकों के ग्रंथों के आधार पर) भाषा-विज्ञान, "हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य" नामी आपके ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। आप टीकाकार एवं समालोचक भी अच्छे हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल—आप काशी-विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक और सुयोग्य लेखक हैं। आप के लेख गूढ़, गंभीर तथा पांडित्य-पूर्ण होते हैं। साहित्य-मर्मज्ञता उनसे सब प्रकार लक्षित होती है। आपने तुलसी, जायसी, सूर आदि पर सुन्दर आलोचनायें लिखी हैं। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' भी आपका पांडित्यपूर्ण है। आपने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं। आप कविता भी अच्छी करते हैं, "बुद्धचरित्र" आपकी उत्तम रचना है। आपकी भावपूर्ण तथा गंभीर शैली अपनी विशेष महत्ता रखती है। आपने ख़ूब मनन कर के निबंध लिखे हैं। हाल ही में आपने "रहस्यवाद" पर एक उत्तम पुस्तक लिखी है।

पं० भीमसेन शर्मा—महर्षि दयानंद जी के दक्षिण बाहु थे। आपने धर्म-सम्बन्धी कई ग्रंथ लिखे और कई संस्कृत ग्रंथों का भाषानुवाद भी किया। "आर्यसिद्धान्त" मासिक पत्र के आप सम्पादक भी थे। आपकी भाषा संस्कृतमयी, परम प्रौढ़ और

उच्चकोटि की होनी थी। आपने अंग्रेज़ी फ़ारसी के शब्दों को संस्कृत में रूपान्तरित करके एक विलक्षणता उपस्थित की है, जिससे आपका भाषा-सम्बन्धी मत प्रगट होता है।

पं० चन्द्रधर गुलेरी बी० ए०—संस्कृत के विद्वान तथा सरस्वती के बाद "समालोचक" मासिक पत्र के सम्पादक थे। गंभीर और विद्वतापूर्ण विनोद की पुट देते हुए आपने गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथा-प्रसंगों पर अनेक विषयों की जानकारी देने वाले प्रसंग-गर्भत्व (Allusiveness) के साथ अच्छे निबंध लिखे हैं।

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—विनोद-पूर्ण शैली के एक अच्छे हास्य-लेखक कहे जाते हैं, किन्तु आप ने स्थायी विषयों पर नहीं लिखा, लिखते समय आप कुछ भाषण सा देने लगते हैं।

गुलाबराय—आप एक सुयोग्य लेखक हैं, अपने दार्शनिक विषयों पर पांडित्यपूर्ण गंभीर निबन्ध लिखे हैं।

बा० कन्नोमल एम० ए०—आप धौलपुर राज्य में जज हैं और दार्शनिक तथा तर्कात्मक निबंध-रचना में परम कुशल हैं। आपने कई पुस्तकें भी लिखी हैं।

पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी (रायसाहब) हितकारिणी हाई स्कूल जबलपुर के हेडमास्टर थे। आप हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक थे, आपकी पुस्तकों में से "सदाचार दर्पण" उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त विविध-विषयों के कई प्रतिभावान लेखक उल्लेखनीय हैं किन्तु विस्तार-भय से हम उन्हें छोड़ रहे हैं।

—:०:—

समालोचना

काव्य-शास्त्र के आधार पर समालोचना का तात्पर्य गुण-दोष-विवेचन ही रहा है। इसीलिये इस विषय पर

प्राचीन आचार्यों ने स्वतंत्र रूप से विवेचनात्मक ग्रंथ नहीं रचे। अंग्रेज़ी-साहित्य में समालोचना के कई रूप हैं, जिन्हें देखकर ही हिन्दी-साहित्य में अब नवीन शैली की आलोचनायें होने लगी हैं। पुस्तकालोचन पद्धति का श्रीगणेश चौधरी बदरीनारायण से ही कहा जाता है।

अब समालोचना की मुख्य ५ शैलियाँ प्रचलित हैं, जिनका प्रचार अंग्रेज़ी-साहित्य के प्रभाव से हुआ है।

१—कवि-काव्य-विशेषता तथा **अन्तर्वृत्ति-प्रकाशन** जिसमें गुण दोष-विवेचन भी आ जाता है।

२—**निर्णयात्मक** (Judicial method) ढंग से किसी कवि या काव्य के गुणदोष देखकर उसका मूल्य या स्थान निश्चित करना, यह प्रशंसात्मक या निंदात्मक भी होती है।

३—**व्याख्यात्मक** (Inductive method) शैली से किसी ग्रंथ की समस्त बातों को व्यवस्थित रूप से स्पष्ट रख कर सभी अंगों की विशेषतायें ढूँढ़ विग्रहात्मक व्याख्या करना।

४—**ऐतिहासिक** (Historical) समीक्षा से कवि पर पड़े हुए उसके सामयिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिकादि प्रभावों को देखते हुए उसके काव्य का साहित्य की परम्परा से संबन्ध निश्चित करना। इसी प्रकार :—

५—मनोवैज्ञानिक (Psychological) ढंग से कवि के जीवन स्वभावादि का अध्ययन कर उसकी अंतवृत्तियों के सूक्ष्म अनुसंधान के आधार पर काव्य का रूप निश्चित करना। इसी में कवि के अनुभव-ज्ञानादि का भी प्रदर्शन आ जाता है।

इनमें से प्रथम गुण दोषात्मक निर्णय शैली को ही यहाँ प्रधानता मिली है। चौधरी साहब ने पत्र में पुस्तकालोचन की पद्धति चला तो दी थी परन्तु आलोचना-सम्बन्धिनी-पुस्तक रचना का कार्य

श्री पं० महावीरप्रसाद् के ही समय में हुआ। लाला सीताराम के अनुवादित कालिदास कृत नाटकों की गुणदोषमयी तीव्र आलोचना द्विवेदी जी ने की। फिर उन्होंने विशेषतासूचक समीक्षा से "विक्रमांकदेव चरित चर्चा, नैषधचरित-चर्चा" नाम की पुस्तकें लिखीं, इसी प्रकार "कालिदास की निरंकुशता" है, इनमें वास्तविक समालोचना ता नहीं, वरन् संस्कृत के काव-काव्य का परिचय, पंडित-प्रदर्शित व्याकरणात्मक दोष-प्रकाशन ही ,खूब है। द्विवेदी जी ने अपनी आलोचनायें आलोच्य पुस्तकों की भाषादि वाह्य बातों पर ही सीमिति रक्खी हैं इससे भाषा के व्याकरण-सम्बन्धी दोष दूर हुए और भाषा शुद्ध, संयत तथा साधु तो हो गई, किन्तु और कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

श्री मिश्र बंधुओं ने "मिश्रबंधुविनोद (कवियों का इति-वृत्ति-संग्रह) के पूर्व "हिन्दी नवरत्न" लिखा, जिसमें ६ महाकवियों की रचनाओं पर आलोचनात्मक प्रकाश डाला और एक नया मार्ग खोला, जिसे हम तुलनात्मक आलोचना कह सकते हैं। इसी मार्ग से फिर पं० कृष्णविहारी ने "देव विहारी" नामक आलोचनात्मक सुन्दर पुस्तक लिखी। पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने विहारी पर एक अच्छी आलोचना-पूर्ण पुस्तक लिखी। इसमें तुलनात्मक, गुणदोषात्मक तथा साहित्य-परम्परा के तारतम्य विवेचना की शैली का उपयोग किया गया है और रूढ़िगत (Conventional) समीक्षा भी रक्खी गई है हाँ कहीं कहीं व्यर्थ की वाहवाही वाली मुशायरे की महफिला तारीफ़ सी भी की गई है। लाला भगवानदीन जी ने "विहारी देव" नामक पुस्तक तुलनात्मक आलोचना की शैली से लिखी और बड़ी योग्यता, शिष्टता और मार्मिकता के साथ दोनों कवियों की रचनाओं पर विचार करते हुए उक्त मिश्र जी की बातों का उत्तर दिया।

इस तुलनात्मक आलोचना का कुछ दुरुपयोग भी हुआ और केवल तुलना को ही आलोचना समझा जाने लगा। फिर भी रूढ़िगत (Conventional) समीक्षा होती ही रही और "मतिराम ग्रंथावली" जैसी पुस्तकों में विस्तृत विवेचनायें की गईं।

ज्यों ज्यों अंग्रेजी-समालोचना की नवीन परिपाटियों से हमारे अंग्रेज़ी-शिक्षित सज्जन परिचित होते गये त्योंही त्यों उनके आधार पर हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में भी **नवीन शैलियाँ** फैलती गईं। इनमें से मुख्य मुख्य हैं:—

१—कवि की विशेषता तथा अन्तः प्रकृति की भावात्मक विवेचना करना। सूर, तुलसी, जायसी, एवं कबीरादि पर कुछ ऐसी आलोचनायें हुई हैं।

२—काव्य काव्य ही के लिये, कला कला के ही लिये है, (Poetry for Poetry's Sake and Art for art's sake) जो सौन्दर्यानन्दानुभूति (aesthetic experience) जैसे सिद्धान्तों से प्रभावित है, एक सिद्धान्त रूप में प्रचलित होकर आलोचना को एकांगी बना चला और उसमें से जीवन और जगत-सम्बन्धी वे सब बातें, जिनसे काव्यालोचना प्रभावित होती है और कवि-काव्य का मूल्य निश्चित होता है, अलग कर दी जाने लगी। आलोचना में इन बाह्य बातों का विशेष काम नहीं, सत्काव्य की कसौटी कल्पनात्मक तृप्तिदायक अनुभूति ही है, जो काव्य के अन्दर रहती है, उसकी बाहिरी बातों में नहीं, काव्य का जगत या उसकी प्रकृति इस जगत और उसकी प्रकृति से अलग, एकांत, स्वतंत्र और स्वतः पूर्ण है। काव्यानुभव की प्रेषणीयता (Communicability) से प्रभावित होकर उसकी आलोचना में अपने व्यक्तित्व को दूर रख कर कवि-काव्य की ही सत्ता-महत्ता में हमें लीन होना चाहिये। हमारे शास्त्रों में इस शैली या रीति को **साधारणीकरण** कहते हैं।

हमारे यहाँ काव्य के अन्तर्जगत के साथ वाह्य जगत तथा मानव-हृदय का गूढ़ सामंजस्य ही प्रधान रहता है।

३—**प्रभाववादात्मक**—(Impressionist) आलोचना केवल अपने ही पाठक हृदय पर पड़े हुए काव्य के प्रभाव (Impression) तथा आनंद का वर्णन करती है और अन्य सब बातों को छोड़ देती है। अतः यह व्यक्तिगत ही वस्तु होकर विविधरूपा हो जाती है और "भिन्न रुचिर्हि लोकः" से अनिश्चित ठहरती है।

४—**अभिव्यंजनावादात्मक**—(Expressionist) आलोचना उक्ति-वैशिष्ट्य पर ही पूरा बल रखती है, अभिव्यंजना-वैचित्र्य ही अनूठा होना चाहिये, इसकी सत्ता-महत्ता स्वतंत्र है और वह निरपेक्ष ही ठहरती है। हमारे यहाँ के वक्रोक्ति या वैचित्र्यवाद ही का यह पाश्चात्य रूप है। उक्त दोनों मतों के प्रभाव से गुण-दोष, रीति-नियमादि की विवेचना अब आलोचना से परे सी हो चली है। यह काव्य-शास्त्र के नियम-नियंत्रण का प्रतिवर्तन (Reaction) का ही रूप या फल है।

आधुनिक "**छायावाद-काव्य**" में इन दोनों वादों का पूरा प्रतिबिंब पाया जाता है, यह अंग्रेजी में काव्य-प्रभावित नव बंगला-काव्य के ही प्रभाव से हुआ है। अस्तु, अब हम हिन्दी के प्रधान आलोचकों को लेते हैं :—

श्री पं० रामचंद्र शुक्ल का स्थान गंभीर तथा पांडित्य-पूर्ण आलोचना-लेखकों में सब से ऊँचा कहा जाता है। वास्तव में शुक्ल जी की आलोचनायें विद्वता-पूर्ण और उच्च कोटि की होती हैं, उनमें कवि के काव्य की अन्तःप्रकृति, एवं कला-कौशल आदि की विवेचना मार्मिकता के साथ रहती है। हाँ कभी २ शुक्ल जी अपनी सुयोग्यता का भी विशेष परिचय देने में लग जाते हैं और आलोचना की बातों को बहुत दूर तक खींच ले जाते हैं। यदि देसा विस्तार कम होता और भाव-गांभीर्यमय संक्षिप्त मार्मिक विवेचन

ही प्रधान रहता तो उनकी आलोचनाओं की मननशीलता एवं गूढ़ता और बढ़ जाती। जायसी, तुलसी और सूर आदि पर इनके आलोचनात्मक निबंध महत्व-पूर्ण हैं।

पाश्चात्य आलोचना-पद्धति के आधार पर श्री पदुमलाल बख्शी ने भी दो एक पुस्तकें लिखी हैं, जो उल्लेखनीय हो सकती हैं*। पत्र-पत्रिकाओं ने आलोचना की एक विशेष शैली ही बना ली है, जिसमें कुछ विशेष तत्व नहीं रहता, हाँ कुछ पत्रिकाओं ने इधर सुन्दर आलोचनाओं की ओर भी ध्यान दिया है और वाह्यालोचन से अन्तरालोचन की ओर पैर बढ़ाया है। नये समालोचना-लेखकों में पं० शुकदेवप्रसाद तिवारी B A. (विनय मोहन शर्मा) और पं० अवध उपाध्याय भी उल्लेखनीय हैं, इनकी भी आलोचनायें मार्के की होती हैं।

कुछ दिनों से व्यक्तिगत आक्षेपों को लेकर भी कटुप्रलाप एवं व्यर्थ की छिद्रान्वेषण-पूर्ण आलोचनायें होने लगी हैं, जिनमें मज़ाक या हँसी सी उड़ाई जाती तथा लेखक के दोष-दर्शन ही कराये जाते हैं। अब यह कुत्सित शैली, प्रसन्नता की बात है, कम हो रही है।

यदि सच पूछा जाय तो सुन्दर समालोचनोदय का श्रेय श्रीयुत मिश्रबन्धुओं को ही प्राप्त है, हिन्दी-संसार को इसके लिये उनका कृतज्ञ और आभारी होना चाहिये। मत या रुचि-पार्थक्य से व्यक्तित्ववाद तथा पक्षपात को दूर कर उन्हें प्रधान स्थान मिलना चाहिये। आशा है अब यह महत्व-पूर्ण और उत्तर-दायित्वमय कार्य सर्वथा विचारपूर्वक ही होगा। केवल विद्वान जन ही समालोचना करने के अधिकारी हैं और वे ही

---

* यथा—विश्वसाहित्य। बख़शी जी अच्छे संपादक और लेखक हैं, कुछ कविता भी करते हैं।

—सम्पादक

सत्समालोचना कर भी सकते हैं, सब का यह काम नहीं। जो जिस विषय का मर्मज्ञ है वही उस विषय की रचना का वास्तव में आलोचक हो सकता है।

काव्य-विकास

हम प्रथम ही इस काल के पूर्ववर्ती उन कवियों का विवरण दे चुके हैं जो कला-काव्य में शैली में अनुराग रखते हुए स्फुट रचनायें ही करते रहे हैं। अब यहाँ हम उन उत्तरवर्ती या वर्तमान कवियों तथा उनके काव्यादिकों की सूक्ष्म विवेचना करेंगे, जिन्होंने काव्य क्षेत्र में कुछ नवीन विकास का प्रकाश किया है।

भारतेन्दु के समय से ही काव्य-क्षेत्र में नवीन विकास का आलोक फैल चला था और काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का तो प्राधान्य या प्राबल्य कुछ कम सा होने लगा था किन्तु खड़ी बोली और उसकी नवीन विशेषताओं का संचार-प्रचार विशेष होने लगा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य तथा कवि-समुदाय भाषा-भेद से भिन्न २ श्रेणियों में विभक्त से हो गये हैं :—

१—प्राचीन परम्परानुयायी ब्रजभाषा के कवि एवं काव्य।

२—शुद्ध खड़ी बोली के नवोदित कवि।

३—मिश्रित भाषा (खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा) के कवि।

इनके साथ ही कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जो खड़ी बोली का तो उपयोग अपने गद्य-लेखों या ग्रंथों में तथा ब्रजभाषा का प्रयोग प्राचीन शैली के काव्य में करते थे और कभी २ समयादि के प्रभाव से नवीन विषयों पर खड़ी बोली में भी कुछ कविता किया करते थे।

भारतेन्दु बाबू ने जिस प्रकार हिन्दी (खड़ी बोली) के गद्य का परिष्कार एवं प्रचार किया है उसी प्रकार उन्होंने उस व्यापक-काव्य-भाषा (ब्रजभाषा) का भी नव संस्कार किया, जिसका परि-मार्जन तथा परिशोधन आचार्य केशव, बिहारीलाल, घनानंद, पद्माकर, आदि ने उत्तरोत्तर उन्नति के साथ किया था। भारतेन्दु बाबू ने मुख्यतया निम्नांकित विशेषतायें ब्रजभाषा में ला दीं :—

१—उन्होंने उन सुन्दर शब्दों एवं पदों को, जो बहुत सरस, भावपूर्ण तथा मंजुल थे और जिनका प्रयोग कुछ शिथिल सा हो चला था, जिससे वे जनता तथा साहित्यिक परम्परा से दूर होते हुए लुप्तप्राय से हो चले थे, फिर से प्रचलित करने का प्रयत्न किया।

२—हाँ उन शब्दों या पदों को, जो जनता की भाषा से नितान्त-मेव उठ चुके थे और जिनका समझना दुस्साध्य सा हो गया था, किन्तु कवि लोग उनका उपयोग अब तक करते ही जाते थे और इस प्रकार नई जनता (विशेषतया नव शिक्षित समाज) को ब्रजभाषा काव्य से उदासीन सा बनाते जा रहे थे, उन्होंने वहिष्कृत करके उनके स्थान पर नवीन शब्दों का संचार किया या उनके बिना ही काम चलाने का विधान बनाया।

३—पुराने कवियों ने ब्रजभाषा में मार्दव एवं माधुरी लाने के लिये उच्चारण-सारल्य के सिद्धान्तानुसार शब्दों के तोड़-मरोड़ या रूपान्तर की जो व्यवस्था की थी उसका साधारण कवियों के द्वारा अनीप्सित रूप से दुरुपयोग देखकर भारतेन्दु बाबू ने इस व्यवस्था के उपयोग को सीमित तथा लुप्त करने का प्रयत्न किया। साधारण व्यावहारिकता-पूर्ण भाषा में ही उन्होंने सुन्दर रचनायें करके पथ-प्रदर्शक के समान उदाहरणार्थ उपस्थित कीं।

४—साधारण कवियों के द्वारा अनुचित रूप से विभक्तियों के लोप करने की जो अनर्थकरी परिपाटी सी चल पड़ी थी,

उसे भी उन्होंने रोका और इसे कवि की कमज़ोरी तथा भाषा की शिथिलता बताते हुए यथाशक्ति त्याज्य कहा। हाँ उचित रीति से परंपरानुमोदित ऐसी व्यवस्था का पालन करना उचित भी माना।

इस प्रकार भारतेन्दु बाबू ने काव्य की ब्रजभाषा का परिष्कार किया और उसका विशेष उपकार किया। साथ ही सामयिक विषयों एवं बातों को भी उन्होंने ब्रजभाषा की पुरानी काव्य-पद्धति के साथ रखकर कवियों को एक नवीन पथ दिखलाया। उनके मित्रों ने उनकी इन नवीन विशेषताओं के अनुकूल रचना करने में उनका हाथ भी ख़ूब बटाया। भारतेन्दु ने "कवि-समाज" स्थापित कर-करा के काव्य-की रक्षोन्नति आदि का भी अच्छा कार्य किया। समस्या-पूर्ति का प्रचुर प्रचार करके उन्होंने कतिपय नवीन कवि भी उत्पन्न कर दिये।

इन्हीं की देखादेखी और भी कतिपय स्थानों में सुकवियों ने कवि-मंडल एवं कवि-समाज स्थापित किये। अस्तु इस काल में समस्यापूर्ति का ही विशेष प्राधान्य-प्रचार रहा। इसकी कुछ पत्रिकायें भी निकलती थीं जिससे प्रचार-प्राचुर्य में सहायता मिलती थी। पुरुष कवियों ने तो इस मार्ग पर चलना प्रारम्भ ही कर दिया था, स्त्री-समाज की कविता करने वाली देवियाँ भी इसी का अनुसरण करने लगी थी। ऐसी समस्या-पूर्ति-करने वाली देवियों में **चन्द्रकला बाई, रमा देवी** आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। *

भारतेन्दु बाबू के समकालीन तथा उनके बाद से अब तक के प्रधान ब्रजभाषा-कविवरों का सूक्ष्म विवरण ही यहाँ पर्याप्त जान पड़ता है, क्योंकि इसके पश्चात् हमें इसी थोड़े से स्थान में

---

* देखो स्त्री-कवि-कौमुदी में हमारी भूमिका।

खड़ी बोली की काव्य-परम्परा पर भी विवेचनात्मक प्रकाश डालना है।

१—भारतेन्दु बाबू—(हरिचंद्रजू) अपने समय के सर्वोच्च कवि तथा ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा के एक महाकवि हैं। आपने प्रेम-पूर्ण शृंगार रसात्मक सुन्दर और मनोहर मुक्तक काव्य लिखा है। जिसका सहृदय एवं रसिक-समाज में बड़ा आदर है। इनकी भक्ति, प्रेम और शृंगार की सुन्दर रचनाओं के कई संग्रह निकले हैं, जिनमें प्रेममाधुरी (कवित्तसवैयों में), प्रेम-फुलवारी, प्रेमलतिका, प्रेम-प्रलापादि (पदों एवं गानों में) उल्लेखनीय हैं। इन्होंने साहित्य से सुन्दर रत्न चुन २ कर "सुन्दरीतिलक" नामक एक सुन्दर संग्रह ग्रंथ तैयार किया था जो अवलोकनीय है।

२—पं० प्रतापनारायण मिश्र—कानपुर-रसिकसमाज के प्रमुख कवि थे तथा समस्या-पूर्ति और शृंगार रस की रचनायें सुन्दर करते थे। अपनी मौज में आकर ये लावनीबाज़ों में अपनी लावनियाँ भी सुनाते थे। पं० बदरीनारायण "प्रेम-घन" जी का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। ये सानुप्रासिक तथा अलंकृत भाषा और कला-कौशल को तो विशेष प्रधानता देते थे और भारतेन्दु के समान भाव को उतना प्रधान न मानते थे। इनका मत था कि बिना सबल, चातुर्य-चमत्कार-पूर्ण सुन्दर भाषा के भाव कितना ही अच्छा क्यों न हो रोचक नहीं होता। इनके स्फुट कवित्तादि ही पाये जाते हैं।

३—ठा० जगमोहनसिंह—कवित्त-सवैया वाली मुक्तक काव्य-शैली में सुन्दर रचना करते थे, इनकी रचनाओं के कई संग्रह हैं। मेघदूत का कवित्त-सवैयों में इनका अनुवाद प्रसिद्ध है। इनकी रचनायें 'श्यामा-प्रेम संपत्तिलता' (सं० १८८५) श्यामालता, श्यामासरोजिनी (सं० १८८६) में मिलती हैं।

४—पं० अम्बिकादत्त व्यास भी ब्रजभाषा के सुकवि और पंडित थे। काशी-कविसमाज में ये बड़े ही आदरणीय थे। इनके प्रभाव से वहाँ बड़ी कठिन समस्यायें, जिनकी पूर्ति श्रम तथा खोज-साध्य होती थी, दी जाती थीं, तुक भी कठिन रक्खे जाते थे। बा० रामकृष्ण वर्मा का भी नाम इनके साथ उल्लेखनीय है, इन्होंने उक्त समाज की ओर से 'समस्या-पूर्ति-प्रकाश' नामक एक संग्रह प्रकाशित किया था। व्यास जी का "विहारी विहार", जिसमें प्रत्येक दोहे के भाव को विकसित करते हुए कुंडलियाँ लिखी गई हैं, एक अच्छा ग्रंथ है।

५—पं० नकछेदी तिवारी—(अजान) सरस, सुन्दर तथा रोचक कविता करते और बड़े अच्छे ढंग से पढ़ते थे। इन्होंने "मनोज मंजरी" आदि कई सुन्दर संग्रह भी तैयार किये और कवि-वृत्त-संग्रह भी प्रकाशित कराया।

६—बा० जगन्नाथदास, रत्नाकर—(B. A.) काशी-निवासी-हिन्दी-संसार के परम प्रसिद्ध ब्रजभाषाचार्य तथा महाकवि हैं। आप अंग्रेजी, फ़ारसी, संस्कृत तथा हिन्दी के अच्छे विद्वान हैं। हरिश्चन्द्र के पश्चात् हम आप को ही ब्रजभाषा-काव्य-क्षेत्र में सर्वोच्च महाकवि तथा दशमरत्न मानते हैं। ब्रजभाषा को साहित्योचित एकरूपता देते हुए पूर्ण तथा परिष्कृत, संयत, शुद्ध तथा शिष्ट बनाने वाले आप ही हैं। आपने सं० १९४६ से सदैव इसी में कविता की है। वर्तमान समय में आप हिन्दी-संसार में अप्रतिम और प्राचीन काव्य-कौशल के एकमात्र स्तुत्य प्रतिनिधि हैं। आपने "गंगावतरण" नामक एक परमोत्कृष्ट काव्य लिखा है जिस पर अयोध्या-राज्ञी ने १०००) और हिंदुस्तानी एकडमी ने ५००) पुरस्कार में दिये हैं। आपने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से "हरिश्चन्द्र काव्य", "उद्धव शतक", "गंगा विष्णु शतक", "श्रृंगार शतक", 'अष्टकरत्नादि' परम प्रशस्त और अवश्य अवलोकनीय हैं।

कवित्त की पद्माकरी शैली आप ही मे इस समय में अपनी पर-मोच्च पुष्टि एवं पूर्णता को प्राप्त हुई है। आपकी भाषा, शैली तथा काव्य-कलादि पर हमने उक्त उद्धवशतक में भूमिका लिखते हुए प्रकाश डाला है। यह छप रहा है। आपने घनाक्षरी के नियम भी निश्चित किये हैं तथा बिहारी सतसई की सुन्दर सप्रमाणित टीका भी लिखी है। आज कल आप "सूरसागर" का कार्य कर रहे हैं। आपका स्वभाव सरस, सरल, उदार और सदय है, बुद्धि आपकी कुशाग्रतीव्र और प्रतिभा विलक्षण है। इसी से आपका काव्य इतना प्रौढ़, विदग्ध और भावपूर्ण होता है। सत्काव्य के सम्पूर्ण गुण उसमें रहते हैं। आपने प्रथम काव्य-सम्बन्धी एक पत्रिका भी निकाली थी। आप पर हिन्दी को गर्व होना चाहिये।

७—पं० सत्यनारायण(कविरत्न)—व्रज-मंडल के निवासी और कृष्ण के भक्त थे। आपका हृदय सरल, सरस और गंभीर था। व्रजभाषा की उत्कृष्ट कविता इनको प्रसिद्ध ही है। आपने अपने काव्य में नवीन भावों एवं विचारों का भी सुन्दरता से समावेश किया है। देशानुराग की जो झंकार भारतेन्दु बाबू ने अपनी कविता-वीणा से निकाल कर समाज में समनुनादित की थी उसीको आपने भी अपनी रचना-तंत्र से निकाला है। प्रकृति के प्रेमी पुजारी होकर आपने उसका भी अच्छा चित्रण किया है। आपकी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

८—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'—कानपुर के प्रसिद्ध नागरिक तथा व्रजभाषा के सुकवि थे। आप प्राचीन भी कला-कौशल-पूर्ण काव्य-परम्परा के अनुयायी और भावुक कवि थे। कानपुर के रसिक-समाज के आप प्रधान कवि तथा कार्यकर्ता थे। आप की रचनाओं का संग्रह हमारे मित्रवर प० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी एम० ए० ने प्रकाशित कराया है। 'पूर्ण' जी की भाषा मधुर, मृदुल, सरस और भावपूर्ण है। "मेघदूत" का आपने 'धाराधर' धावन

के नाम से सुन्दर अनुवाद किया है, जिससे इनका पद-लालित्य, रचना-सैष्टव तथा भाषाधिकार प्रगट होता है। आपका शरीरान्त ४७ वर्ष की आयु में सं० १६७७ में हुआ।

८—पं० श्रीधर पाठक—प्रयाग-पद्मकोष के मकरंद-प्रेमी मधुप थे, आपने ब्रजभाषा में देशानुरागादि नवीन भावों का संचार करते हुए सुन्दर तथा उत्तम रचनायें की हैं, आपका "भारत गीत" लोगों की ज़बान पर है। गोल्ड स्मिथ के 'डिज़र्टेड विलेज' का अनुवाद आपने "ऊजड़ ग्राम" के नाम से किया, जो प्रसिद्ध और सफल हुआ है, इसमें ब्रजभाषा को विविध (देशीय विदेशीय, प्राचीन एवं नवीन सभी प्रकार के) विचारों को सफलता-पूर्वक प्रकाशित कर सकने वाली अर्थ-शक्ति का पूरा परिचय प्राप्त होता है। अंग्रेज़ी और संस्कृत दोनों में योग्यता रखने से इनकी प्रतिभा प्रौढ़, परिष्कृत और सदसद्-विवेचना थी। भाषा-परिशोधन भी आपने अच्छा किया है। आपकी ब्रजभाषा सरस, भावपूर्ण और सरल होती हुई भी साहित्यिक क्षमता से पूर्ण होती है। संस्कृत के सुन्दर शब्दों को चुनकर आप बड़ी ही मधुर पदावली रचते थे और कभी २ समास-बहुला शैली तथा जटिल वाक्य-विन्यास की ओर भी झुक जाते थे। कहना चाहिये कि ये भावुक, प्रतिभाशाली तथा सुरुचि-पूर्ण कवि थे। ये सौंदर्य के प्रेमी, सरलता के उपासक और प्रकृति के सुखद-सुन्दर रूप के पुजारी थे। आपने कुछ नई छंदों की भी बंदिश की है, कहीं २ तुकहीन तथा बेमौक़े समाप्त होने वाले दीर्घाकारी वाक्य-विन्यास भी इन्होंने अपना छंदों में रक्खा है। विविध विषयों में भी आपने लेखनी उठाई है और उन्हें सरस कर दिया है। खड़ी बोली में भी इन्होंने साधारण रचना की है। प्रतिभा इनकी ब्रजभाषा-काव्य में ही सच्चे रूप से प्रगट हुई है।

१०—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" :— आप आज कल काशी-विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं। आप खड़ी बोली के सर्वोच्च प्रतिनिधि, कवि-सम्राट, मर्मज्ञ ठेठ हिन्दी (हिंदोस्तानी) के अनुकरणीय लेखक तथा बोलचाल की भाषा के विशेषज्ञ माने जाते हैं। आप सरल और क्लिष्ट दोनों प्रकार की साहित्यिक भाषा के सिद्धहस्त लेखक एवं कवि हैं। खड़ी बोली के विविध रूपों तथा उसकी शैलियों पर आप का पूरा अधिकार है, मुहाविरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग में आप पूर्ण पटु पंडित हैं। सम्भव है कुछ लोग यह मानने को तय्यार न हों किन्तु आपके ग्रंथों का निष्पक्षभाव से अवलोकन एवं आलोचन यही प्रगट करता है और हृदय में यही बात पैदा होती है। खड़ी बोली में इतना प्रगाढ़ पांडित्य एवं अधिकार और किसे है, यह हिन्दी-संसार जानता ही है। उपाध्याय जी प्रथम बाबा सुमेरसिंह से काव्य-कला सीखते थे और ब्रजभाषा में ही कविता करते थे। ब्रजभाषा में इन्होंने बहुत सुन्दर रचना की है, उसीमें से चुन कर आप अब अपने "रसकलश" नामक-रस-विवेचना के ग्रंथ में उदाहरणों के रूप में प्रकाशित कराते जा रहे हैं। आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, किन्तु वे सब खड़ी बोली-काव्य की ही हैं, अतः यहाँ उल्लेखनीय नहीं। ब्रजभाषा में भी आपने उत्कृष्ट तथा कला-कौशल-पूर्ण उत्तम रचना की है। खड़ी बोली के अतिरिक्त आपका ब्रजभाषा पर भी अच्छा अधिकार है, ऐसा प्रायः बहुत ही कम देखने में आता है।

११—लाला भगवानदीन भी पुरानी शैली से ब्रजभाषा में कला-कौशल पूर्ण (अलंकारादि से सम्पन्न) अच्छी कविता करते थे, उक्ति-वैचित्र्य तथा कला-कौतुक भी इनकी समस्या-पूर्तियों में अच्छा पाया जाता है।

इनके अतिरिक्त व्रजभाषा में रचना करने वालों में "**वियोगी हरिजी**" का भी अच्छा स्थान है। वियोगी जी भावुक, भक्त तथा प्रेमी कवि हैं, पद शैली से आप ने भक्ति-पूर्ण सुन्दर रचना की है। "वीरसतसई" से आपने व्रजभाषा के वीर रस-काव्य का भाल ऊँचा किया है। गद्य-काव्य के भी आप सिद्धहस्त तथा उच्चकोटि के सफल लेखक हैं।

पं० नाथूराम शंकर जी शर्मा भी सुप्रसिद्ध कवि हैं, किन्तु उन्होंने विशेषतया खड़ी बोली में ही रचना की है। ये प्रथम व्रजभाषा में कविता किया करते थे और अच्छी रचना करते थे, किन्तु ख्याति इन्हें अपनी खड़ी बोली की ही रचनाओं से मिली है।

इनके अतिरिक्त अब भी व्रजभाषा में सुन्दर रचना करने वाले मौजूद हैं किन्तु चूँकि वे अख़बारी वायुयान से नहीं उड़ते फिरते इसीलिये वे बेचारे अज्ञात से ही पड़े हैं। मथुरा के श्री **नवनीति जी, श्री द्विजश्याम, श्री 'द्विजेश', 'बचनेश' श्रीबधु जी, श्रीमिश्रबंधु** तथा संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय पं० **देवीप्रसाद जी शुक्ल** 'कवि-चक्रवर्ती' और 'सरस' के नाम यहाँ उल्लेखनीय हैं। शुक्ल जी संस्कृत और व्रजभाषा दोनों में उत्कृष्ट काव्यकला-कौशल-पूर्ण रचना करते हैं।*

खड़ी बोली-काव्य के प्रबल वेग से व्रजभाषा-काव्य कुछ रुक सा चला था किन्तु अब व्रजभाषा-काव्योद्धार का आन्दोलन प्रबल रूप से प्रारम्भ हुआ है और प्रायः सभी प्रधान कविवर तथा

---

* श्रीयुत 'रसाल' जी का नाम व्रजभाषाकाव्य-क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय है, आप ही 'रत्नाकर' जी के बाद इस क्षेत्र में प्रधान प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। —सम्पादक

हिन्दी-विद्वान, जो ब्रजभाषा के प्रेमी और मर्मज्ञ हैं, इसमें सब प्रकार सहायता दे रहे हैं, अस्तु आशा है कि ब्रजभाषा-काव्य का कल कानन सूखने न पायेगा, वरन् फिर पल्लवित, पुष्पित तथा फलवान होगा। खड़ी बोली के कुछ नवोदित कवि, प्रेमी या लेखक, जिन्हें काव्य-कौशल तथा काव्य-कला के साथ ही साथ ब्रजभाषा का यथोचित ज्ञान नहीं, भले ही विरोधी बन कर ब्रजभाषा-काव्य पर अनर्गल प्रलाप-पविपात किया करें तथा लोगों को इनके विरोध में बहकाया करें, किन्तु इसका काव्य-कल्पद्रुम, जो अपने मधुर सुधारस से समाज को अपना निश्चल नेही-नेमी किये हुए हैं, किसी भी प्रकार सूख नहीं सकता। सारा सहृदय-समाज इसकी सुखद छाया में आकर इसके सुधाफल का आस्वादन करता हुआ इसकी कीर्ति का कीर्तन कर रहा है।

नवोदित खड़ीबोली-काव्य-विकास

अमीर ख़ुसरो के ही समय से खड़ी बोली-काव्य का उदय कहा जाता है, क्योंकि सब से प्रथम उन्होंने ही कुछ पहेलियाँ इस भाषा में लिखी हैं। हम समझते हैं कि उन्होंने खड़ी बोली में उन्हें न लिखकर उर्दू में ही (जैसी वह उस समय थी) लिखी हैं, इसी ही समय से उर्दू का विकासोदय भी प्रारम्भ होता है। देश की साधारण भाषा को फ़ारसी के रूप में ढालते हुए मुसलमानों ने इसे व्यवहृत करना प्रारम्भ किया, क्योंकि बिना ऐसा किये वे हिन्दू-जनता के साथ अपना काम हो न चला सकते थे। ख़ुसरो ने इसी भाषा को परिष्कृत कर अपने लिये तैयार किया और इसमें कुछ पद्य भी रचे। इसे लोग भले ही खड़ीबोली कहें, किन्तु ठहरती यह उर्दू के रूप में विकसित होने वाली फ़ारसी साँचे में

ढली हुई मुसलमानों की वह हिन्दी ही जो उस समय की साधारण देश-भाषा पर ही समाधारित है।

शीतल कवि ने अपना "गुलज़ार चमन" इसी भाषा में रचा है, उसके पूर्व से ही **रेखता** का प्रचार हुआ है और प्रायः मुसलमान ही उसे अपनाते रहे हैं। खड़ी बोली तो विकसित होती हुई हरिश्चन्द्र के ही समय से साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुई है और उन्हीं के समय से इसका साहित्योचित रूप भी निश्चित सा हुआ है। इसके पूर्व खड़ी बोली में उर्दू-छंदों के साथ "नज़ीर" (अकबराबादी ज०-सं० १७९७ मृत्यु-सं० १८७७) ने कुछ कृष्ण-भक्ति-काव्य लिखा था। कला-काल के कुछ उत्तरवर्ती कवि भी खड़ी बोली में कुछ छंद रच गये हैं। वास्तव में वर्तमान **खड़ी बोली में सब से प्रथम सुन्दर रचना करने का श्रेय श्रीधर पाठक** को ही है। अतः हम इन्हीं से प्रारम्भ करके वर्तमान खड़ी बोली के काव्य का सूक्ष्म विवेचन करते हैं।

उर्दू ढंग की छंदों, लावनियों तथा ख्यालों में खड़ीबोली का उपयोग प्रथम ही होता रहा है और हरिश्चन्द्र के पश्चात् तक भी ऐसा ही होता रहा। श्रीधर जी ने भी यही लावनीवाली शैली ग्रहण की, क्योंकि लावनी एक प्रकार से हिन्दी की ही छंद है। इसी शैली से उन्होंने "एकान्तवासी योगी" नामक सुन्दर पुस्तक लिखी। इसकी भी भाषा को हम शुद्ध खड़ी बोली नहीं कह सकते क्योंकि इसमें व्रजभाषा की कुछ पदावली तथा लचक मौजूद है "कीजै" आदि क्रियायें और 'औ, प्रान पियारे' जैसे व्रजभाषा के शब्द-रूप व्यवहृत हुए हैं। कुछ समय के बाद पाठक जी ने 'श्रान्त पथिक' (गोल्ड स्मिथ के ट्रैवेलर का अनुवाद) रोला छंद में लिखा, इसमें खड़ी बोली कुछ विशेष परिमार्जित है। पाठक जी ने इस प्रकार हिन्दी-छंदों में खड़ी बोली का संचार करके एक नया मार्ग

खोल दिया। सवय्यों में भी इसका उपयोग करके उन्होंने इसे भी ब्रजभाषा के समान साहित्यिक-काव्य के उपयुक्त दिखलाया।

पाठक जी के पश्चात् **श्री हरिऔध जी** ने खड़ी बोली को काव्य-साहित्य में एक निश्चित स्थान देने का कार्य किया। यद्यपि पाठक जी ने खड़ी बोली को कवित्त-सवैया एवं अन्य साहित्यिक छंदों में व्यवहृत कर उसकी क्षमता तथा कुशलता दिखा दी थी, किन्तु उपाध्याय जी ने अपने दो स्वतंत्र मार्ग रक्खे, उन्होंने उर्दू-छंदों के उपयुक्त तो खड़ी बोली के साधारण (नागरिक या ठेठ रूप) या व्यावहारिक-रूप को समझा, क्योंकि उर्दू शायरी की छंदों में बामुहावरा बोलचाल की साफ़-सुथरी ज़बान ही प्रचलित थी और उर्दू छंदें उस भाषा में मँज भी चुकी थीं, साथ ही उस भाषा की, चिर-साहचर्य-सम्बन्ध से, उर्दू छंदों में संगति भी ख़ूब बैठती थी, इसीलिये उर्दू-हिन्दी-मिश्रित साधारण खड़ी बोली के रूप का, जिसमें मुहावरों पर ही विशेष बल रहता है तथा जो प्रयोग परिचय-प्राबल्य से साफ़-सुथरी और परिमार्जित रहती है, उपयोग उन्होंने उर्दू-छंदों में ही ठीक समझा। वास्तव में यह ठीक भी ठहरता है। हिन्दी की मात्रिक छंदों के लिये खड़ी बोली पूर्ण सफलता के साथ उपयुक्त नहीं होती। यही समझ कर आपने मौलिक छंदों में इसका उपयोग नहीं किया। संस्कृत के वर्णिक वृत्तों के उपयुक्त उन्होंने साहित्यिक खड़ी बोली के उत्कृष्ट और प्रौढ़ रूप को ही माना है और यह ठीक भी है।

यहीं यह लिखना भी आवश्यक जान पड़ता है कि श्रद्धेय पं० **महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने इसी समय में खड़ीबोली-काव्य का वह रूप सामने रक्खा तथा प्रचलित किया जिसमें संस्कृत-पदावली, समास-बहुला, रीति तथा संस्कृत की वर्णिक छंदों का ही पूर्ण प्राधान्य रहता है। उन्हें इस पथ पर चलते देख कर उपाध्याय जी भी इसी मार्ग पर आ गये और सं० १९७१ में उन्होंने अपना

परम प्रसिद्ध तथा उत्कृष्ट "प्रियप्रवास" नामी काव्य ग्रंथ रचा। खड़ी बोली में ऐसा सुन्दर, प्रशस्त, काव्य-गुण-सम्पन्न और उत्कृष्ट काव्य आज तक दूसरा निकला ही नहीं। हम इसे **खड़ी बोली के कृष्ण-काव्य** का सर्वोत्तम **प्रतिनिधि** कह सकते हैं। यह प्रगट करता है कि कृष्ण-काव्य की परम्परा, शिथिल होकर भी अभी नितांत लुप्त नहीं हुई, खड़ी बोली के काव्य-क्षेत्र में भी वह अपना उच्च स्थान रखती है। इस काव्य में श्रीकृष्ण न केवल गोपियों के प्रेमी नायक तथा गोपों के मित्र और यशोदा के प्रिय बाल कृष्ण के ही रूपों में चित्रित किये गये हैं वरन् व्रज के रक्षक और नेता के रूपों में भी दिखलाये गये हैं।

प्रियप्रवास की संस्कृत-पदावली परम मधुर, धारावाहिकता-पूर्ण, मृदु, मंजुल और सरस है, उससे कवि की शब्द-संचयन तथा संगठन की चारु चातुरी का पूरा परिचय मिलता है। इस शैली के किसी भी अन्य कवि में यह विशेषता नहीं पाई जाती। इस में काव्योपयुक्त सभी प्रकार के गुण उपस्थित हैं। यह अवश्य है कि कहीं २ दीर्घ समास, लम्बी पदावली और क्लिष्ट एवं जटिल शब्द-विन्यास साधारण हिन्दी के जानने वालों को दुर्बोध हो जाता है, ऐसे ही स्थलों में यह भान होने लगता है कि यह संस्कृत काव्य है, केवल एक क्रियापद (था, किया जैसा) ही उसे हिन्दी कर देता है। कहीं २ कारक-विभक्तियों का भी ऐसा लोप किया गया है जो स्पष्टता का बाधक तथा कुछ खटकने वाला सा जान पड़ता है। इसकी पांडित्य-पूर्ण लम्बी भूमिका में उपाध्याय जी ने इसकी ऐसी ही विशेषताओं पर मार्मिक प्रकाश डाला है। वर्णनात्मक काव्य होकर यह चित्रोपम, सजीव, रोचक तथा रसपूर्ण है। वर्णन-शैली बड़ी ही चोखी और चुटीली है, भावानुभावादि का भी अच्छा मार्मिक तथा मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। कला-कौशल और अलंकार-वैचित्र्य भी स्तुत्य है। इसी एक काव्य

से उपाध्याय जी खड़ी बोली के "कविसम्राट" होकर अमर हो गये हैं। साथ ही खड़ी बोली-काव्य भी इसी से गौरवान्वित हुआ है। अतुकांत शैली के सफल तथा स्तुत्य प्रवर्तक हम हिन्दी-क्षेत्र में हरिऔध जी को ही मान सकते हैं।

इसके बाद उपाध्याय जी ने बोलचाल की साधारण खड़ी-बोली उठाई और मुहावरेदार सामान्य भाषा में बड़ी ही मार्के की रचना की। इस क्षेत्र में भी उपाध्याय जी अप्रतिम ही रहे। अपनी सफल बहुन्मुखी प्रतिभा से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि भाषा कोई भी हो, प्रतिभावान कवि सफलता से उसमें काव्य-रचना कर सकता है। इस शैली की रचनाओं में 'चोखे चौपदे' (१६८१) 'चुभते चौपदे' और "बोल चाल" नामक पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं। "पद्यप्रसून" में साहित्यिक और साधारण दोनों प्रकार की भाषाओं में सुन्दर रचनायें हैं।

"बोल चाल" भी साधारण बोलचाल की भाषा में उसी प्रकार सुफल काव्य है, जिस प्रकार उत्कृष्ट साहित्यिक हिन्दी में 'प्रिय प्रवास' है। दोनों की उपमा आज खड़ी बोली के काव्य-क्षेत्र में नहीं है। 'बोल चाल' की लम्बी भूमिका से उपाध्याय जी के भाषा-पांडित्य तथा काव्य-मर्म-परिचय का पूरा आभास मिलता है।

किसी २ ने उपाध्याय जी को इन रचनाओं से उनके समाज-सुधारक, उपदेशक और शब्द-संग्रहकार होने का भी अनुमान किया है, किन्तु हमारा तो विचार उनके देखने से यही है कि ऐसा अनुमान इन्हीं के सम्बन्ध में न किया जाकर और भी अनेक प्राचीन तथा वर्तमान प्रतिनिधि कवियों के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। वृन्द, गिरधरदास, कबीर, तुलसी तथा मैथिली बाबू आदि कविवर भी उपदेशक, समाज-सुधारक और शब्द-संग्रहकार कहे जा सकते तथा कहे भी गये हैं। कवि वास्तव में न केवल सुन्दर शब्दों, मुहावरों आदि का संग्रहकार ही है वरन् उनका निर्माता

भी है। हमारे मत से उपाध्याय जी खड़ी बोली के काव्य-क्षेत्र में इस समय सर्वोच्च महाकवि और विद्वान हैं।

श्री पं० नाथूराम शंकर जी भी खड़ी बोली के सुप्रसिद्ध कवि हैं। इन्होंने व्रजभाषा में भी सुन्दर रचनायें की हैं और यदि व्रजभाषा में ही ये कविता करते रहते तो सम्भवतः इन्हें स्तुत्य सफलता मिलती। आर्यसमाज में उपदेशक हो जाने से इनकी कविता बदली, उसमें साम्प्रदायिकता का प्रभाव आया और वह खड़ी बोली की धारा में बहने लगी। "गर्भरंडा रहस्य" जैसी पुस्तकें इसकी तथ्यता प्रगट करती हैं। उपदेशकों का व्यंग्यात्मक पुट इनकी भाषा में ख़ूब है, साथ ही शब्दों का विलक्षण निर्माण तथा प्रयोग भी अनोखा है। बहुतेरी रचनाओं से इनकी प्रशस्त प्रतिभा का पता चलता है। प्रायः विलक्षण गढ़े हुए शब्दों से परिपूर्ण रचनायें खटकने वाली और कुछ श्रुति-कटुसी हो गई हैं। फिर भी शंकर जी का स्थान साहित्य में ऊँचा ही ठहरता है।

श्रद्धेय पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी जैसे खड़ी बोली में गद्य-रचना की एक विशेष शैली के एक वर्तमान प्रवर्तक माने जाते हैं उसी प्रकार पद्य-रचना को भी एक विशेष प्रणाली के प्रवर्तक कहे जाते हैं। आपने प्रथम हिन्दी भाषा को स्वच्छ, शुद्ध, संयत और शिष्ट किया है, जिसका प्रभाव गद्य-पद्य दोनों ही पर अच्छा पड़ा है। इन्हीं के अदम्य उद्योगान्दोलन से शुद्ध खड़ी बोली में काव्य-रचना का प्रचार-प्रस्तार हुआ और काव्य-क्षेत्र से शिथिल तथा अव्यवस्थित भाषा दूर हो गई।

मराठी-साहित्य से प्रभावित हो कर द्विवेदी जी ने संस्कृत की वर्णिक छंदों में रचना करके हिन्दी-संसार के सामने रक्खी, भाषा फिर भी आपने व्रजभाषा ही रक्खी ('अयोध्या-विलाप' शीर्षक रचना देखो) फिर खड़ी बोलो उठाई और उसके साहित्यिक रूप में कविता करने पर ज़ोर दिया और गद्य-पद्य दोनों

में एक ही भाषा के प्रयोग का प्रचार किया, किन्तु इसमें उन्हें पूर्ण सफलता वर्ड्सवर्थ की ही भाँति न मिली। उनकी कविता में प्रयत्न करने पर भी सानुप्रासिक, अलंकृत तथा कोमल पदावली आ ही गई। वास्तव में काव्य की भाषा सदैव गद्य की भाषा से पृथक् ही रहती है। काव्य में भाव या विचार को मुख्य मानते हुए भी भाषा को प्राधान्य देना ही पड़ता है, क्योंकि विचार या भाव भाषा से अलग रह नहीं सकते। सदा बल रखना पड़ता है, भाव-प्रकाशक रीतियों या शैलियों पर और इसी से काव्य में लाक्षणिकता, वक्रता (वैचित्र्य) और रसात्मिकता आदि आ जाती हैं जिनसे काव्य सरल तथा समाकर्षक होता हुआ उस लोकोत्तरानन्द का देने वाला हो जाता है, जो ब्रह्मानन्द का सहोदर है।

द्विवेदी जी ने व्यावहारिक भाषा का प्रयोग करके अपनी रचनाओं को पद्यात्मक गद्य (Versified Prose) ही सा बना दिया, साथ ही उन्हें इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) रखकर सरसता-हीन सा भी कर दिया है। जहाँ ऐसा नहीं किया वहाँ उन्होंने सुन्दर रचना की है। "कुमारसंभवसार" इसका अच्छा उदाहरण है, न तो इसमें संस्कृत वृत्तों का ही प्रयोग किया गया है और न संस्कृत पदावली का ही, यह सरल, स्वच्छ तथा स्पष्ट हिन्दी में सफल अनुवाद है। द्विवेदी जी की स्फुट रचनायें "काव्य-मंजूषा" में संग्रहीत हैं। इनके अनुयायी कवियों में बा० मैथिलीशरणगुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० लोचनप्रसाद पांडेय, उल्लेखनीय हैं।

बा० मैथिलीशरण खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवि हैं, द्विवेदी जी के ही प्रभाव-प्रसाद से इनकी भाषा शुद्ध, परिपक्व और सुन्दर हुई तथा इनकी कविता को ख्याति मिली। संस्कृत की भी पुट इनकी भाषा में अच्छी रहती है, हाँ उसमें उर्दू का कुछ भी अंश

नहीं रहता। इनकी प्रथम पुस्तक देश दशा पर "भारत भारती" नाम से निकली, जिसे हम सफल सत्काव्य नहीं कह सकते, हाँ पद्यात्मक निबंध मान सकते हैं। इनका "जयद्रथ-वध" नामक खंड काव्य सराहनीय है। उसमें वीर तथा करुण रस का अच्छा स्रोत बहता है, अलंकृत वाक्य-विन्यास भी कहीं कहीं सुन्दर आया है। भारती तो कुछ उर्दू-शायर "हाली" के आधार पर है, यह स्वतंत्र रचना है, हाँ कहीं २ संस्कृत की सुन्दर उक्तियों का भावापहरण इसमें भी अवश्यमेव पाया जाता है। भाषा इनकी स्वच्छ, शुद्ध, सुकाव्यान्वित तथा प्रौढ़ होती है, भाव-चमत्कार तथा काव्य-कौशल विशेष सराहनीय नहीं। इधर इन्होंने रवीन्द्र बाबू की ओर व क्रांति तथा आध्यात्मिक रहस्यवाद की भी ओर पैर बढ़ाया है और बँगला की काव्य-शैली का अनुकरण किया है। कुछ संगीतात्मक रचनायें भी इनकी अच्छी हैं। **माईकेल मधुसूदन दत्त** की कतिपय रचनाओं के पद्यानुवाद भी इन्होंने सफलता के साथ किये हैं इनमें 'विरहिणी, ब्रजांगना, वीरांगना, मेघनाद-वध' उल्लेखनीय हैं। सामयिक प्रवाह में भी ये ख़ूब बहे हैं, 'किसान, स्वदेश-संगीतादि' इसके उदाहरण हैं। आपने नाटक-शैली से भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं और अनुकांत तथा अव्यवस्थित पद-विन्यास से भी कुछ रचनायें इन्होंने की हैं। अब आप चिरगाँव-झाँसी में प्रेस खोल कर अपनी पुस्तकों के प्रकाशन आदि का कार्य करते हैं। छायावाद का भी कुछ रंग अब इन पर चढ़ने लगा है। गुप्त जी में मौलिक भावों की न्यूनता तथा काव्य-कौशल की संकीर्णता उन्हें ऊँचा स्थान देने से रोकती है। इन्होंने कई छोटी २ पुस्तकें लिखी हैं।

पं० रामचरित उपाध्याय संस्कृत के पंडित और हिन्दी के सुकवि हैं। स्फुट साधारण रचनाओं को छोड़कर इन्होंने "रामचरितचिंतामणि" नाम एक प्रबंधात्मक राम-काव्य का विविध छंदात्मक शैली से सुन्दर ग्रंथ लिखा है, जो खड़ी बोली के इस युग में

राम-काव्य की परम्परा का अस्तित्व-सूचक है और केशव की शैली का एक सराहनीय प्रतिनिधि है।

पं० लोचनप्रसाद पांडेय—"सरस्वती" के सुकवि और साहित्य-सेवक हैं। "मृगा-दुःख-मोचन" नामक रचना इन्होंने सवैया छंदों में कथा-काव्य-शैली से की है, रचना सरस और सुन्दर है, पशु-प्रकृति का अच्छा निरूपण इसमें किया गया है। इतिवृत्तात्मक तथा स्फुट विषयों पर भी इनकी बहुत सी रचनायें पत्र-पत्रिकाओं में मिलती हैं।

द्विवेदी जी के पथ पर चलने वाले और भी बहुत से नवोदित कवि हैं जिनकी स्फुट रचनायें पत्र-पत्रिकाओं में बहुधा निकलती रहती हैं। स्थानाभाव से हम उनका उल्लेख नहीं कर सकते। द्विवेदी जी के पथ से पृथक् भी कई प्रसिद्ध कवियों ने स्वतंत्र रचनायें की हैं, जिनमें से प्रमुख तथा उल्लेखनीय हैं:—

१—श्री० पं० गयाप्रसाद शुक्ल "सनेही" ("त्रिशूल")—कानपुर के प्रसिद्ध कवि तथा प्रसिद्ध काव्य-सम्बन्धी मासिक पत्र "सुकवि" के सम्पादक हैं। आप व्रजभाषा तथा उर्दू-प्रभावित खड़ी बोली दोनों में सुन्दर रचना करते हैं। व्रजभाषा की प्राचीन शैली से इनकी जो रचनायें हैं वे सरस, सुन्दर तथा भाव-पूर्ण हैं। समस्या-पूर्ति भी ये अच्छी करते हैं। इनकी ऐसी रचनायें रसिक-मित्र, काव्यसुधानिधि तथा साहित्य-सरोवर आदि पत्रों में निकलती रही हैं। देश, समाजादि के सामयिक नव विषयों पर इन्होंने उर्दू-मिश्रित हिन्दी (कभी २ शुद्ध उर्दू में भी) में इन्होंने **त्रिशूल** नाम से बड़ी ओज-पूर्ण, भावमयी और उत्तेजक रचनायें की हैं जो "त्रिशूल-तरंग" में संग्रहीत हैं।

२—पं० रामनरेश त्रिपाठी का नाम भी खड़ी बोली के कवियों और कट्टर हिमायतियों में लिया जाता है। इन्होंने 'पथिक, मिलन और स्वप्न' जैसी कुछ छोटी २ काव्य-पुस्तकें लिखी

हैं। पथिक तो एक सुन्दर प्रबंध-काव्य है जिससे इनकी अनुभूति तथा विचार-धारा का परिचय प्राप्त होता है, मिलन भी साधारण-तथा अच्छी रचना है, "स्वप्न" की आलोचना हम माधुरी की आषाढ़ सं० १९८६ की संख्या में कर चुके हैं। इसमें इन्हें काव्य-दृष्टि से विशेष सफलता नहीं मिली। इसमें भाषा शिथिल तथा सदोष भी हो गई है। 'कविता-कौमुदी' नाम से चार भागों में इन्होंने हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत के सुकवियों की रचनाओं का संग्रह भी किया है, संग्रह भी बहुत सुन्दर और सफल नहीं हो सका, हाँ किसी अच्छे संग्रह की अविद्यमानता में अच्छा ही है। इधर इन्हें व्रजभाषा तथा उसके साहित्य से न जाने क्यों चिढ़ सी हो गई है। ग्राम्यगीतों का भी संग्रह ये निकाल चुके हैं और उसमें काव्य की खोज बड़ी गहराई में पैठ कर चुके हैं, अब भी इसी के प्रबंधन की धुन में हैं।

३—**प्रो० लाला भगवानदीन**—खड़ी बोली तथा उर्दू में अच्छी रचना करते थे, हाँ ढंग रहता ऐसी रचनाओं में इनका मुंशियाना सा ही है। उर्दू-प्रभावित हो कर खड़ी बोली में इन्होंने उर्दू-छंदों का प्रयोग करते हुए वीररसात्मक बड़ी जोशीली तथा उत्तेजक कविता की है, 'वीरक्षत्राणी, वीरबालक और वीरपंचरत्न' अवलोकनीय हैं, इनको हम **वीर-स्तवन** तथा **शौर्य काव्य** की कक्षा में अच्छा स्थान देते हैं। इनमें पौराणिक तथा ऐतिहासिक वीर पुरुषों के चरित्र ओजस्विनी भाषा में चित्रित किये गये हैं।

इनकी भक्ति-शृंगार-विषयक पुरानी शैली के काव्य में कला-कौशल, उक्ति-चातुर्य, वाग्वैचित्र्य तथा रचना-चमत्कार अच्छा पाया जाता है, थे भी ये अच्छे काव्य-कला-मर्मज्ञ। इनकी स्फुट रचनायें "नदी में दीन" में संग्रहीत हैं। ये टीकाकार भी अच्छे थे। इन्होंने कई टीकायें लिखीं और कई पुस्तकें सम्पादित भी कीं।

पं० रूपनारायण पांडेय—प्रथम व्रजभाषा में अच्छी

कविता करते थे, इधर इन्होंने खड़ी बोली में रचना करना प्रारम्भ किया और ख्याति भी पाई। इनका विषय-चयन तथा भाव-विधान इनकी भावुकता तथा प्रतिभा का परिचायक है इनकी "दलित कुसुम" (अन्योक्तिमूलक) "वनविहंगम" (काल्पनिक) आश्वासन (भाव-प्रधान) नामक रचनायें उल्लेखनीय हैं। संस्कृत तथा हिन्दी दोनों की छंदों में शुद्ध खड़ीबोली की चारुता इन्होंने अच्छी निवाही है। इनकी स्फुट रचनायें "पराग" नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं।

इनके अतिरिक्त खड़ीबोली के नवोदित कवियों में **बा० सियाराम शरण गुप्त, श्री अनूप शर्मा** (B. A. L. T.) **पं० गिरधर शर्मा, पं० माखनलाल चतुर्वेदी** और **पं० जगदम्बा प्रसाद "हितैषी"** के नाम और भी उल्लेखनीय हैं। **सियाराम शरण** तो मैथिली बाबू के अनुज हैं और सामाजिक विषयों पर व्यंग्यमयी तथा करुण भावमयी सुन्दर रचनायें करते हैं। इनकी भी भाषा मैथिली बाबू की ही सी शुद्ध, सुव्यवस्थित, प्रौढ़ तथा सशक्त होती है। बेतुका तथा अनियमित रूप से रुकने वाला वाक्य-विन्यास रखते हुए मुक्त (छंद-मुक्त) शैली से भी ये लिखते हैं।

अनूप जी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में सुन्दर मुक्तक-काव्य लिखा है। हमारी समझ में इन्हें दोनों में अच्छी सफलता मिली है। वीर रस-पूर्ण उत्तेजक तथा प्रभाव-पूर्ण रचनायें जितनी तथा जैसी सुन्दर इन्होंने की हैं उतनी और वैसी सुन्दर कदाचित इस समय और कोई भी नहीं कर रहा। इनकी भाषा सबल, स्पष्ट, ओजस्विनी, शुद्ध और प्रौढ़ होती है। शैली इनकी कवित्त-सवैया वाली ही है, कवित्त लिखने में खड़ी बोली

के नव कवियों में इन्हें सराहनीय सफलता मिली है। इन्हें **"वर्तमान भूषण"** कहना सर्वथा उचित ही है।

गिरधर शर्मा संस्कृत के पंडित और हिन्दी के सुकवि हैं, गुजराती और बँगला की पुस्तकों के अनुवाद में इन्हें अच्छी सफलता मिली है, रचना तो साधारण ही सी प्रतीत होती है। **पं० माखनलाल** एक दक्ष संपादक और सुकवि हैं, देश-प्रेम संबंधिनी रचनायें इनकी मार्के की हैं, भाषा भी इनकी प्रभावोत्पादिनी रहती है।

हितैषी जी हास्य रस के चतुर लेखक हैं, साथ ही कवित्त-सवैयों मे इनकी अन्य मुक्तक रचनायें भी बड़ी ही सुन्दर और सराहनीय है। ये व्रजभाषा में भी अच्छा लिखते हैं।

कवित्तों के लिखने में अनूप जी के समान खड़ी बोली के नव कवियों में **ठा० गोपालशरणसिंह जी** को भी अच्छी सफलता मिली है। ठाकुर साहब की स्फुट मुक्तक रचनाओं का एक संग्रह "माधवी" के नाम से छप चुका है। ठा० साहब प्रेम के उपासक, स्वाभाविक सौंदर्यानंद-प्रेमी और प्रकृति के भावुक भक्त हैं। इनकी रचनाओं में प्रेम की मर्मस्पर्शिनी व्यंजना तथा अनुभूति की सुन्दर झलक रहती है। इन्हीं के साथ **सरदार नर्मदाप्रसाद सिंह "पिक"** का भी उल्लेख करना हम उचित समझते हैं, इनकी रचनाये' अभी प्रकाशित होकर हिन्दी-संसार में नहीं आईं, इसी से अभी ये छिपे पड़े हैं। ये खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों में सुन्दर रचना करते हैं।

श्रीयुत बचनेश, रमेश जैसे कुछ कवि और भी उल्लेखनीय हैं, स्थानाभाव से हम इनकी विवेचना नहीं कर सकते और खड़ी बोली-काव्य की एक नवीन पद्धति का, जिसे "छायावाद" कहा जाता है, सूक्ष्म विवेचना करके अपनी लेखनी को विश्राम देते हैं।

छायावाद

जिसे हमने प्रथम जायसी आदि के प्रसंग में "रहस्यवाद" की संज्ञा दी है उसी को या उसके एक विशेष रूप को अब कुछ लोग "छायावाद" कहने लगे हैं। यह कहा जा सकता है कि इस छायावाद में रहस्यवाद की कुछ छाया ही रहती है, पूर्ण रूप से रहस्यवाद नहीं रहता। यह स्थान यद्यपि इनकी विस्तृत विवेचना-लोचना का नहीं, तथापि इस प्रसंग में विषय-प्रवेश के रूप में इनकी कुछ मूल बातों का उल्लेख कर देना पाठकों के विनोदार्थं उचित ही सा जान पड़ता है।

संसार से अपने को परे करके अन्तर्जगत में विचरण करते हुए सब से परे एक ऐसी अज्ञात रहस्यात्मक सत्ता की (जिसमें अनन्त सौंदर्य, असीम प्रेम, अक्षय आनंद तथा अपरिमेय ज्ञान का दिव्यालोक है) ओर चलने पर भावुक भक्त या जिज्ञासु को जो विचित्र अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं और उनके प्रभाव से जो विलक्षण भाव-भावनायें उसमें समुदित होती हैं, उन्हीं को प्रकाशित करता हुआ वह जो कुछ कहता है, वही वास्तव में रहस्यवाद कहा जा सकता है। वह अपनी रहस्यमयी अनुभूत बातों को चूँकि प्रगट करता है अतः उसका कथन रहस्यवाद हो जाता है, उसका अनुभव लोकानुभव से सर्वथा परे, व्यक्तिगत और स्वतंत्र रहता है। ऐसा अनुभव केवल उन्हीं महापुरुषों को होता या हो सकता है जो पूर्ण विरक्त होकर अपने को उसी अनन्त सौंदर्य एवं प्रेमानन्द-पूर्ण अज्ञात सत्ता में, जिसका यह संसार प्रतिबिम्ब मात्र है, लीन कर लेता है। साधारण मनुष्यों के लिये यह अनुभव असम्भव ही सा है। ऐसे ही महापुरुषों के रहस्यात्मक काव्य में अलौकिक आनंद, दिव्य प्रभाव, लोक-रंजिनी प्रतिभा और

सौंदर्यानुराग की स्वाभाविक अनुभूति-व्यंजना मिलती है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार के अनुभव को जब एक प्रेमी, सरस एवं भावुक कवि काव्य-चारुता के साथ प्रकट करता है और एक विशिष्ट काव्य की रचना करता है, तब हम उस रचना को रहस्यवाद की कविता कह सकते हैं। जायसी, कबीर जैसे संतों की रचनाओं में हम इस रहस्यवाद-काव्य की अच्छी पुट पाते हैं।

इधर की ओर योरुप में कुछ समय से रहस्यवाद (Mysticism) की एक विचित्र लहर उठी है, उसी से यहाँ प्रथम बँगला-कवि प्रभावित हुए और फिर उनकी नक़ल हिन्दी के कुछ नवोदित कवि भी करने लगे, बस **हिन्दी-छायावाद-काव्य** की पद्धति चल पड़ी। वास्तव में अब तक खड़ीबोली-काव्य के क्षेत्र में न तो सच्चा रहस्यवाद-काव्य ही है और न उसके रचने वाले सफल कवि ही हैं। हाँ नक़ल करनेवाले कुछ अवश्य हो गये हैं। हम वास्तविक रहस्यवाद की कविता का हृदय से स्वागत करते हैं और यह आशा भी करते हैं कि इस नक़ल के पश्चात् संभव है असली रहस्यवाद का सत्काव्य भी प्रारम्भ हो कर विकसित हो सके। हमारी मंगल कामना भी यही है, साथ ही हमारा यहाँ नये छायावादी सुकवियों से यही निवेदन भी है कि वे नक़ल न करके प्रथम अपने भारतीय रहस्य-वाद का ही ज्ञानानुभव प्राप्त करके वास्तविक रहस्यवाद के काव्य का उदय करें और फिर उसे नवमौलिकता के साथ आगे विक-सित करें।

यहाँ हम सूक्ष्मरूप में इस नवीन पद्धति की भाषा, शैली, छंद-व्यवस्था आदि पर भी यथोचित प्रकाश डाल देना अच्छा समझते हैं, जिससे इस नवोदित परम्परा या धारा का रूप-रंग भी स्पष्ट हो जाय।

भाषा—इधर २५ या ३० वर्षों के भीतर खड़ीबोली का अच्छा परिमार्जन एवं संशोधन हुआ है। भाषा शुद्ध, स्वच्छ और परिष्कृत होकर परिपक्व हो गई है, सुकवियों के प्रभाव से वह काव्योचित रूप में भी आ चली है। यद्यपि अभी तक इसका काव्योचित एक सर्वमान्य तथा व्यापक रूप निश्चित हो स्थिर नहीं हो सका, फिर भी इतने ही समय में इसमें बहुत पर्याप्त काव्य-रचना हो चुकी है और उसीके प्रभाव से यह भाषा इस अच्छी दशा को प्राप्त हो गई है। यदि इसी प्रकार हमारे सुकवि विचारपूर्वक इस ओर प्रयत्नशील रहे तो अवश्यमेव वह दिन दूर न होगा जब खड़ीबोली भी ब्रजभाषा के समान एक परम प्रशस्त काव्योचित रूप प्राप्त करती हुई एक सुन्दर काव्य-रत्न-राशि उपस्थित कर सकेगी।

इस पद्धति के पूर्व चूँकि द्विवेदी जी के प्रभाव से संस्कृत-वृत्तों का प्रचार विशेष हुआ था, इसलिये उनमें संस्कृत पदावली, दीर्घसमासादि की सत्तामहत्ता बहुत आ गई थी, जिससे खड़ी बोली की स्वाभाविक-गति ही दब गई थी। संस्कृत वृत्तों की माधुरी के कारण ही यह सब हुआ, किन्तु जब यह देखा गया कि इस प्रकार भाषा जकड़ी सी जा रही है और भाव-धारा की स्वतंत्र गति के साथ नहीं चल पाती तब कुछ कवियों ने तो वे हिन्दी-छंदें-जैसे हरि-गीतिका, आदि उठाईं जो विशेषतया मात्रिक ही हैं, साथ ही कुछ ने बँगला के प्रभाव से कुछ नवीन छंदें भी ला रखीं और कुछ ने छंद-मुक्त शैली से भी रचना करना प्रारंभ कर दिया। ऐसा करने से खड़ीबोली का अच्छा परिमार्जन हो गया। वह विचारधारा की अनुगामिनी हो चली और उसकी स्वाभाविक गति भी निखरने लगी। अब तक यह बात बराबर होती जा रही है, जिससे भाषा के उज्ज्वल भविष्य की पूर्णाशा की जाती है। भाषा-सुधार की ओर श्री० प० अयोध्यासिंह,

बा० मैथिलीशरण और ठाकुर गोपालशरण सिंह जैसे सुकवियों का प्रयत्न सफल और सर्वथा सराहनीय है।

इसके साथ ही यह भी देखा जाता है कि कुछ वे नवयुवक भी, जो अपने को कवि प्रगट करते हुए कवियश-प्रार्थी हैं किन्तु भाषा पर अधिकार नहीं रखते, (क्योंकि वे या तो शिष्ट हिन्दी के प्रान्त से दूर के निवासी हो इतर भाषा-भाषी हैं और हिन्दी साहित्याध्ययन तथा हिन्दी-मर्मज्ञ समाज के सम्पर्क से भी रहित हैं या हिन्दी का उचित ज्ञान नहीं रखते) अंग्रेज़ी पद्यों के वाक्य-वाक्यांशों का शब्दानुवाद कर या संस्कृत तथा बँगला आदि से विकीर्ण पद लेकर काव्य-रचना में लग गये हैं, इससे भाषा तथा कविता दोनों के बिगड़ने की आशंका होती है। ऐसे लोगों की रचनाओं में सुसम्बद्ध भावव्यंजक-पूर्ण वाक्य प्रायः नहीं रहते वरन् अशुद्ध तथा असम्बद्ध विशेष वाक्यांश ही रहते हैं, जिससे भाषा तथा कविता दोनों की हत्या सी हो जाती है। मज़ा यह है कि ये लोग किसी की सुनते भी नहीं और स्वाभाविक महाकवि (Born Poet) बनकर काव्य-रचना कर चलते हैं तथा भाषा लिखना भी नहीं सीखते। यह ठीक नहीं।

कुछ दिनों से अंग्रेज़ी की देखा-देखी हिन्दी में भी विरामादि चिह्नों से काव्य के वाक्य-विन्यास का सजाना बड़े वेग से चल पड़ा है, यह बुरा नहीं वरन् अच्छा ही है, किन्तु विरामादि का प्रयोग होना चाहिये शुद्ध और उचित, जैसा प्रायः कम देखा जाता है, जिससे स्पष्टता की अपेक्षा अस्पष्टता ही सी विशेष आ जाती है।

यह प्रसन्नता की बात है कि इधर कुछ समय से कवियों एवं लेखकों का ध्यान भाषा की शुद्धता, शिष्टता तथा सुन्दर स्पष्टता के साथ ही साथ सुव्यवस्था एवं स्वाभाविकता की ओर विशेष जाने लगा है, जिससे भाषा का अच्छा परिमार्जन होने लगा है।

मिश्रित भाषा का भी प्रयोग अब बहुत कम हो गया है। साथ ही हमारे छायावादी कवियों के द्वारा भाषा में लाक्षणिकता, व्यंजकता, मूर्त्तिमत्ता तथा भाव-गंभीरता भी आने लगी है और वह मधुर, ललित तथा कोमल हो चली है।

छंदोविधान—नव पद्धति के पूर्व द्विवेदी जी तथा हरिऔधजी के प्रभाव से हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में संस्कृत की वर्णिक वृत्तों का अच्छा प्रचार हुआ था, इसके पूर्व तो खड़ी बोली की काव्य-रचना उर्दू की ही छंदों में होती थी। उपाध्यायजी ने भी बोल-चाल की भाषा में काव्य-रचना करने के लिये उर्दू-छंदों को ही उपयुक्त जानकर लिया है, किन्तु इधर कुछ दिनों से इन दोनों को खडी बोली के लिये सर्वथोचित न समझकर मैथिली बाबू, बा० गोपालशरण सिंह, अनूप, सनेही आदि सुकवियों ने हिन्दी-छंदों को ही प्रचलित किया है। साथ ही अब बंगला-प्रभाव से कुछ नवोदित कवियों ने कुछ नव छंदों का भी विधान किया है। अब अंग्रेज़ी-काव्य-प्रभावित कुछ नवयुवकों ने मुक्त छंदों का भी संचार-प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया है। इससे एक विशेष प्रकार के गद्य-काव्य (Poetic Prose) का रूप खड़ा हो चला है, काव्य का नहीं, क्योंकि काव्य के लिये छंदोविधान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य ही है, क्योंकि इससे उसमें संगीत-माधुरी भी, जो अति आकर्षक और मनोहारी होती है, आ जाती है, स्थानाभाव से हम यहाँ इसका विस्तृत विवेचन नहीं करते।

शैली—द्विवेदी जी की इतिवृत्तात्मक शैली में पर्याप्त रचना हो जाने पर तथा लोगों में कुछ नवीनता की रुचि एवं अभिलाषा के प्रबल होने पर एक विशेष परिवर्तन (Reaction) हो चला। प्राचीन शैलियों को प्राचीन होने तथा उनके बाहुल्य से अब उठने से लोग नवीन शैली की ओर झुके और बंगला तथा अंग्रेज़ी के साहित्यों में उसे खोजने लगे। अस्तु, इन्हीं दोनों से प्रभावित होकर

इन्हीं की शैलियों के मुख्य तत्वों की समिष्टि बनाकर **रहस्यवादाभासमयी अन्योक्ति पद्धति** तैयार कर के चलाई गई, जिसमें बँगला की कोमल पदावली, रवीन्द्र बाबू की धार्मिक मूर्तिमत्ता अंग्रेज़ी की काल्पनिक लाक्षणिकता और भाव भावनाओं की प्रबल अनुभूति-व्यंजना की नक़ल की गई। साथ ही काल्पनिक निबंध-रचना के विधान की भी पुट उसमें लगाई गई और कल्पना की उड़ान, भावों की अनर्गल असम्बद्ध व्यंजना और भावनाओं की वेगवती विवृति को भी प्रधानता दी गई। आध्यात्मिक रहस्यों की नूतन सृष्टि प्रायः विरोधमूलक लाक्षणिक एवं व्यंजक पदावली से रची जाने लगी। प्रेम और सौन्दर्य का चित्रण, मूक अनुभूति, अतीत स्मृति, जैसे विषयों को ही विशेषता दी गई और अंग्रेज़ी के विशेषण-विपर्यय अलंकार का भी विचित्र खेल किया गया।

रूढ़ि या सीमा—इस छायावाद की रूढ़ि या सीमा अभी बहुत कुछ संकीर्ण ही सी है, क्योंकि वर्तमान छायावाद अभी पाश्चात्य का नक़ल ही के रूप में है, अभी वह प्रारम्भिक दशा ही में है और विकसित नहीं हुआ। योरूपीय **प्रतीकवाद** (Symbolism) की ही कुछ बातें इसकी सीमा बनाती हैं, इसलिये इसमें अज्ञेय के प्रति कुछ मनविकार, प्रेम का उद्वेग, तज्जन्योन्माद का प्रमाद लाक्षणिक अत्युक्तिपूर्ण वेदना, विवृत्ति, संसार से बाहर होते हुए एक विशिष्ट प्रकार का असम्बद्ध और अस्पष्ट प्रलाप, विशेषण-विपर्यय, विरोधमूलक वैचित्र्य, मानसिक वृत्तियों का कौतुक, कल्पना-कुतूहल, प्रकृति का कृत्रिम चित्रण जैसी कुछ विशेषतायें विचित्र रहती हैं। पाश्चात्य देशों की इस नवपद्धति को, (जिसे वहाँ अब दूर किया जा रहा है) रवीन्द्र बाबू ने प्राच्य-रहस्यवाद के साथ रख कर एक नया विधान बनाया, जिसका विरोध बंगाल में ख़ूब हुआ और फलतः। उसका वहाँ तो विशेष प्रचार भी न हो सका, किन्तु हिन्दी में उसकी नक़ल बिना

समझे ही बूझे, कुछ नवयुवक करके "अतीतगान" में 'मूक रोदन' करते हुए अनंत में लीन हो "उसपार" की स्वप्निल आभा, और नीरव झंकार देखते-सुनते हुए अपनी हृत्तंत्री के तार बजाने लगे। बस यही छायावाद बन गया।

छायावादी कवि—आजकल ऐसे छायावादी कवियों की एक बहुत बड़ी बाढ़ सी आ गई है जो सच्चे छायावाद या रहस्यवाद का तो क,ख,ग,घ भी नहीं जानते किन्तु बनते बहुत कुछ हैं। वास्तव में जिनकी रचनाओं में रहस्यवाद का कुछ आभास मिलता है ऐसे कवि बहुत ही कम हैं। इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय कवि हैं:—

१—बा० जयशंकरप्रसाद—जो अंग्रेज़ी मत से प्रभावित से हो सूफी संतों के रहस्यवाद के कुछ मार्मिक भाव लेकर लाक्षणिकता, व्यंजकता और मूर्तिमत्ता के साथ लिखा करते हैं।

२—पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"—जो भारतीय वेदान्तवाद की छाया लेते हुए पश्चिमीय शैली से कुछ छंद-मुक्त कविता लिखा करते हैं। इनमें रवीन्द्र की वैष्णवोपासना की भी कुछ पुट रहती है। भाषा इनकी मधुर और कोमल रहती है।

३—सुमित्रानंदन पंत—पश्चिमीय शैली की नक़ल करते हुए इन्होंने मधुर, मृदु और मंजुल भाषा में प्रकृति-चित्रण करने का प्रयत्न किया है। विशेषण-विपर्यय से रूपकात्मक संबोधन का प्राचुर्य, उपमा-बाहुल्य तथा कुछ चुने हुए पदों का प्राधान्य इनमें बहुत पाया जाता है। व्याकरण की अवहेलना भी इन्होंने की है और शब्द-संगठन विचार-पूर्वक कम किया है यद्यपि माधुर्य, मार्दवादि के विचार से वह सराहनीय है। इनमें कुछ स्त्रैणत्व भाव भी कहीं २ प्रतीत होता है। इनकी रचनाओं के दो एक संग्रह भी छपे हैं—यथा—'पल्लव', 'वीणा' जो अवलोकनीय है, क्योंकि विचित्र नवीनता रखते हैं।

इनके अतिरिक्त **मोहनलाल महतो** 'वियोगी' का भी नाम यहाँ उल्लेखयोग्य हो सकता है, इनमें वियोग-वेदना, अज्ञात के प्रति प्रेम, तज्जन्य प्रमाद से प्रभावित करुण प्रलाप विशेष पाया जाता है।

प्रकृति-चित्रण—यह पद्धति की छाया भी अंग्रेज़ी-काव्य-प्रभावित कुछ नवोदित युवकों की स्फुट रचनाओं में पाई जाती है। जिसे हम वर्ड्सवर्थ शैली एवं कीट्स की असफल नक़ल ही कह सकते हैं। संस्कृत में भी प्रकृति-चित्रण ख़ूब है, किन्तु वह दूसरी शैली का है। संस्कृत के प्राचीन कवियों (वाल्मीकि-आदि) ने प्रकृति के नाना रूपों का सूक्ष्म निरीक्षण कर काव्य में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते समय विविध वस्तुओं आदि की संश्लिष्ट योजना से बिम्ब ग्रहण कर उपयुक्त उपमोत्प्रेक्षादिकों के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की ओर चलते हुए वाह्य प्रकृति के साथ अन्तःप्रकृति का सामंजस्य सा किया है। इन्होंने प्रकृति को आलम्बन और अपने को आश्रय सा दिखलाया है तथा उसे एक सजीव सत्ता मान कर उसके साथ आत्मीयता भी स्थापित की है। मुक्तक काव्यकारों ने प्रकृति की एक-दो केवल संकेत देने वाली वस्तुओं से ही अर्थ-ग्रहण कराने का प्रयत्न किया है। हाँ प्रकृति के साथ साहचर्य-सम्बन्ध अवश्य सूचित किया है, विशेषता अलंकार-विधान को ही दी है। प्रायः प्रकृति को उन्होंने उद्दीपन के ही रूप में लिया है। शैली आदि अंग्रेज़ी कवियों ने प्रथम विधान को विशेषता दी है, हिन्दी के कला-काल में द्वितीय विधान का प्राबल्य रहा।*

योरुप में प्रकृति की आन्तरिक भाव-सत्ता का दर्शन करना तथा उसके आधार पर आत्मानुभूति तथा भावनादि का व्यं-

---

* विशेष विवरण देखिये हमारे "गद्यकाव्यालोक" में।